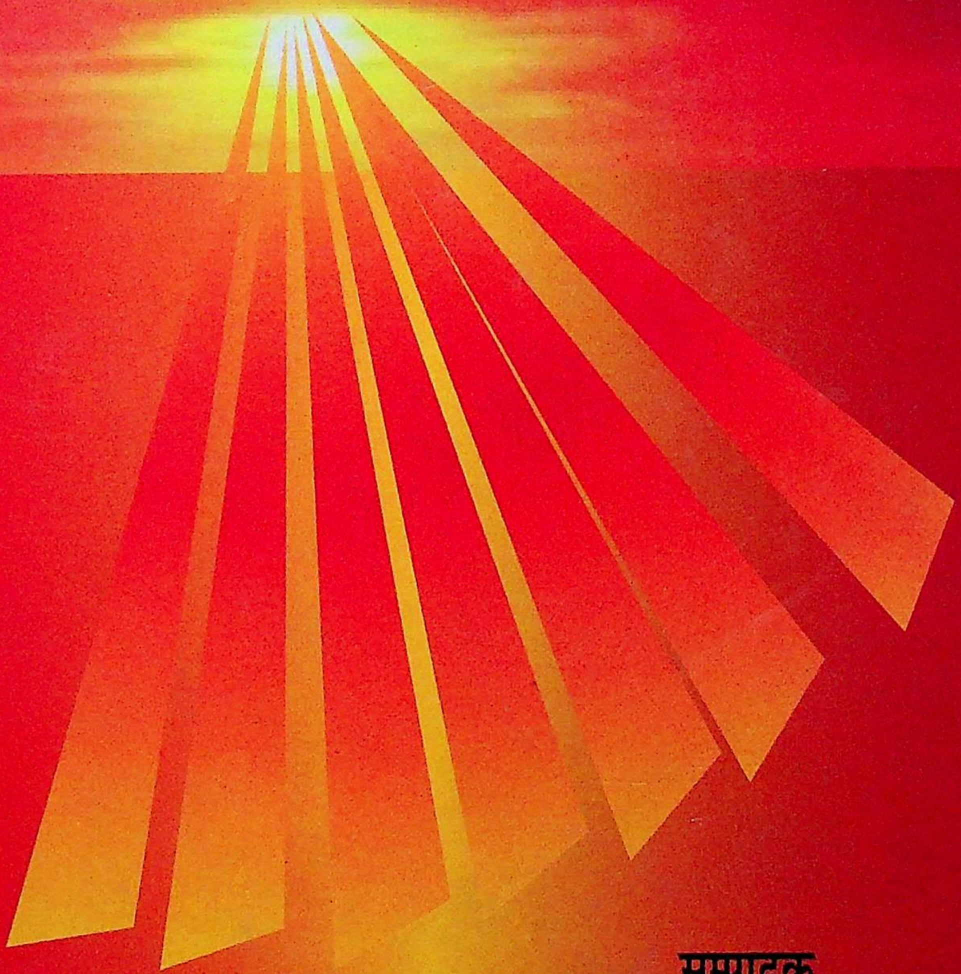
गुरुकुल शताब्दी प्रकाशन माला—प्रथम पुष्प

श्रुति विचार सप्तक

(वैदिक चिंतन तथा भारतीय साहित्य से संबंधित सात विनिबंध)



सम्पादक

डॉ. विष्णुदत्त राकेश

प्रस्तुति

डॉ. जगदीश विद्यालंकार

महर्षि दयानंद सरस्वती की वेद, इतिहास दर्शन तथा साहित्य के बारे में एक निश्चित दृष्टि थी। स्वामी श्रद्धानंद सरस्वती तथा उनके शिष्यों ने उसी दृष्टि से प्रेरित होकर कुछ विनिबंध लिखे हैं। श्रुति विचार सप्तक में उन्हीं विनिबंधों में से सात विनिबंध संकलित किए गए हैं।

स्वामी श्रद्धानंद ने गुरुकुल की स्थापना के साथ ही एक स्वप्न देखा था कि गुरुकुल के स्नातक वेद, वेदांग, दर्शन, संस्कृत साहित्य तथा भारतीय इतिहास के क्षेत्र में ऐसी मौलिक साहित्य की रचना करेंगे जो भारतीय मनीषियों के लिए हमारी अस्मिता को पहचानने की प्रथम दृष्टि बन सकेगी। 'श्रुति विचार सप्तक' गुरुकुल का ऐसा ही प्रयास है।

डॉ. धर्मपाल

कुलपति, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

श्रुति विचार सप्तक में स्वामी श्रद्धानंद, इन्द्रविद्यावाचस्पति, बुद्धदेव विद्यालंकार, चन्द्रमणि विद्यालंकार, [illegible] धर्मदेव सिद्धांतालंकार के सात विनिबंधों को संकलित कर प्रकाशित किया गया है। गुरु-शिष्यों का यह उत्कृष्ट वैचारिक अवदान गुरुकुल के मेधा-अभियान का उत्तम अंश है और इससे पता चलता है कि गुरुकुल के संस्थापक आचार्य स्वामी श्रद्धानंद अपने शिष्यों के द्वारा भारतीय जनमानस में कैसी उत्तम चेतना और उज्ज्वलता भर देना चाहते थे।

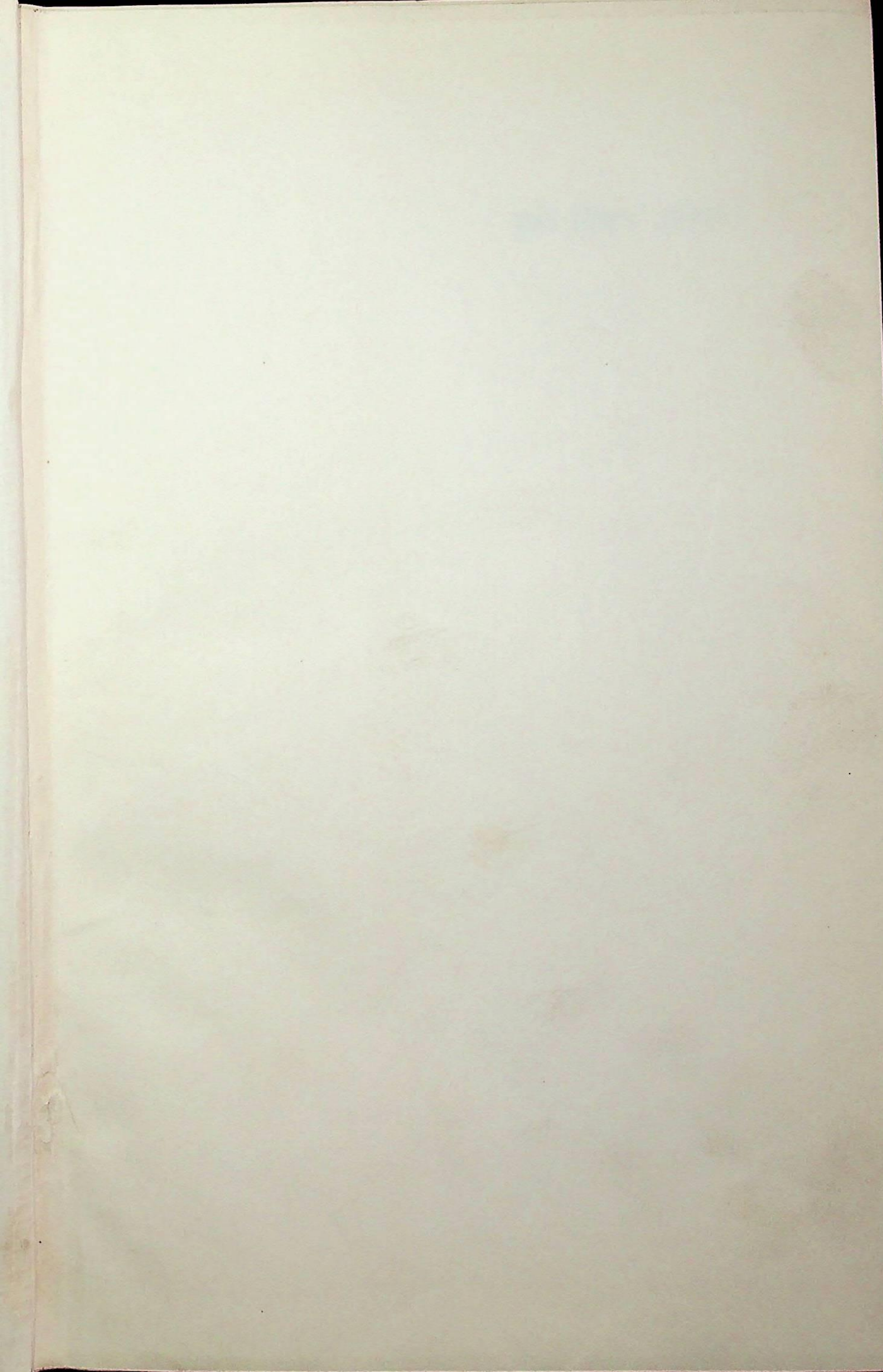
गुरुकुल की शताब्दी के अवसर पर चयनित इन स्नातकों की रचनाओं को प्रस्तुत कर हम नई पीढ़ी को इस दिशा में उन्मुख करने के लिए सचेष्ट हो रहे हैं। हमें आशा है, सहृदय पाठक इन विनिबंधों को पढ़कर यह पता लगा सकेंगे कि भारतीय चिंतन कितना मौलिक, वैज्ञानिक और मानवोपयोगी है तथा भारतीय वाङ्मय के किस अंश का विकास इतिहास की किन परिस्थितियों में हुआ है ?

डॉ. विष्णुदत्त राकेश, डी.लिट्.

मानविकी संकाय अधिष्ठाता,

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

3





श्रुति विचार सप्तक

[illegible] [illegible] [illegible]

गुरुकुल शताब्दी प्रकाशन माला—प्रथम पुष्प

श्रुति विचार सप्तक

(वैदिक चिंतन तथा भारतीय साहित्य से संबंधित सात विनिबंध)

संपादक

डॉ. विष्णुदत्त राकेश

पी-एच.डी., डी.लिट्.
अध्यक्ष, मानविकी संकाय
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

प्रस्तुति

डॉ. जगदीश विद्यालंकार

एम.ए., एम.लिब., पी-एच.डी.
पुस्तकालयाध्यक्ष
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

2001

श्री स्वामी श्रद्धानन्द अनुसंधान प्रकाशन केन्द्र

गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार

श्रुति विचार सप्तक

प्रथम संस्करण : 2001

मूल्य : 500.00 रुपये

प्रकाशक
श्री स्वामी श्रद्धानन्द अनुसंधान प्रकाशन केन्द्र
गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार

प्रमुख वितरक
श्री स्वामी श्रद्धानन्द अनुसंधान प्रकाशन केन्द्र
गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार

मुद्रण-व्यवस्था
क्वालिटी-प्रिंटर्स
शाहदरा, दिल्ली-110093

SHRUTI VICHAAR SAPTAK
Edited by Dr. Vishnu Dutt Rakesh



श्री स्वामी श्रद्धानन्द



दो शब्द

ऋषि दयानंद ने सत्यार्थ प्रकाश में गुरुकुल शिक्षा पद्धति के महत्त्वपूर्ण अंगों का जो विवेचन किया तथा शिक्षा के समग्र परिदृश्य में आचार्य अंतेवासी परंपरा का जो चित्र प्रस्तुत किया, उस परिदृश्य को वास्तविकता के दायरे में लाने वाले महात्मा मुंशीराम ने आज से 100 वर्ष पूर्व जो संकल्प लिया, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय उस संकल्प की प्रतिमूर्ति बना आज शताब्दी मनाने की तैयारी में जुटा हुआ है। 1092 में आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के प्रधान निर्वाचित होने पर उन्होंने गुरुकुल की स्थापना का व्रत लिया। वेद को केंद्र बनाकर वैदिक साहित्य तथा ज्ञान विज्ञान के अध्ययन केंद्र के रूप में गुरुकुल को स्थापित कर उन्होंने शिक्षा जगत् के सामने अभिनव प्रयोग किया।

19 मई 1900 को गुजरांवाला में पूर्व स्थापित वैदिक पाठशाला के साथ ही गुरुकुल की स्थापना कर दी गई तथा 22 अक्टूबर 1901 में मुंशी अमन सिंह द्वारा कांगड़ी ग्राम की 1400 बीघा भूमि दान में प्राप्त होने पर 4 मार्च 1902 को महात्मा मुंशीराम ने गुरुकुल को कांगड़ी ग्राम में स्थानांतरित कर दिया। इस प्रकार 4 मार्च 1902 को कांगड़ी में गुरुकुल की स्थापना की गई। 4 मार्च 2001 में गुरुकुल शताब्दी वर्ष में प्रवेश कर रहा है। शताब्दी वर्ष में गुरुकुल के यशस्वी स्नातकों, आचार्यों तथा आर्य विद्वानों के ग्रंथों को प्रकाशित करने की योजना विचाराधीन है। इस क्रम में हम 'श्रुति विचार सप्तक' नामक ग्रंथ प्रकाशित कर रहे हैं। महर्षि दयानंद सरस्वती की वेद, इतिहास दर्शन तथा साहित्य के बारे में एक निश्चित दृष्टि थी। स्वामी श्रद्धानंद सरस्वती तथा उनके शिष्यों ने उसी दृष्टि से प्रेरित होकर कुछ विनिबंध लिखे हैं। श्रुति विचार सप्तक में उन्हीं विनिबंधों में से सात विनिबंध संकलित किए गए हैं।

स्वामी श्रद्धानंद ने गुरुकुल की स्थापना के साथ ही एक स्वप्न देखा था

कि गुरुकुल के स्नातक वेद वेदांग, दर्शन, संस्कृत साहित्य तथा भारतीय इतिहास के क्षेत्र में ऐसी मौलिक साहित्य की रचना करेंगे जो भारतीय मनीषियों के लिए हमारी अस्मिता को पहचानने की प्रथम दृष्टि बन सकेगी।

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के श्रद्धानंद अनुसंधान प्रकाशन केंद्र ने पिछले एक दशक से अधिक समय से यह बीड़ा उठाया है कि गुरुकुल स्नातकों के चुने हुए अनुपलब्ध कार्यों को जन मानस के सामने पुनः प्रकाशित किए जाने का कार्य किया जाए। इस श्रृंखला में इस प्रकाशन केंद्र ने आचार्य प्रियव्रत जी की पुस्तक वेद एवं उसकी वैज्ञानिकता का प्रकाशन किया। उनकी पुस्तक वेद का राष्ट्रीय गीत जो दुर्लभ हो गई थी, उसका भी पुनः प्रकाशन किया गया। पं. सत्यदेव विद्यालंकार का ग्रंथ स्वामी श्रद्धानंद भी जो 1933 में छपा था आर्यजनता के सामने दुर्लभ हो गया था, उसका प्रकाशन कार्य इस प्रकाशन केंद्र द्वारा किया गया। आचार्य रामदेव जी के भारतवर्ष के इतिहास के दो खंडों को संपादित कर प्रकाशन केंद्र ने पुनः प्रकाशित किया। इसी श्रृंखला में गतवर्ष स्वामी श्रद्धानंद के सभी संपादकीय लेख एवं टिप्पणियों को दो खंडों में संपादन कर इस प्रकाशन केंद्र द्वारा प्रकाशित किया गया। गुरुकुल में समय-समय पर प्रदत्त दीक्षांत भाषणों का संग्रह दीक्षालोक की चर्चा प्रशंसा भी विद्वानों ने मुक्तकंठ से की है।

श्रुति विचार सप्तक के लेखकों में स्वामी श्रद्धानंद, पंडित इन्द्र विद्यावाचस्पति, पंडित बुद्धदेव विद्यालंकार (स्वामी समर्पणानंद सरस्वती), पंडित चंद्रमणि पालीरत्न तथा पंडित धर्मदेव सिद्धांतालंकार हमारी प्रगाढ़ श्रद्धा के पात्र हैं। हमें इन स्नातकों पर गर्व है।

प्रस्तुत ग्रंथ के संपादक आचार्य डॉ. विष्णुदत्त राकेश बधाई के पात्र हैं तथा ग्रंथ की आकर्षक प्रस्तुति के लिए डॉ. जगदीश विद्यालंकार, पुस्तकालयाध्यक्ष आशीर्वाद के अधिकारी हैं, आशा करता हूं, यह ग्रंथ भी प्रकाशन केंद्र के द्वारा प्रकाशित अन्य ग्रंथों की तरह लोकप्रिय होगा तथा जिज्ञासु अध्येता इसका पूर्ण लाभ उठाएंगे।

डा. धर्मपाल

कुलपति
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

प्रस्तावना

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय को स्थापित हुए सौ वर्ष व्यतीत हो रहे हैं। स्वामी श्रद्धानंद जी महाराज ने भारत की प्राचीन शिक्षा प्रणाली को आधुनिक परिदृश्य में सर्वथा रूपांतरित करने का बीड़ा उठाया और वह इस कार्य में सफल हुए। आधुनिक ज्ञान-विज्ञान और प्राचीन वेदशास्त्रों के ज्ञान को समाकलित कर उन्होंने आर्य शिक्षाप्रणाली का पुनरुद्धार किया। गुरुकुल की स्थापना के मूल में स्वामी जी की यही दृष्टि विद्यमान थी। स्वामी जी ने शिक्षा, संस्कृति, समाजसुधार, आर्यसमाज, हिंदुत्व, स्वाधीनता आंदोलन तथा पत्रकारिता के क्षेत्र में युगांतरकारी कार्य किया। दलितोद्धार, शुद्धि तथा संगठन उनके मुख्य कार्य क्षेत्र थे। उर्दू, हिंदी तथा अंग्रेजी पर उनका समान अधिकार था। आत्मकथा (कल्याण मार्ग का पथिक), संस्मरण (बंदीघर के विचित्र अनुभव) तथा जीवनी (आर्यपथिक लेखराम का जीवन वृतांत, तत्त्ववेत्ता ऋषि की कथा) उनकी प्रमुख साहित्यिक रचना-विधाएं हैं। उन्होंने पादरी जे.एन. फर्कुहर तथा मार्टिन हाग की आर्यसमाज विषयक टिप्पणियों की युक्तियुक्त समीक्षा की। ख्वाजा हसन निजामी की पुस्तक दाइएं इस्लाम का 'मुहम्मदी साजिश का इंकशाफ' नाम से खंडन किया। उर्दू में सद्धर्मप्रचारक साप्ताहिक 1889 में, पुन: 1907 में हिंदी में, 1920 में श्रद्धा साप्ताहिक हिंदी में तथा 1926 में द लिबरेटर अंग्रेजी में निकालकर उन्होंने देश-विदेश की राजनीतिक घटनाओं, आर्यसमाज की गतिविधियों तथा धार्मिक, सामाजिक एवं शैक्षिक आंदोलनों पर संपादकीय लेख और टिप्पणियां लिखीं। उन्होंने तथा उनके शिष्यों ने देश में हिंदी-पत्रकारिता को उच्च मानदंड प्रदान किए। महात्मा गांधी, महामना मालवीय तथा राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन ने उनकी राजनीतिक,

सामाजिक और साहित्यिक सेवाओं का भरपूर आदर किया। 1913 में भागलपुर में आयोजित हिंदी साहित्य सम्मेलन के सभापति पद पर आपका आसीन होना इसका सूचक है। स्वामी जी ने धर्म, आर्यसमाज तथा समाजसुधार के विषयों पर हजारों व्याख्यान दिए।

10 नवंबर 1916 को स्वामी जी का एक विनिबंध 'वेद और आर्यसमाज' नाम से प्रकाशित हुआ। स्वामी जी ने इसकी प्रस्तावना में लिखा- 'वैदिकधर्म और उसके मूल सिद्धांतों पर व्याख्यान देते हुए मुझे भूमिका रूप से एक ऐसा लघु ग्रंथ लिखने की आवश्यकता प्रतीत हुई जिससे आर्यसमाज की संस्था में वेदों का ठीक पद ज्ञात हो सके। उसी समय मैंने इस विषय पर पांच लेख सद्धर्मप्रचारक में दिए थे जो अब सर्वसाधारण के सामने रखता हूं।'

महर्षि दयानंद सरस्वती ने अनार्ष और कपोलकल्पित ग्रंथों की निस्सारता प्रतिपादित करते हुए वेदों को प्रामाणिक बताया था क्योंकि वेद परमेश्वर प्रोक्त हैं अतः उन्हीं के बताए मार्ग पर चलने से व्यक्ति, समाज, राष्ट्र और समूची मानवता का कल्याण हो सकता है। भारत के पुनर्जागरण काल में मतों, पंथों और मजहबी मान्यताओं से बचने का यही उपाय था। महर्षि दयानंद सरस्वती को उन्होंने वेदों का सच्चा भाष्यकार तथा आचार्य माना है। यह विनिबंध स्वामी श्रद्धानंद की निर्भ्रान्त दृष्टि को उजागर करता है।

स्वामी श्रद्धानंद ने वेद मंत्रों की मनोरम व्याख्याएं करते हुए धर्मोपदेश दिए। ये धर्मोपदेश सद्धर्मप्रचारक में प्रकाशित होते रहे। आनंदाश्रम लुधियाना के श्री लब्भूराम नैयड़ ने इन उपदेशों को सर्वप्रथम संकलित किया। तीन खंडों में इनका प्रकाशन क्रमशः 1935, 1941 तथा 1959 में गुरुकुल कांगड़ी ने किया। नैयड़ जी ने अपने निवेदन में लिखा- 'श्रद्धेय स्वामी श्रद्धानंद जी के वेद, गीता, मनुस्मृति के व्याख्यान तो आपबीती, जगबीती के अनुभवों के कारण हमारे हृदय में घर सा कर लेते हैं। इन प्रवचनों ने मुंशीराम का जीवन पलट कर श्रद्धानंद बना दिया। जालंधर के रईस को ऋषि दयानंद की दीक्षा ने कमंडलु धारण करा यतिवर बना दिया और अंत में प्रभु के धाम- अमर लोक को पहुंचा दिया, उनके उपदेश पढ़ने से जीवनों में पलटा आ सकता है। वीर कर्मयोगी के इस सिंहनाद से आलसी पुरुषों की तंद्रा टूट सकेगी और आज तो अशांत जनता के लिए यह उपदेश पीयूष वर्षी मेघ का काम देंगे।'

नैयड़ जी स्वामी जी के अनन्य भक्त थे। आपका जन्म 1865 में लुधियाना में हुआ था। वह स्वामी जी के अनन्य सहयोगी थे और निष्काम भाव

से आपने आर्यसमाज की सेवा की। आपने महर्षि दयानंद सरस्वती का जीवन-चरित भी लिखा था। पंडित इन्द्र विद्यावाचस्पति ने अपनी भूमिका में नैयड़ जी के उपदेश संकलन की प्रेरणा का खुलासा करते हुए लिखा-'1935 के मई मास में प्रतिवर्ष की भांति आर्यप्रतिनिधि सभा का वार्षिक चुनाव हुआ। आर्यसमाज सार्वभौम वैदिक धर्म का प्रचारक है और संसार भर को शांति का अमृत पिलाने का संकल्प रखता है। चुनाव के अवसर पर नैयड़ जी ने लाहौर में जो दृश्य देखे, उन्होंने उनके हृदय पर से प्रतारणा का आवरण उतार दिया। धर्म के प्रचारक तुच्छ पदों के लिए कैसे-कैसे धर्म विरुद्ध अनाचार करते हैं, यह देखकर नैयड़ जी की आत्मा सच्ची शांति की चाह में तड़पने लगी। उस समय आप अंतर्मुख हुए और सद्धर्मप्रचारक की पुरानी फाइलें उठाकर अपने गुरु स्वर्गीय स्वामी श्रद्धानंद जी महाराज के लिखे हुए उपदेशों का आपने स्वाध्याय प्रारंभ किया। उन उपदेशों में आपको सच्ची शांति का निनाद सुनाई दिया। एक धर्म के प्यासे को धर्म का संदेश मिला एव वंचना के सताए हुए राही को सिर छुपाने की जगह मिली। थोड़ी देर के लिए आत्मप्रतारणा का राज्य नष्ट हो गया और सच्ची शांति प्राप्त करके नैयड़ जी ने जिस आनंद का अनुभव किया, इस संग्रह द्वारा आपने आर्यसमाज तक उसी के कुछ हिस्से को पहुंचाने का यत्न किया है।'

गुरुकुल के सुयोग्य स्नातक तथा आधुनिक गुरुकुल के परिकल्पक सत्यव्रत सिद्धांतालंकार ने इन संकलित उपदेशों को नवीन स्फूर्ति और जीवनदायक कहा है। 1941 में उन्हीं के कार्यकाल में नैयड़ जी का तीसरा संग्रह प्रकाशित हुआ था। वह तब गुरुकुल के मुख्याधिष्ठाता थे। उन्होंने श्रद्धानंद स्मारक निधि के सदस्यों की सेवा में इस संग्रह को भेंट करते हुए लिखा था-संसार के विषमगार्ग पर पग बढ़ाते हुए इन दिव्य-उपदेशों के प्रकाश से यदि आपने अपना आत्मिक लक्ष्य पहचान लिया तो मैं गुरुकुल की इस 'स्वाध्याय मंजरी' की बारहवीं भेंट को सफल समझूंगा। इससे पूर्व तीन खंडों में आचार्य रामदेव कृत भारतवर्ष का इतिहास, श्री चन्द्रगुप्त वेदालंकार प्रणीत वृहत्तर भारत, डॉ. सत्यकेतु रचित अपने देश की कथा, पंडित इन्द्र प्रणीत महावीर गेरी बाल्डी, पंडित हरिदत्त वेदालंकार लिखित भारत की सांस्कृतिक दिग्विजय तथा पंडित धर्मदेव जी सिद्धांतालंकार रचित भारतीय समाजशास्त्र और वैदिक कर्त्तव्यशास्त्र जैसी कृतियां प्रकाशित हो चुकी थीं।

स्वामी श्रद्धानंद के पुत्र तथा प्रथम शिष्य पंडित इन्द्र विद्यावाचस्पति का

जन्म 1889 में जालंधर में हुआ था। कैसा संयोग है कि उसी साल स्वामी जी ने सद्धर्म प्रचारक साप्ताहिक निकाला और उसी वर्ष हिंदी पत्रकारिता के सजग प्रहरी को पुत्र के रूप में जन्म दिया। इस तरह प्रचारक और इन्द्र दोनों तेजस्वी पुत्र सिद्ध हुए स्वामी जी के। इन्द्र जी गुरुकुल के अध्यापक, मुख्याधिष्ठाता तथा उपकुलपति रहे। राज्यसभा के सदस्य के रूप में भी उन्होंने गुरुकुल का गौरव बढ़ाया। 1960 में उनका दिल्ली में ही निधन हुआ। वह हिंदी, संस्कृत और अंग्रेजी के पंडित थे। भारतेतिहास नाम से तीस अध्यायों में उन्होंने संस्कृत में ऐतिहासिक काव्य की रचना की। इतिहास, उपन्यास, जीवनी एवं संस्मरण लेखन में वह सिद्धहस्त थे। 'उपनिषदों की भूमिका' विनिबंध उनकी गहन अध्ययनशीलता और पांडित्य का सूचक है।

उपनिषदों की महत्ता इसी बात से प्रमाणित है कि श्री शंकराचार्य ने प्रस्थानत्रयी की अवधारणा में ब्रह्मसूत्र और गीता के साथ उपनिषदों को भी रखा है। श्रीशंकर के बाद भी रामानुज, श्री मध्व, श्री वल्लभ, श्री निम्बार्क तथा पंडित आर्यमुनि और पंडित शिवशंकर काव्यतीर्थ ने अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत तथा त्रैतवाद की दृष्टि से विचार किया। विदेशी विद्वानों में शोपेन हावर, पाल, डायसन, फ्रेडरिक श्लेगल, मैकडानल तथा एनी बेसेंट ने मुग्ध होकर यहां तक कह दिया कि यूरोपीय तत्त्वज्ञान उपनिषदों के सामने टिमटिमाता दीया है। इस आध्यात्मिक सागर से चिंतन की अनेक महार्घमणियां खोजियों ने निकाली हैं। आर्यसिद्धांतों की दृष्टि से सत्यव्रत सिद्धांतालंकार ने बाद में उपनिषदों पर भाष्य लिखा। इस क्रम में श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति का 'उपनिषदों की भूमिका' विनिबंध उल्लेखनीय है। इसका प्रकाशन 1913 में सद्धर्म प्रचारक प्रेस दिल्ली से हुआ था। इस विनिबंध में उपनिषदों के विषय में सर्वथा नूतन विचारों का समावेश हुआ है। उपनिषदों का समय, उनकी भाषा, उनके विचार तथा उपनिषदों के भाष्य पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। मूल स्थापना यह है कि उपनिषदों के विचार वेदों से लिए गए हैं पर आचार्यों के सैद्धांतिक आग्रह से उपनिषदों का वास्तविक रूप ओझल हो गया है। यहां तक कि पंडित आर्यमुनि जी का उपनिषद् भाष्य भी श्री शंकराचार्य के भाष्य का खंडन मात्र बन कर रहा गया है।

देवयज्ञ, श्री बुद्धदेव विद्यालंकार की रचना है। बुद्धदेव जी का जन्म 1895 ई. में देहरादून के निकट कौलागढ़ ग्राम में हुआ। 1916 ई. में गुरुकुल

के स्नातक बने। आप संस्कृत के प्रकांड विद्वान् तथा ओजस्वी वक्ता थे। शास्त्रार्थ में आपका लोहा माना जाता था। कालांतर में संन्यास लेकर आप स्वामी समर्पणानंद के नाम से प्रसिद्ध हुए। आपने शतपथ ब्राह्मण के प्रथम कांड का तथा गीता का भाष्य किया। मरुत्सूक्त, मणिसूक्त तथा स्वर्ग की अवधारणा कर नए ढंग से विचार किया। आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब, गुरुदत्त भवन लाहौर के अनुसंधान विभाग के आप अध्यक्ष रहे। दैनिक अग्निहोत्र की व्याख्या करते हुए आपने 'अथ देवयज्ञः' नाम का विनिबंध लिखा। इससे पूर्व आपने ब्रह्मयज्ञ की रचना की थी। देवयज्ञ नामक विनिबंध नवयुग प्रिंटिंग प्रेस लाहौर से 1936 में श्री भीमसेन विद्यालंकार की देख-रेख में हुआ था। यज्ञ में हुतशेष जलपात्र में डालना चाहिए या नहीं, इस संबंध में श्री चमूपति जी ने पंडित जी से प्रमाण देने को कहा। पंडित जी ने पारस्करगृह्यसूत्र के हरिहर भाष्य से यह प्रमाण खोज निकाला-

'तत्र ब्रह्मोपवेशनादि देवताभिधानपर्युक्षणान्तं कृत्वा स्रुवमादाय दक्षिणं जान्वाच्य ब्रह्मणान्वारब्धः प्रजापतये स्वाहेति मनसाध्यायन् प्राञ्चमूर्ध्वमृजुसन्नतमाज्येन अग्नेरुत्तर प्रदेशे पूर्वाधारमाधारयति। इदं प्रजापतये इति, त्यागं कृत्वा, हुतशेषं पात्रान्तरे प्रक्षिपेत्।'

इससे स्पष्ट हुआ-

यज्ञ से अपूर्व, अदृश्य का निर्माण होता है, यह मीमांसकों का मत है। पंडित जी ने इस धारणा को भी सर्वथा नूतन अर्थ दिया है। वह कहते हैं-यज्ञों में जो त्याग भावना का उपदेश किया गया है, जिस संगठन के लिए स्वार्थ को बलिदान करने की वृत्ति को जाग्रत करने का यह सारा उपक्रम है, उसे आचरण में लाने से अवश्य अपूर्व उत्पन्न होता है। हम चार्वाक नहीं जो अपूर्व न मानते हों। अग्निहोत्र करते-करते जिसमें यह भावना जाग्रत होगी वह जब राष्ट्र के लिए अपने आपको बलिदान करेगा तो वह प्रत्यक्ष में चाहे मर जाए और चार्वाक के मत में नष्ट हो जाए, परंतु हमारी दृष्टि में 'अपूर्व' को साथ लेकर दूसरा उत्तम जन्म ग्रहण करेगा और वहां उसे स्वर्ग प्राप्ति भी होगी। प्रश्न यह है कि स्वर्ग का अर्थ क्या है। सो मैं स्वर्ग नामक पुस्तक में दिखा चुका हूं। मीमांसा के शबर भाष्य में शबरस्वामी भी यही अर्थ करते हैं-कौशिकानि वासांसि स्वर्गः, चन्दनानि स्वर्गः, द्वयष्ट वर्षाः स्त्रियः स्वर्ग इति यद्यत् प्रीतिमद् द्रव्यं तत्तत् स्वर्ग शब्देन उच्यते। (मीमांसा शाबर भाष्य अध्याय 6, पाद 1, सूक्त 1)। स्वार्थत्यागियों को इस प्रकार के फल मिलते हैं यह

प्रत्यक्ष सिद्ध भी है। इसलिए 'लभ्यमाने फले दृष्टे नादृष्टपरिकल्पना'- इस मीमांसक न्यायानुसार हमारा भी अर्थ संगत है। एक और दृष्टि से भी अदृष्ट अथवा अपूर्व का निर्वाह हो सकता है। दृश्यमान स्थूल यज्ञ क्रिया मुख्य नहीं, वस्तुतः यज्ञ का प्रधान उद्देश्य वह अदृश्य भाव है जिसकी ओर ये क्रियाएं निर्देश करती हैं। यज्ञ में दृष्ट वस्तु अग्नि है। वह अदृष्ट ब्राह्मण क्षत्रियादि संकल्प अथवा राष्ट्र प्रेम आदि का उपलक्षण है। सो यज्ञ की सफलता उस अदृष्टभाव की परिपुष्टि में है।

महर्षि दयानंद सरस्वती से पूर्व वेदभाष्य करने की कुछ परंपरागत पद्धतियां रही हैं। सायण, महीधर आदि आचार्यों के भाष्यों से यह बात सामने आती है। यों यास्काचार्य ने निरुक्त में वेदार्थ करने की अनेक पद्धतियों का निर्देश किया है। योरपीय विद्वानों ने भी उक्त आचार्यों का ही अनुकरण किया है। ऐतिहासिक और कर्मकांडपरक अर्थ की बहुलता ने वेदों का स्तर गिरा दिया। आचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति ने 'वेद और उसकी वैज्ञानिकता' ग्रंथ में महर्षि दयानंद से पूर्व वेद पर किए गए चौतरफा आक्रमण का हवाला दिया हैं। वेद के पठन-पाठन के सीमित अधिकार, सायण, उव्वट, वेंकटमाधव, स्कन्दस्वामी तथा महीधर आदि के भाष्य, पाश्चात्य विद्वानों में मोनियर विलियम्स, मेकडानल, कीथ, मैक्समूलर आदि के अनुवाद और टिप्पणियां तथा चार्ल्स डारविन के विकासवाद ने वेदों की अपौरुषेयता पर ही प्रश्न चिन्ह लगा दिया। ईश्वरीय ज्ञान का परंपरित सिद्धांत ही ध्वस्त होने लगा। स्वामी जी ने इन चारों झंझावातों से वेदज्ञान की शिखा को बचाया तथा भाष्य द्वारा वेदज्ञान को सर्वोत्तम और मानवमात्र के लिए कल्याणकारी प्रतिपादित किया। निरुक्त की अधिदैवत, अध्यात्म, अधियज्ञ, नैरुक्त, वैयाकरण, ऐतिहासिक तथा आख्यान-प्रक्रिया परंपरित व्याख्या-प्रणालियां थीं, जिन्हें भाष्यकारों ने अपनाया था। स्वामी जी ने व्यावहारिक और पारमार्थिक दृष्टि से वेदों का भाष्य किया। निरुक्त के निर्वचन को उन्होंने आधार बनाया। स्वामी जी का यह भी मंतव्य था कि प्रत्येक मंत्र की सभी प्रक्रियाओं में व्याख्या नहीं हो सकती। हरिस्वामी ने शतपथ ब्राह्मण भाष्य में यह निर्देश किया था कि सभी मंत्रों की तीनों प्रक्रियाओं के अनुसार (आधिदैविक, आधियाज्ञिक और आध्यात्मिक) व्याख्या नहीं हो सकती।

गुरुकुल के सुयोग्य स्नातक पंडित चन्द्रमणि विद्यालंकार का विनिबंध 'वेदार्थ करने की विधि' इस दृष्टि से पठनीय है। पंडित जी गुरुकुल में वेद

तथा पालि के प्रोफेसर रहे हैं। आपका जन्म 1891 में जालंधर में हुआ। आपने लंका से 'पालिरत्न' की उपाधि भी प्राप्त की। निरुक्त पर वेदार्थ दीपक नामक हिंदी टीका लिखी। पतंजलि और तत्कालीन भारत, दयानंद स्वामी के यजुर्वेद भाष्य की विषयानुक्रमणिका, आर्षमनुस्मृति, धम्मपदटीका तथा श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण आपकी प्रमुख कृतियां हैं। पतंजलि के महाभाष्य के आधार पर तत्कालीन भारत की इतिहासबद्ध झांकी की कल्पना आपने 1914 में की। कालांतर में इससे प्रेरणा लेकर डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल ने पाणिनिकालीन भारत तथा अग्निहोत्री जी ने पतंजलिकालीन भारत जैसे ग्रंथों की रचना की। पंडित जी ने वेदार्थ दीपक निरुक्त भाष्य में स्वामी दयानंद प्रतिपादित वेदार्थ शैली का अनुसरण किया है।

प्रस्तुत विनिबंध का प्रकाशन 1916 में नन्दलाल जी के प्रबंध से गुरुकुल यंत्रालय कांगड़ी से हुआ था। इस विनिबंध का निष्कर्ष था कि शब्दों की यौगिकता, हीनोपमा या लुप्तोमता, स्वयं वेद की सहायता, उपलक्षण, अध्याहार या शेष, प्रकरण, विद्याओं का ज्ञान तथा पालिभाषा की सहायता, यह आठ बातें वेदार्थ करते समय ध्यान रखने योग्य हैं। पंडित जी ने पहली बार यह प्रतिपादित किया कि वेदार्थ करने में पालिभाषा भी सहायक हो सकती है। जैसे पालि में इमस्स शब्द अस्म के अर्थ में आता है। वेद में भी 'यदि मे सख्यमावर इमस्य' जैसे प्रयोग हैं। पंडित जी ने विस्तार से पालि तथा वैदिकव्याकरण की समानताएं बताई हैं।

भारतीय संस्कृति कर्मप्रधान है। धर्मशास्त्र तथा नीतिशास्त्र में विहित और निषिद्ध कर्मों तथा प्रायश्चित्त के विधानों पर विस्तार से विचार किया गया है। आचार सिद्धि के स्थान पर वहां कर्मकांड प्रमुख हो गया है। वर्णाश्रमधर्म भारतीय चिंतन का मेरुदंड है। जब हम 'वेदोऽखिलधर्ममूलम्' कहते हैं तब हमारा उद्देश्य होता है, वेदविहित आचार शास्त्र का सार्वभौम प्रतिष्ठापन। वेदानुकूल आचरण धर्म है। तथा वेद विरुद्ध आचरण अधर्म है-

वेदप्रणिहितो धर्मो ह्यधर्मस्तद्विपर्ययः।

ऋषि दयानंद ने वर्णाश्रम धर्म पर मौलिक विचार किया है। उसी दृष्टि से प्रेरित होकर श्री धर्मदेव सिद्धांतालंकार ने 'वैदिक कर्त्तव्यशास्त्र' विनिबंध की रचना की है। आपका जन्म 11 फरवरी 1901 को दुनियापुर मुल्तान् में हुआ। आप 1921 में स्नातक बने। बीस वर्षो तक सार्वदेशिक सभा की ओर से दक्षिण भारत में धर्मप्रचार का कार्य करते रहे। दलितोद्धार तथा शुद्धि के कार्य में स्वामी

श्रद्धानंद के दिखाए रास्ते पर चलते रहे। आपने कर्नाटक से वेद संदेश तथा ब्रह्मचर्य नामक पत्रों का संपादन किया। इन्द्रप्रस्थीय संस्कृत परिषद् तथा अखिल भारतीय आर्यकुमार परिषद् के मंच से की गई आपकी सेवाएं उल्लेखनीय हैं। आपने हिंदी तथा अंग्रेजी में पुस्तकों की रचना की। आपकी रचनाओं में ऋषि दयानंद के मंतव्यों पर तुलनात्मक विचार, वैदिक कर्तव्यशास्त्र, भारतीय समाजशास्त्र, वैदिक धर्मप्रश्नोत्तरी, स्त्रियों का वेदाध्ययन, हिंदु कोड बिल पर विचार, हमारी राष्ट्रभाषा तथा ईश्वरीय ज्ञान वेद प्रमुख हैं।

वैदिक कर्त्तव्यशास्त्र का प्रकाशन गुरुकुल कांगड़ी से 1952 में हुआ। इसकी परिचायिका लिखते हुए तत्कालीन आचार्य पंडित प्रियव्रत वेदवाचस्पति ने लिखा था -'श्री पंडित धर्मदेव जी उन थोड़े विद्वानों में से हैं। जिनका एक-एक मिनट वेदादि शास्त्रों के स्वाध्याय और आर्य सिद्धांतों के मनन में व्यतीत होता है। मनुष्य के वैयक्तिक, पारिवारिक और सामाजिक कर्तव्यों के संबंध में वेदशास्त्र का जो मंतव्य है, उसे इस ग्रंथ में बड़ी उत्तमरीति से प्रदर्शित किया गया है।'

पंडित जी की मान्यता है कि मनुष्य जीवन का उद्देश्य दिव्यशक्ति, दिव्यशांति, दिव्यज्योति, दिव्य आनंद अथवा मोक्ष प्राप्त करना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना तथा निष्काम शुभ कर्मों की अनुष्ठान (यज्ञ) करना मुख्य साधन है। कर्म-नियम संसार में कार्य कर रहा है। किए हुए कर्म के फल से कोई अपने को बचा नहीं सकता। परमेश्वर कर्मफलदाता है। प्रार्थनादि का उद्देश्य भावी पाप से अपने को मुक्त करना है। शारीरिक, मानसिक और आत्मिक शक्तियों का सम विकास होना चाहिए। व्यक्ति और समाज का अटूट संबंध समझते हुए व्यक्ति को अपनी शक्तियां समाज की सेवा में लगानी चाहिए। बाह्य और आंतरिक स्वाधीनता अथवा स्वराज्य को प्राप्त करने से ही सुख प्राप्त हो सकता है। स्वतंत्रता में ही आनंद है तथा परतंत्रता में दुःख है। अतः स्वतंत्रता का संरक्षण करना प्रत्येक व्यक्ति का तथा समाज का मुख्य धर्म है।

मूल विनिबंध के साथ दो महत्वपूर्ण परिशिष्ट भी संलग्न किए गए हैं। पहला परिशिष्ट धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन करने वाले अध्येताओं के लिए बड़े काम का है। वैदिक कर्त्तव्यशास्त्र तथा पारसीक कर्त्तव्यशास्त्र की समानता बताते हुए पारसी मत के प्रवर्तक जरदुश्त को एक आर्यसुधारक बताया गया है। इतना ही नहीं परिशिष्ट दो में 'वेदों में वानप्रस्थ और संन्यास विषयक

निर्देश' प्रकरण मे सप्रमाण प्रतिपादित किया गया है कि वेदों में वानप्रस्थ और संन्यास का विधाान है। इस बारे में महर्षि दयानंद सरस्वती द्वारा मंत्रों की की गई संन्यासपरक व्याख्याएं उद्धृत की गई हैं। परंपरा स्वीकार करती आई है कि श्री गौतम बुद्ध नास्तिक थे। सोलहवीं शती में गोस्वामी तुलसीदास ने भी कहा था-

अतुलित महिता वेद की, तुलसी कियो विचार,
जेहि निंदत निंदित भयो, जगत बुद्ध अवतार।

पण्डित जी ने ऐसी धारणाओं को सत्य नहीं माना। उन्होंने विचार विमर्श करते हुए लिखा - इन सब प्रमाणों से मुझे यह विश्वास नही होता है कि बुद्ध भगवान् और इनके प्रारंभिक अनुयायी ईश्वर की सत्ता से इन्कार करने वाले न थे। यद्यपि ईश्वरादि विषयक जटिल प्रश्नों पर बहुत विचार करना वे अनावश्यक और अनुपयोगी मानते थे।

प्रस्तुत विनिबंध की एक और विशेषता है, वैदिक कर्त्तव्यशास्त्र का दार्शनिक प्रतिपादन व्यक्ति, समाज राष्ट्र और विश्व के समविकास तथा उन्नयन के लिए इस कृति में निर्दिष्ट सिद्धांतों को पालन किया जाना चाहिए। इस प्रकार श्रुति विचार सप्तक में स्वामी श्रद्धानंद, इंद्र विद्यावाचस्पति, बुद्धदेव विद्यालंकार, चंद्रमणि विद्यालंकार तथा धर्मदेव सिद्धांतालंकार के सात विनिबंधों को संकलित कर प्रकाशित कराया जा रहा है। गुरु-शिष्यों का यह उत्कृष्ट वैचारिक अवदान गुरुकुल के मेधा-अभियान का उत्तम अंश है और इससे पता चलता है कि गुरुकुल के संस्थापक आचार्य स्वामी श्रद्धानंद अपने शिष्यों के द्वारा भारतीय जनमानस मे कैसी उत्तम चेतना और उज्ज्वलता भर देना चाहते थे। अपनी साहित्यिक और शास्त्रीय चिंतन परंपराओं को युक्ति युक्त ढंग से प्रतिष्ठापित करने की कितनी उद्दाम लालसा उनमें थी? पाश्चात्य तथा अभारतीय दृष्टि के लेखकों के धूमिल विचारों का खण्डन करते हुए किस प्रकार भारतीय चिंतन की निष्कम्प दीपशिखा को प्रज्वलित और संदीप्त रखने के लिए ये स्नातक परिश्रम कर रहे थे।

गुरुकुल की शताब्दी के अवसर पर चयनित इन स्नातकों की रचनाओं को प्रस्तुत कर हम नई पीढ़ी को इस दिशा में उन्मुख करने के लिए सचेष्ट हो रहे हैं। हमें आशा है, सहृदय पाठक इन विनिबंधों को पढ़कर यह पता लगा सकेंगे कि भारतीय चिंतन कितना मौलिक, वैज्ञानिक मानवोपयोगी है तथा भारतीय वाङ्मय के किस अंश का विकास इतिहास की किन परिस्थितियों में

हुआ है? प्रस्तुत कृति के प्रकाशन में परिद्रष्टा प्रो. शेरसिंह जी, कुलपति डॉ. धर्मपाल जी आर्य, उपकुलपति आचार्य वेदप्रकाश शास्त्री, कुलसचिव डॉ. महावीर अग्रवाल एवं वित्ताधिकारी श्री जयसिंह गुप्त ने विशेष रुचि ली, इसके लिए हार्दिक आभार व्यक्त करता हूं। दुःख है, कुलाधिपति श्री सूर्यदेव जी आज हमारे मध्य नहीं हैं। वह सदैव ऐसे कार्यों को प्रोत्साहन प्रदान करते थे। ग्रंथ की आकर्षक प्रस्तुति के लिए डॉ. जगदीश विद्यालंकार को साधुवाद। अस्तु, यह शताब्दी प्रकाशन माला का प्रथम पुष्प है जिसे स्वामी श्रद्धानंद जी महाराज की पावन स्मृति में श्रद्धापूर्वक निवेदित करते हुए मुझे परम प्रसन्नता और संतोष का अनुभव हो रहा है। वह महावाराह के प्रतीक थे जिन्होंने रसातल में डूबी हुई भारतीय शिक्षा रूपी पृथ्वी का गुरुकुल शिक्षाप्रणाली के रूप में पुनरुद्धार किया। अंत में, बस इतना ही-

वो आए बज़्म में इतना तो मीर ने देखा,
फिर उसके बाद चराग़ों में रौशनी न रही।

बसंतपंचमी —डॉ. विष्णुदत्त राकेश, डी.लिट्.

30-1-2001

अध्यक्ष, मानविकी संकाय तथा
निदेशक, स्वामी श्रद्धानंद अनुसंधान प्रकाशन केंद्र
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

विनिबंध सूची

वेद और आर्यसमाज	स्वामी श्रद्धानंद
धर्मोपदेश	स्वामी श्रद्धानन्द
वेदोपदेश	स्वामी श्रद्धानंद
वेदार्थ करने की विधि	चन्द्रमणि विद्यालंकार
उपनिषदों की भूमिका	पं. इन्द्रविद्या वाचस्पति
अथ देवयज्ञः	पं. बुद्धदेव विद्यालंकार
वैदिक कर्तव्य-शास्त्र	धर्मदेव सिद्धांतालंकार

विषय सूची

सप्तम अध्याय

वैदिक कर्तव्य-शास्त्र 423

प्रथम परिच्छेद

द्वितीय परिच्छेद

तृतीय परिच्छेद

चतुर्थ परिच्छेद

पंचम परिच्छेद

प्रथम अध्याय

वेद और आर्यसमाज

" ओ३म् "

वेद और आर्यसमाज

प्रस्तावना

वेद और आर्यसमाज का आधाराधेय संबंध है। आर्यसमाज के प्रवर्तक ऋषि दयानंद थे, इस संस्था के निर्माता आचार्य वही थे और इसलिए यदि हमें यह जानना हो कि आर्यसमाज की आधारशिला क्या है तो उन्हीं से पूछना चाहिए। उनके मुख्य ग्रंथ, सत्यार्थप्रकाश के सातवें समुल्लास के अंत में वेद विषय पर विचार करते हुए और सर्वमान्य पथदर्शक का वर्णन करते हुए, इस प्रकार लिखा है–

"वेद को पढ़ने के पश्चात् व्याकरण, निरुक्त और छन्दादि ग्रन्थ ऋषि मुनियों ने विद्याओं के प्रकाश के लिए किए हैं। जो परमात्मा वेदों का प्रकाश न करे तो कोई कुछ भी न बना सके, इसलिए वेद परमेश्वरोक्त हैं, इन्हीं के अनुसार सब लोगों को चलना चाहिए। और जो कोई किसी से पूछे तुम्हारा क्या मत है तो यही उत्तर देना कि हमारा मत वेद अर्थात् जो कुछ वेदों में कहा है हम उसको मानते हैं।" आचार्य ने वेद को ही जनता का माननीय मत क्यों बतलाया ? क्या वह भी अन्यों की तरह मतवादी थे ?

ऐसा हो नहीं सकता, क्योंकि सत्यार्थप्रकाश की भूमिका में ही वह लिखते हैं–"जो पदार्थ जैसा है उसको वैसा ही कहना, लिखना और मानना सत्य कहाता है...इसीलिए विद्वान् आप्तों का यही मुख्य काम है कि उपदेश वा लेख द्वारा सब मनुष्यों के सामने सत्यासत्य का स्वरूप समर्पित कर दें, पश्चात् वे स्वयं अपना हिताहित समझ कर सत्यार्थ का ग्रहण और मिथ्यार्थ का परित्याग करके सदा आनंद में रहें" फिर लिखा है–"यद्यपि मैं आर्यवर्त्त देश में उत्पन्न हुआ और बसता हूं तथापि जैसे इस देश के मत मतांतरों की झूठी बातों का पक्षपात न कर यथातथ्य प्रकाश करता हूं वैसे ही दूसरे देशस्थ वा मतोन्नति वालों के साथ भी वर्त्तता हूं...मैं भी जो किसी एक का पक्षपाती होता तो जैसे आजकल के स्वमत की स्तुति, मंडन और प्रचार करते और दूसरे मत की निंदा, हानि और बंद करने में तत्पर होते हैं वैसे मैं भी

होता, परंतु ऐसी बातें मनुष्यपन से बाहर हैं।''

सत्य की ऐसी दृढ़ प्रतिज्ञा करने वाला महानुभाव कभी भी मताग्रही नहीं हो सकता। इसलिए कि वेद हमारे पूर्वजों के समय से धर्म पुस्तक माने जाते रहे हैं, दयानन्द उस पर विमोहित न था। उठते, बैठते, सोते, जागते उसे इसलिए वेदों का स्मरण न होता था कि वे भारतवर्ष में चिरकाल से स्वर सहित गाये जाते थे। ऋषि दयानंद की वेदों पर श्रद्धा का प्रेरक कारण और ही था। ग्यारहवें समुल्लास की भूमिका में वह लिखते हैं–''यह बात सिद्ध है कि पांच सहस्र वर्षों के पूर्व वेद मत से भिन्न दूसरा कोई भी मत न था क्योंकि वेदोक्त सब बातें विद्या से अविरुद्ध हैं...'' फिर सप्तम समुल्लास में लिखा है–''जैसा ईश्वर पवित्र, सर्वविद्यावित् शुद्ध गुण-कर्म-स्वभाव, न्यायकारी, दयालु आदि गुण वाला है वैसे जिस पुस्तक में ईश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव के अनुकूल कथन हो वह ईश्वर कृत, अन्य नहीं; और जिसमें सृष्टि क्रम, प्रत्यक्षादि प्रमाण, आप्तों के और पवित्रात्मा के व्यवहार से विरुद्ध कथन न हों वह ईश्वरोक्त।'' यहां ऋषि दयानंद ने पुस्तक शब्द का प्रयोग संसार में प्रसिद्ध शैली के अनुसार कर दिया है वास्तव में वह वेद को क्या मानते हैं इस प्रश्नोत्तर से विदित होता है–''(प्रश्न) क्या यह पुस्तक भी नित्य है ? (उत्तर) नहीं, क्योंकि पुस्तक तो पत्रे और स्याही का बना है, वह नित्य कैसे हो सकता है ! किंतु जो शब्द, अर्थ और संबंध हैं वे नित्य हैं।''

ग्यारहवें समुल्लास की भूमिका में ऋषि दयानंद फिर लिखते हैं–''वेदों की अप्रवृत्ति होने के कारण महाभारत युद्ध हुआ। इनकी अप्रवृत्ति से, अविद्यान्धकार के भूगोल में विस्तृत होने से, मनुष्यों की बुद्धि भ्रमयुक्त होकर जिसके मन में जैसा आया वैसा मत चलाया। उन सब मतों में चार मत अर्थात् जो वेद विरुद्ध पुराणी, जैनी, किरानी और कुरानी सब मतों के मूल हैं, वे क्रम से एक के पीछे दूसरा, तीसरा, चौथा चला है...'' जब तक वेद रूपी सूर्य का उदय रहा और उसका पूरा प्रकाश पड़ता रहा तब तक किसी भी अन्य प्रकाश की आवश्यकता न थी, परंतु महाभारत युद्ध के उठाए हुए बादलों की ओट में जब वैदिक सूर्य आ गया उसी समय मनुष्यों को अपने लिए परिमित प्रकाशों की आवश्यकता हुई। जिस प्रकार रात्री में अपनी योग्यता तथा शक्त्यानुसार मनुष्य दीया, लैंप, गैस और विद्युत के प्रकाश से काम लेते हैं उसी प्रकार इस अंधकार के समय में मनुष्य समाज ने अपनी योग्यता तथा शक्ति के अनुसार मतों तथा संप्रदायों की बुनियाद डाली।

वेद के इस उच्च स्थान का समर्थन केवल ऋषि दयानंद ही नहीं करते। भारतीय होने के कारण संदेह हो सकता है कि अपने पूर्वजों की सम्मति समझकर ही दयानंद ने वेद को संसार में फैले हुए ज्ञान का श्रोत माना हो, परंतु उनसे पहले भी विदेशी निर्पक्ष विद्वान् यही साक्षी देते रहे हैं। उदाहरण मात्र के लिए यहां फ्रांस के प्रसिद्ध लेखक Louis Jacolliot (लुई जैकालियट) की पुस्तक Bible in India में से कुछ

उद्धरण दिए जाते हैं जिनसे सिद्ध होगा कि ऋषि दयानंद का विश्वास निराधार नहीं है। पृ. 50 पर जैकालियट ने लिखा है–

"In point of authenticity, the Vedas have incontestibel precedence over the most ancient records. These holy books which, according to the Brahmans, contain the revealed word of God, were honoured in India long before Persia, Asia minor, Egypt and Europe, were colonized or inhabited."

प्रमाणता की दृष्टि से बहुत ही पुराने लेख पत्रों पर भी वेदों का प्राचीनत्व निर्विवाद है। यह पवित्र पुस्तकें, जो ब्राह्मणों के मतानुसार परमात्मा की विकसित वाणी हैं, भारतवर्ष में उस समय से बहुत पहले सम्मानित थीं जबकि अभी फारस, लघु एशिया, मिस्रदेश तथा यूरोप में न अधिनिवेश हुआ और न वे बसाए गए थे।

इसी विषय पर प्रसिद्ध संस्कृतज्ञों के अगुआ 'सर विलयम जोन्स' लिखते हैं–

"We connot refuse to the Vedas the honour of an antiquity the most distant."

वेदों को ही अति प्राचीन होने का यश प्राप्त है इससे इनकार नहीं हो सकता। इसीलिए महाशय जैकालियट लिखते हैं–

"India is the world's cradle : thence it is that the common mother in sending forth her children even to the utmost west, has in unfading testimony of our origin bequeathed us the legacy of her language, her laws. her *Morale,* her literature, and her religion. Travcrsing Perisa, Arabia, Egypt and even their way to the cold and cloudy north far from the sunny soil of their birth, in vain they may forget their point of departure, their skin may remain brown or become white from contact with snows of the west, of the civilizations founded by them splended kingdoms may fall, and leave no trace behind but some few ruins of sculptured columns, new people may rise from the ashes of the first; new cities flourish on the site of the old : but time nad run united fail to obliterate the ever legible stamp of origin."

भारतवर्ष संसार का पंघूड़ा है। वहीं से सब की माता ने अपने बच्चों को दूर से दूर पश्चिम भेजा है और अपना उद्‌भव याद दिलाने के लिए अपनी भाषा, राज नियम, आचार साहित्य और धर्म का दायभाग दिया है। वे फ़ारस, अरब और मिस्र में घूम जायं, उनसे भी आगे अपनी सूर्य सुखदा मातृभूमि से दूर सर्द और प्रंधले उत्तर में पहुंच जायं वे अपने निकास को भुलाने का व्यर्थ यत्न करें या उनकी चमड़ियां गंदमी रहें या बर्फ के संबंध से सफ़ेद हो जायं, उन द्वारा स्थापित की हुई सभ्यताओं

में से बड़े-बड़े राज्यों का नाश हो जाय और पीछे थोड़े से टूटे फूटे विचित्र खंभों के अतिरिक्त और कुछ शेष न छोड़ जायं, पुरानी नगरियों के खंडरात पर नई नगरियां बस जायं, किंतु समय और नाश मिलकर भी उन पर से उत्पत्ति स्थान के स्पष्ट ठप्पे को नहीं मिटा सकते।

"The legislator manou, whose authenticity is incontestible, dates back more than three thousand years bofore the Chiristian era; the Brahmans assign him a still more ancient epoch. What instruction for us, and what testimony almost material, in favour of the oriental chronology, which, less ridiculous than ours (based on Biblical traditions) adopts, for the formation of this world, an epoch more in harmony with seience."

शासक मनु, जिसका प्रमाण अकाट्य है, का समय ईसाई संवत् से 5 हज़ार वर्ष पहले का है; ब्राह्मण उसका इससे भी पुराना समय बतलाते हैं। हमारे लिए कैसी शिक्षा है, और पूर्वीय काल परिचय की प्रणाली के पक्ष में क्या ही पुष्ट प्रमाण है (जो हमारी बाइबिल पर आश्रित काल परिचय प्रणाली की अपेक्षा कम उपहास्यजनक है) और सृष्टि रचना के लिए हमारी अपेक्षा बहुत अधिक वैज्ञानिक युग स्वीकार करती है।

The Sowrya Sidanta would retrodate many millions of years, and on this subject Halhed the translator of the Shastras, makes the remark, that no people possess annals of an authority so incontestible as those transmitted to us by the ancient Brahmans; and in support of his assertion, mentions a book written more than four thonsands years ago which gives a retrospective history of the human raec of many millions of years.

This choronology has nothing of exaggeration for Hindoos; on the contrary it logically arccods with their belief; which admit the existence of matter from all eternity with God.

सूर्य सिद्धांत लाखों साल पीछे जाता हैं और इस विषय पर शास्त्रों का अनुवादक हालहड कहता है कि किसी भी जाति के पास इतने अधिक प्रामाणिक ऐतिहासिक वृत्त नहीं हैं, जितने कि पुराने ब्राह्मणों द्वारा हम तक पहुंचाए हुए हैं। और इस स्थापना की पुष्टि में वह एक चार हज़ार से अधिक वर्ष पहले लिखी हुई पुस्तक का प्रमाण देता है, जिसमें मनुष्य जाति का लाखों साल पुराना इतिहास दिया हुआ है। यह काल की दीर्घता हिंदुओं को अत्युक्ति प्रतीत नहीं होती प्रत्युत उनके विश्वासों के साथ सर्वथा मिलती है, क्योंकि वे परमात्मा के साथ प्रकृति को भी नित्य ही मानते हैं।

"we shall presently, see Egypt, Judea, Greece, Rome, all antiquity, infact, copies Brahmincial society in its castes, its theories, its religious

opinion, and adopts its Brahmins, its priests, its levites as they had already adopted the language. Legislation and philosophy of the ancient Vedic Society whence their ancestors had departed through the whorld to dessiminate the grand ideas of primitive revelation."

"हम देखेंगे कि मिस्र, जूडिया, यूनान, रोम-सर्व प्राचीन देश—अपने जाति भेद, अपनी कल्पनाओं, अपने धार्मिक विचारों में ब्राह्मण समाज का ही अनुकरण करते हैं और इसके ब्राह्मणों, इसके पुरोहितों, इसके याज्ञिकों को स्वीकार करते हैं, जिस प्रकार कि पहले से ही उस प्राचीन वैदिक समाज की भाषा, धर्मशास्त्र और दर्शन शास्त्र को अंगीकार किया था जिस (वैदिक समाज) से उनके पुरुषा सारे भूगोल में प्रारंभक ईश्वरीय ज्ञान के उच्च विचारों को फैलाने के लिए निकले थे" जिस समय अभी बालक दयानंद शायद अक्षराभ्यास ही करने लगा था उस समय फ्रांस का तत्त्ववेत्ता दिव्य दृष्टि से दर्शन करके साक्षी देता है कि सारा ज्ञान भूमंडल में ब्राह्मण धर्म अर्थात् वेद से फैला और जिस समय उस ज्ञान का विस्तार हुआ उसे भी इसी पुण्य भूमि के ब्राह्मणों ने ही प्रसरण किया।

धर्म व मत

अपना मत सब मनुष्यों के लिए वेद बतलाते हुए, ऋषि दयानंद ने, मत शब्द का प्रयोग उसके साधारण यौगिक अर्थ (मन्तव्य) में किया है; जो मनुष्य मात्र का मन्तव्य है वही उनका धर्म भी है। परंतु मत शब्द योगरूढ़ी अर्थों में भी प्रयुक्त होता है। और उस समय उसके अर्थ संप्रदाय के होते हैं। ऐसा ऋषि दयानंद मानते थे, जो नीचे के उद्धरण से सिद्ध होता है—"(प्रश्न) आप सबका खंडन ही करते आते हो परंतु आपने अपने धर्म (यहां मतवादी ने धर्म शब्द का प्रयोग मत के अर्थों में किया है) में सब अच्छे हैं, खंडन किसी का न करना चाहिए...(उत्तर) धर्म सब का एक होता है व अनेक ? जो कहो अनेक होते हैं तो एक दूसरे से विरुद्ध होते हैं व अविरुद्ध ? जो कहो कि अविरुद्ध हैं तो पृथक् पृथक् होना व्यर्थ है, इसलिए धर्म और अधर्म एक ही है।" (समुल्लास 11ए पृ. 409) फिर जिज्ञासु द्वारा सर्व संप्रदायों की पड़ताल करा के पृ. 411 पर लिखा है "फिर आगे चला तो बस मतवालों ने अपने को सच्चा कहा...उनके परस्पर एक दूसरे का विरोध देख विशेष निश्चय किया कि इनमें कोई गुरु करने योग्य नहीं क्योंकि एक एक की झूठ में नौ सौ निन्न्यानवें गवाह हो गए ...ऐसा जान... ...उस सत्य के विज्ञानार्थ वह...हाथ जोड़, अरिक्त-हस्त होकर वेदवित् ब्रह्मनिष्ठ, परमात्मा को जानने हारे, गुरु के पास जावे...जब वह ऐसे पुरुष के पास जाकर बोला कि महाराज ! अब इन संप्रदायों के बखेड़े से मेरा चित्त भ्रांत हो गया है क्योंकि जो मैं इनमें से एक का चेला हो जाऊंगा तो नौ सौ निन्न्यानवे से विरोधी होना पड़ेगा...इसलिए आप मुझको उपदेश कीजिए जिसको मैं ग्रहण करूं। (आप्त

विद्वान्) ये सब मत अविद्या जन्य विद्या विरोधी हैं।...देख ! जिस बात में ये सहस्र एक मत हों वह वेद मत ग्राह्य है और जिस में परस्पर विरोध हो वह कल्पित झूठा, अधर्म अग्राह्य है। (जिज्ञासु) इसकी परीक्षा कैसे हो ? (आप्त) तू जाकर इन इन बातों को पूछ, सबकी एक सम्मति हो जाएगी। तब वह उन सहस्रों की मंडली में खड़ा होकर बोला कि सुनो सब लोगो ! सत्यभाषण में धर्म है व मिथ्या में ? सब एक स्वर होकर बोले कि सत्यभाषण में धर्म और असत्य भाषण में अधर्म है। वैसे ही विद्या पढ़ने, ब्रह्मचर्य करने, पूर्ण युवावस्था में विवाह, सत्संग, पुरुषार्थ, सत्य व्यवहारादि में धर्म है व अविद्या ग्रहण, ब्रह्मचर्य न करने, व्यभिचार करने, कुसंग, असत्य व्यवहार, छल, कपट, हिंसा, परहानी करने आदि कर्मों में ? सबने एक मत होके कहा कि विद्यादि के ग्रहण में धर्म और अविद्यादि के ग्रहण में अधर्म। तब जिज्ञासु ने सबसे कहा कि तुम इसी प्रकार सब जने एक मत हो सत्य धर्म की उन्नति और मिथ्या मार्ग की हानि क्यों नहीं करते ?...(मत वाले) एक मत कभी नहीं हो सकता क्योंकि मनुष्यों के गुण, कर्म, स्वभाव भिन्न हैं। (जिज्ञासु) जो बाल्यावस्था में एक सी शिक्षा हो, सत्य भाषणादि धर्म का ग्रहण और मिथ्या भाषणादि अधर्म का त्याग करें तो एक मत अवश्य हो जाए। और दो मत अर्थात् धर्मात्मा अधर्मात्मा सदा रहते हैं वे तो रहें परन्तु धर्मात्मा अधिक होने और अधर्मी न्यून होने से संसार में सुख बढ़ता है और जब अधर्मी अधिक होते हैं तो दुःख। जब सब विद्वान् एक सा उपदेश करें तो एक मत होने में कुछ भी विलंब न हो...आप्त के पास गया। उसने कहा कि महाराज ! तुमने मेरा उद्धार किया नहीं तो मैं भी किसी के जाल में फंसकर नष्ट भ्रष्ट हो जाता...''

ऊपर के लम्बे उद्धरण को पढ़ने से स्पष्ट सिद्ध होता है कि ऋषि दयानंद धर्म और मत में स्पष्ट भेद करते हुए, सर्व साधारण को संप्रदाय-रूपी मतों के जाल से छुड़ाकर एक सत्य (वैदिक) धर्म में प्रविष्ट कराना ही अपना तथा अपने स्थापन किए हुए (आर्य) समाज का मुख्य उद्देश्य समझते थे। उनकी दृष्टि में वेद ही आर्य समाज का मूलाधार था; अन्य सब नियम गौण तथा उसी (वेद) की रक्षा तथा प्रचार के लिए थे। यही तो कारण है कि आर्य समाज के दश नियमों में जहां उन्होंने 'वेद का पढ़ना-पढ़ाना, सुनना-सुनाना, सब आर्यों का परमधर्म' बतलाया है वहां किसी अन्य पुस्तक विशेष वा व्यक्ति विशेष के पीछे चलना आवश्यक नहीं जतलाया। उनकी सारी पुस्तकों को पढ़ जाइए, कहीं भी वेदों का स्थान किसी अन्य ग्रंथ को दिया नहीं मिलता। आर्य-ग्रंथों के पठन-पाठन पर बल देते हुए भी 'स्वमन्तव्यामन्तव्य' में लिखते हैं—''2—चारों वेदों [विद्या धर्मयुक्त ईश्वर प्रणीत संहिता मन्त्र भाग] को निभ्रांत स्वतः प्रमाण मानता हूं, वे स्वयंप्रमाण रूप हैं कि जिनके प्रमाण होने में किसी अन्य ग्रंथ की अपेक्षा नहीं, जैसे सूर्य वा प्रदीप अपने स्वरूप के स्वतः प्रकाशक और पृथिव्यादि के भी प्रकाशक होते हैं वैसे चारों वेद हैं।''

जब वेद ही आर्यसमाज के सर्वस्व हैं और वही आर्यों की दृष्टि में सारे संसार के पथदर्शक हैं तो आर्य समाज के अंदर दयानंद की क्या स्थिति है ?

दयानंद वैदिक-धर्म के आचार्य हैं

ऋषि दयानंद वैदिक-धर्म के आचार्य थे, केवल यहीं नहीं, इस समय भी वही आचार्य हैं। इस समय आचार्य शब्द भारत के शिक्षक समुदाय को बहुत खटकता है। अवैदिक संप्रदायों के प्रवर्तकों की धींगामुश्ती को देखकर, अपने चेलों को झूठन तक खिलाते हुए अवलोकन करके शिक्षित दल की दृष्टि में आचार्य शब्द का मान सर्वथा घट गया है। परंतु जब इस पद के शब्दार्थ पर ध्यान दें और इसके विषय में आर्य-ग्रंथों से आंदोलन करें तो पता लगता है कि यह पद बड़ा ही पवित्र है। संसार की स्थिति और उन्नति के लिए आचार्यों की बड़ी भारी आवश्यकता है।

मनु महाराज आचार्य का लक्षण निम्नलिखित करते हैं–

उपनीय तु यः शिष्यं वेद मध्यापयेद्द्विजः।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते। ।2/140। ।

"जो द्विज, शिष्य का यज्ञोपवीत संस्कार करके, कल्प और रहस्य के साथ, वेद पढ़ाता है उसे **आचार्य** कहते हैं।"

निरुक्त में लिखा है–**कस्मदाचार्य आचारं ग्राहयत्याचिनोत्यर्थान् आचिनोति बुद्धिमिति वा।** आचार्य कौन है ? जो ब्रह्मचारी को आचार की शिक्षा देता है, तत्त्वों का उपदेश करता है या बुद्धि को विधि पूर्वक बढ़ाता है।

परंतु आचार क्या वस्तु है ? यह प्रश्न है। आचार की महिमा मन्वादि धर्म शास्त्रों में बहुत की गई है। आचार और धर्म एकार्थवाची शब्द ही हैं। मनु भगवान् कहते हैं–"**आचारः परमोधर्मः**" आचार ही परम धर्म है। जो संसार को धारण कर रहा है वा जिसे धारण करना संसार का कर्त्तव्य है–वह धर्म है। अर्थात् जो धर्म है वही आचार है। पन्थाई वा सांप्रदायक गुरु लोग भी आचार का ही उपदेश देते हैं, परंतु उनके मत में आचार वह है जो सांप्रदायक गुरु के मुंह से निकले। उनका तो यह सिद्धान्त है–"**गुरु विसनूगुरुगोरख वर्मा, गुरु पारवतीमाई**" इनसे भिन्न वैदिक आचार्य जिस आचार का उपदेश करेगा उसके विषय में मुन का कथन है कि उसका आधार वेद और वेदानुकूल स्मृति पर है–**आचारः परमोधर्मः श्रुत्युक्त स्मार्तेव च। ।** तब तो गुरु शिष्य को न केवल ज्ञान कांड और कर्म कांड का शिक्षण ही करे प्रत्युत शिष्य को तदानुकूल चलाता हुआ ब्रह्म के समीप पहुंचावे, वही आचार्य कहलाने का अधिकारी है।

अब जिस प्रकार व्यक्ति विशेष ब्रह्मचारी को शिक्षा देने वाला उसका आचार्य कहलाता है और बड़े शिक्षणालय के सर्व ब्रह्मचारियों का एक आचार्य होता है, इसी प्रकार जब जब वैदिक धर्म का लोप होता है तब तब ही उसका पुनः प्रकाश करने

वाले आचार्य आते हैं और अधर्म का नाश करके धर्म की पुनः स्थापना करते हैं। इसीलिए कहा है–

आम्नायतत्वविज्ञानाच्चराचरसमानतः
यमादि योग सिद्धत्वादाचार्य इति कथ्यते।।
स्वयमाचरते शिष्यानाचारेस्थापयत्यपि।
आचिनातिहि शास्त्रार्थमाचार्य्यस्तेन कथ्यते।।

जब संसार में अविद्यान्धकार फैल जाता है, उस समय वाणी द्वारा किया उपदेश सुनने को जनता तैयार नहीं होती। उस समय जो महानुभाव वैदिक सिद्धांतों को समझकर उन पर स्वयं आचरण आरंभ करते हैं उन्हीं के पीछे चलने को शुद्ध भाव युक्त जनता तैयार होती है। इसलिए जो स्वयं वेदानुकूल आचार रखता हुआ अपने अनुयायियों को भी उसी के अनुसार चलाने की शक्ति रखता हो उसी को आचार्य कह सकते हैं। आधुनिक कोषों में भी उदाहरण के लिए केवल द्रोणाचार्य तथा श्री शंकराचार्य के ही नाम मिलते हैं। किसी आधुनिक सांप्रदायक गुरु का नाम नहीं आता क्योंकि ये लोग आचार का वेद के साथ कुछ संबंध नहीं समझते।

श्री स्वामी शंकराचार्य के पश्चात् ऋषि दयानंद ही वैदिक धर्म के आचार्य हुए हैं। स्वमन्तव्यामन्तव्य का प्रकाश करते हुए ऋषि दयानंद ने अपने मुख्य ग्रंथ सत्यार्थप्रकाश में लिखा है–

"सर्व तंत्र सिद्धांत अर्थात् साम्राज्य सार्वजनिक धर्म जिस को सदा से सब मानते आए, मानते हैं और मानेंगे भी इसीलिए उसको सनातन नित्य धर्म कहते हैं... ...अब जो वेदादि सत्य शास्त्र और **ब्रह्मा से लेकर जैमिनी मुनिपर्यन्तों के माने हुए** ईश्वरादि पदार्थ, जिनको कि मैं भी मानता हूं, सब सज्जन महाशयों के सामने प्रकाशित करता हूं। मेरा कल्पना का **मतमतांतर चलाने का लेश मात्र भी अभिप्राय नहीं है** किंतु जो सत्य है उसको मानना वा मनवाना और जो असत्य है उसको छोड़ना और छुड़वाना मुझको अभीष्ट है।...यदि मैं पक्षपात करता तो आर्यावर्त्त में प्रचरित मतों में से किसी एक मत का आग्रही होता...।"

आचार्य का लक्षण यहां ऋषि दयानंद ने स्वयं बतला दिया है। आचार ही परम धर्म है। परंतु–यह आचार है यह अनाचार है–इसकी कसौटी क्या है ? जो धर्म वेद और वेदानुकूल स्मृतियों से अविरुद्ध है वह आचार, और जो वेद विरुद्ध अधर्म है वह अनाचार। इस व्यवस्था को संसार में पुनः स्थापन वा दृढ़ करने का साहस और प्रयत्न जो करे वही आचार्य कहलाने का अधिकारी है। आचार्य का आदेश इसलिए प्रमाणिक नहीं कि उसने अपनी बुद्धि का सिक्का भोले भाले मनुष्यों पर जमा कर उन्हें वशीभूत कर लिया है प्रत्युत इसलिए कि पूर्व आचार्यों की न्याई वैदिक, ज्ञान की ओर ही वह निर्देश करता है और अपने चरित्र से सिद्ध करता है कि–**धर्म जिज्ञासमानानाम् प्रमाणं परमं श्रुतिः**। 'धर्म की जिज्ञासा रखने वालों के लिए परम

प्रमाणवेद ही है।' इसीलिए ऋषि दयानंद ने अपने दूसरे मन्तव्य में लिखा है कि जो "...महर्षियों के बनाए ग्रंथ हैं उनको परतःप्रमाण **अर्थात् वेदों के अनुकूल होने से प्रमाण और जो इनमें वेद विरुद्ध वचन हैं उनका अप्रमाण करता हूं।**" ऋषि दयानंद ने यहां स्पष्ट कह दिया कि उनके कथन वा लेख भी वहीं तक प्रमाणिक समझने चाहिए जहां तक कि वे वेदों के अनुकूल हैं और जिस प्रकार ब्रह्मादि ऋषियों के नाम से प्रसिद्ध ग्रंथों में जो कुछ उन्हें वेद विरुद्ध दिखाई देता है, उसका वह प्रमाण नहीं करते इसी प्रकार उनके लेखों वा कथन में जो कुछ वेद विरुद्ध प्रतीत हो उसका प्रमाण करना भी वैदिक-धर्मियों के लिए आवश्यक नहीं। तब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि ऋषि दयानंद के मुख्य ग्रंथ **सत्यार्थप्रकाश** की स्थिति क्या है ?

आर्यसमाज में सत्यार्थप्रकाश का स्थान

राज कर्मचारियों ने, ईसाई पादरियों और गुप्तचरों की रिपोर्टों पर, सत्यार्थप्रकाश को "आर्यसमाज की बाइबल" (The Bible of the Arya Samaj) की उपाधि दी है। और है भी ठीक यही। 'बाइबल' के अर्थ हैं पुस्तक के, और पुस्तक बना है पुस्त् (पोसयति-ते) से जिसके अर्थ आप्टे के कोष में लिखे हैं—To bind, tie (बांधना, गूंथना)—प्रत्येक संप्रदाय के धर्म ग्रंथ का नाम पुस्तक (बाइबल, कुरान, अन्य—एकार्थ वाची शब्द ही हैं) केवल इसीलिए नहीं कि उसे ग्रंथित करके उसकी जिल्द बांधी गई है, प्रत्युत इसलिए भी कि सांप्रदायिक आचार्यों के आदेश उस मत के अनुयायियों को एक दूसरे के साथ जोड़ते हैं।

सत्यार्थप्रकाश का आर्यसमाज में वही स्थान है जो ईसाई चर्च में इंजील (Bible) का, महम्मदी मत में कुरान का तथा खालसा पंथ में ग्रंथसाहब का। यह व्यवस्था ब्रिटिश राज्य की ओर से भी दी जा चुकी है। जब सं. 1908 ई. में पंजाब के गुप्तचर दल ने रिपोर्ट की थी कि "जब तक सत्यार्थप्रकाश को जब्त नहीं किया जाता तब तक वे अमन के ज़िम्मेवार न होंगे," उस समय ब्रिटिश गवर्नमेंट ने पांच विचारशील उच्च पदाधिकारियों को इस विचार के लिए नियत किया था। उन महानुभावों ने सत्यार्थप्रकाश का भली प्रकार अनुशीलन करके व्यवस्था दी कि जब तक गवर्नमेंट बाइबल, कुरानादि का प्रचार रोकने का ज़िम्मा नहीं उठाती तब तक सत्यार्थप्रकाश को हाथ लगाना अन्याय होगा, क्योंकि इस ग्रंथ का आर्यसमाज में वही पद है जो बाइबल का ईसाइयों में। सत्यार्थप्रकाश पुस्तक है, इसके ग्रंथकर्त्ता को हम जानते हैं, वह आर्यसमाज के आचार्य थे और इसलिए अपने संप्रदाय के आचार संगठन के लिए उन्होंने वह ग्रंथ रचा। अतः जो मान एक संप्रदाय के धर्म ग्रंथ का होना चाहिए, उसका अधिकार सत्यार्थप्रकाश को भी है; परंतु इससे बढ़कर उसका मान करना मनुष्यों को धर्म के आदर्श से गिराना है।

बाइबल और कुरान के मुकाबले में सत्यार्थप्रकाश की स्थिति कुछ ऊंची है।

बाइबल ईसामसीह का लिखा हुआ नहीं, उसके शिष्यों ने उसके काम की समाप्ति के वर्षों बाद अपनी अपनी स्मरण शक्ति पर निर्भर करके उसके जीवन की घटनाओं और उसके उपदेशों को एकत्र किया था। यही व्यवस्था कुरान, ग्रंथ साहब इत्यादि की है। परंतु दयानंद ने अपना ग्रंथ स्वयं लिखवाया और छपाई के समय उसके कुछ फ़ार्मों के प्रूफ़ भी देखे, इसीलिए उनके ग्रंथ पर उस प्रकार का व्याघात दोष नहीं लग सकता जिस प्रकार अन्य मतों संबंधी धर्म ग्रंथों पर। लिखने का तात्पर्य यह नहीं है कि जो परस्पर विरुद्ध तथा असंभव लेख संततेमथ्यू, संत ल्यूक, संत जानादि ने लिखे हैं उनके लिए मसीह ज़िम्मेवार है। शायद मसीह के सामने ये लेख निकलते तो वह स्वयं इनका संशोधन कर देता—तात्पर्य केवल यह है कि जहां संभव है कि इन्जील, कुरानादि में बहुत से भाव उन संप्रदायों के आचार्यों के मन्तव्यों के विरुद्ध घुस गए हों वहां सत्यार्थप्रकाश के संबंध में ऐसी संभावना कम है।

क्या सत्यार्थप्रकाश निर्भ्रान्त ज्ञान है ?

तब क्या सत्यार्थप्रकाश को धर्म पथ का निर्भ्रान्त मार्ग दर्शक समझें ? इस प्रश्न का उत्तर ग्रंथकर्त्ता ही ठीक दे सकते हैं, हम इतर पुरुष इस प्रश्न का ठीक उत्तर नहीं दे सकते। ईसा तो शायद ऐसा कुफ़्र का दावा न करता परंतु उसके अनुयायियों ने उसे 'शब्द' ब्रह्म का ही पद प्रदान कर दिया है। परंतु ऋषि दयानंद ने अपने अनुयायियों को भ्रम में नहीं डाला। उन्होंने स्पष्ट माना है कि धर्म का निर्णायक तो ईश्वरीय ज्ञान वेद है, वह तो केवल अपनी योग्यता और बुद्धयानुसार उस सच्चे प्रकाश की ओर निर्देश मात्र करने वाले हैं। ऋषि भूमिका में ही लिखते हैं—"इस ग्रंथ में जो कहीं-कहीं भूल चूक से अथवा शोधन तथा छपाने में भूल चूक रह जाय उसको जानने जनाने पर जैसा वह सत्य होगा वैसा ही कर दिया जाएगा और जो कोई पक्षपात से अन्यथा शंका वा खंडन मंडन करेगा उस पर ध्यान न दिया जाएगा। हां, जो वह मनुष्य मात्र का हितैषी होकर कुछ जनावेगा उसको सत्य-सत्य समझने पर उसका मत संगृहीत होगा।"

कैसे सरल शब्द हैं। अपने से भूल चूक की संभावना भी स्वीकार करते हैं और शोधने छपवाने की अशुद्धियों को भी ठीक करने के लिए हर समय तैयार हैं। यह किसलिए ? इसलिए कि वह सत्य वैदिक ज्ञान फैलाने आए थे न कि अपनी महिमा और यश फैलाने की सकाम आकांक्षा से। मेरी अपनी सम्मति तो यह है कि ईसादि महापुरुष भी ईश्वरीय ज्ञान के प्रचार और उसी को पुजवाने के लिए ही आए थे और उनके अनुयायियों ने उनके असली उद्देश्य को न समझकर अपने आचार्यों की पूजा की स्थापना कर दी। संत जान की पुस्तक का आरंभ ही बतलाता है कि मसीह शब्द का प्रचार करने आया था। वह शब्द क्या है ?—

In the beginning was the Word, and the Word was with God, and

the Word was God. The same was in the beginning with God.

"आरंभ में शब्द था और शब्द परमेश्वर के साथ था और शब्द ही परमेश्वर था, वही आरंभ में परमेश्वर के साथ था।"

ईसा ने शब्द ब्रह्म के प्रचार के लिए ही जन्म लिया था, उसके अनुयायियों ने उसी को ब्रह्म बना डाला। ऊपर के इन्जीली उदघृत लेख को पढ़कर सिक्खों के अंतिम गुरु गोविन्दसिंह की श्रद्धामयी वाणी समझ में आ जाती है जहां उन्होंने यह दिखलाकर कि जिन महापुरुषों को परमेश्वर ने संसार को ब्रह्म पूजा का मार्ग दिखाने के लिए भेजा था उन्होंने उसके स्थान में अपनी ही पूजा शुरु करा दी अपने विषय में लिखा है—"मैं हूं परमपुरुष को दासा।"

परन्तु स्वामी दयानंद ने भ्रम युक्त कोई वचन ही नहीं कहा। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में लिख दिया कि सारे संसार का माननीय धर्म-पथ दर्शक वेद है, ब्रह्मा से लेकर जैमिनी पर्यन्त आचार्य उसी का प्रचार करते रहे और इसलिए जैसे उनका भी वेद विरुद्ध लेख प्रमाण नहीं हो सकता वैसे ही मेरा भी लेख यदि वेद विरुद्ध हो तो, उसे न मानो। ऐसे स्पष्ट लेखों की कुछ अधिक व्याख्या करने की आवश्यकता न थी परंतु स्वार्थवश निर्बल मनुष्य बार-बार सच्चाई को भूल जाते हैं और इसलिए ज्ञान नेत्रों पर, उनके अपने, डाले हुए परदों के बारम्बार हटाने का यत्न करना पड़ता है।

सिद्धांत की ओट में स्वार्थ सिद्धि

आर्यसमाज में जो नित्य नए बखेड़े खड़े हो जाते हैं उनका कारण अधिकतः स्वार्थ और अज्ञान ही है। अज्ञान को दूर करके भाइयों के पारस्परिक द्वेष को दूर भी किया जा सकता है, परंतु स्वार्थ ऐसे यत्न के मार्ग में बड़ा भारी कंटक है। उस स्वार्थ को भी ज्ञान की किरणों द्वारा छिन्न-भिन्न किया जा सकता है परंतु उसके मार्ग में सिद्धांतों का ढकोसला रुकावट पैदा करता है। सिद्धांत बिना तो कोई भी दार्शनिक, धार्मिक संप्रदाय खड़ा नहीं रह सकता—उस पर मेरा कटाक्ष नहीं। आर्यसमाज में स्वार्थियों को सिद्धांतों की उस समय सूझती है जब अपने किसी ऐसे भाई को नीचा दिखाना हो जिस के साथ किसी कारण से उनका द्वेष हो गया है। वह उपदेशक जो पौराणिक पंडितों के इस चैलेन्ज का, कि वे सत्यार्थप्रकाश की अशुद्धियों पर शास्त्रार्थ करेंगे, यह उत्तर देता है कि हम वैदिक हैं और वैदिक सिद्धांतों का मूल वेद द्वारा समर्थन करेंगे जब अपने साथ न सहमति रखने वाले आर्य भाई से बदला लेना चाहता है तो उसमें यह छिद्र निकालता है कि उसने ऋषि दयानंद के किसी अर्थ के अतिरिक्त एक शब्द के और अर्थ कर दिए। सत्यार्थप्रकाश में ऐतिहासिक तथा अन्य साधारण घटनाओं पर जो कुछ भी छप गया है, यदि उसी विषय पर आंदोलन कर के कोई भाई अधिक प्रकाश डालने का प्रयत्न करे तो उसे गिरा हुआ समझा जाता है। फिर

ऋषि दयानंद क्या मानते थे और उनके शब्दों का क्या अर्थ है, यह भी ऐसे भाई स्वयं ही निर्णय करते हैं; दूसरे की उसमें ननुनच करने का अधिकार नहीं देते।

केवल द्वेष वा स्वार्थ ही इस प्रकार की स्थापनाओं के कारण नहीं होते, कभी-कभी धर्म में पूर्ण श्रद्धा का अभाव भी ऐसी निर्वलता का कारण होता है। सोलह वर्ष हुए जब ऋषि दयानंद के लेखों के निर्भ्रांत होने वा न होने पर 'कल्चर्ड और महात्मा पार्टियों' में विवाद चल रहा था तो हमारे कल्चर्ड भाई अपने प्रतिपक्षियों पर यह दोषारोपण करते थे कि वे स्वामी दयानन्द को वेदवत् निर्भ्रांत मानते हैं। यह दूसरी बात है कि 'महात्मा पार्टी' के सभ्य आक्षेप को अपने ऊपर अन्याय समझते थे क्योंकि उनकी प्रतिज्ञा केवल यह थी कि आचार्य दयानंद का लेख, योगी होने के कारण, उस समय तक माननीय है जब तक कि वैसा ही कोई योगी पुरुष न सिद्ध कर दे; परंतु इस में संदेह नहीं कि हमारे कल्चर्ड भाई ऋषि दयानंद कृत सत्यार्थप्रकाश तथा वेद भाष्य में भूलें अवश्य मानते थे। परंतु जब उसी समय उनके एक नेता को शास्त्रार्थ में खड़ा होना पड़ा और पं. गोपीनाथ पौराणिक की ओर से प्रश्न हुआ कि उनके विपक्षी सत्यार्थप्रकाश में भूल मानते हैं वा नहीं तो उत्तर मिला—''हम सत्यार्थप्रकाश का **एक एक शब्द ठीक** मानते हैं।'' यह अत्युक्ति हमारे भाई के मुंह से केवल झूठी लोक लज्जा ने ही कहलवाई। उन्होंने समझा कि यदि वह अपनी दार्शनिक युक्ति से काम लेंगे तो विपक्षी 'निगुरा' कह कर ही उन्हें मूर्खमंडली की दृष्टि में गिरा कर पराजित कर देगा। सारांश यह कि सत्यार्थप्रकाश के एक एक शब्द का समर्थन अविद्या वश, स्वार्थ और झूठी लोकलज्जा में फंस कर ही किया जाता है। इसलिए अत्यंत आवश्यक है कि द्वेष, पक्षपात और लोकलज्जा के झूठे भय को भुलाकर सत्यार्थप्रकाश को वही पद (सांप्रदायिक स्मृति का) प्रदान किया जावे जो उसका वास्तव में अधिकार है।

सत्यार्थप्रकाश की वास्तविक स्थिति

वेद के शब्द, अर्थ और संबंध में कोई भी भूल नहीं, यह आर्यसमाज और उसके नेता आचार्य का मुख्य मन्तव्य है। वेद ईश्वरीय ज्ञान है, इसलिए निर्भ्रान्त है। सत्यार्थप्रकाश मनुष्यकृत है और इसलिए उसमें भूल की संभावना है। प्रथम तो यही निश्चित नहीं है कि सत्यार्थप्रकाश में वही सब छपा है जो ऋषि दयानंद ने लिखवाया था। जहां छापे की अशुद्धियां प्रत्येक संस्करण में दिखाई देती हैं वहां कई स्थानों में लिखे हुए, ऋषिदयानंद के हस्ताक्षर सहित, पुस्तक में प्रत्यक्ष संशोधन करने वाले पंडितों का हस्तक्षेप दिखाई देता है। ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका और वेद भाष्य में संस्कृत भाग जहां ऋषि दयानंद का लिखाया हुआ है वहां आर्य भाषा का अनुवाद सब भीमसेन और ज्वालादत्तादि पंडितों का है। वेदांग प्रकाश के तो सारे भाग बनाए ही पंडितों ने थे और सत्यार्थप्रकाश में भी उन्होंने बहुत हाथ पैर मारने का प्रयत्न किया था।

मेरी इन प्रतिज्ञाओं का समर्थन उस पत्रव्यवहार पर दीर्घ दृष्टि डालने से होता है जो मैंने संवत् 1966 में छपवाकर प्रकाशित किए थे। उस पत्र व्यवहार से यहां तक सिद्ध होता है कि ऋषि दयानंद के शोधे हुए पत्रों में भी भीमसेनादि परिवर्तन करके कुछ का कुछ छपवा देते थे। इसे सिद्ध करने के लिए एक ही प्रमाण पर्याप्त होगा। व्याकरण के **स्त्रैणतद्धित** विषयक ग्रंथ का एक लेख भीमसेन ने ऋषि दयानंद के पास देखने को भेजा। वह पत्र व्यवहार के पृ. 550 से 53 तक छपा है। उसको बड़े संशोधनों के पश्चात् ऋषि दयानंद ने छपने को लौटा दिया। वह पृ. 54 से 56 तक दिया गया है। इस पर ऋषि दयानंद का नोट, प्रबंधकर्ता वैदिक प्रेस के नाम, बड़ा द्योतक है—"जो कोई नोट वा विज्ञापन खंडन मंडन और धर्माधर्म विषयों का ज्ञापक हो वह हम को दिखलाए बिना कभी न छापना चाहिए। वह मेरे पास भेजा सो बहुत अच्छा किया। जो दिखलाए बिना छाप देते तो हम को इसके समाधान में बहुत श्रम करना पड़ता। भीमसेन जो व्याकरणादि शास्त्रों को पढ़ा है, उतना ही उसका पांडित्य है। अन्यत्र वह बालक है; इसको इस बात की खबर भी नहीं है कि इस लेख से क्या-क्या कहां विरोध होकर क्या-क्या विपरीत परिणाम होंगे। इसलिए यह नोट जैसा शोध कर भेजा है वैसा ही छपवाना।" आज शोक से देखा जाता है कि ऋषि दयानंद का संशोधित नोट भी अन्य परिवर्तनों सहित छपा !

यन्त्रालय के संशोधकों की कुटिलता का एक नमूना

पुराने आर्य पुरुषों को, जिन्होंने आर्यसमाज के घरेलू युद्ध के आरंभ से ही सब घटनाओं को विचार दृष्टि से देखा है, विस्मृत नहीं हुआ होगा कि जब नवंबर सं. 1892 ई. के वार्षिकोत्सव पर, लाहौर में, धर्मचर्चा के समय रायबहादुर मूलराज एम.ए. ने मांस भक्षण का समर्थन करते हुए कहा था कि मांस भक्षण को ठीक समझते हुए भी वह आर्यसमाज के सभासद रह सकते हैं, उस समय उन्होंने अपने चेले शंकरनाथ द्वारा पुराने सत्यार्थप्रकाश और पुरानी संस्कार-विधि का भी प्रमाण दिलवाया था और साथ ही शंकरनाथ ने यह भी दावा किया था कि श्री स्वामी दयानंद जी ने नए सत्यार्थप्रकाश में भी मांस भक्षण का मंडन किया था, परंतु उसे पंडितों ने कटवा दिया। उस रमणीय धर्मचर्चा की रिपोर्ट आर्यसमाज के वृद्ध पितामह श्री लाला जीवनदास जी ने छपवाई थी, जिसमें से पं. शंकरनाथ की वक्तृता और उसका भक्तरैमल जी की ओर से उत्तर ज्यों का त्यों छापने से मेरा आगे आने वाला लेख समझ में आ जाएगा—

"इसके बाद पं. शंकरनाथ ने उठकर जो तक़रीर (वक्तृता) की उसका खुलासा यह है [3] पिछले साल जब अजमेर में परोपकारणी सभा का जलसा हुआ था तो यह बात ज़ाहिर हुई थी कि स्वामी जी ने नए सत्यार्थप्रकाश के मसौदे में मांस खाने की इजाज़त लिख दी थी। मगर चूंकि छापने का काम कई वैष्णव लोगों के हाथ में था इसलिए वह तहरीर छापी नहीं गई।

"इसके बाद भक्त रैमलदास जी ने [जो वैदिक यन्त्रालय के मैनेजर रह चुके हैं] उठकर कहा कि पं. शंकरनाथ ने जो अजमेर का हाल बयान किया है, उसकी निसबत मैं कुछ कहना चाहता हूं, क्योंकि मैं उस मौके पर अजमेर में मौजूद था। भक्त साहब ने जो बाद में तकरीर की उसका खुलासा यह है–(1) **नए सत्यार्थप्रकाश के मसौदे में जो मांस विषय की तहरीर है वह मंत्र (मूल) में सिर्फ हाशिए पर है और क़लम से काटी हुई, और न वह तहरीर स्वामी जी के अपने हाथ की है। और यजुर्वेद भाष्य के मसौदे में भी एक मौक़े पर इसी क़िस्म की कटी हुई तकरीर हाशिए पर दर्ज है; जिससे साफ़ पाया जाता है कि जिस मृतक पितरों के श्राद्ध की हिदायत बाज़ खुदग़र्ज़ों ने पहले सत्यार्थप्रकाश में दर्ज कर दी या करा दी थी (जिस का खंडन स्वामी जी को एक नोटिस के जरिए करना पड़ा) इसी तरह शायद बाज़ मांसाहारी पुरुषों ने, मौका पाकर, मांस का विषय अपने मुफ़ीद मतलब नए सत्यार्थप्रकाश और यजुर्वेद के मसौदों में दर्ज कराकर कटवा दिया होगा, ताकि इससे उनको अपने पक्ष की पुष्टि में एक प्रमाण मिल जाए; वरना क़यास नहीं चाहता कि स्वामी जी को दोनों पुस्तकों में मांस का विषय लिखना ऐसे मौक़े पर याद आया जबकि उनके मंत्र में जगह की गुंजाइश न रही और हाशिए पर लिखना पड़ा..."**

यह विवाद मेरे सम्मुख हुआ था। उस वर्ष पहली बार चुनाव में प्रधान पद मुझे दिया गया था। तत्पश्चात् मांस विषय पर कालिज पार्टी की ओर से बहुत बल दिया जाने लगा और मुझे उनके विरोध से आर्यप्रतिनिधि सभा पंजाब तथा आर्य सिद्धांतों की रक्षा के लिए बड़ा प्रयत्न करना पड़ा। इसी रक्षा का काम करते हुए शायद सं. 1898 ई. के अगस्त मास में पहली बार मैं अजमेर पहुंचा था। लाला वजीरचन्द तथा मास्टर आत्माराम मेरे साथ थे। बाबूराम विलास जी से सत्यार्थप्रकाश की असली हस्तलिखित पुस्तक (Manuscript) देखी। वह हस्तलिखित पुस्तक ऋषि दयानंद की हस्तलिखित न थी। लेख अन्यों का था, परंतु कहीं-कहीं संशोधन ऋषि दयानंद के हाथ का किया हुआ था और प्रत्येक पृष्ठ की समाप्ति पर हताक्षर ऋषि के थे, किंतु इसके साथ ही बहुत स्थानों में पं. भीमसेन के हाथों से संशोधन हुआ था। मैंने दशम समुल्लास खोलकर मांस का विषय निकाला तो हस्तलिखित पुस्तक के पृ. 183 के हाशिए पर कुछ लिखकर काटा दिखाई दिया। मैंने उसके संबंध में सारी इबारत अक्षरशः बारीक कागज़ ऊपर रखकर नकल कर ली थी और उसका वर्णन आगे करता हूं। आवश्यक तो यह था कि उस लेख का ज्यों का त्यों फ़ोटो सर्वसाधारण के सामने रखा जाता। परंतु मेरी आर्थिक अवस्था ऐसा करने की आज्ञा नहीं देती, इसलिए जो कुछ वहां, जिस क्रम से, दिया हुआ है वह यहां दर्ज करता हूं। एक पंक्ति में जितना लेख वहां है उतना ही यहां भी देकर जो साधारण संशोधन है वह ब्रेकेट्स Brackets में दे दूंगा–

"सत्यार्थप्रकाश समु. 10

चाहें (खाय चाहें) कुत्ते आदि मांसाहारियों को खिला देवें (वा जला देवें) अथवा कोई मांसाहारी खावे।

तो भी संसार की कुछ हानि नहीं (होती'')

इतने लेख में भी कुछ विचारणीय बातें हैं जिनकी ओर दृष्टि डालने से ही पंडितों की कुटिलता का पता लगेगा। **खाय चाहें** ये शब्द ब्रैकेट में कटे हुए हैं। किस ने कटवाए यह आगे चलकर पता लगेगा क्योंकि मुंशी समर्थदान के पत्र से ज्ञात होगा कि जब पहले प्रबंधकर्त्ता समर्थदान को ऋषि दयानंद ने हस्तलिखित पुस्तक दी थी तो खाने की आज्ञा युक्त लेख न था। ज्ञात होता है कि यह तथा हाशिए का लेख ऋषि की आज्ञा मंगाकर मनीषी समर्थदान ने ही काट दिया था। जितना लेख मैं दे चुका हूं उसके पश्चात् नीचे दिया लेख है जिनकी संगति ऊपर के लेख के साथ-साथ ठीक हो जाती है—**''किंतु उस मनुष्य का स्वभाव मांसाहारी होकर हिंसक हो सकता है''** इस लेख के आरंभ में ही किंतु शब्द से पहले इस प्रकार का चिह्न है (×) और हाशिए पर नीचे दिया लेख कई परिवर्तनों के साथ, पं. ज्वालादत्त के हाथ का इस प्रकार है—

''प्रश्न-सब मांस भक्ष्य वा अभक्ष्य है (उत्तर) अभक्ष्यो ग्राम्यकुक्कुटोऽभक्ष्यो ग्राम्यशूकरः। जो ग्राम में कुक्कुट और सूअर तथा मांसाहारी सब पशु पक्षी तिर्यक् जो पेट से चलते हैं अशुद्धाहारी मत्स्यादि हैं वे सब अभक्ष्य और इनसे भिन्न शुद्धाहार जांगल सब भक्ष्य हैं परंतु यह बात राजवर्गी मनुष्यों के लिए है अन्य के लिए नहीं (प्रश्न) ग्राम के कुकट आदि अभक्ष्य और वनस्थ भक्ष्य है इसमें क्या युक्ति है ? उत्तर। ग्रामस्थ कुक्कुट आदि उपकारक अशुद्धाहारी अभक्ष्य और जंगलवासी हानिकारक शुद्धाहारी भक्ष्य हैं।''

निर्पक्षपाठक स्वयं देखें कि इस लेख के साथ ऋषि दयानंद की दी अगली इबारत का क्या संबंध हो सकता है; और इस हाशिए की इबारत की भाषा तथा युक्ति ऐसी पोच है कि उसका ऋषि दयानंद के साथ कोई संबंध ही नहीं हो सकता।

उस समय मुझे, और अन्य भाइयों को भी, यही सन्देह रहा कि शायद मनीषी समर्थदान जी ने रायमूलराज के काबू आकर यह लेख लिखकर काट दिया है। मेरा विचार भी उस समय भक्त रैमल जी के साथ मिलता था और इसलिए मनीषी समर्थदान के लेखों के साथ उपरोक्त लेख को मिलाया भी गया। परंतु वह लेख मनीषी के लेख से भिन्न प्रतीत हुआ और मेरे लिए यह लेख पहेली ही रहा। यह पहेली उस समय बूझी गई जब मैं वैदिक यन्त्रालय का अध्यक्ष बनाया गया और ऋषि दयानंद का पत्रव्यवहार ठीक करते हुए मुझे निम्नलिखित पत्र मिला—

वैदिक यंत्रालय

13/7/82 प्रयाग

श्री स्वामी जी की सेवा में

श्री. महाराज नमस्ते

निवेदन यह है कि वेदभाष्य में जो मांसभक्षण का विधान आया था उसको तो आपने निकाल दिया था और मुझको भी आज्ञा दी थी कि मांस का विधान न आवे इस प्रकार से छाप दो सो मैंने छाप दिया था। अब सत्यार्थप्रकाश के भक्षाभक्ष का प्रकरण—पाया इसमें भी आपने मांस खाने की आज्ञा स्पष्ट दी है।

प्रथम जब पुस्तक लिखा गया था तब तो मांस की आज्ञा नहीं दी, पीछे संशोधते समय आपने दी है ऊपर से आपने बनाया है इससे मेरी शक्ति नहीं कि मैं इसको काट दूं इसलिए आप से निवेदन किया। अब जैसी आपकी आज्ञा हो वैसा किया जाए। आपने ऐसी आज्ञा दी है कि जिन पशुओं को क्षत्रिय लोग खेतों की रक्षा के लिए मारें वा अन्य ऐसे कारण मारें तो उनका मांस खावो तो कुछ दोष नहीं है। परंतु यह जड़ ऐसी है कि जिसके कारण से लोग अच्छी प्रकार मांसाहारी हो जाएंगे। क्योंकि बुरे काम के लिए थोड़ा सा भी सहारा मिल जाए तो मनुष्य स्वार्थवश होकर बढ़ा लेता है। जो किसी प्रकार से मांस की आज्ञा मिल गई तो लोग अनेक मार्ग निकाल लेंगे। इसलिए आप जो बात ग्रंथ में छपवाना चाहें सो कृपा करके प्रथम विचार कर लिया करें तो उपकार विशेष हो। इस विषय में जैसी आपकी आज्ञा हो लिखें।

थोड़े-थोड़े काल में विचार का बदलना हानिकारक होता है। उपद्रवी पशुओं का मारना तो ठीक है परंतु इनका मांस खाना सदैव के लिए प्रवृत्ति करता है फिर तो निरुपद्रवी भी बेचारे मारे जाएंगे। जैसी कि आजकल की गति देखने में आती है। बुराई का मूल थोड़ा सा ही होता है परन्तु पीछे तो वटवृक्षवत् बड़ा विस्तार कर लेती है।

बुरे कामों का बारंबार निषेध करने पर भी लोग कर लेते हैं और अच्छे को सहस्र बार भी उपदेश करने से भी नहीं करते मांसाहार में यदि दोष है तो उसका विधान किञ्चित्मात्र भी नहीं होना चाहिए। जो किया जाएगा तो इसकी प्रथा विशेष होगी। मांस के साथ मदिरा भी लगी है जो दोनों की प्रवृत्ति हुई तो सब उन्नति गिर जाएगी और विपरीत फल उत्पन्न होगा। फिर जैसा आप उचित समझें वैसा करें। सत्यार्थप्रकाश का एक फ़ार्म तो और छपेगा पीछे से आपका पत्र आवेगा तब छपेगा कृपा करके पत्र शीघ्र दीजिए।

यह पत्र मैंने कार्यालय से पृथक् लिखा है। इसमें नंबर नहीं डाला है क्योंकि कार्यालय के पत्रों की नक़ल रामचन्द्र करते हैं और ये हम लोगों के विचार से सर्वथा पृथक् है। किंतु विरुद्ध कहिए। इस पत्र का विषय ऐसा खानगी है कि विरोधियों को प्रगट होने से बड़ी हानि होती है।

आर्यों के आचार्य का यंत्रालय, आर्यों ही के द्रव्य ही से बना और नौकर सब अनार्य रखे जाएं यह भी एक काल की विचित्र गति का परिचय है। आर्यों के पैसे और सम्पत्ति का दर्द अनार्यों को कहां तक होता है इसको भी विचारशील सोच सकते हैं। कृपा करके सत्यार्थप्रकाश के विषय में तत्काल आज्ञा दीजिए।

आपका आज्ञाकारी
समर्थदान मैनेजर

मनीषी समर्थदान का ऊपर दिया पत्र पढ़कर मैंने ऋषि के पत्र व्यवहार की तिथि क्रम से पड़ताल की। तब मांस वाला हाशिए का लेख निसंदेह पं. ज्वालादत्त का लिखा हुआ प्रतीत हुआ। पं. ज्वालादत्त के कई पत्र मिले जिनके साथ हाशिए के अक्षर मिल गए। इसीलिए 'ऋषि दयानंद का पत्र व्यवहार' छापते हुए मैंने उस पुस्तक की भूमिका के पृ. 42, 43 पर लिखा था–

''पंडित ज्वालादत्त के पत्रों से केवल यही विदित नहीं होता है कि ऋषि दयानंद के नाम से जो पुस्तकें प्रसिद्ध हैं उनमें बहुत कुछ हाथ अन्य पंडितों का था, जिसके कारण उन ग्रंथों में अनेक अशुद्धियां रह गई हैं; बल्कि यह पता लगता है कि इन लोगों के परस्पर के राग द्वेष तथा अन्तरीय कुटिल भावों के कारण भी उस महान् आत्मा के उद्देश्य को बहुत कुछ हानि पहुंचती रही है। पं. ज्वालादत्त ने योग्यता कहां से संपादन की उसका पता 419 पृष्ठ से लगता है–''अब मामाजी ने लिखा है कि तुम्हारा महाभाष्य हम भेज देंगे। गलती जो अपने निकाली मैं स्वीकार करता हूं, यह मेरा दोष है...'' मुंशी समर्थदान से इनकी बनती ही न थी और दिन रात जले भुने हुए रहते थे। इस असंतोष के कारण इन्होंने और क्या अनर्थकरना चाहा था उसका वर्णन तब करूंगा जब मुझे शेष पत्र व्यवहार छापने का अवसर मिलेगा। इन लोगों की लीला का कुछ परिचय रायबहादुर पं. सुंदरलाल के पत्र से मिलता है जो पृ. 423 से 426 तक छपा है।'' नीचे कुछ उद्धरण देता हूं जिससे पं. ज्वालादत्त और पं. भीमसेन की लीला का पता लगेगा–

(क) ''यह न लिखना चाहिए कि अमुक मनुष्य कामचोर है वा हरामखोरी करता है क्योंकि ऐसे अपशब्द सुनने से उसकी प्रीति आप से हट जाती है'' (पृ. 61) और पं. भीमसेन भी कहते हैं कि ''हमारे पास काम बहुत बढ़ गया है सो यदि आपकी आज्ञा हो तो ज्वालादत्त को फिर बुला लें, 15-महीना लेगा, पर उसको आपकी आज्ञा बिना बुला नहीं सकते'' (पृ. 65) पं. ज्वालादत्त अपनी करतूतों के कारण पहले निकाले गए थे, जब फिर पंत्र सुंदरलाल की सिफारिश पर बुलाए गए तो वह करतूत की जिसका वर्णन मनीषी समर्थदान के पत्र में आया है। इसकी पुष्टि में पं. सुंदरलाल की 1 जून, 1882 ई. वाली चिट्ठी से होती है जहां लिखा है–''दूसरे पंडित की अति आवश्यकता है ज्वालादत्त को मैंने लिखा था सो आने को राजी तो है पर तनख़ाह

के वास्ते पैर फैलाता है न मालूम अपनी ही इच्छा सेवा भीमसेन के इशारे से—पं. ज्वालादत्त का कार्ड आपके पास भेजता हूं जैसी इच्छा होय आप लिख भेजें। जो मासिक ज्वालादत्त को देंगे वही भीमसेन को भी देना पड़ेगा।''

ऊपर के लंबे उद्धरण नीरस से तो अवश्य प्रतीत होते हैं, परंतु इनके बिना यह ज्ञात होना कठिन था कि ऋषि दयानंद के ग्रंथों को बिगाड़ने का पौराणिक संस्कृतज्ञों ने कितना यत्न किया। यदि ऋषि दयानंद के छपे ग्रंथों का हस्तालिखित मूल पत्रों से मिलान किया जाय तो न जाने उनमें कितना भेद निकलेगा।

ऊपर लिखा तो एक कारण है कि जिससे सत्यार्थप्रकाश के एक-एक अक्षर की ज़िम्मेवारी आर्य पुरुष नहीं ले सकते। परंतु छापे की अशुद्धियों, लेखक तथा संशोधक पंडितों की अयोग्यता और कुटिलता के अतिरिक्त एक बात और भी है। वेद मंत्रों पर तो ऋषि दयानंद न ध्यानावस्थित हो, योग समाधि में प्रवेश करके विचार किया; इसलिए जिन मंत्रों पर ऐसा विचार हुआ उनका तात्पर्य भी बड़ी स्पष्ट रिति से प्रकाशित हुआ, परंतु जिन मंत्रों के अर्थ ऋषि की भाष्यशैली को देखकर ज्वालादत्त, र्भामसेनादि प्रभृत्तियों ने किया उनमें बहुत सी त्रुटियां रहनी स्वाभाविक ही थीं।

ऋषि के वेद-भाष्य का स्थान

वेदांग प्रकाश में जो अशुद्धियां दीखती हैं वे पंडितों की हैं; सत्यार्थप्रकाश में भी अशुद्धियों की संभावना है। ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका का संस्कृत भाग प्रायः अशुद्धियों से मुक्त है परंतु आर्यभाषा अनुवाद में पंडितों की अयोग्यता का फिर परिचय मिलता है। तब वेद-भाष्य की दशा उन ग्रंथों से भी अधिक शोचनीय होगी। भूमिका तो ऋषि के जीवन में ही छप चुकी थी, सत्यार्थप्रकाश के प्रथम दस समुल्लास भी उनके सामने छप गए थे, परंतु वेद-भाष्य का बड़ा भाग उनकी मृत्यु के चिरकाल पीछे तक छपता रहा। उसमें भी केवल संस्कृत भाग ऋषि दयानंद का लिखवाया हुआ। उसमें कई स्थानों पर पंडितों ने गड़बड़ की और भाषार्थ में इतना साहस करने लगे थे कि यदि धर्मवीर पंडित लेखराम उनकी कुटिलता का प्रकाश न करते तो ऋषि दयानंद के स्पष्ट मन्तव्यों के विरुद्ध बहुत कुछ छप जाता। सारांश तथा तात्पर्य मेरे सारे लेख का यह है कि ऋषि दयानंद के ग्रंथ, उनके वेद-भाष्य सहित, वेदार्थ की कुंजी हैं, वैदिकधर्म के मर्म को प्रकाशित करने वाले हैं, संसार से अविद्यांधकार को दूर करने में सहायक हैं, परंतु फिर भी न ही हमारे लिये **परम प्रमाण** हैं और न ही **वेद** हैं। **वेद** ब्रह्मा से लेकर जैमिनी पर्यन्त सब ऋषि मुनि **अखिल धर्म का मूल मानते आए हैं।** ऋषि के ग्रंथ हमें इसलिए प्रिय हैं कि वे वेदार्थ के दर्शक हैं, परंतु परम प्रमाण फिर भी वेद ही रहेगा। और ये सब ग्रंथ वहां तक ही प्रमाणिक समझे जाएंगे जहां तक कि वेदाज्ञा के अनुकूल उपदेश देते हैं।

आचार्य फिर भी ऋषि दयानंद ही रहेंगे

तब प्रश्न होगा कि दयानंद का आचार्यत्व कैसे स्थिर रहेगा ? संदेह हो सकता है कि बिना आचार्य के कोई संप्रदाय स्थिर नहीं रह सका और इसलिए आर्यसमाज को भी स्थिरता न होगी। इस प्रकार की शंकाएं अविवेकी हृदयों के अन्दर उठती हैं। एक बड़ा लम्बा पुरुष आंख उठाकर चारों ओर देखता है और प्राकृतिक विचित्र घटनाओं का वर्णन इर्दगिर्द खड़े बौने पुरुषों के लिए करता है। उन बौनों में से कुछ उस को सेवा से प्रसन्न कर लेते हैं और वह उन्हें अपने कन्धे पर उठाकर उन विचित्र दृश्यों के दर्शन कराता है। यदि कंधे पर चढ़े बौनों के हृदय शुद्ध हैं तो वे लंबे, बड़े पुरुष से भी कुछ आगे देख लेते हैं। परंतु ऐसा होने से क्या उस बड़े पुरुष का गुरुत्व नष्ट हो जाता है ? बड़ा महानुभाव बड़ा ही रहेगा। बौना नीचे उतरकर फिर बेबस हो जाएगा। महानुभाव की फिर भी ऊंची ही दृष्टि रहेगी। यदि दयानंद से शिक्षा पाये, उसकी भाष्य प्रणाली के नियमों से दीक्षा लेकर कोई शुद्ध हृदय आर्य वेदार्थ में कुछ आगे चल सकता है तो उसका यह तात्पर्य नहीं है कि वह दयानंद से बड़ा हो गया, व दयानंद का गुरुत्व घट गया। दयानंद के ऊंचे विशाल कंधे पर चढ़, कइयों ने अविद्या ग्रस्त होकर यह समझ लिया था कि जिस ऊंचाई से वे वेद-तत्त्व का दर्शन कर रहे हैं वह उन्हें बिना सहायता के प्राप्त हुई है। इसीलिए जब उन्होंने स्वतंत्र उड़ान लगानी आरंभ की तो धम्म से पृथ्वी पर आ गिरे और फिर पुराने अंधकार में व्याकुल हाथ पैर मारने लगे। दयानंद हमें जंजीरों में बंधवाने नहीं आया था, वह हमें मानसिक दासत्व से छुड़ाने आया था। निर्बल हृदय अविश्वासी पुरुष डरते हैं कि यदि किसी वेद मंत्र का भाष्य किसी आर्य पुरुष द्वारा अधिक उत्तमता से प्रकाशित हो गया तो दयानन्द की गौरव हानि हो जाएगी और आचार्य बिना संप्रदाय की इतिश्री हो जाएगी, परंतु वे भूल जाते हैं कि दयानंद ने जन्म ही संप्रदायों की समाप्ति करने के लिए लिया था। आर्यसमाज को दयानंद ने संप्रदाय नहीं बनाया था, आचार्य पद के लिए दयानंद ने अपने आपको संसार के सामने पेश नहीं किया था; संसार के प्यासे आत्माओं ने आत्मिक शीतल अमृत पान करने के लिए स्वयं उसे अपना आचार्य स्वीकार किया था। तब वे मनुष्य दयानंद के अनुयायी होने का दावा कैसे कर सकते हैं जो उसके आदेश और उपदेश के विरुद्ध आचरण करते हैं !

क्या आर्यसमाज सचमुच एक नया संप्रदाय है ? आर्यसमाज की आधारशिला क्या संवत् 1933 वि. को मुंबई में ही रखी गई थी ? **आर्य** और **समाज** दोनों शब्द प्राचीन हैं, फिर उसका संबंध कैसे नया हो सकता है ? आर्यसमाज सृष्टि की आदि से ही संस्थापित है। आर्यसमाज कोई संप्रदाय नहीं। परमेश्वर की परमपावनी वाणी वेद और उसके पवित्र उपदेशों की रक्षा के लिए समय समय पर आचार्य होते हैं और धर्म को संप्रदायों की संकुचित परिधि से पुनः स्वतंत्र करा जाते हैं। आर्यसमाज

युग युग और शताब्दी शताब्दी में स्थापित होते रहेंगे और समायानुकूल धर्म की रक्षा करके फिर आगे आने वाले समाज के लिए अपना आदेश छोड़ जायेंगे। तब व्यक्तियों के समूहों की ओर दृष्टि डालना और उन्हीं में लिप्त रहना ऋषि सिद्धांत के विरुद्ध है।

ऋषि का जीवन हमें क्या उपदेश देता है ? वेद के पवित्र प्रकाश पर मोहित हुआ दयानंद व्यक्तियों, संप्रदायों और मनुष्य समाजों की ओर दृष्टि उठाकर भी नहीं देखता। मुनिवर गुरुदत्त ने ठीक कहा था कि वेद के प्रकाश पर मस्त दयानंद संसार की कृत्रिम छवि की ओर आंख उठाकर देखता भी न था ? दयानंद का गौरव इसमें नहीं हैं कि हम वेद को उस पर न्यौछावर कर दें। जिसे दयानंद का शिष्य कहलाना है उसके लिए न केवल वेद के अतिरिक्त और सब पढ़ा लिखा भुलाने की ही (पं. गुरुदत्त के शब्दों में) आवश्यकता है प्रत्युत दयानंद के दीर्घस्कन्ध पर चढ़कर अपने आपको तथा दयानंद को भी भुलाने की आवश्यकता है। हां, आचार्य दयानंद के मिशन की पूर्ति के लिए, स्वयं आचार्य के व्यक्तित्व को भी भूल जाने की आवश्यकता है, जिससे वेद सूर्य के प्रकाश पर किसी प्रकार की भी छाया न पड़े।

वेद ही संसार का सर्वस्व है

भारतवर्ष का, संसार का सर्वस्व वेद ही है। जिस Logos (शब्द-ब्रह्म) की ढूंढ़ में ईसाई मत के आचार्य निमग्न रहे, जिस 'खुदा के जाती नाम' (परमेश्वर के निज नाम) 'इस्मेआज़िम' की चाह में महम्मदी दरवेशों ने संसार से मुंह मोड़ा, उसकी व्याख्या यदि मिलती है तो वेद में। प्राचीन ऋषि अंत में अल्हाद-पूर्वक नाद करते हैं—**'सर्वे वेदायत्पदमामनन्ति...**, उस अनहद नाद को स्पष्ट करने वाला, अन्धकारमय जगत् में, एक ही पथ दर्शक, वेद को इसीलिए ऋषि दयानंद ने आत्मिक सूर्य बतलाकर संसार को उससे प्रकाश लेने का आदेश दिया, और उसकी पठन (श्रवण) मनन और निधिध्यासन संसार भर के श्रेष्ठ पुरुषों का परम धर्म बतलाया।

क्यों वेद का इतना गौरव रहा है और क्यों अब तक 33 कोटि आर्य-संतान उसी की शरण में शान्ति लाभ की आशा रखते हैं—इसका निर्णय दूसरी लेख-माला में होगा, जिसका शीर्षक रखा गया है—

वैदिक-धर्म और उसके मूल सिद्धांत।

द्वितीय अध्याय

धर्मोपदेश

प्रथम भाग

1

उपत्वाग्ने दिवे दिवे दोषावस्तर्धिया वयम्।
नमो भरन्त एमसि।।

ऋ. अ. 1, व. 2, मं. 7

उपदेश

धन्य आपकी दया की वृष्टि ! हम तुच्छ आत्मा, जिससे आप किसी प्रकार की सेवा की आवश्यकता नहीं रखते उस पर ऐसी अपार दया ! आपने नेत्र देकर हमें इस योग्य बनाया कि हम आज आपकी विस्तृत सृष्टि में आपकी रचना देख आपके महान ज्ञान के सन्मुख विस्मित हो रहे हैं। आपने कर्ण देकर हमें उस उपदेश को श्रवण करने योग्य बनाया जिसके श्रवण बिना कोई भी मनुष्य अपने ज्ञान की वृद्धि कर आत्मज्ञानी नहीं बन सकता एवं आपकी महिमा को नहीं जान सकता। प्रभो ! आपने जो वाणी दी है उसके द्वारा उपदेश कर हम सहस्रों आत्माओं का हृदयान्ध दूर कर एवं पुण्यभागी बन आपका साक्षात् दर्शन पाने के लिए प्रार्थना कर सकते हैं। जिसमें ये इंद्रियां बनी रहें आपने यह शरीर रूप यंत्र कैसा अद्भुत बनाया है ? उदान वायु के द्वारा अन्न पान भीतर जाता है, जिसके विकृत भाग को अपान वायु बहिष्कृत करता है और सार भाग को समान वायु क्रमशः रक्त रूप में परिणत करता हुआ लक्षोंनाड़ियों में विस्तृत कर देता है। इस रक्त के विकार को फेफड़ों द्वारा प्राणवायु बारम्बार परिशुद्ध करता हुआ उसे शरीरावयवों के पोषण के उपयुक्त बनाता है जिससे इस शरीर रूप यंत्र में बैठा हुआ आत्मा अपने कार्यों को सिद्ध करता रहता है। भगवन् ! एक क्षण भी तो ऐसा नहीं है जिसमें आपकी कृपा का फल हम न भोगते हों। प्रति श्वास में आपका ही वायु लेकर सुखी होते हैं फिर प्रति श्वास में आपको नमस्कार क्यों न करें। इस पृथ्वी के छोटे-छोटे कण वियुक्तावस्था में हमारे व्यवहार के अयोग्य थे। आपने उन्हें पृथ्वी रूप में परिणत कर और इस पृथ्वी पर नाना प्रकार के फलफूल कंदमूल उत्पन्न कर हमारी रसना के द्वारा हमें कितना सुख पहुंचाया ?

पिता पुत्रवत् हमें पोषण करने वाले ! आपकी असीम कृपाओं का कहां तक हम वर्णन करें ? सच्चे संबंधी तो आप ही हमारे हैं। पूर्व जन्म के शरीर, स्थान, प्यारे

पिता माता सभी से संबंध टूट गया परंतु आपके कृपामय शरण में जिस प्रकार पूर्व जन्म में सुख भोगते थे उसी प्रकार इस जन्म में भी भोग रहे हैं। आप जैसे दयामय पिता का एक बार दर्शन पाते ! आप हैं तो हम आत्मा में ही विद्यमान, परंतु हाय ! हमारे पाप इतने बढ़े कि हम अपने में ही आप का दर्शन नहीं पाते। अनात्मा में फंसकर हमने आत्मस्वरूप को विस्मृत कर दिया है। पिता ! प्रकृति की ओर से ध्यान खींच लेने की शक्ति प्रदान करो जिसमें आत्मस्थ होकर हम अपने में ही आपको पा जावें और फिर प्रतिदिन आप ही की उपासना करते रहें।

प्यारे पाठक गण ! प्राणायाम से मन को शिथिल कर प्रत्याहार और धारणा की साधना कीजिए। हम हैं, न अन्नमय कोष, न मनोमय कोष और न ज्ञानेंद्रियां, प्रत्युत हैं हम एक सूक्ष्म चेतन सत्ता। हमें अपने में ही अपने प्रभु को खोजना है अतएव हम अपने प्रभु के ध्यान में कैसे निमग्न हों जब तक कि हम प्रकृति का ध्यान न छोड़ देवें। क्या हम अपने मनुष्य जीवन को यों ही बीतने दें और अपने प्रभु को हृदयङ्गम न करें ?

शब्दार्थ

(अग्ने) हे प्रकाश स्वरूप परमात्मन् (धिया) ज्ञान प्रकाश के लिए (वयम्) हम सब (त्वा) आपकी (दिवे दिवे, दोषावस्तः) प्रतिदिन रात (नमो भरन्तः) नमस्कार करते हुए विनय के साथ (उप उमसि) उपासना करते हैं।

2

तमीश्वराणां परमं महेश्वरं, तं देवतानां परमञ्चदैवतम्।
पतिं पतीनां परम पुरस्तातविदाम देवं भुवनेशमीड्यम्।।

श्वेताश्वेतरोपनिषद् अ. 6, म. 7

उपदेश

क्या यह पुरुष जिसे अपनी शक्तियां प्रयोग में लाने का मौका ही नहीं मिला यावह जो सच्चाई के मार्ग से भटका हुआ है जिसने अपनी शक्तियों को अनुचित रूप से प्रयोग किया है ? क्या वह कभी भी सर्वशक्तियों के मालिक को जान सकता है ? पहले इसके कि सर्वशक्तिमान् की महानता को समझने का साहस कर सके, मनुष्य के लिए आवश्यक है कि वह स्वयं शक्ति की महानता को अनुभव करके उसका उचित प्रयोग सीखे और उस पर आचरण करे। कौन मनुष्य है जिसे ताकत अंधा नहीं कर देती !

"अस नर कोउ उपज्यो जग नाहीं। प्रभुता पाय जाहि मद नाहीं।" मननशील, सच्चा मनुष्य वही है जिसने ताकत के रहस्य को समझा है। इंद्रियों की दासता में फंसे हुए, विषयों की मजबूत, जंज़ीरों के अंदर जकड़े हुए, पशु भाव को प्राप्त हुए पुरुष अविद्या के गढ़े में गिर कर समझ लेते हैं कि विषयों को अंधाधुंध भोगना ही ताकत का प्रगट करना है। जिन वीर पुरुषों ने अपने मन को हर प्रकार के मल विक्षेप और आवरण से पृथक् करके परमपिता के केवल चौथे जागृत पाद पर ही विचार किया है और इसकी विचित्र महिमा के लेशमात्र भी दर्शन किए हैं, उनका अनुभव है कि आनंद ताकत को नष्ट करने में नहीं है, अपितु उसके सुरक्षित रखने के अंदर ही सच्चा आनंद है। परमात्मा क्यों आनंद स्वरूप हैं ? इसलिए कि सांसारिक कर्म बंधन के अंदर फंसना उसके स्वभाव के विरुद्ध है। अतः सामर्थ्य के अभिलाषियों के लिए अत्यंत आवश्यक है कि परम शक्तिमान् परमात्मा के शक्ति स्वरूप को अनुभव करने का प्रयत्न करें।

फिर उस परमात्मा के दैवीय स्वरूप के दर्शन कौन कर सकता है ? जो स्वयं प्रकाश से अलग रहता है, जिसने अपनी आयु अंधेरे में नष्ट की है, वह सब प्रकाशकों

के प्रकाशक, महादेव को कैसे जान सकता है ? प्रकाशस्वरूप तक पहुंचने के लिए सबसे पहले हृदय के अंदर प्रकाश को धारण करने की सामर्थ्य होनी चाहिए। किसी शीशे के अंदर प्रकाश का ठीक यथार्थ प्रकाश होता है। उसके अंदर नहीं जिसके मुंह पर मैल ने चमक ही बाकी नहीं छोड़ी ? परम रक्षक परमात्मा को किसने समझा है ? जिसने दीनों को दबाने में अपनी शक्ति को नष्ट किया है और अनाथों को लूटने में ही पुरुषार्थ को खर्च किया है वह रक्षा धर्म को क्या समझ सकता है ? जिसकी हमदर्दी का क्षेत्र विस्तृत नहीं हुआ ? जिसने मनुष्यों को ही केवल अपना भाई समझकर बेज़बान पशु पक्षियों की गर्दन पर बिना कारण छुरी चलाना अपना हक समझा हुआ है, वह क्या समझ सकता है ? परमात्मा की उस शक्ति को जिसके द्वारा वह सारे संसार की रक्षा करते हैं किसने समझा है ? संसार में अनगिनत मनुष्य हैं जो मन द्वारा शक्ति के पृथक्-पृथक् पहलुओं पर विचार कर सकते हैं लेकिन उनके अंदर एक मूर्ख नेकनियत इंसान जितनी शक्ति भी नहीं है। सैकड़ों दार्शनिक विद्वान् हैं जो आकाश के हरेक बाह्य प्रकाश को बड़ी खूबी से बयान कर सकते हैं। परंतु यदि वे अपने मन के अंदर के भावों को प्रगट करें, तो उसके अंधकार का केवल विचार करने से ही शरीर कांप उठता है। मैंने हजारों सुडौल और दृढ़ शरीर धारी देखे जो कुश्ती के हर किस्म के दांव-पेच में निपुणता रखते हुए भी दूसरों की तो और रही, अपने शरीर की रक्षा के योग्य भी न सिद्ध हुए। इसका कारण क्या है ? यही क केवल ज्ञान से उद्देश्य की प्राप्ति नहीं होती बल्कि जब उसके साथ साधन और कर्तव्य सम्मिलित हो जायें, तब मनुष्य जीवन के उद्देश्य को प्राप्त करता है। विद्या बिना आचरण के, बजाय सुख के, दुःख का साधन बन जाती है। इस लिए अगर शक्तिमान्, प्रकाशस्वरूप, परमरक्षक परमात्मा तक पहुंचना है तो शक्ति, प्रकाश और रक्षा धर्म को अपने अंदर धारण करो।

शब्दार्थ

(ईश्वराणाम) शक्तिमानों में (तं परमं महेश्वरम्) उस परम शक्ति (देवतानां) देवताओं में (तपरमदैवतम्) उस बड़े देव (पतीनां) रक्षकों में (तं परमं पतिम्) उस परम रक्षक (भुवनेशम्) सारे संसार के मालिक (ईड्यम) स्तुति योग्य (देवम्) देव को (पुरस्तात्) सर्व प्रथम (विदाम) हम जानें।

3

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्;
ब्रह्मचर्यमहिंसा च, शारीरं तप उच्यते।।

गीता 17, 14

उपदेश

तप की महिमा प्राचीन ऋषियों ने अपने शास्त्रों में स्थान स्थान पर की है। वेदों की व्याख्या करते हुए, एकांत में बैठे, अपने शिष्यों को ब्रह्मांड का रहस्य बतलाते हुए वे यही समझाते थे कि सृष्टि की उत्पत्ति में भी तप का ही बड़ा भारी हाथ है। तप कहते हैं असीम दृढ़ता को। और उसी परमात्मा के गुण का परिणाम रूप प्रकृति का रूप में आना है। यह तप का विचार यहां तक आर्यों के अंदर घर कर चुका था कि पौराणिक घोर अंधकार के समय में भी पार्वती के तप का जिक्र करते हुए तुलसीदास ने निम्नलिखित चौपाई नारद के मुंह से पार्वती के उपदेश के लिए कहलायी है।

'तप बल रचिय प्रपंच विधाता। तप बल विश्व सकल जगत्राता।
तप बल शंभु करें सहारा। तप बल शीश धरें महि भारा।
''तप अधार सब सृष्टि भवानी। करहु जाय तप यह जिया जानी''

सारा ब्रह्मांड ही तप के सहारे खड़ा है, महामुनि पतंजली ने अपने योगशास्त्र में पहली क्रिया योग का वर्णन करते हुए, तप की प्रधानता जतलायी है। अतः जीवन उद्देश्य रूपी लक्ष्य के मार्ग पर चलने के अभिलाषियों के लिए आवश्यक है कि वह सबसे पहले तप की असलियत को समझे। मालूम रहे कि वेदधर्म के अनुयायी, सदैव से प्रत्येक कर्तव्य को तीन भागों में बांटते हैं; अर्थात् मन, वाणी और कर्म संबंधी। सबसे पहले शारीरिक तप का वर्णन कृष्ण भगवान् ने किया है, और वह इसलिए कि अभ्यास के लिए शारीरिक तप सबसे सुगम है। सबसे पहले बुद्धिमान द्विजों की पूजा लिखी है और वह इसलिए कि द्विज दो जन्मों के कारण सर्वसाधारण से बुद्धिमान होंगे। गुरु की पूजा और फिर अन्य विद्वानों की पूजा, चाहे वे जन्म से कैसे ही क्यों न हों। इस तीन प्रकार के मनन करने वाले विद्वानों की पूजा अभ्यास इसलिए करना

चाहिए ताकि जहां एक तरफ अभिमान का नाश हो, वहां दूसरी तरफ ऐसे तपस्वी मनुष्यों के सत्संग से अपने में अच्छे गुण आवें। यही कारण था कि गुरु की शारीरिक सेवा को विद्यार्थी के कर्तव्य कर्मों में से बहुत बड़ा कर्तव्य कर्म बतलाया जाता था। अपने गुरु श्री स्वामी विरजानंद जी के स्नान के लिए महान् दयानंद का स्वयं प्रेम से जुमना जल भर कर लाना, इसी नियम पर आश्रित था। अपने शरीर से दूसरे की सेवा करना, यह शरीरिक तप का आरंभ है। जो सेवक नहीं बना वह कभी प्रभु नहीं बन सकता इसका स्पष्ट परिणाम यही होगा कि शारीरिक पवित्रता, स्वयमेव मनुष्य में पहुंच जाएगी। पवित्र मनुष्यों की संगति में रह कर मनुष्यों को पवित्र रहने के लिए किसी मौखिक उपदेश लेने की आवश्यकता नहीं रहती। जब सत्संग में रहकर मनुष्य के अंदर शारीरिक पवित्रता का गुणआ जाता है तब उसके लिए अपने अंगों को सरल सीधा रखना कठिन नहीं रहता। परंतु प्रश्न हो सकता है कि अंगों को सरल सीधा रखने का जीवन के उद्देश्य से क्या संबंध है ? इसके समझने के लिए अहिंसा व्रत के धारण की आवश्यकता है। बांकेपन से रहने का धर्म से बड़ा भारी वैर है। जो अकड़कर चलता है और दिखावे का आदी है, वह किसी न किसी प्राणी का दिल दुखाये बिना नहीं रह सकता। अहिंसा का पालन कठिन है, जब तक मनुष्य वीर्य रक्षा नहीं कर सकता।

बस, जीवन उद्देश्य की ओर ले चलने के लिए जिस प्रकार सामग्री जीवात्मा को मिली है उसमें इस शरीर का साधारण दर्जा है उसे ठीक रखना मुमुक्षु का पहला कर्तव्य है। इसका अभ्यास करना यद्यपि कठिन है परंतु आरंभ करने पर उसके अंदर स्वयं सफलता हो जाती है। सबसे पहले चतुरता के साथ गुरु और विद्वानों की तलाश करनी चाहिए। यदि परखने से कसौटी पर ठीक उतरें तो उनके सत्संग के योग्य बनने का यत्न करना चाहिए। मान अपमान का विचार त्याग करके ऐसे महापुरुषों की शारीरिक सेवा करते हुए, धीरे-धीरे अपने शरीर को शुद्ध को रखने का स्वभाव पड़ जाएगा। ऐसे आलस्य का ख्याल छोड़ देना चाहिए कि सरदी की ऋतु में एक दिन न स्नान करने से क्या बिगड़ सकता है। एक दिन के व्यायाम छोड़ने से क्या हानि हो सकती है। एक वार अशुद्ध अन्न खाने से क्या बिगाड़ हो सकता है। नियम पूर्वक शरीर के सब अंगों को सरल सीधा रखने का स्वभाव डालना चाहिए। इससे ब्रह्मचर्य की रक्षा में भी बहुत सहारा मिलेगा। अनुभव बतलाता है कि जिनके शरीर शुद्ध हैं उनके मन भी बहुत हद तक शुद्ध रह कर, काम चेष्टा को रोकने का साधन सिद्ध होतें हैं। जब देवपूजा से शुद्ध होकर मनुष्य अपने अङ्ग प्रत्यंगों को वश में रखता हुआ, वीर्य रक्षा करके बलिष्ट होगा, तब उसके लिए अहिंसा धर्म का पालन एक स्वाभाविक बात हो जाएगी। उसे सारे संसार को मित्र बनाने में किसी परिश्रम की आवश्यकता न होगी।

शब्दार्थ

(देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनम) बुद्धिमान् द्विजों, गुरु और विद्वानों की पूजा, (शौचम्) शारीरिक पवित्रता, (आर्जवम्) अङ्ग सीधे रखना, (ब्रह्मचर्यम्) ब्रह्मचर्य (अहिंसा च) और अहिंसा का पालन (शारीरं) यह पांच शारीरिक (तप उच्यते) तप कहलाते हैं।

4

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्य प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते।।

गीता 17, 15

उपदेश

शारीरिक तप जहां अपने आप तक सीमित रहता है वहां वाणी का तप अपना क्षेत्र विस्तृत कर लेता है। वाणी का सम्बन्ध दूसरे प्राणियों से अधिक रहता है। पहली विशेषता वाणी के तप की यह है कि ऐसा तपस्वी जो शब्द मुंह से निकाले उसमें कठोरता का लेश मात्र भी न हो। वाणी साधन है एक मनुष्य के विचारों को दूसरे के मन तक पहुंचाने का। किंतु कठोर वचन से बोलने का असल अभिप्राय नष्ट हो जाता है। जिस मनुष्य तक तुम किसी सच्चाई को पहुंचाना चाहते हो, अगर वह तुम्हारी बात सुनने के लिए तैयार ही नहीं होता तो तुम्हारी बात करने का क्या लाभ ? किंतु केवल कठोर वचन को छोड़ने से ही काम नहीं निकलता। कठोर बोलने से तुम्हारे छुटकारे का केवल परिणाम यही हो सकता है कि तुम्हारे भाषण से दूसरा घृणा न करेगा। परंतु मतलब उस समय तक सिद्ध नहीं होता जब तक वह मनुष्य जिसे तुम अपनी बात सुनाना चाहते हो तुम्हारी तरफ आकृष्ट न हो जावे। इस आकर्षण का कारण क्या हो सकता है ? किस आचरण से दूसरे मनुष्य की रुचि स्वयं तुम्हारी ओर खिंच सकती है। विशेष पुरुषों के भाषण में विशेष प्रकार का रस होता है, इसके कारण उनका कठोर भाषण भी सुनने के लिए लोग मजबूर हो जाते हैं। इसका रहस्य क्या है ? कृष्ण भगवान् उत्तर देते हैं, अपनी वाणी को प्रिय बनाओ। प्रेम भाव उसके अंदर कूट कूटकर भर दो। फिर मनुष्यों के दिल तुम्हारे कथन की तरफ स्वयं खिंचे चले आवेंगे। जिस कथन के अंदर यह शक्ति है कि तुमसे समाज को दूर फेंक दे उसी कथन के अंदर यह शक्ति भी है कि वह हृदयों को खींच कर तुम्हें सौंप दे। माना कि कथन में सख़्ती न होनी चाहिए और यह भी मान लिया कि तुमने अपने कथन को दूसरों के लिए प्यारा बना दिया परंतु जब तक वह कथन हितकारी नहीं, जब तक मनुष्य की भलाई के हेतु से नहीं बोला जाता तब तक उसका वास्तविक

फल तुमको नहीं मिल सकता। संसार में बड़े-बड़े मधुर भाषी हो चुके हैं जिनके मधुर भाषण का सारा बल मनुष्यों की उन्नति में लगता रहा है। जिस तरह विद्या एक प्रबल शक्ति है उसी तरह वाणी भी एक प्रबल शक्ति है जिसके द्वारा विद्या का प्रकाश होता है। परंतु जिस तरह विद्या एक दो धारा वाली तलवार की तरह दोनों तरफ चलती है, वही अवस्था वाणी की है। स्वार्थ सिद्धि के लिए कही हुई प्रिय वाणी संसार में हलचल मचा देती है। परंतु वही प्रियवाणी जब संसार के उपकार के लिए बोली जाती है तो अनगिनत मनुष्यों के लिए शान्ति का कारण होती है। सत्य यह है कि स्वार्थ सिद्धि के लिए बोली हुई वाणी चाहे कैसी ही प्रिय क्यों न हो, उसका बल केवल दिखलावे का ही होता है, उसका प्रभाव देर तक नहीं रहता। किंतु जिस वाणी का प्रयोग प्राणधारियों के लिए होता है उसके अंदर स्वाभाविक बड़ा बल है। क्या वाणी की विशेषताएं यहां तक ही समाप्त हो जाती हैं ? बिलकुल नहीं। चाहे वाणी कैसी भी कठोरता से रहित हो, चाहे कैसी प्यारी और कितना ही परोपकार करने वाली हो, अगर उसकी नींव सत्य पर नहीं है तो वह मनुष्य का कर्तव्य कर्म नहीं है।

वह सत्य जिस पर सारा ब्रह्मांड आश्रित है, वही वाणी का भी आधार है। प्रश्न स्वतः उत्पन्न होता है–

"क्या दुःखित मनुष्य के सन्मुख सत्य बोलकर उसे और दुःखित करना हित कहला सकता है ?" यह प्रश्न अविद्या के कारण हम मनुष्य के हृदयों के अंदर उठता है। यह समझना हमें कठिन नहीं है। जो सत्य नहीं वह सर्व हित के लिए कैसे हो सकता है ? हितकारी क्या है ? हम यहां तक तो पता नहीं लगा सकते कि हमारे लिए क्या हितकारी है। फिर यह पता लगाना कैसा कठिन है कि दूसरों के लिए हितकारी क्या है ? इसलिए हरेक वाणी को उचित अनुमान लगाने के लिए उसे केवल सत्य की कसौटी पर रखना ही पर्याप्त है। अगर सत्य बोलने के लिए वाणी में सख्ती का आना आवश्यक है तो आने दो, किंतु सच्चाई को विशेष मनुष्य के हित के लिए कभी भी न्योछावर न करो; यह ऋषियों का उपदेश है। उपदेश बड़ा लाभकारी है। किंतु इस पर चलें कैसे ? इसका उत्तर ऋषि मुनि सदैव से एक ही देते आए हैं। जिस तरह दूसरे कर्तव्य कर्मों में दृढ़ होने के लिए अभ्यास की आवश्यकता है उसी तरह वाणी भी तभी ठीक हो सकती है जब कि उसकी पवित्रता के लिए विशेष अभ्यास किया जावे। और वह स्वाध्याय से बढ़कर और अभ्यास हो नहीं सकता। नित्य वेदों का अर्थ सहित पाठ करना ही स्वाध्याय कहलाता है। आज वेदार्थ का समझना तो दूर रहा आर्यों में से दस प्रतिशत भी वेदों का पाठ तक नहीं कर सकते। ऐसी अवस्था में उनको चाहिए कि ऋषि प्रणीत धर्मग्रन्थों का पाठ नियत से करें। प्रातः काल ब्राह्म मुहूर्त में उठकर शारीरिक व्यायाम और स्नान के पश्चात् पहला कार्य ब्रह्मयज्ञ है। परमात्मा के सत्संग से मन को स्थिर करके शारीरिक स्वास्थ्य के

लिए देवयज्ञ अर्थात् अग्निहोत्र के पश्चात् स्वाध्याय का समय है। यदि और धर्मग्रन्थ नहीं समझ सकते तो न्यून से न्यून जिस भाषा को समझ सकते हैं उसमें लिखे हुए सत्पुरुषों के उपदेश का पाठ अवश्य किया करें। आर्यसमाज के सदस्यों के लिए ऋषि दयानंदकृत सत्यार्थप्रकाश और ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका बड़ा रास्ता दिखाने का काम दे सकते हैं। जो मनुष्य इससे आगे बढ़ना चाहते हैं वे वेद भाष्य का विचार आरंभ कर सकते हैं। स्वाध्याय मनुष्य को गिरते-गिरते बचा सकता है। इसलिए वाणी को कठोरता रहित करने, उसे प्रिय, हितकारी बनाने और सत्य के सीधे सरल मार्ग से न डगमगाने देने के लिए आवयक है कि स्वाध्याय का कभी त्याग न किया जाए। हर देश, प्रत्येक संप्रदाय और प्रत्येक समय में महापुरुषों ने स्वाध्याय पर बड़ा भारी बल दिया है। वाणी के तप के बना शारीरिक तप की सिद्धि नहीं हो सकती, इसलिए वाणी को पवित्र करो। उससे सत्य से मांजकर प्रिय और हितकारी बनाओ जिससे संसार के अंदर सुख और शांति का राज्य आवे और हम सब प्रेमपूर्वक एक दूसरे के आत्मिक बल को बढ़ाते हुए मुक्तिधाम में परमानंद लाभ करने के अधिकारी बन सकें।

शब्दार्थ

(अनुद्वेगकरम्) कठोरता से रहित (सत्यम् प्रियहितं च) सत्य, प्रिय तथा हितकारी (यत् वाक्यम्) वचन बोलना (च) और (स्वाध्यायाभ्यसनम्) नियम से उत्तम ग्रंथों का पाठ करना (वाङ्मयं तपः) यह वाणी का तप (उच्यते) कहलाता है।

5

मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते।।

मनु. अ. 12, श्लोक 14

उपदेश

मानस तप के बगैर शरीर और वाणी के तप स्थिर नहीं रह सकते क्योंकि मन ही इन सबका आधार है। मन के द्वारा ही जीवात्मा वाणी और शरीर पर शासन करता है। सबसे प्रथम मन की प्रसन्नता आवश्यक है। मन को आनंद जब तक नहीं तब तक इंद्रियां और शरीर समता में नहीं रहते और इसलिए अपने कर्तव्य को पूर्ण नहीं कर सकते। किंतु मन को यही प्रश्न हो ? आनंद कैसे तो प्रचीन सब महापुरुषों को चक्कर में डालता रहा और आज उससे ज्यादा भंवर में डाल रहा है। अनुभवी ऋषियों ने बतलाया है कि मन के एकाग्र करने के लिए मन का आनंद आवश्यक है और इस आनंद के लिए विशेष साधन आवश्यक हैं। सबसे पहला कर्तव्य मन के आनंद के लिए यह है कि मित्रता उनसे की जाय जो वास्तव में सुखी हों। दिखावे के सुख में और वास्तव में सुख में भेद है। सुखी के साथ मित्रता का यही परिणाम, संसार में दुःखियों के प्रति वैर भाव समझा जाएगा। परंतु ऋषियों का ऐसा सिद्धांत नहीं है। वे दुःखी पर दया का आदेश करते हैं। दुःख के कारण जो काम, क्रोध इत्यादि दुर्गुण हैं उनसे जिस कदर, घृणा की जाय उचित है। उन्हें जिस कदर दबाया जाए ठीक है। परंतु जो मनुष्य हमारा भाई इन बुराईयों में फंसकर दुःखी हो रहा है उससे घृणा करना मनुष्यत्व से गिरना है। मानस तप मनुष्य के पद से बढ़ कर देवता के पद पर पहुंचने का साधन है। इसलिए जिस किसी को दुःखी देखो उस पर दया करो और पूर्ण सहानुभूति से उनके साथ व्यवहार करो। जिस किसी नियतात्मा को देखो उसके आचरण को देखकर अत्यंत प्रसन्न हो। उसके साथ एकता का प्रकाश करो। क्या परमात्मा को देखकर उससे विरोध तथा घृणा करनी चाहिए ? कदाचित् नहीं। यदि परमात्मा ने तुम्हें शक्ति दी है तो उसे बुरे मार्ग से हटा कर, सीधे मार्ग पर लाने का यत्न करो। अपने गिरे हुए भाई को उठने के लिए साहरा दो। यदि

इतना सामर्थ्य नहीं है तो उससे कोई संबंध न रखो। इन साधनों को नियमपूर्वक पालने से मन को आनंद की प्राप्ति हो सकती है और जब मन में आनंद है तो इंद्रियां भी इधर उधर नहीं हो सकतीं और न ही शरीर की अवस्था इंद्रियों को अशक्त करने के योग्य हो सकती है।

इस पहले साधन से मन शान्त होकर दूसरों के लिए आकर्षक बन जाएगा। स्वभाव के स्वभाव के आने से संसार को विजय करना कुछ कठिन नहीं होता। दिलों को खींचने की शक्ति मनुष्य को बड़े-बड़े उपकार के लिए तैयार कर सकती है। इस गुण को अपने अंदर धारण करने के लिए भी बड़े भारी साधनों की आवश्यकता है। अभ्यास इस का मूल है। तुम्हारा मन चाहे हाथ से जा रहा हो परंतु यदि आत्मा को दृढ़ करके जाते जाते मन को भी वश में करने का दृढ़ यत्न हो तो मन काबू में आ सकता है। इस अवस्था में पहुंचकर मौन रहना एक विशेष गुण साबित होता है। यही कारण था कि प्राचीन आर्य ऋषियों की ब्रह्मचारियों को दी अन्य आज्ञाओं में एक यह आज्ञा भी थी कि बोले कम और सुने ज्यादा। एक मौन न केवल हज़ार अवगुणों पर परदा डालता है बल्कि लाखों मन में आये हुए पापों से बचाता है। जब तक मनुष्य किसी विचार को मुंह से प्रगट नहीं करता तब तक उस पर आचरण करना उसके लिए रुकावट से खाली नहीं होता। बुराई को बार-बार मुंह से निकालना मनुष्य को लज्जित करता है। न केवल यही बल्कि एक विद्वान् का कथन ठीक है कि मुख से निकला हुआ वचन, धनुष से छूट हुए तीर की तरह फिर लौट कर नहीं आता। आह ! पुरानी घटनाओं को स्मरण कर हरेक मनुष्य कितने समयों की बेमौका वार्तालाप से लज्जित होता है और उसके परिणामों को स्मरण कर पश्चात्ताप करता है जब तक चुप रहने के स्वभाव का अभ्यास नहीं किया जाता तब तक हर समय बोलने की इच्छा बनी रहती है। चुप रहने का बड़ा भारी लाभ यह है कि उसके आचरण से मनुष्य भूल करते-करते रुक जाता है। विषय दिन रात इंद्रियों को अपनी ओर खींचते हैं। उनसे बचने का उपाय सिवाय इसके और कोई नहीं है कि मन को वश में किया जाए और मन को वश में करने में मौन बहुत कुछ सहायता देता है, इसी तरह पर जीवन व्यतीत करता हुआ मनुष्य नेकनियत हो जाता है, जिस पर कि भविष्य की भलाई आश्रित है। क्या संदेह है कि तप के बिना साधारण से साधारण काम जब सिद्ध नहीं होता तो जीवन का सच्चा उद्देश्य कब पूर्ण हो सकता है ? जिस तप के प्रभाव से बड़े-बड़े चक्रवर्ती महाराजे, करोड़ों के भाग्य का निर्णय करते हैं, जिस तप के प्रभाव से योगीजन अमृतधाम की ओर चलते हैं, उसके प्रभाव को जिसने नहीं समझा, और उसके नियमों के पालन करने में जिसने अपना सारा बल नहीं लगाया, वह संसार के भंवर चक्कर से कैसे निकल सकता है ?

शब्दार्थ

(मनः प्रसादः) मानसिक प्रसन्नता (सौम्यत्वं) स्वभाव में सौम्यता (मौनम्) मौन (आत्मविनिग्रहः) विषयों से अपने मन को रोकना (भाव संशुद्धिः) नेकनीति से परस्पर वरताव (इत्येतत्) यह सब (मानसं तपः) मानसिक तप (उच्यते) कहलाता है।

6

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत् त्रिविधं नरैः।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्विकं परिचक्षते।।

गीता 12, 15

उपदेश

'शरीर' 'वाणी' और मन तीनों से करने योग्य जो तप हैं उनका सेवन मनुष्य को नित्य करना उचित है। अतः अनुभवी, योगी आदेश देते हैं कि फल भोग की इच्छा को त्याग कर इन तपों का करना जिज्ञासु के आचरण को सात्विक कर्म की सीमा तक पहुंचाता है और सात्विक कर्म करते हुए ही मनुष्य अंत में बंधनों से छूट जाता है। इसलिए निष्काम कर्म करना ही मनुष्य कां सबसे पहला धर्म है। सकाम कर्म अर्थात् फल की इच्छा से किया हुआ कर्म तो बराबर नाश होता चला जाता है। जो कर्म सिद्धि की इच्छा से किए जाते हैं, उनका अंत में इसकी प्राप्ति के बाद हो जाता है। इनमें से कोई कर्म भी बाकी नहीं रहता जो मनुष्य को इस संसार से आगे ले चले। परंतु निष्काम कर्म की महिमा बड़ी है। जो कर्म, फल भोग की इच्छा को छोड़कर किए जाते हैं, उनका बल दिन प्रतिदिन बढ़ता ही रहता है और अंततः इस प्रकार बढ़ जाता है कि बिना इच्छा के ऐसे निष्काम कर्म करने वाले को हरएक प्रकार की सिद्धि प्राप्त हो जाती है कि कृष्ण भगवान् ने स्थान स्थान पर कर्तव्य करने का आदेश देते हुए अर्जुन को समझाया है कि अपने किए हुए कर्मों के फल भोगने की अभिलाषा मत करो। सांसारिक राज्य के प्रबंध से भी हमें मार्ग दिखलाने के लिए यही शिक्षा मिलती है कि जो राज्य का कर्मचारी किसी विशेष स्वार्थ को लेकर काम करता है उसका वही स्वार्थ पूरा किया जाता है और उससे आगे उसे कुछ नहीं मिलता। परंतु जो मनुष्य केवल अपने आत्मा को प्रसन्न करने और उसकी आज्ञा को यथार्थ पालन करने को ही अपना उद्देश्य समझता है उससे जहां उसका प्रभु प्रसन्न हो जाता है वहां वेतन वृद्धि, पारितोषक आदि सब काम स्वयं ही पूर्ण हो जाते हैं। इसी प्रकार जो मनुष्य अपने कर्तव्य, परमात्मा के नियमों के पालन, को मुख्य समझता है वह न स्वयं परमात्मा को ही प्राप्त होता है बल्कि जिन सुखों

के प्राप्त करने के लिए सांसारिक पुरुष भटकते फिरते थे उनको भी बगैर मांगे हुए प्राप्त कर लेता है। इस संसार में जो इतनी अशान्ति और व्याकुलता फैल रही है उसका बहुत कुछ कारण यह है कि सर्व साधारण पुरुष हरएक काम को सकाम भाव से करते हैं। एक आदमी सच बोलता है। क्या इसलिए कि सच बोलना उसका कर्तव्य कर्म है ? कदाचित् नहीं, बल्कि इसलिए कि सत्य बोलने से उसका कोई अभिप्राय सिद्ध होता है।

यह कथन साधारण बात है "मुझे झूठ बोलने से क्या लाभ" ? अर्थात् यदि कोई लाभ हो तो झूठ बोलने में भी कोई संकोच नहीं। शोक यह है कि अविद्या में फंसे हुए हम लोग अपने हानि लाभ को नहीं समझते। देश के अंदर दुर्भिक्ष पड़ा हुआ है, हज़ारों लाखों हमारे भाई भूखों मर रहे हैं। क्या हम इसलिए उनकी सहायता के लिए जाते हैं कि उनकी सहायता करना हमारा कर्तव्य है ? यदि यह होता तो हम समाचार पत्रों में तार द्वारा इन खबरों को न छपवाते कि हमने इस कदर आदमी दुर्भिक्ष से पीड़ितों के लिए भेजे। भूकंप ने कांगड़े को नष्ट कर दिया था। चारों ओर से सहायता की पुकार हुई। जो मनुष्य दुखियों की सहायता के लिए गए, उन्होंने अपनी प्रसिद्धि का नरसिंहा बड़े बल से फूंका। कई समाजों के सदस्यों ने दुखियों को सहायता देने की अवस्था में अपने चित्र खिंचवाए और उन्हें समाचार पत्रों में छापा। मुझे यह मालूम हुआ कि एक रईस धनाढ्य भी दुखियों की सहायता के लिए गए। संभवतः कई समाजों से ज्यादा उन्होंने उन्हीं दिनों धन खर्च किया और स्वयं जाकर दुखियों की धन से सहायता की परंतु न तो उन्होंने अपना नाम कहीं छपवाया और न ही सरकार के खास धन्यवाद प्राप्त करने का यत्न किया। सरल आत्मा ने जो कुछ किया, अपना कर्तव्य समझ कर किया। मैंने जब इस भद्र पुरुष का वृत्तांत सुना, रोमांच हो गया; गद्गद् प्रसन्न हुआ। लोग ख्याल करते हैं कि कर्तव्य का पूर्ण करना कठिन है। अनुभव बतलाता है कि इससे बढ़कर आसान और कोई कार्य नहीं। हां, साधनों में पड़कर हम लोगों ने स्वयमेव अपने आपको अपने कर्तव्य के पालन करने के योग्य नहीं छोड़ा। हम यदि किसी भूखे को रोटी देते हैं तो अपनी प्रशंसा की इच्छा से। अगर किसी परोपकार के काम में सम्मिलित होते हैं तो आशा यह रखते हैं कि जनता की ओर से हमारी सेवा में अभिनंदन पत्र पेश किया जाय, हमारी सवारी निकाली जाय और सारे संसार में हमें प्रसिद्ध किया जाए। शोक ! हम यह नहीं समझते कि इस प्रकार का दिखावा भी अब ऐसा हो गया है कि अब इसका आम जनता की दृष्टियों में कुछ मूल्य नहीं रहा। और देखिए ! ऐसे सकाम भाव से किए कामों में दुःख किस कदर होता है। फल की ओर आंखों का लगा रहना क्या कुछ कम कष्ट है ? जिन्हें फल की अभिलाषा नहीं, वे हर समय प्रसन्न रहते हैं। काम करते हैं, उनकी चिंता दूर हो जाती है। अपने कर्तव्य के पूर्ण करने के बाद उन्हें परिणाम पर विचार करने की आवश्यकता नहीं। परमात्मा ने हमारे कर्तव्य

हमें स्पष्ट बता दिए हैं। सृष्टि में उसके नियमों को ध्यानपूर्वक देखो। तुम्हारे लिए तुम्हारा कर्तव्य स्पष्ट प्रगट हो जाता है। इस कर्तव्य के पूरा करने से बढ़कर और कोई कर्तव्य न समझो, तब तुम्हें शांति मिल सकेगी।

शब्दार्थ

(अफलाकांक्षिभिः नरैः) निष्काम भाव से, बिना फल की इच्छा के, जो मनुष्य (त्रिविधं तत् तपः) पहले वर्णन किए गए शारीरिक, वाङ्मय और मानसिक तप को (परया श्रद्धया) परम श्रद्धा के साथ (तप्तम्) सेवन करते हैं (युक्तैः) आचरण शील विद्वान् (सात्विकम् परिचक्षते) उस तप को सात्विक तप कहते हैं।

7

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य, वर्तते कामचारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति, न सुखं न परां गतिम्।।

गीता 16, 23

उपदेश

जन्म दिन से ही बालक के लिए साधनों की आवश्यकता को न केवल आर्य ऋषियों ने ही अनुभव किया है बल्कि संसार के सब विद्वानों ने संस्कारों की महानता के आगे सिर झुकाया है। जो मनुष्य साधन संपन्न नहीं है, वह मनुष्य जीवन के उच्च आदर्श की तरफ़ एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकता। दुःखों से छूट कर शांत अवस्था को प्राप्त करना, मनुष्य जीवन का परम उद्देश्य है। किंतु दुःखों से मनुष्य छूट कैसे सकता है ? जब तक कि सुख प्राप्ति के साधनों का उसे ज्ञान न हो। इसलिए कृष्ण भगवान् ने सिद्धि, सुख और मुक्ति का क्रम से वर्णन किया है। किंतु सिद्धि के लिए साधनों की आवश्यकता है। उन साधनों की वास्तविकता मनुष्य कहां से जाने। इसी बीसवीं शताब्दी के विद्वान् नौजवान अपने दिमाग से निकले हुए विचारों के समर्थन को ही प्रकृति का समर्थन समझते हैं किंतु इन नवयुवकों पर ही क्या निर्भर है ? हर समय, प्रत्येक संप्रदायों के अनुभवशून्य नवयुवक इसी तरह अपनी बुद्धि पर निर्भर करना है सिद्धि का साधन समझा करते हैं। और जब तक कि संसार के अंदर सच्ची शिक्षा का अभाव है, तब तक बराबर इसी तरह समझा करेंगे। अशिक्षित आत्मा साधनों की वास्तविकता को समझ नहीं सकता क्योंकि जब उसे सुख के स्वरूप का ही ज्ञान नहीं है, तो वह सुख के साधनों का सच्चा चित्र अपने लिए कब खींच सकता है। इसलिए मनु भगवान् ने धर्मशास्त्र का उपदेश देते हुए बतलाया है कि मुक्ति के साधनों के जानने का सबसे छोटा साधन मनुष्य का अपना आत्मा है। जीवात्मा की हालत ठीक दर्पण की तरह है। जिस कदर एक शीशा अधिक साफ़ किया जावे उसी कदर सफ़ाई के साथ वस्तुओं का प्रतिबिंब उसके अंदर पड़ता है, और उसी कदर सच्चाई के साथ उन चीज़ों की बाह्य स्थिति देखने वालों के लिए प्रगट कर सकता है। परंतु यदि शीशे पर मैल व मिट्टी आदि से उसका रूप धुंधला पड़ जाये तो उसके अंदर

वस्तुओं का प्रतिबिंब बिलकुल उलटा पड़ेगा। इसी तरह जो जीवत्मा अशक्त है, बिगड़ते-बिगड़ते अविद्या का बिलकुल शिकार हो जाता है उसके लिए उसका अपना प्रकाश कुछ भी मार्गप्रदर्शक का काम नहीं कर सकता। यदि उसकी शिक्षा ठीक हो तो वह केवल ठीक रास्ते का पता लगाने वाला बन जाता है। आगे चलने के लिए उसे फिर दूसरे पवित्र आत्माओं से शिक्षा लेने की आवश्यकता पड़ती है। किंतु दूसरे पार्वत्र आत्मा भी एक निश्चित सीमा तक मार्ग प्रदर्शन कर सकते हैं। कभी-कभी ईर्ष्या या द्वेष में फंसकर सदाचारी पुरुषों का आचार भी धोखा देने वाला सिद्ध होता है, तब शास्त्र के मार्ग दिखाने की आवश्यकता होती है। जबकि बड़े-बड़े आत्मा भी सर्वज्ञ नहीं, इसलिए उनकी लिखी हुई शिक्षाएं (जो उनके बनाए शास्त्रों में लिखी हैं) भी पूरा पूरा मार्ग प्रदर्शक का काम नहीं दे सकतीं। तब पूर्ण शास्त्र की ढूंढ़ होती है। और वह परमेश्वर का निर्भ्रान्त और अनंत ज्ञान है। हे मनुष्य ! उस अनंत और निर्भ्रान्त ज्ञान की ढूंढ कर और उसे पाकर उसमें वर्णन की हुई बुद्धि के सांचे में अपने जीवन को ढाल। फिर तेरे लिए मुक्ति का मार्ग बिलकुल सुगम हो जायगा। वह पूर्ण शास्त्र कहां है और उस वेद ईश्वरीय ज्ञान की कहां खोज करें ? यह प्रश्न किस मनुष्य के हृदय में कभी न कभी नहीं उठता ? इसका उत्तर देने का भी प्रत्येक मनुष्य ने किसी न किसी समय यत्न किया है। यह प्रश्न जैसे मनु भगवान के समय नवीन था, वैसा अब भी है। जब तक इस प्रश्न का ठीक उत्तर नहीं मिलता तब तक मनुष्य का हृदय डावांडोल रहता है। जगत् पिता अपनी कृपा से हम सबके हृदयों को हिला देवे जिससे हम उसके सच्चे ज्ञान की ढूंढ़ करके अपने जीवन की सिद्धि के लिए सच्चे साधन जानकर सच्ची शांति की ओर पग उठायें।

शब्दार्थ

(यः) जो मनुष्य (शास्त्रविधिम्) शास्त्र की विधि को, आदेश को (उत्सृज्य) छोड़कर (कामचारतः वर्तते) अपनी इच्छानुकूल आचरण करता है, (स सिद्धि न अवाप्नोति) वह न तो सिद्धि को सफलता को प्राप्त कर सकता है (न सुखम्) न सुख को (नपरांगतिम्) और न मुक्ति को प्राप्त कर सकता है।

8

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः।।

गीता 13.2

उपदेश

संन्यास कैसा कठिन परंतु उच्च पद है और वैराग्य कैसा शुद्ध मार्ग है। 'न लिङ्गं धार्मकरणम्' गेरवे वस्त्र पहनकर कोई भी मनुष्य सन्यासी नदीं बन सकता। जिसका मन दृढ़ नहीं, जिसने लगातार अभ्यास से आज्ञापालन के नियम नहीं सीखे और जिसने किसी तरह कबायद करके शस्त्र संचालन नहीं सीखा, वह अगर सैनिक वेश पहन भी ले तो युद्ध भूमि में क्या करेगा ? इसी तरह जिस मनुष्य ने निरंतर साधनों द्वारा अपनी इंद्रियों और अपने मन को आत्मा का दास नहीं बनाया; जिसने यम नियम के पालन द्वारा काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार आदि के मुकाबले के लिए धैर्य, क्षमा आदि के शस्त्र धारण नहीं किए, उसने अगर गेरवे वस्त्र धारण कर भी लिए हैं तो उसे संन्यासी कौन दीर्घदर्शी कहेगा। संन्यास बड़ा ऊंचा पद है। जिस प्रकार ऊंची चोटी पर उसका मंदिर है इसी प्रकार उसे प्राप्त करना कठिन है। भारतवर्ष में इस समय लाखों भगवे वस्त्रधारी घूम रहे हैं। एक एक के आसन के पास सैकड़ों हज़ारों स्त्री पुरुष श्रद्धा और अश्रद्धा से बैठे हुए हैं अगर सचमुच ये संन्यासी होते, यदि इनमें से एक, चौथाई भी संन्यास पद के अधिकारी होते तो क्या भारतवर्ष में इसी प्रकार हाहाकार मचा रहता है ?

सं+न्यास न केवल यही है कि फल भोग की इच्छा को छोड़ देना परंतु ऐसे कर्मों को भी न करना जिनका निश्चित परिणाम कुछ न कुछ जरूर होने वाला हो। सकाम कर्मों से सर्वथा त्याग एक पुरुष को त्याग की पहली सीढ़ी पर पहुंचा सकता है। परंतु निष्काम कर्म किस तरह करने चाहिएं, यह बड़ा टेढ़ा प्रश्न है। अनेक कर्म, फल भोग की इच्छा से किए जाते हैं; राजा अश्वमेघ यज्ञ प्रजा के पालन के निमित्त करता है ताकि प्रजा सन्तुष्ट होकर राज्य की उन्नति करे। राज्य प्रबन्ध के लिए राज्य कोष को भर देवे। धार्मिक गृहस्थ पुरुष, पुत्रेष्टि यज्ञ इसलिए करता है कि

उसके पुत्र उत्पन्न होकर उसके आनंदित करें। संसार में यह सब कर्म, फल भोग की इच्छा से किए जाते हैं, उनका त्याग बड़े परिश्रम और आत्मदृढ़ता से हो सकता है। पर कृष्ण भगवान् इसको त्याग की अंतिम सीढ़ी नहीं कहते। उनकी सम्मति में अब तक जिज्ञासु के लिए और साधन शेष रह जाते हैं। सकाम कर्म को त्याग करके संन्यास का अभिलाषी, निष्काम कर्म आरंभ करता है और समझता है कि अब मार्ग पूरा कर लिया। परंतु नहीं। निष्काम कर्मों का कोई विशेष फल न हो, यह बात नहीं है। संध्या से पुत्र, धन आदि की प्राप्ति चाहे न हो, किंतु क्या इसमें संदेह है कि प्रीतिपूर्वक नित्य संध्या करने से मनुष्य की विशेष शांत अवस्था हो जाती है। इसी प्रकार दीन, अपाहिजों की सहयाता करने से, निर्बलों का उपकार करने से, चाहे दीन, अपाहित और निर्बल पुरुष ऐसे परोपकारी का प्रत्युपकार न कर सकें, एक उपकारी पुरुष को विशेष आनंद धर्म के काम करने से प्राप्त होता है। कृष्ण भगवान् कहते हैं सर्व निष्काम कर्मों से जो साधारण अवस्था भी जीवात्मा की स्वयमेव हो सकती है; यदि मनुष्य उसका जरा ध्यान भी बीच में रखकर उस काम को करता है, वह सच्चा त्यागी नहीं है।

यह ऊंचा आदर्श है। आज का कौन मनुष्य इसे पूरा कर सकता है, आजकल लोग यश के लिए परोपकार के कामों में लगे हुए हैं, उनको अनुकरणीय समझा जाता है। मैं मानता हूं कि जो मनुष्य यश के लिए भी नेक काम करता है वह भी संसार का भला करता है और इसलिए उन मनुष्यों से बहुत अच्छा है, जिनकी रुचि परोपकार की ओर बिलकुल नहीं है। परंतु क्या इस तरह की प्रसिद्धि का अभिलाषी पुरुष सैकड़ों और भाइयों को कुमार्ग की तरफ नहीं धकेलता। इसलिए न केवल यही कि मनुष्य निष्काम कर्म करे बल्कि उस निष्काम कर्म के स्वाभाविक परिणाम की भी बिलकुल उपेक्षा कर दे तब वह संन्यास पद का अधिकारी होता है। इसका स्पष्ट अभिप्राय क्या है ? प्रत्येक आर्य प्रातःकाल संध्या करता है, उस समय न केवल उसका यह भाव होना चाहिए कि वह उसके बदले सांसारिक इच्छा न रखे किंतु यह भी वह विचार न करे कि संध्या करने से मुक्ति मिल सकेगी। अग्निहोत्र करते हुए, महापुरुषों की सेवा करते हुए, अतिथियों के आदर सत्कार के समय, दीन अपाहिजों को अपनी कमाई में से भाग देते समय, मनुष्य को जरा भी यह विचार मन में न लाना चाहिए कि उसकी बाबत आम लोगों की क्या सम्मति होगी या उसके बदले में परमात्मा, कब उसे अपने समीप बुलायेंगे। यह है कर्तव्य का खयाल, जो आर्य महान् पुरुषों ने अपना मार्गदर्शक बनाया हुआ था। यदि एक कर्म के आरंभ करने से पहले लाभ, हानि का बही खाता खोलकर हम बैठ जावें तो संसार के बड़े-बड़े दुःख कैसे दूर हो सकेंगे ? यदि इस बही खाते को खोलकर शंकर और दयानंद काम करते तो क्या वे अपने पुरुषार्थ से इस संसार को पलटा दे जाते ? कभी नहीं संभवतः प्रश्न होगा। हमें क्या ? जिसे संन्यासी बनना हो वह यह कठिनाइयां सहे।

आह ! प्यारे भाइयो ! हम कैसी अविद्या के अंधकार में डूबे हुए हैं। क्या संन्यासी बनने की इच्छा करना यॉन करना तुम्हारे वश में है ? कदाचित मत भूलो। हर एक जीवात्मा जो मनुष्य शरीर धारण करके जन्म लेता है अपने साथ एक कर्तव्य लाता है और कुछ नियमों की जंजीरों में जकड़ा हुआ आता है...। गति संसार का नियम है। अगर तुम अपने कर्तव्य पर दृढ़ता से स्थिर नहीं होते और उनके सहारे से ऊपर को नहीं चलते तो गति तुम्हें नीचे की ओर ले चलेगी। तुम नहीं कह सकते कि हम संन्यासी नहीं बनना चाहते। तुम्हारा कर्तव्य है तुम संन्यासी बनो। एक तरफ ऊंचा पर्वत, दूसरी ओर भी ऊंचा पर्वत, बीच में बारीक किंतु पक्का तार लग रहा है। तुम बीच के भाग में खड़े हो। अगर हिम्मत से तार पर दृढ़ता से पग रखते हुए आगे न चलोगे, तो आंधी तुम्हें तुम्हारी जगह पर नहीं ठहरने देगी और जब एक बार पहाड़ के ऊपर की ओर से दृष्टि नीचे डालोगे तो विवशता से तार से जुदा हो जाओगे और फिर अथाह जल में गिरोगे जिसका आर पार तुम्हें नजर नहीं आता। सोचो, समझो ! और संन्यास की तरफ पग उठाओ क्योंकि यही तुम्हारा इष्ट है।

शब्दार्थ

(कवयः) क्रांतिदर्शी, दीर्घदर्शो लोग (काम्यानां) फल भोग की कामना से किए जाने वाले (कर्मणां न्यासम्) कर्मों के त्याग को (संन्यासं विदुः) संन्यास कहते हैं। और (विचक्षणाः) विचारशील और आचार युक्त विद्वान् (सर्वकर्मफलत्यागम्) सब काम्य कर्मों के फल त्याग को (त्यांग प्राहुः) यथार्थ त्याग कहते हैं।

9

यज्ञ दान तपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञा दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्।

गीता अ. 18, श्लोक 5

एतान्यपि तु कर्माणि संगं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ ! निश्चितं मतमुत्तमम्।।

गीता अरु. 18, श्लोक 6

उपदेश

कर्मों के नाश से मुक्ति होती है। जब तक कर्म का बंधन नहीं छूटता तब तक मनुष्य शरीर रूपी कारागार में बंद रहता है; इसलिये मुक्ति की इच्छा रखने वालों के लिए आवश्यक है कि वह कर्मों का अंत कर दें। इसका अभिप्राय यह है कि कर्म करें ही नहीं ? नहीं मैंने एक बार एक दृश्य देखा जो कभी भूलता नहीं। एक साधु महात्मा मेरे स्थान के समीप आकर ठकरे। उनका नाम ही जनता ने 'निष्काम' रख लिया था। वह नग्न रहते थे। मैंने भी बड़ी प्रशंसा सुनी, दर्शनों के लिए उपस्थित हुआ। न बोलते थे, न कुछ करते थे। कुएं पर चौकड़ी मारे बैठे थे। उनके स्थूल शरीर को चार आदमी मल मलकर धो रहे थे। उन्हीं में से एक भक्त ने बदन अंगोछ दिया, उठाया उठ खड़े हुए, हिलाया हिल पड़े परंतु गद्दी पर पहुंचते ही बैठ गए। मैं भी प्रणाम करके बैठ गया। गले में सुगंधित फूलों की माला डाली गई। साधु जी ने मौन साधन किया हुआ था और भक्त जन प्रशंसा के पुल बांध रहे थे। इतने में एक देवी आई और उसने मुंह के पास कलाकंद (मिठाइ) रखी। महात्मा जी ने मुंह खोल दिया। जब कलाकंद मुंह के अंदर गया तो खाने लग गए। तब मुझसे न रहा गया और मैंने कहा, "महात्मा जी ! अगर आप मुंह न खोलते और मिठाई को दांतों से न चबाते, तब मैं इन मनुष्यों के कहने पर आप को 'निष्काम' समझता"। महात्मा जी की आंखें सुरख लाल हो गईं और मौन व्रत टूट गया। मैं बाहर चला आया। लोगों ने आकर मुझसे कहा, यह साधु सदाचारी तो है ? मैंने जवाब दिया कि यदि सदाचारी है तो यह इसका कर्तव्य है। परंतु जो मनुष्य क्रोध को वश में

नहीं कर सकता, उससे हमें क्या लाभ हो सकता है ? जैसा कि कहा गया था, संभव है कि वह साधु सदाचारी हो। परंतु फिर वह क्यों क्रोध में आया ? इसलिए कि उसने 'निष्काम' शब्द के अर्थ नहीं समझे। कर्म कौन मनुष्य छोड़ सकता है ? क्या आंख से देखना बंद हो सकता है ? कान को सुनने से रोका जा सकता है ? कोई भी इंद्रिय अपने काम को नहीं छोड़ती। तब क्या करना चाहिए ?

कृष्ण भगवान् कहते हैं—यज्ञ, दान और तप इन कर्मों का कभी भी त्याग न करना चाहिए। छोड़ने योग्य बुरे काम हैं, न कि अच्छे। वैदिक कर्म को न छोड़े परंतु इन कर्मों को नियमपूर्वक करना मनुष्य का परम धर्म है। यह क्यों ? इसलिए कि मनुष्य एक स्थान पर ठहर नहीं सकता। गति...जगत् का नियम है। सिवाय परमात्मा के और किसी सांसारिक पदार्थ की स्थिति नहीं, फिर निर्बल मनुष्य कब एक स्थान पर ठहर सकता है ? मुक्ति बड़ी दूर है। आत्मिक हिमालय की चोटी पर उसकी झलक सी दीखती है। मुक्ति के अभिलाषियों को ऊपर चलना है। मार्ग बड़ा विकट है, चढ़ाई सीधी है। अगर दृढ़ता के साथ श्वास को ठीक कर, बदन को ठीक अवस्था में रखकर, ऊपर को नहीं चलते तो एक दम नीचे गिर पड़ोगे। नीचे की दूरी से सिर में चक्कर आ जाये और न जाने किस प्रकार नीचे आन गिरें। इसलिए कृष्णदेव कहते हैं कि आत्मा की शुद्धि और दृढ़ता के लिए यज्ञ, दान और तप का अभ्यास नित्य करे। बिना तप के मनुष्य दान के योग्य नहीं होता। जिसके पास स्वयं धन नहीं, वह दूसरों को क्या देगा ? जिसके अपने पास विद्यारूपी रत्न नहीं, वह दूसरों को विद्या दान कैसे कर सकता है ? इसलिए तप का अभ्यास सबसे पहले करना चाहिए, उसके साथ दान का अभ्यास स्वयमेव होगा। जिसके पास ऐश्वर्य है, उसका चित्त देने की तरफ प्रवृत्त होगा। जिसके शरीर में बल नहीं, वह दीनों की रक्षा क्या करेगा ? जब तप और दान दोनों इकट्ठे हो जाते हैं तब यज्ञ का प्रकाश होता है।

क्या कभी इस तरह कर्मों का अंत हो सकेगा ? यदि कर्मों का अंत न होगा तो क्या कभी भी हम मुक्ति की चोटी पर पहुंच सकेंगे। इसका उत्तर फिर ईश्वरीय विज्ञान की सहायता से भगवान् कृष्ण देते हैं—कर्म बराबर करो क्योंकि इंद्रियां बिना कर्मों के रह नहीं सकतीं किंतु उन कर्मों के फल भोग की इच्छा को छोड़ दो। बस यही निष्काम कर्म कहलाते हैं। कर्म करते हुए ही पूरी आयु भोगने की इच्छा करो परंतु उन कर्मों के फल से कुछ भी संबंध न रखो। इस तरह तुम उन कर्मों के बंधन से छूट सकते हो। कर्म अपने आपमें कुछ भी नहीं कर सकते, उनमें फंसावट ही सब कुछ करती है। मनुष्यों को यदि पापरूपी नरक में गिराती है तो कर्मों की फंसावट ! इसलिए ऐ! मेरे प्यार भाइयो ! संसार के गृहस्थरूपी युद्ध से मत भागो। जिसने इंद्रियों को वश में किया है, उसका घर भी तपोवन है किंतु जो वन में जाकर भी इंद्रियों का दास ही रहा, वह घोर संग्राम में फंसा हुआ है। ब्राह्मण निष्काम कर्म करने से ही जगद्गुरु कहलाते थे अन्यथा उनके शरीर भी दूसरे मनुष्यों की तरह के ही थे।

इस समय निष्काम भाव से काम करने की बड़ी भारी आवश्यकता है। मैं भूल गया। इस क्या; हर समय ही निष्काम भाव से काम करने की आवश्यकता है। तुम यश के भूखे हो ! निष्काम भाव से काम करो, यश तुम्हारे पीछे मारा मारा फिरेगा ! तुम्हें आश्चर्य होगा कि यश का निष्काम भाव से क्या संबंध ! परंतु आश्चर्य की कोई बात नहीं है। कवि ने सच कहा है "बिन मांगे मोती मिले, मांगे मिले न भीख" तुम अपना उद्देश्य उच्च बनाओ, उसके लिए तप, दान और यज्ञ के अभ्यास की आवश्यकता है। इन तीनों प्रकार के कर्मों से शरीर, मन और आत्मा को शुद्ध करो। फिर निडर होकर संसार में बिचरो। जब फल भोग की कामना न रही तो बजाय इसके कि विषय इंद्रियों को अपनी तरफ खींच सके, मन इंद्रियों को अंदर की तरफ खींच सकेगा और बजाय इसके कि मन आत्मा को बहिमुर्ख कर सके, आत्मा अपने अंदर मन और इंद्रियों को खींचकर उनका राजा बना हुआ, परम धाम की तरफ चल सकेगा। उस परम धाम का मालिक परम आत्मा है। उसी का सारा ऐश्वर्य है। उसको पाकर फिर किसी वस्तु की इच्छा बाकी नहीं रहती। परमात्मा पूर्ण कृपा करें कि हम सब योगीराज कृष्ण के गंभीर नाद को सुनें और उसके अनुकूल चलें।

शब्दार्थ

(यज्ञदानतप) मनुष्य के लिए यज्ञ, दान और तप (कर्म) यह तीन कर्तव्य हैं। (न त्याज्यम्) यह कर्तव्य मनुष्य कभी न छोड़े, (कर्तव्यमेवतत्) इन्हें अवश्य करता ही रहे क्योंकि (यज्ञो दानं तपश्चैव) यज्ञ, दान और तप यह तीनों (मनीषिणाम्) बुद्धिमान् मनुष्यों के (पावनानि) हृदयों को शुद्ध पवित्र करने वाले हैं। अतएव (पार्थ !) हे अर्जुन ! एतान्यपि तु कर्माणि) यह सब कर्म (संगं फलानि च त्यक्त्व) आसक्ति तथा फल त्याग की भावना से (कर्तव्यानि) करने चाहिएं, यह (उत्तम मतं निश्चितम्) मेरा उत्तम तथा निश्चित मत है।

10

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
सगं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्विको मतः।।

18 अ., 9 श्लोक

उपदेश

सारे संसार में त्याग की धूम मच रही है, किंतु त्याग के यथार्थ अभिप्राय को कोई विरला ही समझता है। किस मनुष्य को किसी न किसी समय दुःख पीड़ित नहीं करता। ऐसे समय में ही त्याग का ध्यान प्रायः मनुष्यों को आता है। झूठे मोह में फंस कर पुत्र की देह को ही आत्मा समझता हुआ पिता कैसा प्रसन्न होता है। उसकी आंखों से उस समय यह संसार एक सदैव की खुशी से कम मूल्य नहीं रखता। संसार से उसे बड़ा भारी प्रेम हो जाता है परंतु शरीर अनित्य है। सदैव जन्म कायम नहीं रह सकता। एकदम बीमारी का जोर होता है और प्रिय पुत्र शरीर त्याग कर चल देता है। अब वही संसार उजाड़, बियाबान, सुनसान जंगल की भांति भयानक दिखाई देता है। तब वैराग्य उत्पन्न होता है। न स्नान का ध्यान, न संध्या की खबर, न शरीर की सुध और न आत्मा का ख्याल। मन चाहता है कि कपड़े फाड़कर निकल चलें। किसी कर्तव्य का भी ध्यान नहीं। यदि कोई दीन सहयाता की इच्छा से आता है तो उसकी जान निकाल लेने की इच्छा होती है। जब मेरा पुत्र नहीं तो दया का मतलब क्या ? दान की इच्छा क्या ! ऐसे समय में मनुष्य, प्राण तक तज देने को तैयार हो जाता है। ऐसे त्याग को कृष्ण भगवान् तामसी त्याग कहते हैं।

अविद्या में फंसा हुआ, बुद्धि विहीन मनुष्य, जब अपने कर्तव्य को भूल जाता है, उस समय वह फंसावट को त्याग समझता है। मोह के वशीभूत हुआ अपने आपको त्यागी समझे, क्या यह आश्चर्य की बात नहीं है ! फिर त्याग क्या है ? एक दूसरे दृश्य की तरफ दृष्टि जाती है। प्रातःकाल का समय है जानवर बोल रहे हैं। धार्मिक पुरुष शौच स्नानादि से निवृत्त होकर, संध्यावंदन से निवृत्त हो चुके हैं। अग्निहोत्र भी कर चुके। एक आर्यपुरुष अपने उपासना गृह से उठकर, बाहर सैर के लिए चला है। मार्ग में मित्र का मकान है। ख्याल आता है, सैर के लिए इसे भी साथ ले चलो

मकान के अंदर जाता है, वह मित्र को देखकर हैरान हो जाता है। अभी तक चारपाई पर ही लेटा हुआ है। उसको हिलाकर सचेत करता है। क्यों अब तक सोते ही हो ? नहीं, जागा तो चार बजे ही था परंतु शरीर को कुछ कष्ट है, स्नान नहीं कर सकता। संध्या तो कर चुके होगे ? संध्या ! संध्या कैसे करता, रोगी हूं। क्या ! संध्या का त्याग बीमारी के लिए ! संध्या अपने सच्चे पिता से मेल करने का नाम है। क्या शरीर के दुःख के कारण पिता के दर्शन त्याग दोगे ? शरीर को जल से नहीं धो सकते, न सही, हाथ मुंह तो गरम पानी से धो सकते हो। अगर बैठ नहीं सकते, इस भांति दुर्बल हो गए हो तो क्या लेट कर पिता का ध्यान नहीं कर सकते ? क्या निर्बल बच्चा, लेटा हुआ माता से प्यार नहीं कर सकता। अह ! शरीरिक परिश्रम के भय से अपना कर्तव्य जानते हुए भी पालन न करना राज त्याग कहलाता है।

एक और दृश्य देखिए। एक दीन, रात को पुकार रहा है। अत्याचारी उस पर अत्याचार कर रहा है। अगर तुम्हें परमेश्वर ने शरीर दिया है, अगर तुम्हें उसने बुद्धि दी है और मन दिया है तो क्या तुम्हारा कर्तव्य नहीं कि दीन की उसी समय सहायता के लिए जाओ। परंतु शारीरिक आलस्य उठने नहीं देता। क्या यह सच्चा त्याग है ? दिन रात हमारे कर्तव्य हमें बुला रहे हैं और हम गहरी नींद में मस्त हैं। यह त्याग नहीं, यह तो पहले दर्जे की फंसावट है। फिर त्याग क्या है ? यदि सब कुछ छोड़ देना त्याग नहीं; यदि शरीर के सारे धर्मों को भूल जाना, त्याग नहीं तो फिर त्याग किसे कहते हैं ? अपने दैनिक कर्मों से पूछो। सीधा उत्तर मिलेगा। तुम दीनों की रक्षा क्यों करते हो ? इसलिए कि तुम्हारा यश सारे संसार में फैले, इसलिए नहीं कि उसकी रक्षा तुम्हारा कर्तव्य है। तुम संध्या इसलिए करते हो कि लोग तुम्हें महात्मा समझें, इसलिए नहीं कि पिता का सत्संग तुम्हारा कर्तव्य है। तुमने कर्मों के त्याग को त्याग समझ रखा है। परंतु कर्मों का त्याग उलटा कर्मों की जड़ काटता है। जब तुम्हारी कोई संपत्ति ही नहीं तो उसका त्याग कैसा ? फिर सात्विक त्याग क्या है ? तुम वैदिक कर्मों के करने में तो दिन रात तत्पर रहो, परंतु उनके अंदर फंसो नहीं। तुम उनकी रक्षा करो किंतु अनाथों को अपना खिलौना मत बनाओ। तुम गुरुकुल कायम करके उसकी सेवा करो परंतु गुरुकुल के ब्रह्मचारियों को अपने व्यसन पूरा करने की नुमाइश न बनाओ। तुम प्रकृति के सौंदर्य को आंखों से देखो लेकिन उन आंखों को उस प्राकृतिक सौंदर्य का दास न बनाओ। कर्म करो परंतु उसमें फंसो नहीं। न केवल यह किंतु उस किए हुए कर्म की अभिलाषा मत करो। बस, यही त्याग है। तुमने कर्म किए, तुम्हारी संपत्ति बन गई। उन कर्मों के तुम अधिकारी बन गए किंतु तुमने फल का ध्यान भी न किया, यही सच्चा सात्विक त्याग है।

प्यारे भाइयो ! यह है आदर्श त्याग का। इस आदर्श से किस प्रकार हम सब गिरे हुए हैं ? वैदिक धर्म के प्यारो ! क्या त्याग को इस गिरी हुई दशा से उठाने

का हम सबसे बढ़कर किसी ने बीड़ा उठाया था ? हमने वैदिक धर्म को ग्रहण करके भी पश्चिमीय विचारों का खोल चढ़ा लिया है। हमने इस आदर्श को यह कहकर टाला कि अगर कोई मनुष्य केवल यश के विचार से कोई अच्छा काम करता है तब भी उसे साहस देना चाहिए। परंतु हम सब एक सच्चाई को भूल जाते हैं। जब तक सकाम भाव विद्यमान हैं तब तक गिरने का भय लगातार रहता है। इस भय से बचने के लिए निष्काम भाव से सच्चे त्याग के आदर्श की ओर चलना चाहिए। जिस मनुष्य ने यश के विचार को छोड़कर, कर्म से सर्वथा मुंह मोड़ लिया है, वह पापी तो है। वह केवल अपने आत्मा को दुःख सागर में डुबोता है। जो यश को चाहने वाला आज नेक कामों में लगकर हम सबकी रुचियों को अपनी ओर खींच रहा है, संभव है वह हमारी भूल से, प्राप्त किए हुए बल के कारण दूसरे सैकड़ों, हज़ारों, आत्माओं को भी पाप के गढ़े में धकेलने का हेतु हो। तब हमारा कर्तव्य क्या है ? सात्विक त्याग का भाव, अपने अंदर लाना और अपने उदाहरण से दूसरों को भी इसी मार्ग से चलने के लिए प्रेरित करना। यह माना कि सकामभाव से काम करना पहले पहल, बड़ा सुहावना मालूम होता है, परंतु जब वैयक्तिक न्यूनता के कारण उस मार्ग में ठोकरें लगती हैं तो मनुष्य न इधर का रहता है न उधर का। इसलिए आज से ही यह अभ्यास आरंभ करो कि न अविद्या के वश होकर, न लोभ से, न मोह से, न काम क्रोध और अहंकार के वश में होकर, हम कभी भी अपने कर्तव्य कर्मों का त्याग करें। हम कर्मों को सदैव धर्मानुसार पालन करते हुए, उनमें फंसने से बचें और उनके फल भोग की इच्छा को मन से त्याग दें।

शब्दार्थ

(अर्जुन) हे अर्जुन ! (सगं फलं चैव त्यक्ता) आसक्ति और फलभोग की इच्छा को छोड़कर (यत् नियतम्) जो निश्चित और उपयोगी (कार्यम कर्म) कर्तव्य कर्म (क्रियतेएव) स्थिर तौर पर किया जाता है (सः) वह कर्म (सात्विकः त्यागः) सतोगुण युक्त त्याग (मतः) समझा जाता है।

11

नहि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते।
अनिष्टमिष्ट मिश्रं च त्रिविध कर्मणः फलम्।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित्।।

गीता 18, अ. 11 12

उपदेश

कर्मों से कौन भाग सकता है ? किसी आश्रम में भी कर्म मनुष्य का पीछा नहीं छोड़ते। क्या संन्यासी कर्म से पृथक् हो सकता है ? भला जब मानसिक व्यवहार ही सारा रुक जावे तो संन्यासी क्या ? उसके कर्तव्य क्या ? संन्यासी का परम धर्म, निडर होकर पक्षपात से रहित धर्म का आंदोलन करके उसका सांसारिक मनुष्यों के हित के लिए प्रचार करना है। परंतु जिसने वाणी के कर्म को रोक दिया, वह सत्य का प्रचार कैसे कर सकेगा ? इसलिए कर्म का त्याग करना असंभव ही है। त्याग किसे कहते हैं ! फलों का त्याग ही सच्चा त्याग है। यह सुनकर सांसारिक पुरुष प्रश्न करेंगे कि क्या दीर्घदर्शी अनुभवी मनुष्य समय के प्रवाह को नहीं देख सकते ? क्या वे अपने देश की भलाई के कारण को जाने बिना ही और उसके परिणामों का पता लगाये बगैर ही अंधाधुंध काम करेंगे ? यह प्रश्न बड़े आवश्यक हैं किंतु साथ ही इनमें अविद्या का परिणाम है। क्या तुमने कभी देखा है कि जो काम किसी परिणाम से सोचा जाय वही प्राप्त होता है ? कदाचित् नहीं। हां, जब दूसरे प्रकार का अच्छा परिणाम निकल आता है तो काम करने वाले की दूरदर्शिता की प्रशंसा की जाती है। मनुष्य निर्बल है, मनुष्य की सब शक्तियां अल्प हैं, तब कैसे वह जान सकता है कि उसके विशेष काम का क्या परिणाम होगा ? हां ! एक बात तो मूर्ख भी समझ सकता है। यदि उसको उसका कर्तव्य बतला दिया जाय तो परिणाम को बिना सोचे वह अपने कर्तव्य को पूरा कर सकता है। इसलिए कृष्ण भगवान् कहते हैं कि फल भोग की इच्छा इसलिए नहीं करनी चाहिए कि तुम निश्चय के साथ कह नहीं सकते कि जिस कार्य का तुमने एक विशेष परिणाम सोच रखा है, उसका वह निश्चित

परिणाम होगा ही। तुम एक इष्ट कार्य को बड़ी रुचि से करते हो, इस विचार से कि उसका विशेष परिणाम तुम्हारी रुचि के अनुकूल होगा। तुम दूसरे कार्य को जिससे घृणा है बाधित होकर करते हो परंतु परिणाम तुम्हारी इच्छा के विपरीत निकलता है। एक काम को तुम दोनों भावों से करते हो, परिणाम एक तीसरी प्रकार का निकल आता है। तुम्हारी इच्छा चाहे कुछ ही क्यों न हो परंतु तुम्हारे कर्मों का फल मिला और उसके पश्चात् कुछ भी स्थिर नहीं रहा। हां ! उन कर्मों के प्रबल संस्कार स्थिर रह जाते हैं जो भयानक रूप बनाए हुए तुम्हें सदैव दुःख से पीड़ित रखते हैं। जिस संन्यासी ने फल को त्याग दिया है वह दिन रात कर्म करता हुआ भी उनके संस्कारों का दास नहीं बनता इसलिए कि वह उनके अंदर फंसता ही नहीं है। झूठे त्याग ने भारतवर्ष देश को रसातल तक पहुंचा दिया है। ईश्वरीय नियम के विरुद्ध कर्म करते हुए मनुष्य समाज का कोई अंग स्थिर नहीं हर सकता। राज्य का प्रबंध करता हुआ राजा जनक क्यों विदेह मुक्त प्रसिद्ध हुआ ? इसलिए कि एक तरफ जहां आग से एक जांघ के जलने का उसे शोक न था वहां दूसरी ओर उत्तम से उत्तम भोगों का सुख उसे विचलित न होने देता था।

इसलिए मेरे प्रिय पाठकगण ! इन कारणों से फल भोग की इच्छा को छोड़कर सब काम करो। मैं जानता हूं यह कैसा कठिन मार्ग है ! इस मार्ग में चलते हुए मैंने अनेक ठोकरें खायी हैं। संभवतः आप लोगों ने मुझसे अधिक ठोकरें न खायी होंगी। मेरा अनुभव मुझे बतलाता है कि यह मार्ग कठिन है। इसके अतिरिक्त जिधर जाओगे भटकते फिरोगे। आओ ? इसलिए एक दूसरे को बल देते हुए हम सब इसी निष्काम मार्ग पर चलने का यत्न करें। हम सब निर्बल हैं, दीन हैं, परंतु जिस परमात्मा ने अपनी अपार दया से अपने ज्ञान को भंडार को हमारे लिए खोल दिया है, वह सर्व शक्तिमान् है। हमारा पिता सर्वज्ञ और सर्वोपरि विराजमान है। अगर हम उसका सहारा ढूंढें, यदि शुद्ध मन से उसके दरबार में याचक बनकर जावें तो हममें भी बल आ सकता है। परमात्मा ने स्वयं हमें प्रार्थना की विधि बतलायी है। उन्होंने स्पष्ट आज्ञा दी है कि मुझ बल भंडार से बल मांगो। मन, वाणी और कर्म को शुद्ध करके तीनों के द्वारा प्रार्थना करो; तुम्हारी प्रार्थना निष्फल न होगी। हमारे अविश्वासी मन भटकते फिरते हैं ? पिता हमारे रोम रोम में रम रहे हैं। माता की गोद में बैठे हुए हम इस प्रकार अविश्वासी हों, हमसे बढ़कर अधम कौन हो सकता है ? आज से ही प्रण करो कि हम शुद्ध भाव से प्रातः और सायं पिता की शरण में शुद्ध हृदय लेकर उपस्थित हों। सारे अंदर के भावों की भेंट उसके आगे चढ़ायें। हम और क्या भेंट ले जा सकते हैं। कौन सी सांसारिक वस्तु है जिस पर हमारा अधिकार है। अगर सारा ऐश्वर्य परम ईश्वर का है तो हमारे पास अपने आत्मा के अतिरिक्त और क्या है ? इसलिए सिवाय इसके कि उसके सर्वभावों को ईश्वर की भेंट करें और हम क्या कर सकते हैं।

हे शांति निकेतन ! हमारे अशांत हृदय ईर्ष्या और द्वेष से दग्ध हो रहे हैं। फल भोग की इच्छा ने हमें कहीं का नहीं छोड़ा। आप कृपा करो, दया करो, इस अशांत हृदय के अंदर शांत अमृत जल की वर्षा करो ताकि अपने हित अहित को समझकर हम सब आपकी शरण में आवें और अपने कर्तव्य को ज्ञानपूर्वक पालन करते हुए आपके अनंत धाम के अधिकारी बन सकें।

शब्दार्थ

(देहभृता) कोई भी शरीरधारी (अशेषततः कर्माणि) संपूर्ण कर्मों को (त्युक्तम्) छोड़ने के लिए (नहि शक्यम्) समर्थ नहीं है। इसलिए (यस्तु) जो भी व्यक्ति (कर्मफलत्यागी) कर्मों के फलों को त्याग करने वाला है यथार्थ में (सः) वह व्यक्ति ही (त्यागीत्यभिधीयते) त्यागी कहलाता है।

(अत्यागिनाम्) त्याग भाव से न काम करने वाले लोगों को (प्रेत्य) मृत्यु के बाद दूसरे जन्म में (अनिष्टं इष्टं, मिश्रं च) बुरा, भला या मिलवां यह (कर्मणः) कर्मों का (त्रिविधिं फलम्) तीन प्रकार का (भवति) भोगना पड़ता है। (संन्यासिनां तु) किंतु संन्यासियों को (क्वचित्) किसी प्रकार का भी कर्मफल (न भवति) नहीं भोगना पड़ता।

12

न द्वेष्ट्‌यंकुशलं कर्म कुशले नानुसज्जते।
त्यागी सत्व समाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः।।

गीता 13, 10

उपदेश

सत्य से परे कोई धर्म नहीं। धर्म की नींव ही सत्य है, इसलिए धर्म के स्रोत परमात्मा को सत्यस्वरूप कहा है। सच्चा त्यागी बनने के लिए पहले सर्व सत्यगुणों को ही धारण करना चाहिए। शरीर को स्वस्थ रखने के लिए भोजन और जल की आवश्यकता होती है इसलिए ऋषि महात्मा उपदेश करते हैं कि सत्यलोक की इच्छा रखने वालों को सात्विक भोजन करना चाहिए। मांस आदि पदार्थों का इसलिए निषेध है कि वे तामस और राजस भोजन हैं। पीने का जल भी सात्विक गुण युक्त होना चाहिए इसीलिए संन्यासी को जल छानकर पीने की आज्ञा है। अन्न, फल और जल सब सात्विक, स्वच्छ, पवित्र होना चाहिए, तब बुद्धि भी शुद्ध होती है। शरीर का मनुष्य की सारी क्रियाओं के साथ विशेष संबंध है इसलिए शारीरिक शुद्धि से बुद्धि के अंदर भी सात्विक भाव पैदा है और एक का दूसरे पर प्रभाव पड़ता है, बुद्धि शरीर को शुद्ध करती है और शरीर बुद्धि को शुद्ध करता है। यह शुद्ध हुई बुद्धि सत्य और असत्य का निर्णय करने के योग्य हो जाती है। सच्चे धर्म को धारण करने की शक्ति, ऐसी युद्ध बुद्धि के अंदर हो सकती है। तब मनुष्य के अंदर के संदेह छूट जाते हैं और संशयों से निवृत्त होकर ही मनुष्य सच्चा त्यागी बनता है। त्याग का क्या चिह्न है ? यह सवाल बड़ा टेढ़ा है। हम लोग अपने आपको नित्य धोखा देते हैं कि हम त्यागी हैं किंतु कैसे सिद्ध हो कि हम त्यागी हैं। कृष्ण भगवान् ने कसौटी बतला दी, प्रतिकूल से जब द्वेष न रहे, अनुकूल से जब प्रेम न रहे, तब जानो त्याग का प्रवेश अपने अंदर हुआ है। मर्यादा पुरुषोत्तम राम का दृष्टांत इस जगह ठीक घटता है। दिन को अयोध्या में घोषणा हो गई कि दूसरे दिन प्रातः रामचन्द्र को सूर्यवंशियों के राज्य का स्वामी बना दिया जावेगा। कौशल्या अपने भाग्य को अति उत्तम समझती हुई सोयी। रामचन्द्र सारे अवध निवासियों के आशीर्वाद सुन चुके। क्या रामचन्द्र

इस प्रसन्नता में भूलकर कुछ बदल गए। कवि कहता है कि वे उसी तरह समय पर सोये। प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्त में उठकर नित्यकर्म में प्रवृत्त हुए। परंतु जब प्रातः ही महाराजा दशरथ के पास गए और माता कैकेयी ने चौदह बरस बन को जाने को कहा तो क्या उन्हें दुःख हुआ, नहीं न उन्हें राजगद्दी का आनंद था न बनवास का शोक हुआ। जिस सहज अवस्था में वे पहले थे, उसी में अब भी रहे, उसी शांत अवस्था से बन को चल दिए। कैकेयी ने समझाना चाहा, आपने उत्तर दिया पिता ने बन का राज्य दिया है। माता ! तुम्हारी उसमें सम्मति है भला मुझसे बढ़ के भाग्यशाली कौन है जिसे माता और पिता दोनों की आज्ञा के पालन का मौका मिले। रामचन्द्र का यह आचरण उसे इस समय बाइस करोड़ हिंदुओं का ईश्वर बनवा रहा है। हर्ष शोक जीतना निस्संदेह बड़ा कठिन काम है। इसके लिए बड़े दृढ़ साधनों की आवश्यकता है। किंतु यह पद भी तो बड़ा ऊंचा है। हिमालय की चोटी पर क्या मनुष्य बिना प्रयत्न पहुंच सकते हैं। हम लोग तो बलिहाज़ साधनों के सोये हुए हैं।

भारत संतान ! इस समय तुझे कृष्ण भगवान् के उपदेश पर चलने की बड़ी आवश्यकता है। परोपकार का काम बड़ा कठिन है। सदियों की दासता से न केवल दूसरे मनुष्यों की ही दासता हममें है परंतु अपनी इंद्रियों की अत्यधिक दासता भी हमें खा रही है। इस दासता से स्वतंत्र होना क्या कुछ आसान काम है ? यह कठिनता भी हमें अविद्या की फंसावट के ही कारण मालूम होती है—अन्यथा यदि एक बार सत्य का साधन आरंभ कर दें तो इससे आसान कोई काम ही नहीं। सात्विक भोजन, वृक्षों और खेतों से बिना परिश्रम और बिना छल और दंभ के मिल सकता है। क्या तुम देखते नहीं कि एक पशु को वध करने के लिए किस प्रकार धोखों से काम लेना पड़ता है ? इसलिए सबसे पहले सात्विक भोजन करने का अभ्यास करो। जिस भोजन से दिमाग को हानि पहुंचे और वीर्य को हानि पहुंचे, वह कैसा ही स्वादिष्ट क्यों न हो, उसे छोड़ दो, शुद्ध भोजन करो। साफ पानी से बढ़कर पीने के योग्य और कोई वस्तु नहीं है। परमात्मा का बरसाया हुआ स्वच्छ जल पान करो। तब तुम्हारी बुद्धि स्वच्छ होगी। फिर उस बुद्धि को खूब मांजो। काम, क्रोध, मोह, लोभ, अहंकार इन शत्रुओं से बुद्धि को सुरक्षित करो। यह बुद्धि के अत्यंत शत्रु हैं। इस अभ्यास से तुम्हारी आंखें खुल जाएंगी। हर एक वस्तु का ठीक स्वरूप तुम्हें दिखाई देने लगेगा और तब तुम्हारे संशय दूर होंगे। निश्चय सच जानो कि जब तक तुम्हारे संशय दूर होंगे। निश्चय सच जानो कि जब तक तुम्हारे अंदर संदेह है, तब तक तुम अपने आपको जीवित नहीं समझ सकते।

कृष्ण भगवान् कहते हैं—'संशयात्मा विनश्यति'। सचमुच संदेह में डूबा हुआ मनुष्य आखिरकार आत्मा का नाश कर लेता है। परंतु सर्वसंशय से मुक्त होना, बिना बुद्धि की स्वच्छता के असंभव है और बुद्धि की स्वच्छता बिना सात्विक कर्मों के हो नहीं सकती इसलिए यह उपदेश हमारे लिए अन्य कोई मार्ग नहीं छोड़ता। योग

से सच्चा त्याग हो सकता है। योग कहते हैं चित्त की वृत्तियों के निरोध को। और त्याग कहते हैं उच्च प्रकार के परोपकार के कार्य को। साधारण पुरुष इन शब्दों के अर्थ समझ नहीं सकते।

आर्य संतान हा ! संशयों ने तुम्हें रसातल को पहुंचा दिया, तुम विदेशियों की प्राकृतिक उन्नति को देखकर उसी को सच्ची उन्नति का साधन समझ बैठे। प्राकृतिक उन्नति भी एक गौण साधन, मनुष्य के परम उद्देश्य का है। जिसने आत्मिक उन्नति की; प्रकृति उसके सन्मुख हाथ बांधे स्वयं खड़ी रहती है। आत्मिक उन्नति में शारीरिक और प्राकृतिक उन्नति दोनों सम्मिलित हैं। परंतु प्राकृतिक उन्नति में आत्मिक उन्नति सम्मिलित नहीं। हे ऋषि संतान ! सांसारिक चमक दमक के अंदर अपने वास्तविक उद्देश्य को न खो बैठ। भोग विलास ऐश्वर्य सुख के देने वाले नहीं हैं। सुख इनके त्याग में ही है। तुम भोग विलास में फंसे हो। समझते हो कि तुम संसार के नियमों से स्वतंत्र हो गए किंतु क्या तुमने यह भी कभी सोचा है कि यह स्वतंत्रता नहीं है परंतु बेशर्मी है। तुम इंद्रियों के अत्यधिक दास बन रहे हो और इस दासता से छूट नहीं सकते। यदि तुम्हारे अंदर सच्चे त्याग की अभिलाषा है तो ज्ञान नेत्रों को शुद्ध करके अपने और अपने भाइयों की दशा को देखो। ऐसे लोग बहुत कम हैं जिन तक कोई उपदेश पहुंचा सकता है। वे लोग बहुत अधिक हैं जिनको यह उपदेश स्पर्श भी नहीं कर सकते ! इसलिए तुम इस उपदेश के अनुसार आदर्श पुरुष बनने की चेष्टा करो ताकि वे जो निरक्षर हैं, जिनका कागज़, कलम, दवात, पुस्तकों से कोई संबंध नहीं है वे तुम्हारे जीवन रूपी पुस्तकों का पाठ करके अपने जीवन को सफल कर सकें।

शब्दार्थ

(छिन्नसंशयः) ज्ञान द्वारा जिसके संशय मिट गए हैं, (सत्वसमाविष्टः) जिसका अंतःकरण सतोगुण से परिपूर्ण हो चुका है, ऐसा (मेधावी) धारणावती बुद्धि से युक्त (त्यागी) त्याग वृत्ति वाला पुरुष (अकुशलं कर्म) प्रतिकूल कर्म से (न द्वेष्टि) घृणा नहीं करता और (कुशले) अनुकूल कार्य में (न अनुसज्जते) लिप्त भी नहीं होता। वह सब कामों में समबुद्धि रहता है।

13

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं, यथा विन्दति तच्छृणु।।
यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन कर्ममिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।।

गीता 18, अ. 46, 46. श्लोक

उपदेश

प्रत्येक मनुष्य अपने उद्देश्य तक पहुंचने की योग्यता रखता है। दासता के जुए में जिनकी गर्दन है वे कभी भी आशा नहीं कर सकते कि उनमें से कभी भी कोई राजा बनेगा। अमरीका का एक बूट साफ़ करने वाला लड़का भी आशा कर सकता है कि संभवतः वह किसी समय अपने देश का राष्ट्रपति बन जाय। संसार में कोई ऐसा जीव नहीं है जो अपने उद्देश्य तक न पहुंच सके। मार्ग सबके लिए एक जैसा है। उसकी कठिनताएं और सुगमताएं राजा और प्रजा विद्वान् और मूर्ख सबके लिए एक जैसी हैं। हां ! भेद अपने अपने कर्मों का है। गुसाईं तुलसीदास जी कहते हैं—

'कर्म प्रधान विश्व रचि राखा।
जो जब करहि सो तस फल चाखा'।।

'जैसी करनी वैसी भरनी'। यह नियम सबके लिए है तब अपने कर्तव्य के पालन करने से ही अपने उद्देश्य की ओर कदम उठ सकता है। उस वास्तविक कर्तव्य की पूर्ति से मनुष्य को रोकने के लिए इस संसार में अनेक प्रलोभन हैं। एक एक पग पर बीसों विषय जीवात्मा को अपनी ओर खींचते हैं और वह मोह में फंसकर पग पग पर ठोकरें खाता है। जब इस प्रकार अनेक प्रलोभन रास्ते में हों तो मनुष्य अपने उद्देश्य की ओर कैसे चल सकता है ? इसका आसान उपाय श्रीकृष्ण जी महाराज बताते हैं। अगर तुम अपने कर्तव्य के पूरा करने में दत्तचित्त होना चाहते हो तो सबसे पहले संपूर्ण आत्मज्ञान के तत्व को समझो। सारा जगत् कहां से आया ? क्या इसके अंदर स्वयं बनने की शक्ति है ? जड़ जगत् स्वयं कैसे बन सकता है ? और फिर कैसे स्वयं बिगड़ भी सकता है ? इसलिए इसके अंदर कोई चेतन शक्ति अवश्य काम

कर रही है। जबकि हम सारे जड़ जगत् में एक ही नियम का परिपालन होते देखते हैं तब हमें कोई संदेह नहीं रहता कि यह चेतन शक्ति हर जगह व्यापक है। कोई सांसारिक अवस्था उसकी उपस्थिति से खाली नहीं है। गुलाब के फूल को यदि सुंदरता मिली है तो उसने उस सुंदरता की रक्षा के लिए उसके चारों ओर कांटों की बाढ़ लगाई है। प्रभु ने हर वस्तु के अंदर अपनी चेतनता का प्रकाश किया है। इसलिए जो बुद्धिमान् मनुष्य अपने कर्तव्य को समझ लेता है उसके लक्ष्य को सांसारिक प्रलोभन बिगाड़ नहीं सकते। व्यापक परमात्मा की उपस्थिति को हर स्थान पर अनुभव करने वाला मनुष्य, प्रत्येक विषय की ठोकर से बचकर अपना कर्तव्य पूरा करता हुआ, सीधा अपने लक्ष्य की ओर चला जाता है। वह मार्ग में एक सुंदर मनुष्य को देखता है, एक पल के लिए ठहर जाता है परंतु फौरन उसके मन में विचार उठता है कि यह आकृति दस साल बाद बिलकुल बदल जाएगी यदि कोई रोग लग जाए तो संभवतः एक दिन में ज़मीन आसमान का अंतर आ जाए। मननशील व्यक्ति अपने मन में सोचता है कि इसके अंदर सुंदरता कहां से आई ? क्योंकि यदि इसका यह स्वभाविक गुण होता तो इसमें परिवर्तन न आता। फिर क्यों उस सौंदर्य के स्रोत की ओर न चले जिससे कि इस तुच्छ पंचभूतों के शरीर ने सुंदरता प्राप्त की है। इस विचार से पूर्णरूप धारण किया और बुद्धिमान् मनुष्य आगे चल देता है, इस प्रकार उसने लक्ष्य को समझकर अपने कर्तव्य का सहारा ले लिया है। जिसने अपना लक्ष्य परमात्मा को बनाया है और उसे सारे विश्व की माता अनुभव किया है, वह सांसारिक विषयों के अंदर कैसे फंस सकता है हर सौंदर्य के अंदर वह माता का सौंदर्य देखता है और प्रत्येक आकर्षक पदार्थ में उसे माता का प्रेम नज़र आता है। न केवल यही बल्कि कष्ट और क्लेश में भी उसे पिता के न्याय का हाथ दिखाई देता है। फिर उसके समीप न मोह आता है, न शोक और वह आदर्श मनुष्य सीधा परमपद की ओर चल देता है।

प्रिय पाठकगण ! अपने कर्तव्य को समझो। वही तुम्हारा धर्म है परमात्मा की भक्ति और उसकी पूजा तुम्हें जीवन उद्देश्य की ओर ले चलेगी। हम उसकी पूजा कैसे करें ? किस वस्तु में वह व्यापक नहीं है। और कौन सी वस्तु है जो उसकी नहीं है ? उसके लिए हम बाहर से भेंट क्या लायेंगे ? इसलिए तो वेद न कहा है कि मन, वचन और कर्म से किया हुआ, सब कुछ परमात्मा के अर्पण करो। यहां तक कि "आत्मा यज्ञेन कल्पताम्। यज्ञो यज्ञेन कल्पताम्"। फिर परमधाम से तुम दूर न रहोगे क्योंकि परमधाम के लिए समय या दूसरी कुछ रुकावट नहीं हैं परमधाम तुम्हारे अंदर मौजूद है और तुम बाहर भटक रहे हो। परम पिता के अमृत पुत्रो ! अपने परम अधिकार को समझो और उस तक पहंचने के अधिकारी बनो।

शब्दार्थ

हे अर्जुन ! (स्वे स्वे कर्मण) अपने अपने कर्तव्य में (अभिरतः) दत्तचित्त हो कर ही (नरः) कर्मशील मनुष्य (संसिद्धिं, लभते) इच्छानुसार निज उद्देश्य को प्राप्त करता है। (स्वकर्मनिरतः) अपने कर्तव्य में निरत मनुष्य (यथा) जिस प्रकार से (सिद्धि विन्दति) सफलता को पाता है (तत् शृणु) वह उपाय सुनो।

हे अर्जुन (यतः भूतानां प्रवृत्तः) जिससे सकल संसार पैदा हुआ है और (येन) जिसने (सर्वमिदम्) इस विश्व को (ततम्) अपने अपने सामर्थ्य से व्याप्त किया हुआ है (तम्) उस परमेश्वर को (स्वकर्मणा) अपने कर्तव्य से (अभ्यर्च्य) पूजा करके, प्रसन्न करके (मानवः) मनुष्य (सिद्धि विन्दति) यथार्थ सफलता को, उद्देश्य को प्राप्त कर लेता है।

14

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्।।

गीता 18 अ., 47 श्लोक

उपदेश

मनुष्य सृष्टि को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, चार वर्णों में ईश्वरीय नियमों ने ही विभक्त कर दिया है। गुण, कर्म और स्वभाव तीनों के उचित विचार से मनुष्य को किसी वर्ण में प्रवेश करने का अधिकार है। जब इन कसौटियों ने वर्ण का निश्चय कर दिया तो बुद्धिमान् मनुष्य उन्हीं कर्तव्यों के पूरा करने में तत्पर रहता है जो कि गुण, कर्म स्वभावानुसार उसके लिए निश्चित किए गए हैं। जिस तरह कि अपने शरीर की सेवा करता हुआ मनुष्य भी दास नहीं कहलाता उसी तरह अपने वर्ण के कर्तव्यों को पूरा करता हुआ, शूद्र भी घृणा के योग्य नहीं। वेद में परमात्मा ने वर्णों के विभाग को एक मनुष्य की बनावट से प्रगट किया है। जिस तरह मनुष्य की बनावट में मुख, बाहु जंघा और पैर हैं और चारों भागों के समूह का नाम मनुष्य है इसी तरह मुख की अपेक्षा में ब्राह्मण, बाहु की अपेक्षा में क्षत्रिय, जंघा की अपेक्षा में वैश्य, और पैरों की अपेक्षा में शूद्र इन चारों के समूह का नाम मनुष्य समाज है। अगर पैर को अपने काम में लगा होने के कारण से घृणा की दृष्टि से नहीं देखा जा सकता तो शूद्र को घृणा की दृष्टि से देखने वालों को हम मनुष्य कैसे कह सकते हैं ? क्या यह तप नहीं है, कि शूद्र अपने स्वामी की सेवा की लगन में अपनी बराबरी के दरजे की मनुष्यता को भूल जाता है। किसी वर्ण के कर्तव्यों को भी घृणा की दृष्टि से देखा नहीं जा सकता। कोई समय था कि इंग्लैंड जैसे स्वतंत्र देशों में भी व्यापारी लोगों को घृणा की दृष्टि से देखा जाता था। परंतु आज उन देशों में व्यापारी, मनुष्यों के राजा समझे जाते हैं और अंगरे दुकानदारों की कौम होने का अभिमान करते हैं।

यह वैदिक आचरण है, किंतु कितने शोक की बात है कि जिस स्थान से वैदिक धर्म सारे संसार में फैला, जिस देश में उसने युवावस्था को प्राप्त किया, उस देश में आज 'बनिया' शब्द घृणा से बोला जाता है। और हर नीच मनुष्य तक दूसरे से

लड़ता हुआ ताना देता है "मुझे क्या कोई बनिया समझा है"। आह ! कितना परिवर्तन है। अपना धर्म पालन करते हुए कोई भी दूपित नहीं हो सकता किंतु इसके विपरीत दूसरे का धर्म भी मनुष्य को उभार नहीं सकता। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि मनुष्य को उच्च बनने की चेष्टा नहीं करनी चाहिए। नहीं, अपने अंदर जिस कर्त्तव्य के पूरा करने की शक्ति न हो उसको पूरा करने की चेष्टा न केवल दूसरों को हानि ही पहुंचाती है बल्कि अपने आपको भी पाप के गढ़े में गिरा देती है। क्या वर्तमान अवस्था में पैर से सोचने का काम लिया जा सकता है और क्या सिर से चलने का काम पूर्णतया हो सकता है ? माना कि प्रायः नट सिर के बल चलते हैं परंतु ऐसे चलने वालों को कोई भी सभ्य नहीं समझता और न यह लोग संसार का कुछ भला कर सकते हैं। जिस तरह भुजा का काम उरु से नहीं हो सकता उसी तरह वैश्य में यह शक्ति नहीं है कि वह क्षत्रियों के कर्तव्य को पूरा कर सके। अगर एक वकील को चिकित्सालय में बैठाकर हम उससे चिकित्सा कराना आरंभ करें तो क्या वह सौ में से नब्बे बीमारों को मार न देगा ? जो जिस काम के लिए तैयार किया गया है उसी काम के करने में उसकी शोभा है।

इसी प्रकार आश्रमों की व्यवस्था है। जिस मनुष्य ने मानसिक और आत्मिक शिक्षा भली प्रकार प्राप्त नहीं की है और उसका अनुभव करके परमात्मा की समीपता प्राप्त नहीं की है उसका संन्यास धारण करना जनता को खतरे में डालना है। भंगेड़ी; चरसी, लम्पट व्यक्तियों का ब्रह्मचर्य व्रत धारण करना व्यर्थ है। जिस गृहस्थ आश्रम पर सारे आश्रमों के जीवन का निर्भर है उसके अंदर कामी, लोभी और दुराचारी मनुष्य का प्रवेश करना हानिकारक है इसका स्पष्ट उदाहरण इस समय हम अपने गिरे हुए देश में देख रहे हैं। कृष्ण भगवान् के उपदेश को आज सबसे बढ़कर कृष्ण भक्त भूले हुए हैं।

प्रिय पाठकगण ! परमात्मा ने तुम में से प्रत्येक को विशेष विशेष शक्तियां दी हैं। अपने कर्मानुसार तुमने इन शक्तियों को निर्बल या बहुत प्रबल किया है, इसका प्रमाण तुम्हारा आचार है। उस आचार के अनुसार तुम अपने कर्तव्यों को पूरा करना आरंभ कर दो। जिसे झाड़ू मिला है वह क्यों न जगह साफ करे। जिसे सूक्ष्म बुद्धि मिली है वह क्यों मौन साध कर उससे संसार को वंचित करे ? क्यों न वह उसके बल से भूले भटकों को सीधे रास्ते पर लगाये ? आज भारतवर्ष में सभी ब्राह्मण बनना चाहते है। हम में क्षत्रिय बनने का साहस ही नहीं है और वैश्य बनने में प्रतिष्ठा कहां ? लेकिन शूद्र बनना तो अलग रहा, शूद्र कहलाना भी कोई पसंद नहीं करता।

प्रिय पाठकगण ! शूद्रों की इस देश को ज्यादा आवश्यकता है। सेवकों के अभाव ने ही तो यह देश रसातल को पहुंचा दिया है। तुम में से कितने हैं जो शूद्र कहलाने से न घबराते हुए मनुष्य मात्र की सेवा का प्रण धारण करेंगे और वैदिक धर्म के चमत्कार से अंधकार को दूर करने का यत्न करेंगे।

शब्दार्थ

(सु अनुष्ठितात्) भली भांति किए गए (परधर्मात्) दूसरे के धर्म से, कर्तव्य से (विगुणः) छोटा तथा स्वल्प (स्वधर्मः) निज का कर्तव्य (श्रेयान्) अधिक श्रेष्ठ है, उत्तम है। क्योंकि (स्वभावनियतं) निज स्वभाव के अनुकूल (कर्म कुर्वन्) कर्तव्य का पालन करता हुआ मनुष्य (किल्विषम्) दोष को, पाप को, अनर्थ को (न आप्नोति) नहीं प्राप्त होता।

15

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति।।

गीता 18, 49

उपदेश

धर्म के पालन में जो मनुष्य दृढ़ हैं, कर्तव्य के पूरा करने को ही जिन्होंने जीवन का उच्च आदर्श समझा हुआ है, सच्चे त्याग को सिद्ध करना उन्हीं के लिए संभव है। क्या केवल यह जान लेने से कि सांसारिक विषयों में नहीं फंसना चाहिए मनुष्य विषयों की दासता से स्वतंत्र हो सकता है ? और क्या केवल त्याग के गौरव को समझ लेने से ही मनुष्य त्यागी हो जाता है ? नहीं, इन उच्च अवस्थाओं में पहुंचने के लिए बड़े साधनों की आवश्यकता है और इन साधनों में से सबसे प्रथम बुद्धि को स्वच्छ करने की आवश्यकता है। जब तक बुद्धि उस दर्पण के अनुसार स्वच्छ नहीं होती जिसमें प्रत्येक वस्तु का प्रतिबिंब ज्यों का त्यों दिखाई देता है तब तक वह जिज्ञासु के लिए सच्चा मार्ग दिखाने का काम नहीं दे सकती। तब हम बुद्धि को कैसे स्वच्छ करें ? बुद्धि वास्तव में तो स्वच्छ ही है। क्योंकि जिस जीवात्मा का वह एक पुर्जा है वह जीवात्मा स्वरूप से स्वच्छ है। हां ! अविद्या का जंग उसे मलिन कर देता है और तब उसे वस्तुओं का असली स्वरूप दिखाई नहीं देता। साधारण मनुष्य सांसारिक सुखों को ही जीवन का लक्ष्य समझ लेते हैं और उनकी प्राप्ति के लिए प्रयत्न करते हुए अपने अमर आत्मा का नाश कर लेते हैं। जिस मनुष्य को अधिक मिठाई खाने के बाद भारी कष्ट मिल चुका हो, उसे भी हम बार-बार उसी मिठाई के इर्द-गिर्द भौंरे की तरह मंडराता हुआ देखते हैं। क्या इस मनुष्य की उन पतंगों से कुछ अधिक उच्च अवस्था है जो कि अपने भाइयों को हजारों की संख्या में दीपक के आसपास मरते हुए देखकर भी उसी पर न्योछावर होने के लिए जाते हैं। मनुष्य को बुद्धि तिरोभाव की अवस्था में नहीं दी गई है। जहां वनस्पति और पशु सृष्टि को बुद्धि से काम लेने का अधिकार नहीं है वहां मनुष्य की बड़ाई ही यह समझी गई है कि वह बुद्धि से काम ले सकता है। इसलिए मनुष्य का सबसे पहला कर्तव्य यह है कि

बुद्धि को मांजना शुरू करे। इस पर जो जंग लग गया है उसको वह उतारने का परिश्रम करे। तब उसको सांसारिक सुख व दुःख की वास्तविकता दिखाई देगी। उस समय मालूम होगा कि जिसे उसने सुख समझा था वह वस्तुतः सुख न था, जिसे वह दुःख समझता था वह यथार्थ में दुःख न था। फिर शारीरिक व्यायाम में दुःख न मालूम होगा और नग्म गदेलों पर लेटना सुखदायी न नजर आएगा। तब पता लगेगा कि भोग के अंदर सुख नहीं है और कवि के कथन के साथ वह सहमत हो सकेगा।

'भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ताः'।

भोगों को हम नहीं भोग रहे अपितु भोग हमको भोग रहे हैं। कामी पुरुष समझता है कि वह भोग करता है परंतु सत्य यह है कि इंद्रियों का काम उसे भोगता है। यदि आंख से देखने का काम लेने की जगह हम रूप के अंदर उसको फंसा देते हैं तो कहा जा सकता है कि हम रूप को भोग रहे हैं, लेकिन यथार्थ में रूप हमें भोग रहा होता है। न कान और न नाक और न जिह्वा और न त्वचा, कोई भी इंद्रिय अपने विषय को नहीं भोग रही परंतु ये विषय न केवल हमारी इंद्रियों को ही भोग रहे हैं बल्कि उनके द्वारा जीवात्मा को अपना दास बना रहे हैं। इसलिए सबसे प्रथम बुद्धि को स्वच्छ बनाने के किसी साधन से काम लेना चाहिए।

वर्णाश्रम धर्म से बढ़कर बुद्धि के स्वच्छ बनाने का कोई साधन नहीं है। जो मनुष्य अपने आश्रम और अपने वर्ण के कर्तव्य को धर्म समझकर पालन करता है उसकी बुद्धि उसी साधन से स्वच्छ हो जाती है। जो मनुष्य अपने कर्तव्य को समझने वाले हैं वे संसार की दृष्टि में गिरे से गिरे हुए काम को भी घृणा की दृष्टि से नहीं देखते। ऐसे आचरण से उनकी बुद्धि स्वच्छ हो जाती है। उन्हें ज्ञात होता है कि महत्ता कार्य करने में है न कि कार्य की उधेड़-बुन करने में। काम से, बिना संदेह यहां अभिप्राय वैदिक नेक कामों से है न कि अशुभ कार्यों से। जिसने कर्म की महानता को समझा, उसने निःसंदेह बुद्धि की सफाई की कुंजी को पा लिया है। तब अभिमान का लेश भी उसके मन में नहीं रह सकता। जब कर्म की प्रधान है और उसका फल कोई चीज़ नहीं है; जब झाड़ू लगाना, चौकी बिछाना और उस पर बैठकर न्याय करना सबके सब कर्म एक ही हैं, जब भेद है केवल कर्मों की बदनीति के दख़ल से तब इसमें अभिमान कहां रह सकता है ? ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सब अपने-अपने कर्तव्य के पूरा करने में लगे हुए हैं। यदि संन्यासी सच्चे धर्म को समझकर उसका निधड़क प्रचार कर रहा है तो क्या ब्रह्मचारी वेद विद्या की प्राप्ति के लिए उत्साह से काम करता हुआ संन्यासी से कम प्रतिष्ठा के योग्य है ? और क्या गृहस्थ-संसार की कठिनाई का मुकाबला करता हुआ, धर्मानुसार जीवन व्यतीत करने में कष्ट उठाने वाला क्या कुछ कम माननीय है ? नहीं। फिर अभिमान कहां ? जब अभिमान नष्ट हो गया तो फिर 'फंसावट' का मतलब ही क्या रहा ? उस समय सच्चा त्याग मनुष्य

के अंदर घर करता है और वह निष्काम भाव से प्रत्येक कार्य को करता हुआ उन कर्मों के बंधन से स्वंय स्वतंत्र हो जाता है।

प्रिय पाठक गण ! इस निष्काम सिद्धि के लिए ही शास्त्रों ने सारे जप, तप, यम नियम आदि नियत किए हैं। इसीलिए सारे संसार को मित्र की दृष्टि से देखने की वेद भगवान् ने आज्ञा की है। आओ ! सच्चे दिल से परमात्मा से प्रार्थना करें कि वह हम सबको अविद्या रूपी अंधकार से निकालकर प्रकाश के सीधे मार्ग में ले चले।

शब्दार्थ

(सर्वत्र असक्त बुद्धिः) संसार के सब सुखभोग में जिसकी बुद्धि नहीं फंसी है ऐसा (विगतस्पृहः) अभिमान से रहित (जितात्मा) जितेंद्रिय पुरुष (संन्यासेन) सच्चे त्याग से (परमां) महती (नैष्कम्य-सिद्धिम्) निष्कामसिद्धि को (अधिगच्छति) प्राप्त करता है।

16

इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम् ।
सन्नियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति।।

मनु. 2, 93

उपदेश

आत्मा स्वभाव से दर्पण की तरह स्वच्छ है। जिस दर्पण को जितना अधिक स्वच्छ किया जाए उसी प्रकार अधिक सफाई के साथ उसमें वस्तुओं की शकलें ठीक-ठीक दिखाई देंगी या जिस प्रकार मैलापन उस पर आ जावे उसी प्रकार वस्तुओं के रूप दिखाने के वह अयोग्य हो जाता है, इसी तरह आत्मा की अवस्था है। यदि नियम आदि साधनों से आत्मा को साफ किया जावे तो उसकी बुद्धि ऐसी उग्र अर्थात् सूक्ष्म हो जाती है कि वह ब्रह्मधाम तक ज़ाने के योग्य बन जाता है। किंतु अगर उस पर विषयों का मैल जम जावे तो उसमें वस्तुओं के यथार्थ रूप प्रकाश की शक्ति नहीं रहती। जीवात्मा का जीवन उद्देश्य क्या है ? इसका विचार उसे हर समय चाहिए, तब वह विषयों की दासता से बड़ी सुगमता से स्वतंत्र हो सकता है। विषयों में फंसने का परिणाम ही सब प्रकार के दोष हैं। यह इसलिए कि विषयों में इंद्रियों के द्वारा खिंचा हुआ पुरुष, विषयों को ही अपना आदर्श समझता है। यथार्थ में न केवल विषय बल्कि इंद्रियां भी जीवात्मा को ज्ञान पहुंचाने के लिए साधन मात्र का काम देती हैं। कल्पना करो कि एक बड़े योग्य पदार्थवेत्ता को एक बड़े रसक्रिया भवन में नियत किया गया है। इसके आधीन न केवल इस भवन के संबंध में बहुत से सहायक दिए गए हैं बल्कि उसकी अपनी सेवा के लिए भी दस, बारह सेवकादि नियत हैं। क्या बिना बताये वह पदार्थ ज्ञानी यह नहीं समझ सकता कि उसको पदार्थों का तत्वज्ञान प्राप्त करके दूसरों पर प्रकाश करने की इच्छा से उस रसक्रिया भवन में भेजा गया है। अगर फिर भी वह अपने वास्तविक लक्ष्य को भूलकर दिन भर सेवकों से आनंद लेने में ही फंसा रहे तो उसे कौन बुद्धिमान समझेगा ?

मनुष्य रचना में परमात्मा ने अपनी अपार दया से बुद्धि का एक विशेष पद रखा है। शरीर पच्चीस वर्ष की आयु तक बढ़ता है और चालीस तक अपनी उन्नति

को स्थिर रख सकता है, उसके पश्चात् ह्रास आरंभ हो जाता है। यह अवस्था उन पुरुषों की है जो साधारणतः अच्छा जीवन व्यतीत करते हैं। ऐसे पुरुष अंत में सौ बरस में चल बसते हैं। विशेष नेकी में पुरुषार्थ करने वाला पुरुष तीन सौ साल तक जीवित रह सकता है। इससे बढ़कर जीना मनुष्य की हिम्मत से बाहर है परंतु जो असाधारण रूप में पाप का जीवन व्यतीत करते हैं उनका जीवन बहुत शीघ्र नष्ट हो जाता है और उनके लिए युवावस्था और बुढ़ापे की आयु में कोई भेद नहीं रहता। चाहे कोई अवस्था हो, मनुष्य ने अवश्य नाश होना है। यह बनावट अनंत समय तक स्थिर नहीं रह सकती। न शरीर, न इंद्रियां, रहने वाली हैं, हां; इन सबके नियम जीवात्मा के अंदर उपस्थित रहते हैं। ये इंद्रियां किसी नियत सीमा तक उन्नति कर सकती हैं, उसके बाद उन्हें नीचे गिरना पड़ता है। किंतु बुद्धि है जिसकी उन्नति मरण पर्यन्त बंद नहीं होती और फिर मरने के पश्चात् दूसरे जन्म में भी स्थिर रह कर आगे चलती है इसलिए बुद्धि को उन्नत करना ही मनुष्य का परम धर्म है। इंद्रियां और विषय आदि इस परम उद्देश्य के अंदर केवल साधन हैं परंतु मनुष्य कैसा मूर्ख है कि इन साधनों का दास बन जाता है। आंख हमें इसलिए दी गई है कि हम सारे संसार के रूप की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को समझ सकें और उनका ज्ञान प्राप्त करके उसको बुद्धि की उन्नति का साधन बनावें। परंतु हममें से कितने मनुष्य हैं जो रूप के दास नहीं बन रहे। इसको छिपाने के लिए हज़ारों पाप कर्म किए जाते हैं। इसी तरह प्रत्येक इंद्रिय जीवात्मा की दास बनाई गई है। परंतु वही दास जीवात्मा को अपने वश में करके नाशवान् विषयों के दास उसे बना रहे हैं। इसी कारण मनुष्य को संसार में क्लेश दिखाई देते हैं।

परमात्मा ने स्वभाव से इस संसार को स्वर्गधाम बनाया था। मनुष्य को कर्म-योनि देकर उस स्वर्ग धाम से पूरा लाभ लेने के योग्य बनाया था। हम मनुष्यों ने स्वयं इसे अपने कर्मों से नरक धाम बना रखा है। विषय संग से ही सारे दोष पैदा होते हैं। जिसके सेवक उसके वश में हैं वह सुखी है। जिसके सेवक उसके मालिक बने हुए हैं उससे बढ़कर कोई दुःखी नहीं है। अतः इन दोषों से छूटने के लिए मनुष्य को विषयों से स्वतंत्रता प्राप्त करनी चाहिए। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि इंद्रियों का विषयों के साथ जो संबंध हो जाता है उसे मनुष्य छोड़ सकता है और इसलिए वह उसे फौरन छोड़ देवे। अगर यह संबंध टूट जावे तो प्रत्यक्ष ज्ञान ही पैदा नहीं होता। प्रत्यक्ष ज्ञान के न होने से अनुमान इत्यादि की समाप्ति हो जाती है। तब जब प्रमाण ही स्थिर न रहे तो प्रमेय वस्तु कैसे जानी जा सकती है। इंद्रियों का विषयों के साथ संबंध बराबर रहता है और इंद्रियों के संबंध से जीवात्मा इस जीवन में जुदा नहीं हो सकता। परंतु हां ! वह संबंध मालिक और सेवक का होना चाहिए। ऐसा न हो कि सेवक स्वामी बन जायें और स्वामी सेवक बन जावें।

प्रिय पाठकगण ! हम सब अपने परम उद्देश्य को भूले हुए हैं। विषयों की

वास्तविकता को न जाने हुए हम उनके भोग ही में सुख माने बैठे हैं। इसलिए हमारे पीछे बीसों दोष लगे हुए हैं और हमको पीड़ित कर रहे हैं। विषयों से छुटकारा प्राप्त करने का यत्न आज से ही आरंभ कर दो जिससे जिस समय जीवात्मा शरीर से पृथक् होने लगे उस समय हमारी कोई भी वासना सांसारिक पदार्थों में बाकी न रहे ताकि हम अपने परम उद्देश्य का ध्यान करते ही प्राण त्याग कर मुक्ति के भागी बन सकें।

शब्दार्थ

(इन्द्रियाणां) इंद्रियों के (प्रसङ्गेन) विषयों में फंसने से मनुष्य (असंशयम्) निश्चय से (दोषम् ऋच्छति) दोष का भागी होता है। किंतु (तानि एव तु) उन्हीं इंद्रियों को (सन्नियम्य) संयम करके (ततः सिद्धिं) बाद में सफलता को (नियच्छति) प्राप्त कर लेता।

17

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते।।

मनु. 2, 94

उपदेश

इंद्रियां नए बछेरों की भांति इधर-उधर भागती हैं। उनको किसी वस्तु की इच्छा है। बछेरा पैदा होते ही इधर-उधर पैर मारने लगता है। घास और चारे को न पहचानता हुआ भी उनके भोग की इच्छा अपने अंदर रखता है, किसी को बतलाने की आवश्यकता उसे नहीं होती। कुछ देर बाद वह स्वयमेव घास खाने लग जाता है। जिस प्रकार दूसरे घोड़ों को करते देखता है वैसे ही स्वयं करने लग जाता है किंतु क्या घास मिलने से और पेट भर कर खा लेने से उसको शांति होती है। एक खेत से दूसरे में, दूसरे से तीसरे में, इसी उधेड़-बुन में वह लगातार लगा रहता है। कारण क्या है ! घास खाने या दूसरी खुराक पहुंचने से उसकी तृप्ति नहीं होती ? परंतु जहां भूख ही नहीं रहती, वहां इच्छा बहुत अधिक चमकती है और इसी प्रकार इधर-उधर फिरता हुआ बछेरा केवल चंद दिनों का मेहमान होता है। अपनी इच्छा को पूरा करने के लिए पहाड़ और जंगल में वह कुछ भेद नहीं करता। कई बार ऐसा भी होता है कि वह बीहड़ रास्ते में ठोकरें खाकर मर जाता है। तब हम यह नहीं कह सकते कि उसने कोई भले का काम किया। परंतु इसके विपरीत यदि बछेरा किसी बुद्धिमान् मनुष्य के वश में आ जाता है तो उसका स्वामी, जहां, समय पर उसके लिए, केवल घास ही नहीं किंतु दाने का भी प्रबंध कर देता है—और उसके पीने के लिए स्वच्छ जल सामने रख देता है, वहां उसे काम योग्य बनाने का भी बड़ा प्रयत्न करता है और कुछ दिनों में उसे इस योग्य बना लेता है कि वह सवार को उसके इशारे पर हर जगह ले जा सके और संसार के कामों में एक उपयोगी भाग ले सके। यही अवस्था इंद्रियों की है। विषयों को अनुभव करते हुए, इंद्रियां बेबस उसके अंदर दौड़ती हैं। आंख रूप की ओर जाकर यदि उसी को अपना उद्देश्य समझ लेवे (और अविद्या के कारण होता भी ऐसा ही है) तो फिर उसका वहां से लौटना असंभव है। आग

पर जिस प्रकार घी छोड़ो, उसी प्रकार वह प्रज्वलित होती है। विषय भोग भी घी आग में छोड़ने के तुल्य हैं। जितना मनुष्य विषयों को अधिक भोगेगा उतना ही उनके भोगने की इच्छा बढ़ती जाती है। मनुष्य अल्प है, जीवात्मा शरीर रूपी कारागार में कैद होने के कारण, अपनी शक्तियों को और अधिक सीमित कर बैठता है। इसलिए उसके अंदर भोग की शक्ति भी अनंत नहीं हो सकती, किंतु भोग की इच्छा की कोई सीमा नहीं है। इस इच्छा का वश में रहना कठिन है। इच्छा को वश में करने के लिए, उसे जड़ से काट देना ही आवश्यक है, किंतु यह कार्य बड़ा कठिन है।

विषय भोग की यह इच्छा कैसे दूर हो। भोग से तो इच्छा दूर होती नहीं फिर भी मनुष्य भोग का सर्वथा त्याग कर दे ? जो मनुष्य भोग से शांति की अभिलाषा करते हैं। उनकी गणना इस समय संसार में अधिक है। सांसारिक उन्नति को ही जीवन का उद्देश्य समझने वाले इस समय अधिक हैं। सभ्यता का लक्षण ही यह किया जाता है कि जो आवश्यकताओं को बढ़ाकर उनके पूरा करने के लिए मनुष्यों में जद्दोजहद करावे। कहा जाता है कि इस संघर्ष का परिणाम ही इस समय की सभ्यता है। वृक्ष अपने फल से पहचाना जाता है। जिज्ञासु पूछता है कि क्या इस सभ्यता ने मनुष्यों के हृदय शांत कर दिए हैं ? क्या नरम से नरम गदेलों ने मनुष्यों के शरीरों को हर प्रकार के कष्ट सहन योग्य बना दिया है ? क्या एक चुटकी से नगर के नगर नष्ट कर देने वाली भयानक पुड़िया और गुप्त से गुप्त समाचार पहुंचाने वाले बेतार के तार ने संसार के राजाओं को सुख की नींद का दान दे दिया है ? अगर नहीं तो तुम्हारी सारी डींग व्यर्थ है।

सांसारिक उन्नति, जिस पहलु में अच्छी और आवश्यक है, उसी पहलु से उसे देखना चाहिए। विषय भोग के लिए कैसे ही आश्चर्यजनक साधन क्यों न पैदा करो, उनसे इंद्रियों की तृप्ति नहीं हो सकती। दूध के मक्खन को चाहे किसी शकल में बदल कर आग में डालो, आग कदाचित् शांत न होगी। क्या हलवे में मिलाकर, घी को आग में डालने से आग शांत हो जाती है ? आग को शांत करने के लिए आवश्यक है कि घी का डालना बिलकुल बंद कर दिया जाए। किंतु क्या घी डालना बिलकुल बंद कर देने से आग शांत हो जाएगी। हां, कुछ समय के लिए अवश्य शांति की ओर चलेगी। किंतु यदि उसके क्षेत्र में शुष्क लकड़ियां आ जावेंगी तो वह फिर चमक उठेगी। इसी तरह भोगों से बिलकुल पृथक् हो जाने से भी चाहे कुछ समय के लिए इंद्रियां शांत सी प्रतीत होती हैं परंतु वह सदा के लिए शांत नहीं होतीं। जरा से संबंध से वह इच्छा फिर जाग उठती है और बेबस इंद्रियों को उसके विषय के अंदर फंसाकर जीवात्मा को फिर से अशांत कर देती है। ऐसी अवस्था में यद्यपि इलाज अधूरा है तब भी मुकाबला रोग के अधिक कष्ट और अधूरे इलाज का है। इसलिए मनु जी महाराज यहां केवल इतना ही निश्चय करते हैं कि विषय भोग के अंदर फंसने की अपेक्षा, उनसे बचना श्रेष्ठ है। क्योंकि भोग हमको दुःख के गढ़े में अधिक

से अधिक नीचे की ओर ले जाता है। दूसरी बात यह है कि केवल त्याग को भयानक समझकर हमें वास्तविक शांति की खोज में जाना चाहिए। तो भी यह सिद्ध होता है कि भोग की अपेक्षा त्याग अधिक सुरक्षित है और मुनष्य को सीधे मार्ग पर ले चलने वाला है। साधन शून्य, साधारण मनुष्यों के लिए अच्छा है कि वे हर प्रकार के प्रलोभनों से पृथक् रह कर अनुभव शून्य कहाने का ताना बर्दाश्त करें, किंतु बिना साधनों के इंद्रियों के साथ जंग करने में तत्पर न हों।

प्रिय पाठकगण ! जिन सरल हृदय बालकों और बालिकाओं ने अब तक इंद्रियों की इच्छाओं के वेग की यथार्थता को नहीं समझा है, जिनके हृदय अब तक साधनों की ओर केवल झुके ही हैं; उनको परीक्षा में मत डालो। उनके कोमल मनों को हर प्रकार के विषयों की लुभावनी मूर्ति के दर्शनों से जुदा रख कर ऋषियों के कथनानुसार उन्हें साधन संपन्न बनाने का प्रयत्न करो ताकि वे इंद्रियों को पूरे तौर पर काबू करके, विषयों को अपना दास बनाने का बल प्राप्त करने के पश्चात् संसार में प्रवृत्त होकर, न केवल आप ही ज्यादा बलिष्ठ बनें बल्कि आजकल के गिरे हुए मित्रों को भी उठा सकें।

शब्दार्थ

(कामानामुपभोगेन) विषय वासना की पूर्ति से (कामः) इच्छा (जातु) कभी (न शाम्यति) शांत नहीं होती अपितु वह इच्छा तो (हविषा) घी की आहुति से (कृष्णवर्त्मा इव) अग्नि की लपट की तरह (भूय एव) फिर फिर (अभिवर्धते) प्रबल हो जाती है।

18

यच्चैतान् प्राप्नुयात् सर्वान्यच्चैतान् केवलांस्त्यजेत्।
प्रापणात् सर्वकामानां परित्यागो विशिष्यते।
तथैतानि न शक्यन्ते संनियन्तुमसेवया।
विषयेषु प्रजुष्टानि यथा ज्ञानेन नित्यशः।।

मनु. 2, 95, 96

उपदेश

अपने पहले कथन का परिणाम बतलाकर, मनु भगवान् आगे चलते हैं। विषयों में दिन रात फंसे रहने से, उसका सर्वथा त्याग श्रेष्ठ है। क्यों ? इसलिए कि जहां विषयों में फंसा हुआ पुरुष, दिन रात नीचे की ओर चलता रहता है, वहां त्यागी कम से कम अपन साधारण अवस्था पर तो स्थित रहता है। यह माना कि दोनों अवस्थाएं भयानक हैं। त्यागी और भोगी, दोनों के दोनों, हर समय गिर सकते हैं किंतु भोगी तो गिरा हुआ ही है, वह उससे अधिक क्या गिरेगा। एक गेंद को एक बार नीचे की ओर धकेल दो, वह किसी न किसी समय सबसे निचले तल पर पहुंच जाएगी। हां, बीच में अगर और धक्के मिलते जावें तो अधिक तेजी के साथ आ गिरेगी। लेकिन त्यागी की यह अवस्था अब तक नहीं है। संभव है उचित साधन आरंभ हो जावें और वह भयानक अवस्था से बच जावे किंतु ऐसी अवस्था में इंद्रियों को ज्यादा देर तक रखना खतरनाक है त्याग भी बिना नींव के स्थिर नहीं रह सकता। जो इंद्रियां एक बार भोगों में फंस चुकी हों (जैसे कि निन्नयानवें प्रतिशत मनुष्यों की अवस्था है) उनके लिए सर्वथा त्याग असंभव नहीं तो बड़ा कठिन है। इसलिए त्याग की अवस्था को दृढ़ करने के लिए आवश्यक है कि ज्ञान मनुष्य का सहारा हो। ज्ञान द्वारा एक-एक इंद्रिय की फंसावट की वास्तविकता को जानकर उसके अपने विशेष विषय की ओर झुकने के कारणों को मालूम करना चाहिए। जिस समय विषयों की असारता और तुच्छता प्रतीत होती है, तो मनुष्य विषयों की ओर झुकता ही नहीं है।

संसार की प्रत्येक बुराई मनुष्यों को अपनी ओर उसी समय तक खींचती है जब तक उसके घृणित रूप पर बनावटी सभ्यता का खोल चढ़ा हुआ रहता है। बुद्धि

से इस खोल को उतार कर हर एक विषय को उसके यथार्थ रूप में देखना ही बुद्धि का वास्तविक उद्देश्य है। इसलिए बुद्धि का सारा बल, विषयों की वास्तविकता के ढूंढ़ने में लगाना चाहिए। इसी काम के लिए हमें इंद्रियां और उनक गोलक प्रदान किए गए हैं। किंतु क्या बुद्धि द्वारा केवल विषयों की वास्तविकता को जान लेने से हम सब सुरक्षित हो सकते हैं, यही मंजिल बड़ी नाजुक है। विषयों के असली स्वरूप को जानकर भी मनुष्य उसकी दासता से नहीं निकल सकता। आवश्यक है कि दिन रात, हर पल हर घड़ी विषयों का वास्तविक स्वरूप हमारे सामने रहे। इसलिए मनु महाराज सावधान करते हैं कि इंद्रियों को जीतने के लिए आवश्यक है कि विषयों के यथार्थ रूप का ज्ञान सदा सब समय बना रहे। वह ज्ञान बिना साधनों के असंभव है। इस समय संसार का बहुत बड़ा भाग साधनहीन हो रहा है। इसलिए हम बड़े से बड़े ज्ञानियों को विषयों का शिकार हुआ देखते हैं। यही कारण है कि ज्ञानियों के गिरने की सर्वसाधारण चर्चा हमें प्रतिदिन मनुष्य समाज में सुनाई देती है। वरना जो ज्ञानी हैं वे गिर कैसे सकते हैं ? केवल ज्ञान से ही मनुष्य ज्ञानी नहीं हो सकता। बल्कि उस जानी हुई वस्तु को अपना लेने से मनुष्य ज्ञानी हो सकता है। जान लेने से केवल विद्वान् मनुष्य बुराइयों का शिकार हो सकता है। विद्या 'विद्-ज्ञाने' धातु से निकला है, इसलिए केवल विद्वान्, विषयों में लिप्त होकर बरबाद ही हो सकता है। किंतु आचरणशील देव, इस कमज़ोरी से मुक्त हो जाता है।

प्रिय पाठकगण ! जब तक एक-एक विषय की घृणित शकल को सभ्यता के खोल से निकालकर आप देख नहीं सकते तब तक आपके मन में कदाचित् घृणा उससे हो नहीं सकती। रूप को ऊपर के पर्दे में से निकालो तो बाकी क्या रहता है ? इसको मसाले से पृथक् करो तो उसके अंदर फंसावट का सामान कौन सा रह जाता है ? और फिर इन सब विषयों के भोग में फंसने का अंतिम परिणाम क्या होता है ? विषयों की यथार्थता को केवल एक बार जान लेना पर्याप्त नहीं है। उनकी वास्तविकता का ज्ञान हर समय बना रहना चाहिए। ऐसा न हो कि तुम्हें बेखबर पाकर विषय फिर अपना काम कर जावें और तुम्हारी बरसों की कमाई का एक मिनट में नाश कर दें। शरीर में वह शक्ति नहीं है कि इनको वश में कर सके। यह शक्ति आत्मा के अंदर ही है जिसका साधन बुद्धि है उसको दिन रात मांजने का यत्न करो। बुद्धि ज्ञानेन शुद्ध्यति। बुद्धि ज्ञान से शुद्ध होती है और फिर वह शुद्ध की हुई बुद्धि स्वयं ज्ञान को शुद्ध अवस्था में जीवात्मा तक पहुंचाती है। धन्य हैं वे पुरुष जो यम, नियमादि साधनों से बुद्धि को मांज कर सत्य ज्ञान के अधिकारी बनते हैं और उसकी रक्षा में पलकर सांसारिक विषयों को जीत कर अर्थ और परमार्थ के भागी बनते हैं। उनके लिए संसार में फिर कोई वस्तु अप्राप्य नहीं रहती। संसार उन्हें अपना दिखाई देता है और इसलिए वे तर्क वितर्क और महि के सागर से पार हो जाते हैं।

शब्दार्थ

(यत् च) जो (एतान् सर्वान्) इन सब विषयों को (प्राप्नुयात्) प्राप्त करे, भोगे। (यत् च) और जो (एतान् केवलान्) केवल बन विषयों के (त्यजेत) त्याग में प्रवृत्ति रहे। इन दोनों में से (सर्वकामाना प्रापणात्) सब इच्छाओं की पूर्ति से (परत्यागः) कामनाओं का परित्याग ही (विशिष्यतें) अधिक श्रेष्ठ है।

(एतानि प्रजुष्टानि) विषयों में फंसी हुई इन इंद्रियों को (असेवया) विषय भोग से पृथक् रह कर (संनियन्तुम) संयम में रखना (तथा शक्यन्ते) न इतना अधिक संभव नहीं है (यथा) जनता कि (नित्यशः ज्ञानेन) सतत ज्ञानपूर्वक संयम में रखने से।

19

श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा च यो नरः।
न हृष्यति ग्लायति वा स विज्ञेयो जितेन्द्रियः।।

मनु. 98

उपदेश

जब विषयों में फंसना ही दुःख का कारण है और जीवात्मा को विषयों में फंसाने के साधन इंद्रियां ही हैं, तब निःसंदेह दुःख दूर नहीं हो सकता जब तक कि इंद्रियों को वश में न किया जाय तब इंद्रियों पर विजय कैसे प्राप्त हो ? यह प्रश्न विचारने के योग्य है। इससे पहले कि इंद्रियों को जीतने के साधन मालूम हो सकें, यह जानना अत्यंत ही आवश्यक है कि इंद्रियों को जीतने से अभिनय क्या है ? क्या इंद्रियों को मार डालने वाला मनुष्य इंद्रियजित् हो सकता है ? क्या जो मनुष्य अपने कानों से बहरा हो जावे, आंखों से अंधा हो, जिसकी जिह्वा में स्वाद लेने की शक्ति न रहे, जिसकी नाक के लिए सुगंध और दुर्गंध में भेद करना असंभव हो जाय और जिसके शरीर में छुरी चुभाने से भी कुछ अनुभव करने की शक्ति न रहे, क्या ऐसा पुरुष जिसकी पांचों ज्ञानेंद्रियों में काम करने की शक्ति का तिरोभाव हो जाय, जितेंद्रिय कहलाने का अधिकारी हो सकता है। ज्ञानेंद्रियां तो दूर रहीं, (क्योंकि प्रत्येक गति का आश्रय सीधा मन के से साथ है) कर्मेन्द्रियों तक की शक्तियों को नष्ट करने की कोशिश से कभी वे इंद्रियां वश में नहीं आतीं। कारण स्पष्ट है। बिना मन के साथ संबंध हुए, कोई भी इंद्रिय काम नहीं करती। जब मन हरकत करने वाला मौजूद है तो इंद्रिय के गोलक को टुकड़े-टुकड़े कर डालने से भी उस इंद्रिय का काम बंद नहीं होता। मैंने एक साधु को देखा है जो काम से वशीभूत होकर एक बार अपने मन को न रोक सका। उसे अपनी इस गिरी हुई अवस्था से ऐसी घृणा हुई कि उसने अपनी गिरावट के कारण इंद्रिय के गोलक को काटकर अलग कर दिया। उसकी उस अवस्था को देख सहस्रों के मन जल गए। डॉक्टर ने चिकित्सा की और वह साधु राज़ी हो गया। कुछ समय के बाद मैंने फिर देखा कि उसके आचरण बहुत ही गिर गए थे। इसका कारण क्या था ? इंद्रियों को बुरे मार्ग पर ले जाने का कारण

मन है। साथ ही उन्हें सीधे मार्ग पर चला कर उन्हें संसार के उपकार का साधन बनाने का ज़रिया भी वही मन है। फिर क्या जितेंद्रिय होने के लिए पांचों ज्ञानेंद्रिय के गोलक काट कर फेंक देने की आवश्यकता है ? कदाचित् नहीं। ऐसी चेष्टा से इंद्रियों का बस में आना कठिन है। क्योंकि गोलक दूर होने से भी मन के द्वारा इंद्रियों का काम होता ही रहता है, इसलिए जितेंद्रिय होने के लिए इंद्रियों से पृथक् होने की आवश्यकता नहीं है बल्कि इंद्रियों को उनके कामों में ही लगाकर मन वश में आ सकता है। जितेंद्रिय पुरुष के काम बंद नहीं हो जाते और न उनमें लोहे की गरम शलाका डालने की आवश्यकता है। उसकी अवस्था ऐसी हो जाती है कि मीठे स्वर से न उसको सुख होता है और न कड़वा शब्द उसे दुःखदायी प्रतीत होता है। उसकी त्वचा में स्पर्श की शक्ति बराबर स्थिर रहती है। किंतु न उसे नरम गदेलों से आनंद आता है और न ही सख़्त लकड़ी व पत्थर पर सोने में उसे कुछ दुख प्रतीत होता है। उसकी दृष्टि बदसूरत और सुंदर वस्तुओं पर एक जैसी पड़ती है। उसकी जिह्वा को स्वादु चीज़ की आवश्यकता नहीं होती और न उसे सुगंधि से खुशी और न दुर्गंधि में रंज होता है। इन सब इंद्रियों को केवल साधन मात्र समझता हुआ, ऐसा इंद्रियजित् पुरुष व्यसनों से दूर रहकर अपने कर्तव्य कर्म का ठीक तौर पर पालन कर सकता है।

इंद्रियों का विषय बन जाना हमारा कोई उद्देश्य नहीं है। मनुष्य जीवन के परम उद्देश्य की प्राप्ति में जैसे अन्य अनगिनत साधन हैं, उनमें से पांच ज्ञानेंद्रिय भी पांच प्रकार के साधन मात्र हैं। इस सच्चाई को न जानते हुए सांसारिक विषयों में लिप्त गृहस्थी पुरुष अपनी आयु को खराब कर बैठते हैं। मुझसे एक बड़े माननीय वकील दोस्त की बातचीत हुई। पहले वह मुझसे धर्म विषय पर वार्तालाप करने को तैयार न थे फिर यह कहा कि आपके मन्तव्य शायद मेरे साथ न मिलें और साथ ही यह भी कहा कि वह बहस नहीं करना चाहते। तब मैंने निवेदन किया कि बहस न करते हुए, वह केवल मेरे मन्तव्य सुन लें। इससे उन्हें क्या इनकार हो सकता था ? मैंने अपने मन्तव्यों की व्याख्या करके जब सुनाई तो वे स्वयं बोल उठे कि उनके भी वही मन्तव्य हैं। तब मैंने उनसे कहा कि मेरे साथ मिलकर इन कर्तव्यों के फैलाने में सम्मिलित हो। इसका जो उत्तर मेरे माननीय मित्र ने दिया वह मुझे कभी नहीं भूलेगा। 'यह बातें चौथे पद की हैं। इन पर अमल संसार के काम समाप्त करके किया जा सकता है'। अह ! कैसे खतरनाक शब्द हैं। मेरे मित्र युवावस्था में ही हज़ारों रुपये कमाने और सांसारिक प्रतिष्ठा के पीछे भागते हुए ही चल बसे और वह समय न आया जबकि वह संसार के कामों को समाप्त करके परमार्थ के कामों में लगें। कवि ने कैसा ठीक कहा है 'कारे दुनिया कसे तमाम ना करद' 'किसी ने दुनिया के काम समाप्त नहीं किए'। दुनिया के काम संसार में फंसे रहने से कब समाप्त हो सकते हैं। आज करोड़ों मनुष्य अविद्या में बहे चले जा रहे हैं। वे नहीं समझते

कि भोगों से इंद्रियों को तृप्त करने के यत्न की आवश्यकता नहीं है क्योंकि इंद्रियां कभी तृप्त नहीं हो सकतीं, विषय रूपी घृत की आहुति इंद्रियों की इच्छा रूपी अग्नि को अधिक से अधिक तेज करती है। इसलिए गृहस्थ ही में इंद्रियां वश में आ सकती हैं। गृहस्थ आश्रम में ही मनुष्य मन को जीत सकता है। यदि जंगल में जाने से इंद्रियां वश में आ सकतीं तो जंगलियों की वह दशा न होती जो दिखलायी देती है।

इसलिए पाठकगण ! गृहस्थ आश्रम के अंदर ही इंद्रियों के भोग में सुख और दुःख की भावना को छोड़कर अपने मन को वश में करो। तब तुम्हारे जितेंद्रिय होने में संदेह न होगा और तब तुम मनुष्य जन्म के कर्तव्य कर्मों का पालन करते हुए सच्चे संन्यास के अधिकारी बन सकोगे। परमात्मा अपनी अपार दया से हमें अपनी ओर खींचने के लिए साधन दर्शाते हैं। क्या हम सब ज्ञान चक्षु रखते हुए भी अंधे ही बने रहेंगे। भीतर से आवाज आती है 'नहीं, हमारे ज्ञान नेत्र अवश्य खुलेंगे'।

शब्दार्थ

(श्रुत्वा) संगीत सुनकर, (स्पृष्ट्वा च) सुंदर पदार्थों को छू कर (दृष्ट्वा च) सुदर रूप को देखकर (भुक्त्वा) स्वादिष्ट पदार्थों को खाकर (घ्रात्वा च) और सुगंध पाकर (यो नरः) जो निःस्पृह व्यक्ति (न हृष्यति) न तो प्रसन्न होता है और (न ग्लायति) न विकृत पदार्थ पा कर दुःख मानता है (सः) वह (जितेंद्रियः) मनुष्य जितेंद्रिय (विज्ञेयः) समझा जाना चाहिए।

20

इन्द्रियाणां तु सर्वेषां यद्येक क्षरतीन्द्रियम्।
तेनास्य क्षरति प्रज्ञा दृतेः पात्रादिवोदकम्।।

मनु. 2, 99

उपदेश

किसान अपने खेत को सींचने के लिए, चरस मोल लेता है, चारों तरफ से देखभाल कर उसका सौदा करता है। अगर एक भी छेद चमड़े में हो तो उसे परे फेंक देता है फिर अच्छा चरस लगाकर किस आनंद से कुआं चलाता है और अपने खेत को पानी देता है। परंतु ज्यों ही उस चरस में एक छेद हो जाता है त्यों ही किसान निराश हो जाता है। एक छोटा सा सुराख यदि असावधानी से छोड़ दिया जाय तो कुछ समय के पश्चात् सारे चरसे में छेद ही छेद हो जाते हैं। और अधिक समय नहीं व्यतीत होता कि दूसरे नए चरस की आवश्यकता होती है। लगभग यही अवस्था इंद्रियों की है। एक इंद्रिय के भी अंदर यदि छेद हो जाए और उसका झुकाव अपने विषय की ओर हो तो दूसरी इंद्रियां अपने विषय की ओर जाने से रुक नहीं सकतीं। इसका परिणाम शनैः शनैः यह होता है कि मनुष्य की सारी बुद्धि नष्ट हो जाती है। जड़ चरसा और मानवीय बुद्धि के अंदर अन्य सब बातें तो मिल जाती हैं किंतु एक अंतर रहता है। जड़ चरसा यदि खराब हो जाय, दूसरा नया बाजार से मिल सकता है परंतु इंद्रिय एक बार खराब हो जाएं तो फेंकी नहीं जा सकतीं और न उनकी जगह नई इंद्रियां मिल सकती हैं। विषयों में फंसी हुई इंद्रियां चाहे जबरदस्ती वापस लाई जा सकें और उनके छिद्र चाहे बंद भी कर दिए जावें, फिर भी उनकी तुलना पवित्र, शुद्ध इंद्रियों की असली अवस्था के साथ नहीं हो सकती तब सब इंद्रियों को बस में रखना कैसा आवश्यक है, यह जतलाने की आवश्यकता नहीं है।

संसार में होता क्या है ? इस अटल सच्चाई की उपस्थिति में और इसको अनुभव करते हुए भी मनुष्य इस पर आचरण करने में अपने को असमर्थ पाते हैं। मैं एक जुडिशियल ऑफिसर को जानता था जो पंजाब भर में सच्चा और निधड़क प्रसिद्ध था। एक बार एक खास मुकदमा उसके न्यायालय में पेश था। एक पक्ष की ओर

से उसके पिता महाशय ने सिफारिश की। जुडिशियल ऑफिसर ने पिता की सिफारिश की कुछ परवाह न करते हुए, मुकदमे का निर्णय अपनी बुद्धि के अनुसार न्यायपूर्वक किया। यह जुडिशियल ऑफिसर शराब पीने वाला भी था और साथ ही विलासी जीवन व्यतीत करने का आदी था। इन सब निर्बलताओं तथा दुर्गुणों के होते हुए भी उसकी प्रतिष्ठा मेरे दिल में उसके सत्यप्रिय होने के कारण से थी। अंत में वह प्रतिष्ठा मुझे अपने दिल से दूर करनी पड़ी। एक बार उसका एक शराबी मित्र एक संगीन मुकदमे में पकड़ा गया। वही न्याय प्रिय जुडिशियल अफसर जिसने अपने पिता की सिफारिश की कुछ परवाह न की थी, अपने हमप्याला दोस्त के बचाने के लिए झूठी गवाही पैदा करते हुए मैंने देखा। और उस कोशिश से उसने अपने मित्र को बचा भी लिया। परंतु क्या उसके पश्चात् वह सच्चाई पर स्थिर भी रह सका। उसका जीवन जवाब देता है कि कदाचित् नहीं। मैंने ऐसे जुडिशियल अफसर भी देखे हैं जो मुकदमों में अपने लिए तो रिश्वत नहीं लेते परंतु जिन अच्छी संस्थाओं के साथ सहानुभूति हो; उनके लिए धन देने वालों के साथ खास रियायते करते हैं। क्या एक मनुष्य जो कामी है कभी भी सत्यवादी हो सकता है ? और क्या एक पुरुष जिसे जिह्वा का व्यसन है कभी भी स्पर्श दोष से मुक्त हो सकता है। एक इंद्रिय की गिरावट शेष सब इंद्रियों को ले डूबती है। कल्पना करो कि तुम्हारे दस नौकर हैं, अगर उनमें से एक भी आज्ञाकारी न रहे तो क्या दूसरों पर तुम्हारा दबाव रह सकता है ? किंतु यदि इन में से एक भी तुम्हारे वश में आ जावे तो उसका दृष्टांत दूसरों को काबू में रखने में तुम्हें मदद देता है। एक इंद्रिय के भी बेबस होने को साधरण बात न समझो, क्योंकि एक के बिचलने से सब बिचल जाते हैं। बाज मनुष्यों की दिमागी तरक्की को देखकर हम सब मोहित हो जाते हैं और यह समझ लेते हैं कि आला दिमाग मनुष्यों की बदइखलाकियां ध्यान में लाने के योग्य नहीं हैं और इसलिए उनके अनुकरण में स्वयं आला दिमाग बनने का यत्न करते हैं। इस रीस ने संसार को नष्ट कर दिया है। अगर कोई पापी मनुष्य उच्च मानसिक शक्ति रखने वाला है तो यह मत समझो कि पाप मनुष्य को गिराता नहीं है बल्कि यह समझों कि अगर वह मनुष्य पापी न होता तो उसका दिमाग और भी उच्च और साथ ही शुद्ध भी होता। उच्च से उच्च दिमाग संसार के नाश का कारण है यदि उसके साथ पवित्रता सम्मिलित नहीं है।

प्रिय पाठकगण ! आज से तुम सब इंद्रियां को एक साथ बस में करने का साधन करो, तब तुम्हारी बुद्धि स्वच्छ रहेगी वह स्वच्छ बुद्धि तुम्हें रास्ते के हरेक गढे से और प्रत्येक ठोकर से सावधान करेगी, ताकि तुम असावधान होकर कहीं विषयों के गुलाम बनकर इधर-उधर मारे-मारे न फिरो। तब संसार अपने असली स्वरूप में तुम्हारे सामने आएगा और प्रलोभनों की यथार्थता दिखला सकेगा, जिनमें फंसकर आज तक बहुत से अमृतपुत्र नष्ट हो चुके हैं। परमात्मन् ! हम मलिन हृदय अल्प

हैं, हमारी शक्ति अल्प और हमारा ज्ञान भी अल्प है। आप ज्ञान के भंडार हो, हम सबके अंदर ऐसी प्रेरणा करो कि हम पाप कर्मों से सच्ची घृणा का भाव अपने अंदर पैदा करके धर्म, अर्थ और मोक्ष भागी बनने के लिए सच्चा प्रयत्न करते रहा करें।

शब्दार्थ

(यदि) अगर (सर्वेषां) मनुष्य को सब (इन्द्रियाणां तु) इंद्रियों में से तो (एक इन्द्रियम) एक भी ज्ञानेंद्रिय (क्षरति) विषय भोग में पड़ कर पथभ्रष्ट हो जाती है, (तेन) तो उसके प्रभाव से (अस्य) इस मनुष्य की (प्रज्ञा क्षरित) बुद्धि भी भ्रष्ट हो जाती है जैसे कि (दृतेः पालात्) फटी हुई मशक से (उदकमिव) पानी बह जाता है।

21

पूर्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठन् नैशमैनो व्यपोहति।
पश्चिमां तु समासीनो मलं हन्ति दिवाकृतम्।।

मनु. 2, 102

उपदेश

मनुष्य का परम उद्देश्य तीनों तापों की परम निवृत्ति बताया गया है। मनुष्य का उद्देश्य यही है कि संसार के अंदर जिन तीन प्रकार की वृत्तियों से दुःख मिलता है, उससे छुटकारा प्राप्त करे। इसी को मोक्ष कहते हैं। दुःख मनुष्य को क्यों सताते हैं ? इसलिए कि उनके अंदर अशुद्धता आ जाती है। इसलिए अशुद्धता से पृथक् होना ही अपने असल स्वरूप की स्वच्छता को प्राप्त करना है। मनुष्य पवित्र कैसे हो, अपवित्रता को अपने से कैसे दूर फेंक देवे ? यह कठिन प्रश्न है, जिसके उचित हल पर जीवन के असली उद्देश्य का हासिल करना निर्भर है। जब जीवात्मा स्वभाव से स्वच्छ है तो उसके साथ मलीनता का कैसे संबंध हुआ ? यदि दर्पण को अंधेरे के अंदर रख दें और साथ ही उसकी सुध न लें, तो न केवल उसका स्वरूप ही आंखों में ओझल हो जावेगा बल्कि उसके साफ चेहरे पर जंग और मिट्टी के धब्बे लग जावेंगे और जब यदि उसे प्रकाश के सामने किया जाए तो हमें वह वस्तुओं को ठीक-ठीक नहीं दिखला सकेगा। इसी तरह पर स्वच्छ जीवात्मा जब कार्य जगत् के बंधनों के अंदर फंस जाता है और उसके चारों ओर सांसारिक अंधेरा ही उसे घेरे रहता है, उस समय उस पर राग, द्वेष और अस्मिता आदि धब्बे लग जाते हैं। इसके कारण उसे अपना स्वरूप भी यथार्थ अवस्था में दिखाई नहीं देता। इस अपवित्रता से मनुष्य को बचाने के लिए, वेद की आज्ञा के अनुसार, भगवान् मनु ने प्रातः और सायं संध्या का बंधन नियत किया है।

इन प्रातः और सायं शब्द से अभिप्राय क्या है ? उपनिषत्कार ऋषि बतलाते हैं कि परमात्मा की उपासना जागृति के अंत और स्वप्न के अंत में करनी चाहिए। इसलिए सायं से अभिप्राय जागृत अवस्था का अंत है और प्रातः से अभिप्राय स्वप्न अवस्था का अंत है। प्रातः से सांसारिक झगड़ों के अंदर लगा हुआ मनुष्य इस योग्य

नहीं होता कि आत्मा के संबंध रखने वाली शक्तियों की मलीनता को दूर करने का साहस कर सके। कर्मेन्द्रियां बड़ी तेजी से अपने कार्यों में लग रही हैं और ज्ञानेंद्रियां अपने विषयों के अदर फंसी हुई हैं। अगर उस समय निर्बल मनुष्य उनको इस प्रवाह से रोकना चाहे तो उसके लिए कदाचित् यह असंभव नहीं होता। जिस प्रकार बलवान शरीर के बछेरे प्रारंभ में बस में नहीं आ सकते परंतु जब उन्हें चाबुक सवार कुछ समय तक, गोल दायरे का चक्कर लगवाता है तो हंस कर बस में आ जाते हैं और तब उन्हें चलने की शिक्षा दी जाती है। इसी तरह पर जब दिन भर विषयों में घूमते-घूमते इंद्रियां थक जाती हैं और थक कर मन को छोड़ देती हैं और मन भी जीवात्मा को थक कर छोड़ देता है, उस समय पापी से पापी जीवात्मा भी अंतर्मुख हो परमात्मा के प्रकाश से सहारा लेकर अपनी नीच अवस्था को अनुभव कर सकता है। इसलिए उस समय का सत्संग परमात्मा से किया हुआ उसे रात भर सुख की नींद सोने के साधन पैदा कर देता है। फिर जब वह प्रातः इंद्रियों और मन की थकवट को दूर करके उठता है तो वह ठीक समय है जबकि इंद्रियों और मन के लिए नया बल धारण कर नए सिरे से संसार रूपी युद्ध क्षेत्र में काम क्रोध आदि शत्रुओं के मुकाबले के लिए तैयार हो सकता है। यही कारण है कि ऋषियों ने वेदों की आज्ञा पर चलते हुए दोनों काल की संध्या का बंधन हर एक द्विजन्मा अर्थात् आत्मिक साधन के जिज्ञासु पुरुष के लिए नियत किया है। संध्या से अभिप्राय, केवल विशेष मंत्रों का, बिना अर्थ जाप या केवल उनके अर्थ मानसिक विचार नहीं है पर बल्कि संध्या का अभिप्राय इससे बहुत उच्च है। जीवात्मा की मलीनता को दूर करना इसका वास्तविक उद्देश्य है और इसलिए जो साधन आत्मा की मलीनता को दूर करने में सहायक हो सकें उनका सेवन संध्या का मूल अंग है। यही कारण है कि ब्राह्ममुहूर्त में उठने की हरएक धर्मजिज्ञासु के लिए आज्ञा है क्योंकि उस समय कोलाहल से शांत होने से मनुष्य का मन एक ओर लग सकता है। तब पता लगता है कि उसके अंदर अपवित्रता ने कहां तक घर का रखा है। जब अपवित्रता का ज्ञान हुआ तो स्वयंमेव उस अपवित्रता को दूर करने का विचार मन में पैदा होता है। प्राचीन आर्य विद्वानों ने अच्छी प्रकार समझ लिया था कि शरीर, मन और आत्मा का मनुष्य जन्म में बड़ा घनिष्ट संबंध है। इसमें से एक भी अपवित्र रहे तो दूसरे में अपवित्रता पैदा किए बिना नहीं रहता। यही कारण है कि जिज्ञासु के लिए नित्य स्नान धर्म का एक अंग बताया गया है। मनु जी भी सकते हैं, कि सवेरे सबसे पहले शरीर को स्वच्छ करो। शरीर को स्वच्छ करने का आवश्यक परिणाम यह होता है कि इंद्रियां शुद्धता की ओर प्रवृत्त होती हैं। आंखों में कुरूपता और सुंदरता में भेद करने का बल पैदा होता है। तब दिखावे की सुंदरता से उसे घृणा होती है। कानों की शक्ति अधिकतर सूक्ष्म होती है और इसी तरह दूसरी इंद्रियों भी सूक्ष्मता की ओर प्रबृत्त होती हैं। तब यह इंद्रियां मन को भी अपवित्र स्थानों में जाने से किसी कदर रोकने का कारण बनती

हैं। इसका परिणाम यह होता है कि मन भी जीवात्मा को बाहरी फंसावट से छोड़ देने के लिए बाधित हो जाता है।

प्रिय पाठकगण ! मानसिक पवित्रता के लिए प्रातः और सायं की संध्या कभी भी न छोड़ो। मन्त्रों के पाठ का नाम संध्या नहीं है। उसके अर्थों के पाठ नाम भी संध्या नहीं है ? क्यों संध्या मन की मलीनता को दूर करती है। क्या तुम्हारे मंत्र पाठ से दिल से अशुभ विचार दूर हो गए ? अगर नहीं तो समझो तुमने संध्योपासना नहीं की। उपासना के अर्थ समीप होने के हैं। परमात्मा के समीप होना संध्योपासना का अभिप्राय है। किंतु परमात्मा शुद्ध स्वरूप है। क्या शुद्ध स्वरूप के समीप अशुद्ध आत्मा कभी हो सकती है ? कदाचित् नहीं। इसलिए संध्या का अभिप्राय ही केवल यह है कि मन, वचन और कर्म द्वारा शुद्धि के लिए यत्न करना। इसलिए शरीर को शुद्ध करने के पश्चात् सत्य से मन को शुद्ध करो और विद्या और तप से आत्मा को शुद्ध करके ज्ञान द्वारा बुद्धि को दिन रात मांजते रहो। बंधु गण ! शुद्ध स्वरूप परमात्मा अपने अंदर प्रकाश कर रहे हैं और हम लोग दीवानों की तरह बाहर जीवन उद्देश्य को ढूंढ़ते फिरते हैं। बाहर अंधेरा ही अंधेरा है। प्रकाश अंदर है। इसलिए बाहर की सब अपवित्रताओं से दूर होने का यत्न करो ताकि अंदर घुसकर हम सब उस जीवनदाता ज्योति के दर्शन कर सकें जिससे प्रकाश पाकर फिर मनुष्य अंधेरे के अंदर ठहर नहीं सकता। प्रातः और सायं आत्मा की मलीनता को दूर करने के लिए दृढ़ आसन पर बैठने का स्वभाव डालो ताकि शनैः-शनैः शरीर, मन और आत्मा की शुद्धि होकर हम सब भाई एक दूसरे की सहायता से मुक्ति धाम के अधिकारी बन सकें।

शब्दार्थ

(पूर्वा संध्यां) प्रातःकाल की संध्या का (जपन्) जाप करता हुआ (तिष्ठन्) समाधिस्थ व्यक्ति (नैशम) सारी रात्रि के (एनः) पाप को (व्यपोहति नष्ट कर देता है। तु) और (पश्चिमां समासीनः) सायंकाल की संध्या में प्रवृत्त हुआ व्यक्ति (दिवाकृतम्) दिनभर में की गई (मलम्) मलीनता को (हन्ति) मार भगाता है।

22

नैत्यिके नास्त्यनध्यायो ब्रह्मसत्रं हि तत् स्मृतम्।
ब्रह्माहुतिहुतं पुण्यमनध्यायवषट्कृतम्।।

मनु. 2, 106

उपदेश

मनुष्य के प्राकृतिक भाग को भूख लगती है, उसकी निवृत्ति के लिए तरह-तरह के अच्छे से अच्छे फल और अन्न परमात्मा की ओर से दिए गए हैं; प्यास भी प्रकृति का एक भाग है उसकी निवृत्ति के लिए चारों ओर शीतल जल बह रहे हैं। क्या मनुष्य को कहने की आवश्यकता है कि भूख और प्यास के बुझाने में नागा मत करो ? और जब कभी आलस्य या प्रमाद से इन दैनिक कर्तव्यों को पूरा करने में मनुष्य ढील करता है तब ही मनुष्य के शरीर को हानि पहुंचती है। बड़े से बड़ा बलवान् शरीर और अच्छे से अच्छा स्वास्थ्य रखने वाला मनुष्य भी इन दैनिक कर्तव्यों के पूरा करने में अनियमितता करके उसके दंड से नहीं बच सकता। यही अवस्था मन और आत्मा की है। दैनिक अग्निहोत्र की आज्ञा जहां अपवित्र वायु को स्वच्छ करने के लिए है वहां उसकी जड़ में यह विचार भी काम करता है कि मनुष्य वायु को जिस प्रकार अस्वच्छ करते हैं उसी प्रकार प्रयत्न से उस वायु की अपवित्रता को दूर करना भी उचित है। किंतु साथ ही इसके यह दैनिक कर्तव्य उन रोजाना पापों की निवृत्ति के लिए भी है जो कि न जानने की अवस्था में प्रत्येक मनुष्य से प्रतिदिन हो जाते हैं। इस कर्म से बुद्धि निर्मल होकर मन की अवस्था पवित्र हो जाती है।

वैदिक आदर्श के अनुसार सबसे बढ़कर मनुष्य का दैनिक कर्तव्य ब्रह्म यज्ञ है। दूसरे महायज्ञ केवल इसके सहायक हैं। मुख्य दैनिक कर्तव्य यही है कि जिस तरह मनुष्य के भौतिक शरीर को भूख लगती है इसी प्रकार आत्मिक शरीर को आत्मिक भूख लगती है। अगर उस दैनिक भूख को प्रतिदिन निवृत्त न किया जाय तो मनुष्य की आत्मिक अवस्था भी वैसे ही गिर जाती है जैसे कि भूख लगने पर भौतिक शरीर की अवस्था होती है। इस ब्रह्म यज्ञ अर्थात् वेद रूपी ज्ञान की खुराक से आत्मा की तृप्ति नित्य करनी चाहिए। प्रत्येक काम में अनध्याय संभव है किंतु क्या शरीर के

दूसरे दैनिक कर्तव्यों में भी कभी नागा हो सकता है ? रोग की अवस्था में संभव है कि बनावटी जीवन व्यतीत करने वाले हम मनुष्यों को खुराक बदलने की आवश्यकता हो परंतु कोई भी योग्य वैद्य खुराक को बंद नहीं कर सकता है। योग्य वैद्य वही समझा जाता है जो कि रोगी के शारीरिक बल को स्थिर रखने के यत्न से किसी तरह उसमें खुराक पहुंचाता रहे। इसी तरह से आत्मिक रोग हो जाने पर ब्रह्म यज्ञ के कर्तव्य से मनुष्य किसी तरह मुक्त नहीं हो सकता। इसलिए प्रत्येक आस्तिक पुरुष का कर्तव्य है कि नित्य प्रति प्रातः और सायं परमात्मा की उपासना के लिए ब्रह्म के ज्ञान की आहुतियों से आत्मिक यज्ञ किया करे। जब शारीरिक रोग होने पर शरीर को खुराक पहुंचाने से कोई भी मनुष्य नहीं रुकता तो आत्मिक रोग की अवस्था में आत्मिक खुराक से दूर भागना क्या आश्चर्यजनक नहीं है ! किंतु यह अवस्था इसलिए होती है कि हम सब अपनी वास्तविक अवस्था को त्यागकर बनावटी जीवन बिता रहे हैं। एक बच्चा जब बीमार होता है तो इधर-उधर भागने के स्थान पर माता की गोद की ओर हाथ पसारता है और जब माता उसे गोद में ले लेती है तो वह विश्वास के साथ अपने रोग को भूल जाता है जगत् माता से बढ़कर हमारे साथ किस सांसारिक माता का प्रेम हो सकता है ? जगत् माता की गोद हमारे लिए हर समय खुली है। फिर शोक ! हम शारीरिक रोग का बहाना करके उस प्रेम भरी गोद में जाने से संकोच करते हैं और अपने लिए हज़ारों तरह के क्लेश मोल लेते हैं। जब शरीर रोग ग्रस्त होता है तो योग्य वैद्य खुराक बंद नहीं करता बल्कि बोझल भोजन को बंद करके हलकी खुराक रोगी के लिए निश्चित करता है। किंतु हम लोग कैसे मूर्ख हैं कि उस समय जबकि हल्की-से-हल्की खुराक की आवश्यकता होती है; भोजन को बिलकुल जवाब दे बैठते हैं। जो रोगी नित्यप्रति शारीरिक आवश्यकताओं को पूरा करने के योग्य है उसका यह बहाना कि बीमारी के कारण से परमात्मा की उपासना नहीं कर सकता, कैसा व्यर्थ है। मैंने हरि भक्तों के अंतिम क्षण देखे और उनके विश्वास को देखकर अजब असर पैदा हुआ। ब्रह्मज्ञानी ऋषि कहते हैं कि–'न शक्यते वर्णयितुं तदा गिरा स्वयं तदन्तः करणेन गृह्यते'। उसको जिह्वा से वर्णन नहीं कर सकते। वह केवल अन्तःकरण से ग्रहण करने के योग्य है तब उस आनंद के लिए निर्बल-से-निर्बल शारीरिक अवस्था बाधक नहीं हो सकती। क्या हम नित्यप्रति नहीं देखते कि बरसों का कमाया हुआ शरीर दो दिन उचित खुराक न मिलने से गिर जाता है। तब क्या संदेह है कि बरसों की आत्मिक कमाई एक दिन की असावधानी से नष्ट हो सकती है। यही कारण है कि दोनों समय आत्मिक सत्संग के लिए आज्ञा की गई है और उसमें अनध्याय को कदाचित् स्थान नहीं दिया गया है। जो मनुष्य परमात्मा की नित्यप्रति उपासना से (ज्यादा काम या रोग के बहाने पर) बचने का यत्न करते हैं वह अपने लिए विशेषतः बीमारी की सामग्री मोल लेते हैं।

प्रिय पाठकगण ! संसार चक्र दिन रात चल रहा है, इसके अंदर ठहरने की

गुंजाइश नहीं है। हर पल हमें नीचे या ऊपर ले जाने के लिए वह तैयार खड़ा है अगर हम ऊपर की ओर न चलेंगे तो निश्चय से नीचे गिरना होगा। नीचे चलने के लिए किसी परिश्रम की आवश्यकता नहीं होती। नीचे ले जाने के लिए हमारे चारों ओर सामग्री दिखाई देती है। परंतु ऊपर चलने के लिए विशेष पुरुषार्थ की आवश्यकता है। पर्वत के नीचे जाने के लिए सिवाय एक बार पैर नीचे की ओर डाल देने के क्या किसी और गति की आवश्यकता होती है ? परंतु पहाड़ पर चढ़ने के लिए बड़ी भारी हिम्मत की आवश्यकता है। हां, जब किसी हद तक ऊपर चढ़ जावें और अभ्यास हो जावे तो फिर आपसे आप पैर ऊपर की ओर उठता है। ज्यों-ज्यों अभ्यास से बल और उत्साह बढ़ते जाते हैं त्यों-त्यों ऊपर के सुंदर दृश्य मनुष्य को अपनी ओर खींचते हैं। परंतु क्या ऊपर चलते हुए मनुष्य एक घंटे के लिए भी रुक सकता है ? एक बार ऊपर की ओर पग उठाओ, जब तक पहाड़ की चोटी पर न पहुंच जाओ तब तक निश्चिंत नहीं बैठ सकते। इसी तरह आत्मिक पर्वत की यात्रा में भी बीच में रुकने का अर्थ मृत्यु है। जिस प्रकार पर्वत के मार्ग में रुकते ही और नीचे नज़र करते ही चक्कर आता है और घबराया हुआ मनुष्य हज़ारों फुट नीचे गिर कर चकनाचूर हो जाता है इसी प्रकार आत्मिक उन्नति के शिखर पर चलते हुए जिज्ञासु की अवस्था होती है। प्यारे मित्रो ! इस विकट तथापि आवश्यकता मार्ग पर चलते हुए ठहरने के विचार को भुला दो जिससे कि बिना रोक-टोक शिखर पर पहुंचकर तुम अमर जीवन को पा सको।

शब्दार्थ

(नैत्यिके) दैनिक कर्तव्य की पूर्ति में (अनध्यायः) छुट्टी, मुआफ़ी (नास्ति) नहीं है (हि) क्योंकि (तत्) उसे (ब्रह्मसत्रम) ब्रह्मयज्ञ, प्रथम यज्ञ (स्मृतम्) कहा है। (अनध्यायवषट्कृतम्) अनध्याय में भी स्वाहा किया हुआ और (ब्रह्माहुतिहुतम्) वेद मंत्रों से उच्चारित आंहुतियों से आहुत यह ब्रह्मयज्ञ (पुण्यम्) पुण्यप्रद होता है।

23

नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयात् नचान्यायेन पृच्छतः ।
जानन्नपि हि मेधावी जडवल्लोकं आचरेत् ।।

मनु. 2, 11

उपदेश

इस समय प्रायः संसार को बहुत बोलने वालों ने तेश में कर रखा है। पश्चिमीय अनुकरण में प्रत्येक शिक्षित भारतवासी सारे संसार को शिक्षा देना अपना कर्तव्य समझता है। और जो गरीब चुप रहने का स्वभाव रखते हैं उनको भी इस प्रकार तंग किया जाता है कि वे बोलने के लिए बाधित हो जाते हैं। इस समय भारतवर्ष में ि्शेषतः उपदेशक ही उपदेशक दिखाई देते हैं। हर प्रकार के सुधार के लिए धाराप्रवाह वक्तृताएं होती हैं। परंतु शोक है कि इतने अधिक उपदेशकों के होते हुए भी किसी प्रकार की भी दशा सुधरती दिखाई नहीं देती। इसका कारण क्या है ? वही मनु का निश्चित किया हुआ सिद्धांत कि बिना पूछे नहीं बोलना चाहिए। जब तक कि किसी को यह अनुभव न हो कि परमात्मा की ओर से उसे किसी कार्य के लिए विशेष बल वाला है और जब तक उसने वैदिक साधनों से यह निश्चय न कर लिया हो कि उसका ऐसा विचार धोखे के आधार पर नहीं है बल्कि उसके पूर्व कर्मों का ही परिणाम है, तब तक उसे मनुष्यों के सुधार के लिए क्षेत्र में कदाचित् नहीं उतारना चाहिए। ऐसा मनुष्य जब कार्य आरंभ करेगा तब अपने बल को सोच समझकर प्रयोग करेगा आर्यावर्त के प्राचीन ऋषियों के इतिहास पढ़ जाइए। आपको ज्ञात होगा कि वे अपने आश्रम में बैठे हुए ही उपदेश किया करते थे और वहां भी उपदेश देने से पहले जिज्ञासु की योग्यता की पड़ताल करके ही, पात्र के अतिरिक्त किसी को संबोधन नहीं करते थे। ईसा ने भी अपने उपदेशों में यही कहा था कि 'सूअर के आगे मोती नहीं बखेरने चाहिएं' परंतु इस समय उनके अनुयायी स्टेज पर खड़े होकर हर अच्छे बुरे को अपने जत्थे के अंदर बुलाने का यत्न कर रहे हैं। इन ईसाइयों के अनुकरण में आर्यसंतान ने भी अपने काम करने का ढंग बना छोड़ा है। आर्यसमाज के सभासदों को न्यून से न्यून मनु जी के ऊपर कहे हुए वाक्य का बड़ा मान करना

चाहिए ऋषि दयानंद का अधिकार था कि वह प्रत्येक मनुष्य को अपनी प्रबल आकर्षण शक्ति से खींचने की कोशिश करते। परंतु यहां प्रत्येक बुरा भला इसी अधिकार के साथ खड़ा होता है जो कि एक सच्चे संन्यासी की ही शोभा है। इसमें संदेह नहीं कि उत्तम उपदेशकों के अभाव से ही संसार के अंदर अंधकार फैलाता है परंतु इसमें भी संदेह नहीं कि जब तक सच्ची श्रद्धा से सुनने वाले श्रोता नहीं होते जब तक सच्चे उपदेश का यत्न भी बहुत कम फल लाता है, बुद्धिमान् किसान भूमि में बीज बोने से पहले खाद आदि डाल और हल चलाकर भूमि को इस योग्य बना लेता है, जिससे बीज बोने से पूरा लाभ हो सके। इसी तरह पूरा प्रत्येक उपदेशक के लिए आवश्यक है कि पहले इसके कि वह मनुष्यों को उपदेश देने के लिए उद्यत हो उनका क्रियात्मक जीवन ऐसा बना ले कि वह सुगमता से उसके उपदेश को ग्रहण कर सकें। परंतु जहां प्रत्येक मनुष्य अपने आपको उपदेश देने के योग्य समझता हो और उपदेश सुनने के लिए कोई भी तैयार न हो वहां यदि बहुत ही दुर्दशा हो तो आश्चर्य नहीं समझना चाहिए। और भारतवर्ष में प्रत्येक मनुष्य क्यों अपने आपको उपदेशक समझता है ? इसलिए कि उनके अंदर स्वयं क्रियात्मक जीवन बहुत कम देखा जाता है और जिनके अंदर क्रियात्मक जीवन बहुत कम देखा जाता है और जिनके अंदर क्रियात्मक जीवन न होवे सिवाय जिह्वा के और किस इंद्रिय का प्रयोग कर सकते हैं ? हरेक मनुष्य को जबर्दस्ती सुनाकर उसे सीधे मार्ग पर लाने वाले संसार में बहुत कम मनुष्य हैं। यही कारण है कि पूर्ण वैरागी के लिए संन्यास आश्रम में प्रवेश होने की आज्ञा थी और उपदेश का अधिकार भी उसी को था। और वह इसलिए कि संन्यासी हर प्रकार के दिखावे से मुक्त हुआ करता है। न उसे आत्मसम्मान का विचार है और न किसी के पक्षपात का विचार। वह हर समय सत्य के प्रचार में आरूढ़ रहता है और इसलिए आवश्यकता के समय केवल वही करता है। उपदेशक बड़ा दृढ़ हृदय होना चाहिए इसलिए मनु जी की आज्ञा है कि अन्याय से कुछ पूछा जाए वहां भी कुछ उत्तर न देना चाहिए। भारतवर्ष के प्रतिष्ठित महानुभावों में श्री बहराम जी मालावारी पारसी की भी गणना है। यह पहले सज्जन हैं जिन्होंने गवर्नमेंट के खिताब मिलने पर विशेष आत्मिक सिद्धांतों के अनुसार उनके ग्रहण करने से इनकार कर दिया था। उनके विषय में यह बात प्रसिद्ध है कि एक अंग्रेज साथी यात्री ने बड़े अभिमान और घृणा के ढंग पर उनका नाम पूछा तो उन्होंने उत्तर में मौन से काम लिया। अर्थात् जैसे को तैसा जवाब देना एक बुद्धिमान् का ढंग नहीं होना चाहिए और नहीं दबकर बोलना एक धार्मिक मनुष्य का। यदि अन्याय से जबरदस्ती पूछा जाय तो जहां क्रोध को समीप न आने दे वहां नेक पुरुष के लिए यह भी आज्ञा है कि ऐसी अवस्था में बिलकुल बोले ही नहीं। जिससे कि उसके वचनों पर किसी प्रकार का भी बाह्य प्रभाव न पड़ सके। केवल दिखावा और व्यर्थ प्रलाप के जीवन में तो मनुष्य भला पशु पक्षियों का क्या मुकाबला कर सकेगा। स्वाभाविक ताज जो विशेष चरिन्दों

को मिला है क्या उसके मुकाबले में दुनिया के बड़े-से-बड़े ताज का कोई वक़्त है ? क्या मोर की मस्तानी चाल का आज तक किसी मनुष्य ने मुकाबला किया है। क्या कोयल की हृदयवेधन सुरीली आवाज़ का उत्तर कुछ भी मानवीय जगत् में उपस्थित है ?

प्रिय ! पाठकगण ! थोड़ी देर के लिए विचार करो कि हम सब किस गढ़े में गिरे चले जाते हैं।

वेद भगवान् ने बतलाया है कि सारे संसार का प्राण वाणी है। परमात्मा के किए हुए ज्ञान के भंड़ार वेद के प्रकाश करने का साधन वही वाणी (इमाम् वाचम्) है। इसलिए उसकी रक्षा के लिए हर समय दृढ़ता से सचेत रहना चाहिए। बहुमूल्य वस्तु को आवश्यकता के बिना बुद्धिमान् मनुष्य खर्च नहीं करता। जिस पर संसार की भलाई और बुराई अधिक निर्भर हो उसके प्रयोग में जितना सावधान रहे थोड़ा है। मनुष्य को एक एक पल परमात्मा के समीप पहुंचने के लिए दिया गया है। यह कर्मयोनी इसलिए दी गई है कि मनुष्य अपने आदर्श की ओर चल सके। मार्ग विकट और दूर है। मानवीय आयु इस मार्ग की कठिनाइयों का अनुमान लगाकर निश्चित की गई है। ऐसे उत्तम समय को भी अगर हम व्यर्थ दिखावे और व्यर्थ प्रलाप में गावांवें तो हमसे बढ़कर मूर्ख कौन है ? वाणी को जितना अधिक बखेरा जावे उतना ही उसका बल कम हो जाता है। जितनी उसकी रक्षा की जाय और जितना उसका बेमौका प्रयोग बंद किया जाय उतना ही उसका बल बढ़ता है। इसलिए भारतवर्ष के हरेक समाजसंशोधक का कर्तव्य है कि वह अपनी वाणी का आवश्यकतानुसार ही प्रयोग करे और वह तब हो सकता है जबकि अभिमान, प्रतिष्ठा और दिखावे के विचारों को दिल से निकाल दिया जाए। दयासागर ! हम सब भारत-निवासी गुमराह हैं, अपने कर्तव्य को भूले हुए हैं। जल, वायु, अग्नि और पृथ्वी का अनंत दान देने वाले आप ही समर्थ हैं कि हमारे मंद कर्मों को दृष्टि में रखते हुए, हम सबको ब्रह्मचर्य का सर्वोत्तम दान दें। जिससे हम सब अपनी वाणी को वश में करते हुए आपकी आज्ञा पालन करने के योग्य होकर अपने और अपने भाइयों (सब प्राणधारियों) के कल्याण का साधन बन सकें।

शब्दार्थ

(अपृष्टः) मनुष्य बिना पूछे (कस्यचित् न ब्रूयात्) किसी से वार्तालाप न करे (न च) और नहीं (अन्यायेन पृच्छतः) अन्याय से पूछने वाले के साथ बात करे। अपितु (मेधावी) बुद्धिमान् मनुष्य (जानन्नपि) जानकार होकर भी इन लोगों के साथ (जड़वत् आचरेत्) जड़ मूर्ख की तरह आचरण करे।

24

वित्तं बन्धुर्वयः कर्म विद्या भवति पंचमी।
एतानि मान्यस्थानानि गरीयो यद्यदुत्तरम्।।

मनु. 2, 136

उपदेश

आजकल धन सारी दुनिया पर राज्य कर रहा है। अमेरिका के धनाढ्य हर प्रकार की ताकत को खरीदने के दावेदार हैं। फ्रांस के 'जैकोलियस लबाड़ी' (Jacolius Labadi) ने धन के द्वारा अफ्रीका के मरुस्थल का एक हिस्सा मोल लिया और अपने आपको उस टुकड़े का राजा घोषित कर दिया। आखिर इस समय राज्य निर्भर भी तो धन पर ही हैं। अध्यात्मिक तौर पर दौलत को तुच्छ साबित करते हुए भी आज रुपये का सारी दुनिया में राज्य नज़र आता है। आजकल के जंगों और मुहिमों का निर्भर भी रुपये पर ही है। जो जाति पर्याप्त धन नहीं रखती वह प्रचुर शस्त्र खरीद नहीं सकती। इसलिए लड़ाई के समय अपनी फौज को निश्चिंतता के साथ आगे नहीं बढ़ा सकती। जिधर देखो उधर रुपये का ही राज्य आज दिखाई देता है। यद्यपि पाप से कमाया हुआ धन, देने और लेने वाले दोनों को नष्ट कर देता है तो भी ईमानदारी से कमाया हुआ धन भी तो संसार में मौजूद है और उसको पूरी ताकत मान लेने में कोई भी कठिनता नहीं है। इसलिए यदि ध्यान से देखा जाए तो मनु महाराज का कथन सत्य है कि सबसे प्रथम मान के योग्य बल धन है। जैकोलियस लबाडी ने धन के कारण अपने आप शहंशाह का पद लिया। परंतु संसार के पुश्तैनी मुकुटधारियों के मुकाबले में उसकी क्या हस्ती है। जिसके संबंधी बहुत हैं और वह भी परस्पर इत्तफाक रखने वाले हैं, उस मनुष्य के मुकाबले में धनवान् की कुछ हैसियत नहीं है। धन कमाया जा सकता है परंतु संबंधी एकत्र नहीं हो सकते। धन को नष्ट होते देर नहीं लगती पर संबंधियों के खात्मे के लिए समय चाहिए। इस समय भी देखा जाता है कि धनवान् की अपेक्षा खानदानी मनुष्यों का अधिक मान किया जाता है। यूरोप के सभ्य राष्ट्रों में अब तक खानदानी मनुष्यों को धनवानों से मुख्यता दी जाती है। इस मुख्यता के मूल्य की अगर पड़ताल की जावे तो उसकी तह में संबंधियों

की बुजुर्गी की काम करती दिखाई देती है इंग्लिस्तान के पुराने खानदानी धनवानों की प्रतिष्ठा का कारण उनके जबर्दस्त रिश्तेदार ही थे। इसलिए धन बल से बंधु बल को मुख्यताओं में मनु जी ने बड़े अधिक अनुभव से काम लिया है।

वैदिक कर्म धन और रिश्तेदारी दोनों के घमंड को तोड़ने वाले हैं। पवित्र कर्म मनुष्य को हर समाज में बड़ा बना देते हैं। मैंने ऐसे ईमानदार मनुष्य देखे हैं जिनका मान, धनाढ्यों और खानदानी मनुष्यों की अपेक्षा बहुत ज्यादा किया जाता है। नेक मनुष्यों के सामने बड़े से बड़े धनाढ्यों को स्वयमेव झुकना पड़ता है। भारतवर्ष के अंदर प्राचीन समय में भिखमंगे ब्राह्मणों का निडर छत्रपति महाराजों को उनके कर्मों के लिए डांट बताकर कम्पायमान करना इसी नियम का परिणाम था। आज भी बुरे स्वभाव के अमीर और खानदानी मनुष्य नेक काम करने वाले पुरुषों के आगे लज्जित हो जाते हैं। धन और बंधुबल का केवल घमंड ही घमंड है परंतु अपने कर्मों पर प्रत्येक पुरुष पूरा भरोसा कर सकता है। कवि ने क्या अच्छा कहा है ? 'कोई नहीं जावे साथ, धर्म जावे साथ' इस लोक में तो प्रत्यक्ष देखने में आता है कि कर्म प्रधान है। गोसांई तुलसीदास जी कहते हैं–

'कर्म प्रधान विश्व रचि राखा।
जो जस करहिं सो तस फल चाखा।।

परंतु परलोक में भी कर्म सहायक होते हैं। अच्छे कर्म करने वाले मनुष्यों में भी अनुभव का बड़ा पद है। पहले तीनों गुणों से बढ़कर आयु का मान होना चाहिए और आयु का हिसाब वर्षों की अपेक्षा न होकर अनुभव की अपेक्षा होना चाहिए। इसलिए मनु भगवान् ने कहा है कि बुजुर्ग वह है जो बुद्धिमान् है। वह नहीं जिसके कि बाल सफेद हो गए हों। परंतु सबसे बढ़कर मान के योग्य विद्या है कवि ने क्या अच्छा कहा है–

'स्वदेशे पूज्यते राजा विद्वान् सर्वत्रपूज्यते।

राजा का मान केवल अपने राज्य तक ही सीमित रहता है परंतु आचरणशील विद्वान् का मान हर जगह होता है।

प्रिय पाठकगण ! धन को ईमानदारी के साथ पैदा करने का अवश्य यत्न करो क्योंकि वह मामूली सांसारिक मनुष्यों की आवश्यकताओं के दूर करने का कारण है। अपने बंधुओं और इष्ट मित्रों को भी प्रसन्न रखकर उनकी सहायता पर भरोसा रखो, क्योंकि कष्ट के समय वे तुम्हारे सहायक हो सकते हैं। अपने कर्मों को भी नेक बनाओ सदैव पुरुषार्थी रह कर हर तरह से कामों को पूर्ण करो, क्योंकि बंधुओं की अपेक्षा अपने शारीरिक, मानसिक और आत्मिक बल पर मनुष्य अधिक विश्वास कर सकता है। बड़ी आयु के अनुभवी मनुष्यों से न केवल आयु बढ़ाने के गुर सीखने का यत्न करो बल्कि इन सबसे बढ़कर दिन रात तत्त्वज्ञान की प्राप्ति में यत्न करते रहो, क्योंकि ऊपर कहे हुए प्रत्येक गुण की नींव उसी पर रखी गई है। बिना विद्या

के; दौलत, खानदान, नेक कर्म और अनुभव बजाय तुम्हारे सहायक होने के उलटा तुम्हें दुःखसागर में डुवो देने वाले हो सकते हैं। यही कारण है कि महात्मा लोग सदैव अविद्या के नाश और विद्या के प्रकाश का उपदेश देते रहे विद्या की खोज कहां करें ? संसार में बड़े से बड़े विद्वानों को गिरते हुए हम प्रत्यक्ष देखते हैं। फिर कैसे विद्या पर भरोसा करें ? यह अविश्वास का नारा है। विद्या को जड़ जगत् के अंदर खोजते हुए तुम कैसे प्राप्त कर सकते हो ? विद्या की तलाश में सर्व विद्याओं के भंडार, ज्ञान के स्रोत, परमात्मा की शरण में जाने की आवश्यकता है। चेतन के लिए ज़ की शरण लेना बुद्धिमत्ता नहीं है। ज्ञानस्वरूप परमात्मा की शरण लेकर उसी से तत्त्वज्ञान की प्राप्ति की अभिलाषा करते हुए जब तुम तत्त्वज्ञानी बनोगे तब तुम्हारे लिए धन, खानदान, आचरण और आयु सबके सब सुखदायी होंगे और तुम अपने चेतनस्वरूप को समझकर जड़ प्रकृति के अंधकार से पृथक् होने का यत्न करोगे। उस यत्न के आरंभ में तुम्हें ज्ञानस्वरूप के प्रकाश के दर्शन होंगे और इसी प्रकार तुम जन्म मरण के दुःख से छुटकारा पा सकोगे।

शब्दार्थ

(वित्तम्) सच्चाई से कमाया हुआ धन (बन्धुः) संबंधी (वयः) आयु (कर्म) उत्तम आचरण और (विद्या भवति पंचमी) और पांचवीं विद्या, ज्ञान (एतानि मान्यस्थानानि) यह पांच वस्तुएं सम्मान के साधन हैं (यद् यद् उत्तरम्) इनमें से हर एक से उसके बाद का (गरीयः) बड़ा है अधिक महत्त्व रखता है और विद्या सर्वाधिक महत्त्व रखती है।

25

अहिंसयैव भूतानां कार्यं श्रेयोऽनुशासम्।
वाक् चैव मधुरा श्लक्ष्णा प्रयोज्या धर्ममिच्छता।।
यस्य वाङ्मनसी शुद्धे सम्यग्गुप्ते च सर्वदा।
स वै सर्वमवाप्नोति वेदान्तोपगतं फलम्।।

मनु. 2, 159, 160

उपदेश

जिन मनुष्यों के वाणी और मन पवित्र और उनके वश में भी हैं उन्हीं को वेदांत का असल फल मिलता है। यथार्थ ज्ञान के लिए क्यों ऋषि और महात्मा हर समय और हर देश में व्याकुल हो भटकते फिरते रहे हैं ? इसलिए कि संसार में चारों ओर दुःख और हाहाकार फैला हुआ है। उसको दूर करने का नुस्खा सच्चे ज्ञान की प्राप्ति से मिलता है। ऋषि कहते हैं ज्ञान ही मुक्ति का साधन है परंतु उस ज्ञान तक पहुंचने के लिए जिन साधनों की आवश्यकता है उन पर आचरण किए बिना मुक्ति की ओर एक पग उठाना भी असंभव है। वे साधन क्या हैं ? उनका असल सिद्धांत मनु जी ने ऊपर श्लोक में वर्णन कर दिया है। प्रत्येक वासना का उत्पत्ति स्थान मन है। जब तक मन के अंदर कोई वासना उत्पन्न नहीं होती तब तक उसके बाहर जाने का कोई गुमान भी नहीं होता। मन ही सारी इंद्रियों को चलाता है इसलिए इंद्रियां उसीर रंग में रंगी जाती हैं जिनसे कि मन प्रभावित होता है। इसलिए सबसे प्रथम आवश्यक है कि मन को वश में किया जाए। इसी विषय पर आचरण करते हुए जिसने संसार के अंदर कोई बड़ा शारीरिक, सामाजिक या आत्मिक कार्य पूर्ण किया है उसकी सफलता की तह में दम ही काम करता हुआ दिखाई देता है। परंतु केवल मन को वश में करने से मनुष्य अपने असली उद्देश्य की ओर नहीं चल सकता। मन के वश में होने का निश्चित कारण दुःख की निवृत्ति नहीं है और जब तक दुःख दूर न हो परमानंद की प्राप्ति भी नहीं हो सकती। जिस तरह प्राकृतिक जगत् में देखने में आता है कि जब तक अशुद्ध वायु को अग्नि के द्वारा बिलकुल निकाला नहीं जाता तब तक उसके स्थान में शुद्ध वायु प्रवेश नहीं करती इसी तरह जब तक

कि मन के अंदर से दुर्वासनाओं को निकालनें में सफलता नहीं होती जब उनका स्थान शुद्ध संकल्प नहीं ले सकते। संसार का इतिहास दृष्टांतों से भरा हुआ है जिनके पढ़ने से पता लगता है कि मन पर काबू पाने वालों ने किसी समय विशेष मनुष्यों के समुदाय का नाश कर दिया है। जिन मनुष्यों ने अपने मन के विचारों को अपने समीप के अज़ीजों तक प्रगट नहीं होने दिया उनकी बाह्य सफलता ने जगत् को अचंभे में डाल दिया है किंतु उनको अपने अंदर किस प्रकार असफलता हुई और अंत में न केवल दूसरे मनुष्यों के लिए ही बल्कि स्वयं अपने लिए भी उनके कर्म किस प्रकार दुःखदायी सिद्ध हुए इसके बतलाने की पढ़े लिखों को आवश्यकता नहीं है, तब आवश्यक है कि मन को वश में करने के पश्चात् एक मंज़िल आगे चला जाए और उस वशीभूत मन को शुद्ध करने का भी यत्न किया जाए। मन की शुद्धि से ही सारी आंतरिक शुद्धि होती है। जिन बुरी वासनाओं को पहले नीतिमान् पुरुष अपनी नीति के बल से दबाकर अंदर-अंदर जज़्ब कर लेते थे ताकि उनका प्रकाश कहीं उन्हें निंदित न कर दे, वे बुरी वासनाएं अब उसके मन के अंदर पैदा ही नहीं होतीं। जब शुद्ध मन के अंदर अशुद्ध वासनाओं के लिए स्थान नहीं रहता तब मनुष्य अपने अंदर शांति का राज्य फैलाने में सफल होता है। किंतु बाहर अशांति बनी ही रहे तो फिर शांत आत्मा की शांति में विघ्न पड़ने का डर है। इसलिए जिस प्रकार मन को वश में किया था उसी प्रकार वाणी को वश में करना चाहिए। मन के वश में आ जाने पर भी जिस प्रकार उसको शुद्ध किए बिना आंतरिक शांति नहीं होती, उसी प्रकार वाणी के वश होने पर भी जब तक उसे शुद्ध न किया जाय तब तक बाह्य संसार के अंदर शांति नहीं फैल सकती। वाणी के वश में आ जाने से संभव है कि मनुष्य दूसरों को धोखा देकर कुछ समय के लिए उनके वश में कर ले परंतु जब बेबसी की अवस्था में वाणी काम करेगी उस समय चारों ओर अपवित्र प्रभाव फैलाकर संसार को सख्त अशांति में डालने का कारण होंगे। इसलिए वाणी को वश में करने के साथ ही उसकी शुद्धि का प्रयत्न भी करना चाहिए। जिससे, जब मनुष्य बोले, निडर होकर अपने विचारों का प्रकाश कर सके। प्रश्न फिर भी यही बना रहता है कि मन को किस प्रकार वश में करे और उसे किस प्रकार शुद्ध करे ? दिन रात संसार के कल्याण की इच्छा मन में उठाना मन की शुद्धि का साधन है और इसी से अंत में मन वश में आ जाता है। शुद्ध मन बिना किसी प्रयत्न के स्वयमेव वश में आ जाता है और यह शुद्धि अहिंसा व्रत पालने से प्राप्त होती है। फिर वाणी को कैसे वश में करें ? मनु जी बतलाते हैं कि शब्द का उच्चारण 'स्पष्ट' करो। जिनका उच्चारण स्पष्ट नहीं, उन्हें प्रत्येक अपवित्र शब्द के प्रयोग का स्वभाव शनैः शनैः हो जाता है। स्पष्ट उच्चारण करने वाला मनुष्य समझता है कि वह क्या बोल रहा है और इसलिए अपने उत्तरदायित्व को समझकर बोलता है तब उसकी वाणी स्वयमेव मीठी हो जाती है और इसका यही परिणाम वाणी की शुद्धि होती है।

प्रिय पाठकगण ! तुम किसी भाषा के जानने वाले हो किंतु उसका स्पष्ट उच्चारण करना सीखो। तुम्हारे शब्द संदेहजनक और भ्रम में डालने वाले न हों। तब स्वयमेव तुम्हारी वाणी में शुद्धि प्रवेश करेगी, परंतु यह असंभव है जब तक कि मन शुद्ध न हो। मन को शुद्ध करने वाले बड़े-बड़े नीतिमानो ! तुम्हारा मन काबू करना व्यर्थ है जब तक कि तुम उसे सत्य से मांजकर शुद्ध नहीं करते। 'मनः सत्येन शुध्यति' कैसा अभिप्राय पूर्ण वाक्य है। जब तक तुम्हारे विचार सत्य से मजे हुए नहीं होते तब तक मन की शुद्धि कठिन है और मन की शुद्धि के बिना वाणी कैसे शुद्ध हो सकती है और बगैर शुद्धि के वाणी वश में कैसे आ सकती है ? इसलिए आओ ! हम सब मिलकर वाणी की पवित्रता की नींव डालें और एक दूसरे के मन को शुद्ध होने के योग्य बनाते हुए शुद्ध आचार की नींव डालें ताकि चेतन जगत् के अंदर शांति का राज्य आ जाये जिससे जड़ जगत् स्वयमेव शांत होकर मुक्ति के मार्ग में रुकावट सिद्ध न हो।

शब्दार्थ

(धर्ममिच्छता) धर्म के अभिलाषी पुरुष को (भूतानां) जीवों का प्राणियों का (श्रेयः अनुशासनम्) कल्याणकारी शिक्षण (अहिंसयेव) अहिंसा के द्वारा ही, दया भाव से (कार्यम) करना चाहिए। (चैव) और इसके लिए (मधुरा) मीठी और (श्लक्ष्णा) शुद्ध सुंदर (वाक् प्रयोज्या) वाणी का प्रयोग करना चाहिए।

(यस्य) जिस धार्मिक पुरुष के (वाङ्मनसे) मन और वाणी (शुद्धे) शुद्ध पवित्र विचार वाले हैं (सर्वदा च सम्मयग्गुप्ते) और हमेशा संयम में रहने वाले हैं (स वै) वह मनुष्य निश्चय से (सर्व वेदान्तोपगतं फलम्) वेदांत के सारे यथार्थ फल को, मोक्ष को (अवाप्नोति) प्राप्त करता है।

तृतीय अध्याय

वेदोपदेश

द्वितीय भाग

ब्रह्मचारीणंश्चरति रोदसी उभे,
तस्मिन् देवाः संमनसो भवन्ति।
स दाधार पृथिवीं दिवं च,
स आचार्यं तपसा पिपर्ति।।1।।

अथर्व., कांड 11, अ. 3, सूक्त 5, 1

मंत्र सार

ब्रह्म परमेश्वर को कहते हैं। उस अनाद्यनन्त की आदि विद्या 'वेद' भी ब्रह्म ही है क्योंकि दोनों ही सर्वोपरि, बड़े हैं। 'चर' धातु 'गति' और 'भक्षण' दो अर्थों में प्रयुक्त होती है। पहले 'गति' अर्थ में चर को लेंगे। वह 'गति' शब्द भी तीन अर्थों में लगता है—अर्थात् ज्ञान, गमन और प्राप्ति। तब ब्रह्मचारी वह है जो परमेश्वर और उसकी पतित पावनी विद्या का पहले ज्ञान प्राप्त करे। वह निश्चयात्मक ज्ञान किस मुख्य साधन से प्राप्त होता है ? जिस अनिर्वचनीय को आंख देख नहीं सकती, कान सुन नहीं सकते और अन्य इंद्रियां भी जिसका प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं दे सकतीं, उस व्यापक पुरुष को कहां देखें ? निस्संदेह उसका ज्ञान वहां ही प्राप्त हो सकता है जहां वह विद्यमान है। ब्रह्मांड के प्रकाशमान् और अप्रकाश्य, प्राण और रवि, द्यौ और पृथ्वी किस लोक में वह मौजूद नहीं है। 'हर जगह मौजूद है पर वह नज़र आता नहीं' तब उसका ज्ञान द्यौः और पृथ्वी इत्यादि द्वंद्वों में तत्व की दृष्टि डालने से ही मिलेगा; और इस दृष्टि के लिए आवश्यक है कि द्रष्टा में बल हो। ज़मीन और आसमान के अंदर जो छिपा हुआ राज (रहस्य) है उसको खोलना ब्रह्मचारी का उद्देश्य है, इसलिए वह ज़मीन और आस्मान को हिलाता हुआ विचरता है। वह प्रकृति को मजबूर करता है कि अपने अंदर के रहस्यों को उस (ब्रह्मचारी) के लिए खोलकर रख दे।

जब ब्रह्मचारी को ब्रह्म का ज्ञान हुआ तो वह उस में गमन करना आरंभ करता है। संसार के सब प्रकाशमान् पदार्थ (जो उस प्रकाश्य स्वरूप की ज्योति के द्योतक होने से देव हैं) तम में उस ब्रह्मचारी के सहायक होते हैं। जहां पहले भिन्नता दिखाई देती थी वहां समानता दिखाई देती है। सब में वह उसी प्रकाशस्वरूप की ज्योति को देखता है और अंततः वह उसी में स्थिरता को प्राप्त होता है। दर्शन तो किसी

न किसी समय प्रत्येक व्यक्ति को होते हैं परंतु ब्रह्मचारी को यह बल प्राप्त होता है कि जब एक वार उस परम ज्योतिः के दर्शन हो जायें तो वह उससे अलग नहीं होता। तभी तो वेद भगवान् ने कहा है कि ब्रह्मचारी द्यौ और पृथ्वी को दृढ़ता से धारण कर लेता है अर्थात, उनके तत्व को समझ कर फिर उसका हृदय डावांडोल नहीं होता।

बड़े का ज्ञान करने, उसमें गमन करने और फिर उसकी प्राप्ति से स्थिर होकर दृढ़व्रती होने का साधन क्या है ? वही साधन ब्रह्मचारी को आचार्य बतलाता है। बड़े की प्राप्ति के लिए साधन भी बड़ा ही होना चाहिए। हाथीनशीनों से दोस्ती गांठने वालों को ऊंचे दरवाजे रखने पड़ते हैं। सर्वोपरि परमात्मा और उसके वेद की प्राप्ति के लिए साधन भी ऊंचा चाहिए। वह बड़ा क्या है जिसके साधने से सबसे बड़े ब्रह्म का योग सध जाय ? तैत्तिरीयोपनिषत् की भृगुवल्ली में भृगु ने गुरु वरुण से ब्रह्म का पता पूछा है। वरुण ने उत्तर में कहा 'अन्नं, प्राणं, चक्षुः, श्रोत्रं, मनो वाचमिति,' 'अन्न' ब्रह्म है। तब ब्रह्मचारी कौन है ? इस प्रश्न के उत्तर के लिए 'चर' धातु के दूसरे अर्थ पर विचार करना चाहिए। 'चर' भक्षण अर्थ में भी आता है। जो अन्न को भक्षण करने की शक्ति रखता है वह ब्रह्मचारी है। भक्षण किसे कहते हैं ? क्या खाद्य पदार्थ को पेट में रख लेना ही भक्षण है ? वाचस्पत्य शब्दकोष के पृ. 4620 पर लिखा है–'भक्ष-भावे ल्युट्। कठिन द्रव्यस्य गलाधःकरणव्यापारे। भक्षणप्रकारः सुश्रुतोक्तः।' मनुष्य योनि में यह मानवी शरीर, इंद्रिय, मन और आत्मायुक्त बनावट ही ब्रह्मप्राप्ति का साधन है। उनमें से शरीर में रह कर ही इंद्रिय मन और आत्मा का व्यापार चल रहा है; इसलिए शरीर के स्वास्थ्य पर ही अन्य सबका स्वास्थ्य निर्भर है परंतु शरीर के परमाणु क्षण भर में क्षीण होते रहते हैं। उनकी स्थानपूर्ति के लिए केवल खाने-पीने की ही आवश्यकता नहीं अपितु उस खाए को पचाने की भी आवश्यकता है। स्वादिष्ट और चटपटे भोजन के प्रलोभन में न फंसना और चबाते हुए उसे पीस डालकर अंदर ले जाना यह तपस्वी का ही काम है। इसी तप की शिक्षा आचार्य ब्रह्मचारी को देता है और जब शिष्य आचार्य की शिक्षा के अनुकूल आचरण करता हुआ तपस्वी बनता है तभी आचार्य की आत्मा संतुष्ट होती है। इसी को लक्ष्य में रखकर उपनिषद् में अन्तेवासी के लिए उपदेश है कि आचार्य के प्रिय धन की भेंट उसके आगे रखे। धन्य हैं वे शिष्य वर्ग जो आचार्य की शिक्षा को शिरोधार्य समझकर तप का जीवन व्यतीत करते हैं, क्योंकि उस अवस्था की प्राप्ति का, जिसमें आनंद का ही राज्य है, वही एक साधन है।

शब्दार्थ

(ब्रह्मचारी) परमेश्वर और उसकी बड़ी विद्या वेद को प्राप्त करने में शील जिसका, वह ब्रह्मचारी (रोदसी उभे) द्यावा पृथ्वी रूपी दोनों लोकों को (इष्णन् चरति) हिलाता

हुआ चलता है, (तस्मिन् देवाः सम्मनसः भवन्ति) उसमें ही सब देव समान मन वाले होते हैं। (सः दाधार पृथिवीम् दिवम् च) वह पृथ्वी और द्यौ (जमीन और आसमान) को दृढ़ता से धारण करता है—(सः आचार्यम् तपसा पिपर्ति) वह आचार्य को तप से पालता अर्थात् संतुष्ट करता है।

2

ब्रह्मचारिणं पितरो देवजनाः,
पृथग् देवाः अनुसंयन्ति सर्वे।
गंधर्वा एनमन्वायन् त्रयस्त्रिंशत् त्रिंशताः,
षट्सहस्राः सर्वान्त्स देवांस्तपसा पिपर्ति।।2।।

अथर्व., कांड 11, अ. 3, सूक्त 7, 2

मंत्र सार

देव कौन हैं ! "देवो दानाद्वा, दीपनाद्वा, द्योतनाद्वा, द्युस्थानो भवतीति वा" दान देने से, प्रकाश करने से, उपदेश देने से (दूसरे के अंदर चांदना करने से) और सब प्रकाशों की स्थिति का स्थान होने से देव कहाता है। पहले दान देने वाले देव, दूसरे प्रकाश करने वाले सूर्यादि देव, तीसरे उपदेश से अंदर चांदना देने वाले माता-पिता और आचार्य देव और चौथे प्रकाशकों की भी स्थिति का स्थान परमात्मा परमदेव है। देव समूह में अग्नि, पृथ्वी, वायु, अंतरिक्ष, आदित्य, द्यौः, चंद्रमा और नक्षत्र, आठ वसु कहलाते हैं क्योंकि सब पदार्थ इन्हीं में निवास करते हैं। दस प्राण और 11वां जीवात्मा इसलिए रुद्र कहलाते हैं क्योंकि जब ये शरीर से निकलते हैं तो मृत के संबंधियों को रुलाते हैं। संवत्सर के बारह महीने आदित्य कहलाते हैं क्योंकि ये आयु को क्षीण करते चले जाते हैं। 31 ये और व्यापक विद्युत् तथा यज्ञ सब मिलाकर तेंतीस देव समूह हैं। इन्हीं का विस्तार 333 और 6333 तक पहुंचता है। ये सब देव समूह और जुदे-जुदे देव, सब ब्रह्मचारी के पीछे चलते हैं—अर्थात् ब्रह्मचारी के स्वभावतः अनुकूल ये शक्तियां हो जाती हैं। उसके मार्ग में ये शक्तियां बाधक नहीं होतीं। और गंधर्व भी उसके साथ चलते हैं, उसका रास्ता साफ़ करते हैं। ये गंधर्व कौन हैं ? "गाम् धारन्तीति ये ते गंधर्वाः" इन अर्थों में जो अनगिनत सूर्य लोक ब्रह्मांड को प्रकाशित कर रहे हैं, वे गंधर्व हैं। फिर शतपथ में लिखा है—"अहोरात्राणि वै गंधर्वाः" दिन रात भी गंधर्व हैं। यह दिन रात का चक्र सबको घुमाता है और बुद्धि को डावांडोल कर देता है। परंतु ब्रह्मचारी को वह भी हिला नहीं सकता।

क्यों सब देव ब्रह्मचारी के पीछे-पीछे चलते हैं ? इसका उत्तर साधारण व्यक्तियों

के जीवन में ढूंढ़िए। जिसका वीर्य सुरक्षित नहीं वह माथे की तेजमय अग्नि को मंद कर देता है। जिसका शरीर तप से शुद्ध नहीं वह मल-मूत्र के अनुचित त्याग से पृथ्वी को गंदा कर देता है। जिसका मन वश में नहीं वह वायु और अंतरिक्ष को निर्बल करने की चेष्टा करता है और जो अविद्या का दास है उससे उठे हुए बादल सब प्रकाशमान पदार्थों को मंद कर देते हैं।

अब्रह्मचारी से रुद्र पीड़ित और आदित्य दुःखी रहते हैं। विद्युत् और यज्ञ उसकी जान को रोते हैं। परंतु ब्रह्मचारी अपने तप से इन सबको उत्तेजित करता है। ब्रह्मचारी का क्रियात्मक उपदेश इन सब देवों को शांत करके भरपूर कर देता है। दिन रात उलटे चलने के स्थान में सीधे चलने लगते हैं। ब्रह्मचारी का जीवन जगत् की काया पलट देता है। ज्ञानगोष्ठी तो और भी महापुरुष करते थे परंतु बुद्धदेव ने क्यों वाममार्ग के घोर बादलों को छिन्न-भिन्न करके चिरस्थायी प्रभाव संसार पर छोड़ा। ईसा ने क्यों मसीह की पदवी पायी और उसके उपदेश ने क्यों सदियों तक करोड़ों को शांति का पाठ पढ़ाया ? इन सबसे बढ़कर प्राचीन काल में रामचंद्र तथा सीता के जीवन ने क्यों ऐसा उच्च पद प्राप्त किया कि उनके जीवन की कथा के पाठमात्र से अब तक स्त्री पुरुष पवित्र जीवन लाभ करते हैं ? और इस समय ऋषि दयानंद के जीवन का पाठ करके क्यों लाखों आत्मा सन्मार्ग में चलकर शांति लाभ कर रहे हैं। उत्तर एक ही है कि ये सब महापुरुष ब्रह्मचारी थे।

शब्दार्थ

(सर्वे पितरः देवजनाः) सब पालक देव समूह और (पृथक् देवाः) जुदे जुदे देव (ब्रह्मचारिणम् अनुसंयन्ति) ब्रह्मचारी के पीछे पीछे चलते हैं। (गंधर्वाः एनम् अनु आयन्) गंधर्व भी इसके साथ (अनुकूल) चल रहे हैं (त्रयस्त्रिंशत् त्रिशताः षट् सहस्राः, सर्वान् देवान् सः तपसा पिपर्ति) सन–33×333×6333–देवों को वह (ब्रह्मचारी) तप से पूर्ण करता है।

3

आचार्य उपनयमानो,
ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।
तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति,
तं जातं द्रष्टुमनुसंयन्ति देवाः।।

अथर्व., कांड 11, अ. 3, सूक्त 5, 3

मंत्र सार

यहां 'रात्रीः तिस्रः' के भावार्थ को ही स्पष्ट करना है। रात अंधकार का समय है। यद्यपि तारागण तथा अर्धमास तक चंद्रमा भी प्रकाश देते हैं परंतु वह प्रकाश सारे अंधेरे को दूर नहीं कर देता। सारा अंधकार तब दूर होता है जब आदित्य भगवान् अपने यौवन समेत दर्शन देते हैं। यहां तीन रातों से साधारण तीन रात्रि से तात्पर्य नहीं है, प्रत्युत ब्रह्मचर्य के तीन दर्जो से मतलब मालूम होता है। प्रथम 24 वर्ष तक का ब्रह्मचर्य व्रत वह है जिसे पूरा करके ब्रह्मचारी वसु (अर्थात् उत्तम गुणों को अपने अंदर वास कराने वाला) बनता है। परंतु यह निकृष्ट ब्रह्मचर्य है। जब वसु ब्रह्मचारी को घर जाने की आज्ञा आचार्य देता है तो श्रद्धादेवी उसे प्रेरित करके उससे कहलाती है—'भगवान् ! अभी तो मैं उत्तम गुणों का वास कराने वाला ही बना हूं। अभी प्रलोभन मुझे गिरा सकते हैं। मुझे विशेष साधन का समय दीजिए।' शिष्य की योग्यता को देखकर आचार्य फिर आज्ञा देते हैं। तब 44 वर्ष की आयु तक तप पूर्वक विद्याभ्यास करता हुआ ब्रह्मचारी रुद्र संज्ञा का अधिकारी बनता है। उसकी वह प्रार्थना स्वीकार होती है जो उसने आश्रम में प्रविष्ट होते ही आचार्य से की थी—'मा तनु अश्मा भवतु' 'मेरी बनावट (शरीर और मन) चट्टान की तरह दृढ़ हो जाए।' तब वह ऐसा बलिष्ठ हो जाता है कि विषय और पाप उसकी बनावट से टकरा-टकराकर छिन्न-भिन्न हो जाते और रोते हैं। उन्हें रुलाने का हेतु होने से ब्रह्मचारी रुद्र बन जाता है।

फिर भी उसका पूर्ण प्रकाश नहीं हुआ। जब विषय और पाप समीप आते रहें, जब अंधेरा आस-पास घूम सके; तब भी गिरने का भय बना ही रहता है। इसीलिए ऐसे सुबोध ब्रह्मचारी को जब गुरु समावर्तन की आज्ञा देते हैं, तब वह फिर हाथ

जोड़कर विनय करता है–'भगवान् ! अभी अंधकार ने मुझे घेरना नहीं छोड़ा। आत्मा निश्चिंत नहीं हुआ, इस पवित्र आश्रम द्वारा सावित्री माता के गर्भ में सुरक्षित होकर कुछ काल और निवास करने की आज्ञा मुझे प्रदान कीजिए।'

गुरु की आज्ञा से शिष्य तीसरी रात (अंधकार से घिरी हुई अवस्था) भी गर्भ में बिताता है। तब उसके दृढ़ तप से अंधेरा दूर हो जाता है और वह सावित्री के गर्भ से बाहर आकर आचार्य को प्रणाम करता है। तब आचार्य उस ब्रह्मचारी के मस्तिष्क को सूर्य की भांति देदीप्यमान देखकर आशीर्वाद देता है–'तू अब आदित्य है। तेरा प्रकाश स्थिर होगा। अंधकार का हौसला ही न पड़ेगा कि तेरे समीप पहुंच सके'। बस तीसरी रात भी व्यतीत हो गई और ब्रह्मचारी का दिव्य तेज फैल गया और तब वह द्विज बनकर देव पुरुषों से सम्मानित होकर उनमें शामिल हो जाता है। इसी वेद मंत्र की व्याख्या में मनु भगवान् ने कहा है–

मातुरग्रेऽधिजननं, द्वितीयं मौञ्जीबन्धनं।
तृतीयं यज्ञदीक्षायां, द्विजस्य श्रुतिचोदनात्।।
तत्र यद् ब्रह्मजन्मास्य, मौञ्जिबंधनचिन्हितम्।
तत्रास्य माता सावित्री, पिता त्वाचार्य्य उच्यते।।

श्रुति की आज्ञा से द्विज के प्रथम माता से जन्म, दूसरे उपनयन वा व्रतबन्ध और तीसरे यज्ञ की दीक्षा में ये तीन जन्म होते हैं। इन पूर्वोक्त तीनों जन्मों में, वेद ग्रहणार्थ, उपनयन संस्कार रूप जो जन्म है, उस जन्म से उस (ब्रह्मचारी) की माता सावित्री और पिता आचार्य कहाते हैं।

आपस्तम्ब धर्मसूत्र में लिखा है–'सह विद्यातस्तं जनयति। तच्छ्रेष्टं जन्म। शरीरमेव मातापितरौ जनयतः', इसी भाव को लक्ष्य में रखकर वर्तमान मनु-स्मृति के कर्ता ने लिखा है–

कामान्माता पिता चैनं यदुत्पादयतो मिथः।
संभूतिं तस्य तां विद्यायायोनावभिजायते।।
आचार्यस्त्वस्य यां जातिं विधिवद्वेरपारगः।
उत्पादयति सावित्र्या सा सत्या सा जरामरा।।

माता-पिता तो, जीवन विद्या के ज्ञान से अनभिज्ञ होने के कारण काम वश होकर भी संतान उत्पन्न करते हैं, परंतु वह जन्म अजर और अमर है जो ब्रह्मचारी को विद्या के गर्भ में रखकर आचार्य देता है। धन्य है वह देश और धन्य है वह जाति, जिसमें आदित्य आचार्य ब्रह्मचारियों को अमर जीवन का दान देते हैं !

आचार्य कौन हो सकता है ? जो शिष्य को अमर जीवन प्रदान करने की शक्ति रखता हो। जिसने स्वयं अमर जीवन प्राप्त नहीं किया, जो स्वयं इंद्रियों का दास और कमज़ोरियों का शिकार है, उसे पवित्र आचार्य पद ग्रहण करने के लिए तैयार नहीं होना चाहिए। एक बड़े विदेशी अनुभवी विद्वान् की उक्ति प्रसिद्ध है कि कवि

की तरह अध्यापक भी घड़े नहीं जा सकते, वे जन्म से ही शक्ति लेकर आते हैं। अनेक जन्मों के साधनों से बुरे संस्कार धुलते हैं, यह ऋषियों के आदेश का सार है। आत्माओं के कुसंस्कारों को धोकर उनमें उत्तम संस्कारों के प्रवेश कराने के लिए उग्रतप की ज़रूरत है। तब कैसी गिरी हुई दशा उस देश और उस काल की समझी जाए जिसमें आचार्य का काम एक पेशा बना लिया जाता है। वेद का उपदेश यह है कि जो शरीर, आत्मा और मन की शक्ति से शिष्य को सुरक्षित करके उसे देव सभा का सभासद् बना सके वही आचार्य पद का अधिकारी है।

शब्दार्थ

(आचार्यः) आचार्य (उपनयमानः) यज्ञोपवीत देते हुए (ब्रह्मचारिणं) ब्रह्म की प्राप्ति की इच्छा करने वाले ब्रह्मचारी की (अंतः गर्भं कृणुते) (विद्याशरीरस्य मध्ये गर्भं करोति) विद्या रूपी माता के शरीर के अंदर गर्भ रूप से धारण करता है। (तं तिस्रः रात्रीः उदरे बिभर्त्ति) उस (गर्भस्थ ब्रह्मचारी) को तीन रातों तक उसी (गुरुकुल रूपी) गर्भ में रखता है। (जातम्) तब उसके उत्पन्न होने पर (तं द्रष्टुं) उसको देखने के लिए (देवाः अभिसंयन्ति) विद्वान् आते हैं।

4

इयं समित् पृथिवी द्यौर्द्वितीयो-
तान्तरिक्षं समिधा पृणाति।
ब्रह्मचारी समिधा मेखलया,
श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्ति।।

अथर्व., काण्ड 11, अ. 3, सूक्त 5।

मंत्र सार

ब्रह्मविद्या के जिज्ञासु को गुरु के पास हाथ में समिधा लेकर जाना चाहिए। खाली हाथ जाना मना है। याचक को अभिमान दूर रख देना चाहिए। वेद में कहा है कि श्रद्धा की समिधा लेकर प्रभु पूजा में प्रवृत्त होना चाहिए। ब्रह्मचारी की सम्पत्ति समिधा ही है क्योंकि ब्रह्मचर्य तप रूपी रूप ही है। ब्रह्मचर्य का उद्देश्य वेद विद्या द्वारा ईश्वर प्राप्ति है, वह प्राप्ति ही इस ब्रह्मयज्ञ का फल है।

ब्रह्मचारी तीन स्थूल समिधाओं को तो नित्य प्रदीप्त अग्नि में डालता ही है परंतु ज्ञानाग्नि को प्रदीप्त करने के लिए भी उसे तीन समिधाओं की ही आवश्यकता है। वह तीन समिधा कौन सी हैं ? प्रथम पृथ्वी, द्वितीय द्यौः और तीसरी अंतरिक्ष। इन्हीं के ज्ञान में सारा ज्ञान आ जाता है। तैत्तिरीयोपनिषद् के शिक्षाध्याय में पहले गुरु शिष्य को, वर्ण, स्वर, मात्रा, प्रयत्न, उच्चारण और संधि का ज्ञान देकर उस शब्द शिक्षा के पश्चात् अर्थशिक्षा प्रारंभ करता है। अर्थशिक्षा में पांच अधिकरण बतला कर उनमें पहला अधिलोक प्रकरण है। इस दृश्य कार्य जगत् का नाम ही अधिलोक है। उसमें 'पृथिवी पूर्वरूपं। द्यौरुत्तररूपम्। आकाशः संधिः। वायुः सन्धानम्। इत्यधिलोकम्।।' भूमि ही इस आत्मिक यज्ञ की कार्य सिद्धि में आधार स्वरूप होने से मुख्य साधन है। उस सर्व इंद्रियों से ग्राह्य पृथ्वी और उसकी रचना से उठकर सूर्यादि प्रकाशक लोगों को ज्ञान संभव है। वहां बाह्य इंद्रियों में से केवल एक चक्षु इंद्रिय की ही गम्यता है। यद्यपि वह प्रकाश गौण साधन है तथापि उस दूर स्थित प्रकाश के बिना निकटस्थ पृथ्वी के प्रत्यक्ष दर्शन कठिन ही क्या असंभव हैं। द्यौः इसलिए उत्तर रूप है। परंतु पृथ्वी और द्यौ—इन दोनों का मेल कहां होता है ? यदि

अंतरिक्ष न हो तो सूर्य का प्रकाश ब्रह्मचारी तक कौन पहुंचावे ? इसलिए अंतरिक्ष ही उन दोनों के मेल का स्थान है। पृथ्वी और द्युलोक की विद्या की प्राप्ति असंभव है जब तक कि अंतरिक्ष उन्हें परस्पर मिलाने वाला हो। तब अंतरिक्ष की विद्या से ही पहली दोनों विद्याओं का निश्चय होता है। ये तीनों इस शिक्षारूपी आत्म यज्ञ की तीन समिधा हैं। इन्हीं तीनों का ज्ञान नित्य प्राप्त करने से आत्म-यज्ञ की अग्नि प्रदीप्त रहती है। ये तीन समिधा हैं परंतु इनको यज्ञ-कुंड में डालने का हाथ रूपी मुख्य साधन वायु है—यह उपनिषद् ने स्पष्टीकरण के लिए विशेष व्याख्या की है। प्रकाश भले ही अंतरिक्ष में रहे परंतु उसकी किरणें वायु के बल से ही पृथ्वी तक पहुंचती हैं।

संसार के प्रलोभन ब्रह्मचारी को चारों ओर से घेरते हैं। विषयों की प्रबल शक्तियां उस पर सारे बल से प्रहार करती हैं। उनका मुकाबला अल्प जीव कैसे करे ? उनका मुकाबला नहीं हो सकता; उन शक्तियों को तृप्त करने से ही वे ब्रह्मचारी का पीछा छोड़ती हैं ? क्या भोग से उनकी तृप्ति होती है ? मनुष्य अज्ञानवश समझता है कि वह विषयों को भोग रहा है; उलटा विषय उसका भुगतान कर देते हैं। उनके चंगुल से कैसे छूटे ? इस बात का ज़िक्र करते हुए कि जो मनुष्य काम भोग नहीं करता और ब्रह्मचर्य का जीवन व्यतीत करता है उसमें वीर्य स्खलित होने का सर्वथा अभाव असंभव है, अमेरिका के डॉक्टर विलियम् जे. राबिन्सन एम.डी. लिखते हैं—

"There is only one exception to this statement, men engrossed in an all absorbing mental task may, even while living continent life, go for months and years without an omission."

अर्थात् इस कथन में केवल एक ही अपवाद हो सकता है वह यह कि जो लोग लगन से किसी मानसिक काम में लगे हुए हैं वे ब्रह्मचर्य का जीवन व्यतीत करते हुए भी महीनों और वर्षों तक भी बिना वीर्य स्खलन के रह सकते हैं। डॉक्टर राबिन्सन से बहुत पहले ऋषि दयानंद ने इस विषय पर लिखा था—'जिस पुरुष ने विषय के दोष और वीर्य रक्षण के गुण जानने हैं वह विषयासक्त कभी नहीं होता, उसका वीर्य विचाराग्नि में ईंधनवत् है अर्थात् उसी में व्यय हो जाता है।'

ब्रह्मचारी सांसारिक, विरोधी में शक्तियों को कैसे तृप्त करता है ? पृथ्वी, प्रकाश और अंतरिक्ष से जो आक्रमण उस पर होते हैं उनका वह कैसे निवारण करता है ? वह इन्हीं तीनों को समिधा बनाता है और उन्हें ज्ञानाग्नि में आहुति देकर भस्म कर देता है। भस्म का तात्पर्य यह नहीं कि उनका अत्यन्ताभाव हो जाता है प्रत्युत मतलब इतना ही है कि रूपांतर में जाकर वे उस ब्रह्मचारी को अपने धर्म से विचलित नहीं कर सकते।

हां ! इन तीन समिधाओं से आत्मयज्ञ प्रदीप्त कैसे किया जाए ? उसके लिए श्रम की आवश्यकता है। उस श्रम रूपी बल की प्राप्ति के लिए मेखला ही एक मात्र

साधन है। जननेंद्रिय को स्वाद के प्रलोभन से बचाने के लिए ब्रह्मचारी मेख़ला धारण करता है। बिना समिधाधान के मेखलाधारण करने के योग्य (अर्थात् लंगोट का सच्चा, यति) नहीं हो सकता और बिना मेखला (तड़ागी) धारण किए अर्थात् लंगोट-बंद हुए श्रमी नहीं हो सकता और उस 'श्रम' से ही अंत में तप की प्राप्ति होती है। तब सब लोकों को तृप्त करने का साधन तप ही सिद्ध होता है।

उपनिषत् की भाषा में इसलिए कह सकते हैं कि 'समिधा पूर्वरूपम्, मेखला उत्तररूपम्। श्रम-संधिः। तपः संधानम्।।' यदि ब्रह्मचारी तप द्वारा श्रमी बनकर वीर्य रक्षा द्वारा उस बल को दृढ़ कर ले और फिर अपनी सारी शक्तियों को पृथ्वी लोक, द्युलोक और अंतरिक्षलोक की विद्या के प्राप्त करने में एकचित्त होकर लगा दे तो फिर वह तप में दृढ़ता प्राप्त कर लेता है और तपस्वी बनकर सर्व बाह्य शक्तियों को ऐसा तृप्त कर देता है कि वे उसको गिराने का साहस करने के स्थान में उसकी सहायक होती हैं।

शब्दार्थ

(इयम्-पृथिवी-सम् इत) पृथ्वी लोक पहली समिधा है (द्यौः द्वितीय) दूसरी प्रकाशमान द्युलोक और तीसर (अंतरिक्षं समिधा) अंतरिक्ष समिधा है। इन तीनों से ब्रह्मचारी यज्ञ को पूर्ण करता है। (ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण तपसा लोकान् पिपर्ति) ब्रह्मचारी (1) समिधा से (2) मेखला से (3) श्रम से (4) और तप से लोकों, विषयों की तृप्ति करता है।

5

पूर्वो जातो ब्रह्मणो ब्रह्मचारी
घ्वर्म वसानस्तपसोदतिष्ठत्।
तस्माज्जातं ब्राह्मणं ब्रह्म ज्येष्ठं
देवाश्च सर्वे अमृतेन साकम्।।

अथर्व., कांड 11, अ. 3, सूक्त 5. 5

मंत्र सार

सृष्टि प्रवाह से अनादि है—यही सिद्धांत उत्पत्ति की समस्या को हल करता है। और कोई भी कल्पना करो—शून्य से सृष्टि हुई, सदा से कार्य जगत् ऐसा ही है इत्यादि—वास्तव में सृष्टि की समस्या हल नहीं होती। तब सृष्टि प्रवाह से अनादि है—सूक्ष्म से सूक्ष्म स्थूल रूप धारण करती है और फिर अपने उपादान कारण में लीन हो जाती है यही प्रवाह चल रहा है।

सृष्टि के आदि में जहां परमात्मा ने भौतिक आंखों लाभदायक बनाने के लिए भौतिक सूर्य का प्रकाश किया वहां मनुष्य की बुद्धिरूपी अंतरीय आंखों को सुखदायक बनाने के लिए वेद ज्ञान का भी प्रकाश किया। जिस तप के प्रभाव से भौतिक सूर्य का उदय हुआ उसी तप के बल (तेभ्यः तप्तेभ्य-स्त्रयो वेदा अजायन्त) से तीनों (ज्ञान, कर्म, उपासना रूपी) वेदों का प्रकाश हुआ। उस ब्रह्म विद्या का जिस द्वारा प्रकाश हुआ, वही ब्रह्म—वेद का जानने वाला और उसमें गति रखने वाला ब्रह्मचारी ब्रह्मा कहलाया। ब्रह्मा वेद की ओर चर (गति—ज्ञान, गमन प्राप्ति) गतिमान् होकर जिसने पहले उसमें गमन करके उसको प्राप्त किया इसलिए ब्रह्मा प्रथम ब्रह्मचारी है। तेजोऽसि तेजो मयि धेहि। तुम तेज स्वरूप हो मुझमें भी तेज को धारण कराओ ! इस प्रार्थना को ब्रह्मा ने ही सार्थक बनाया। तप द्वारा उस उग्र तेज को धारण करके वह सबसे ऊंचा उठकर मनुष्य सृष्टि का आदि गुरु बना। जब-जब सृष्टि होती है, उसका उत्तर क्रम चढ़ाने वाला आदि पुरुष भी उत्पन्न होता है। इसी भाव को लेकर श्वेताश्वतरोपनिषत् में कहा है—'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।' इसी भाव को प्रकट करते हुए उपरोक्त वेदामंत्र का मानो एक प्रकार का

भाष्य ही मुंडकोपनिषत् में किया है–

ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता।
सब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह।।

कल्प के आरंभ से (वर्णाश्रम) धर्म का प्रचारक और उस विद्या के प्रचार द्वारा) सब प्राणियों का रक्षक, वेदवेत्ताओं में पहला (अर्थात् समग्र वेद को जानने वाला) पुरुष अमैथुनी सृष्टि में ब्रह्मा उत्पन्न हुआ। सब विविध विद्याओं में निष्णात ब्रह्मा जी ने उस ब्रह्मविद्या को अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्वा को उपदेश किया।

अथर्वा ने अङ्गिरा को और उसने अपने शिष्यों को–इसी प्रकार शिष्य प्रशिष्य परंपरा से ब्रह्मविद्या का प्रचार चला आता है। वेद के तीनों कांडों का शंका समाधान होकर अथर्ववेद में उनका पूर्ण ज्ञान होता है इसीलिए अथर्ववेद को ही वेद का अंत कहना ठीक है। इसीलिए जिस समर्थ शिष्य को ब्रह्मा ने वेद ज्ञान दिया उसका नाम अथर्वा हुआ और उसी वे वेदांत के प्रचार की परंपरा चली।

ब्रह्मा पहला ब्रह्मचारी हुआ, उसी से ब्रह्म वेद के जानने वाले ब्राह्मण उत्पन्न हुए। ब्राह्मण कौन है ? जन्म से तो सब शूद्र हैं–ब्रह्म को चीन्हने से ही ब्राह्मण बनता है।

जन्मना जायते शूद्रस्संकाराद्द्विज उच्यते।
वेदाभ्यासाद् भवेद्विप्रो ब्रह्म जानाति ब्राह्मणः।।

आदि, सबसे ऊंचे स्थित, ब्रह्मचारी ब्रह्मा ने ही संस्कार द्वारा दूसरा जन्म देकर अथर्वा को ब्राह्मण बनाया और फिर वही परंपरा चलती रही। सब विद्वान् ब्रह्मा की प्रथम शिक्षा को शिरोधार्य समझ कर ही मोक्ष रूपी अमृत का पान करते हैं और अब भी यदि सच्चा आचार्य मिल जावे और वह ब्रह्मचारी को विद्या माता के गर्भ में स्थित कराके, तीन रात्रि (48 वर्षों की आयु) तक रख कर उसकी पूर्ण रक्षा के पश्चात् दूसरा आत्मिक जन्म दे तो निस्संदेह वह आदित्य ब्रह्मचारी अमर जीवन को साथ लेकर ही उत्पन्न हो। इसी भाव को कैसी उत्कृष्ट भाषा में मनु भगवान् ने प्रकट किया है।

ब्राह्मणो जायमानो हि पृथिव्यामधिजायते।
ईश्वरः सर्वभूतानां धर्मकोशस्य गुप्तये।।

पृथ्वी में ब्राह्मण का जन्म होना ही श्रेष्ठ है क्योंकि वही धर्म के खज़ाने का रक्षक है। ब्राह्मण सदा ब्रह्मचारी है क्योंकि वह इंद्रियों को वश में रखता है और गृहस्थाश्रम के कर्तव्य पालन करता हुआ भी इंद्रियों का गुलाम नहीं बनता। वह इतना ऊंचा उठता है कि उसे भोग नीचे नहीं खींच सकता। वह सारे जगत् के पदार्थों को अपना ही समझता है इसलिए उसके वास्ते कोई भी वस्तु अप्राप्त नहीं रहती–

स्वं स्वं ब्राह्मस्येदं यत्किंचिज्जगतीगतम्।
श्रैष्ठ्येनाभिजनेनेदं सर्वं वै ब्राह्मणोऽर्हति।।

जो कुछ भी जगत् के पदार्थ हैं वे सब ब्राह्मण के हैं, ब्रह्मोत्पत्ति रूप श्रेष्ठता

के कारण ब्राह्मण संपूर्ण को ग्रहण करने योग्य है। तब तो मनु महाराज का कहना ठीक ही है कि–

स्वमेव ब्राह्मणो भुङ्क्ते स्वं वस्ते स्वं ददाति च।
आनृशंस्याद् ब्राह्मणस्य भुञ्जते हीतरेजनाः।।

ब्राह्मण अपना ही खाता, अपना ही पहनता और अपना ही दान देता है। इसमें संदेह नहीं कि और लोग ब्राह्मण का दिया हुआ भोगते हैं। संसार के भोगों में आप न फंसकर जो ब्राह्मण अन्य सारी प्रजा को यथार्थ भोग के लिए कमाई करने का सीधा मार्ग सिखाता है–वही धन्य है।

अब भी यज्ञ में ब्रह्मा का उच्चासन रहता है। यजमान और अन्य सब यज्ञ-पुरुषों को विषय में चलाना अब भी ब्रह्मा का ही अधिकार है। गिरते हुओं को वही टोक कर गिरने से बचाता है। मनु भगवान् ने धर्माधर्म का निर्णय करने के लिए दस विद्वानों की सभा और न्यून से न्यून तीन वेदों के जुदा-जुदा जानने वाले तीन की धर्म सभा का जो विधान किया है उसमें जो व्यवस्था, एक चारों वेदों का ज्ञाता, तदनुकूल आचरण रखने वाला ब्रह्मचारी दे, उसकी बड़े-से-बड़े बहुपक्ष पर भी प्रधानता दी है।

संसार में जब तक ऐसी गुरु-शिष्य परंपरा स्थिर रहती है तब तक उसके अंदर धर्म और शांति का राज रहता है और जब उस परंपरा में बाधा पड़ती है तब ही अधर्म और शांति का दौरदौरा चलने लगता है। जब-जब भी पहले ब्रह्मचारी का आदर्श सर्वसाधारण की आंखों से ओझल होता है तब-तब ही प्रजा का सम्मिलित आत्मा उसके लिए व्याकुल होकर पुकारता है। जब प्रजा के इस अनुताप में स्वच्छ, निर्मल, शुद्ध भाव प्रवेश करता है तब प्रजा के मालिक फिर से ब्रह्मचारी ब्रह्मा को संसार के उद्धार की आज्ञा देते हैं।

हे संसार की व्याकुल प्रजा ! क्या लाखों के रक्त और करोड़ों की आत्महत्या ने तेरे हृदय को अब तक शुद्ध नहीं किया, जिससे कि अब तक तेरे अंदर ब्रह्मचारी ब्रह्मा का प्रादुर्भाव नहीं हुआ। तब प्रभु से प्रार्थना करो कि वह सच्ची शुद्धि प्रदान करे जिससे संसार का शीघ्र कल्याण हो।

शब्दार्थ

(ब्रह्मणः) वेद ज्ञान (की प्राप्ति) से (पूर्वः जातः ब्रह्मचारी) पहला प्रसिद्ध हुआ ब्रह्मचारी (धर्मं वसानः) दीप्त (प्रकाशमय) रूप को प्राप्त होकर (तपसा+उत् अतिष्ठत्) तप से ऊंचा उठता है। (तस्मात्) उस (पहले ब्रह्मचारी) से (ज्येष्ठम्+ब्रह्म+ब्राह्मणम्) सबसे बड़े वेद द्वारा ब्राह्मण उत्पन्न होते हैं (च सर्वे देवाः+अमृतेन साकम्) और सब विद्वान् अमृतत्व सहित (उत्पन्न होते हैं)।

6

ब्रह्मचार्य्येति समिधा समिद्धः
कार्ष्णं वसानो दीक्षितो दीर्घश्मश्रुः।
स सद्यएति पूर्वस्मादुत्तरं समुद्रं
लोकान्त्संगृभ्य मुहराचरिक्रत्।।

अथर्व., कांड 11, अ. 3, सूक्त 5, 8।

मंत्र सार

ब्रह्मचारी को तीनों लोकों की विद्या प्राप्त करने में ऐसी गन से जुट जाना चाहिए और उन लोकों की घटनाओं को इस प्रकार हस्तामलक कर लेना चाहिए कि वे उसके अंतःकरण के लिए समिधावत् हो जाएं। उनको वह ब्रह्मचारी ज्ञानाग्नि से प्रदीप्त यज्ञ-कुंड में डालकर यज्ञ-मंडप की शोभा को चौगुना बढ़ा दे। उस प्रदीप्त ज्ञानाग्नि से उसका अपना हृदय रूपी मुख अत्यंत पकाशित होगा। यह तेज जो ब्रह्मचारी के पवित्र मुख को प्रकाशित कर रहा है क्षणिक न रहेगा यह तेज स्थिर होगा।

यह सारा तैयारी का ज़माना है—यह साधन काल है जिसमें मनुष्य साधन संपन्न बनता है। कर्म के बंधनों में फंसे हुए साधारण मनुष्य के लिए विषयों में प्रवृत्ति साधारण अवस्था क्या—एक प्रकार से स्वाभाविक बन जाती है। उस अवस्था को बदलना ही ब्रह्मचर्याश्रम का उद्देश्य है। प्रवृत्ति के स्थान में निवृत्ति मार्ग का आश्रय लेकर ही विषयों की दासता तो त्याग कर मनुष्य उसका स्वामी बनता है। परंतु यह निवृत्ति मार्ग जहां जीवात्मा को अपनी बनावट तथा तन्निर्दिष्ट ब्रह्मांड की गुलामी से आजाद कर देता है वहां है यह बड़ा वीहड़ रास्ता। इस दुर्गम पथ पर चलना तलवार की धार पर नृत्य करने के बराबर है। तब क्या मार्ग असाध्य कर्म है ? साधन-शून्य पुरुषों के लिए जहां यह असाध्य है वहां साधन संपन्न ब्रह्मचारी के आगे इसकी सब मंजिलें अपने आप साफ जो जाती हैं और वह बेखटके इनमें से गुजर जाता है। ब्रह्मचारी को न शारीरिक बनाव चुनाव की सुध है और न उसके सिंगार की सुध। वह तत्व के उच्चासन की ओर दृष्टि लगाए सांसारिक फंसावटों से बेलाग जा रहा है।

ब्रह्मचारी जब अपने व्रत को पूर्ण करके विद्या-व्रत स्नातक होकर समावर्तन के लिए तैयारी करता है तो उसका वेश क्या होता है ? काले मृग का चर्म तो उसका ओढ़ना है और दाढ़ी मूछें उसकी बहुत बढ़ी हुई हैं। अस्वाभाविक जीवन व्यतीत करते-करते जहां मनुष्यों को परमात्मा के दिए हुए श्रेष्ठ भोज्य पदार्थ पचाने के लिए गर्म मसालों और खटाई आदि की जरूरत होती है, वहां शौच के नियमों को भुला कर मनुष्यों ने और भी अनावश्यक अवस्थाएं उत्पन्न कर ली हैं। ब्रह्मचारी के लिए नापित की आवश्यकता नहीं और न सेफ़्टीरेज़र और मशीन या कैंची की। उसके शरीर के बाल, स्वतंत्रता से बढ़कर, जहां उसके अंदर की विद्युत को उत्तेजित करके उसकी रक्षा करते हैं वहां काले मृग का चर्म उसके शरीर को सर्दी-गर्मी के बाह्य आक्रमणों से बचाकर उसको निःस्पृह जीवन व्यतीत करने के योग्य बनाता है। ब्रह्मचारी को एक धुन लगी है, और वह धुन है—तत्वान्वेषण की। इसके लिए वह संसार के सुखों को न्यौछावर कर देता है और सब प्रकार के भोगों को त्याग देता है। और वह भोगों में फंसे भी कैसे ? जब वह प्रत्येक अवस्था में आनंद ही आनंद अनुभव करता है, जब अपने त्याग के आगे इंद्रियों को और विषयों को सिर झुकाए देखता है—जब देखता है कि सचमुच इनका स्वामी वह बन रहा है तब वह भोगों का भोग्य पदार्थ कैसे बन सकता है।

काले मृग का चर्म धारण किए, बढ़ी हुई दाढ़ी-मूंछ वाला ब्रह्मचारी ही भोगों से भोगे जाने के स्थान में उन्हें अपना आज्ञा पालक सेवक बनाता है। मनु भगवान् ने यज्ञ प्रधान देश में ही ब्राह्मण को बसने की आज्ञा देते हुए यज्ञ प्रधान देश के जो विशेषण बतलाए हैं उनमें एक विशेषण यह है कि उस प्रदेश में काले मृग स्वतंत्रता से विचरते हों। इसलिए काले मृग का चर्म प्राप्त करने के लिए उनके घात करने को मनु-स्मृति ने भी लक्ष्य में नहीं रखा। जहां काले मृग स्वतंत्रता से विचरते हैं वहां उनका चर्म उनकी स्वाभाविक मृत्यु पर बनियों के लिए प्राप्त करना बहुत सुगम है।

जिस आश्रम निवासी ब्रह्मचारी ने आचार्य की दृष्टि से रक्षा पाते हुए सर्दी-गर्मी की ताड़ना से ऊंचे उठकर ब्रह्म तेज को धारण कर लिया है वही दीक्षा का अधिकारी होता है—'व्रतेन दीक्षामाप्नोति।' चाहे विद्या की पाठविधि समाप्त भी कर चुका हो परंतु ब्रह्मचारी दीक्षा का अधिकार उसी समय होता है जब कि वह व्रतस्नातक बनने की योग्यता प्राप्त कर ले, तब वह पहले समुद्र को नियम-पूर्वक लांघ कर दूसरे समुद्र में प्रवेश करता है। ब्रह्मचर्य पहला समुद्र है। जिसने इस पहले समुद्र में गोते खाए हों, जिसने ब्रह्मचर्याश्रम में रहते हुए उसके पवित्र नियमों को तोड़ा हो, जिसे पूर्वाश्रम में ही विषयों ने भोग कर खोखला कर दिया हो वह गृहस्थाश्रम रूपी उत्तर समुद्र में प्रवेश करने का साहस क्यों करता है ? इसलिए कि अविद्या ने उसको अंधा कर दिया है और उसमें देखने की शक्ति नहीं बची। गृहस्थ रूपी उत्तर समुद्र में काम, क्रोध, मोह, लोभ, अहंकार रूपी बड़े-बड़े मगरमच्छ मुंह खोले विचर रहे हैं, भयंकर

भोग की लहरें उठ रही हैं—वहां इंद्रिय-दमन द्वारा सुदृढ़ रहना ब्रह्मचारी का ही काम है। ब्रह्मचर्य साधन का फल क्या है ? वेद का उत्तर है 'लोक संग्रह।'

समुद्र अथाह है, आंधी के थपेड़े लहरों को बल्लियों ऊपर ले जा रहे हैं और उसके अंदर मनुष्यों से भरी हुई किश्ती फंस गई है। आमने-सामने की लहरों ने किश्ती को भंवर में फंसा दिया है। उस किश्ती को कौन निकाले ? किनारे पर हाहाकार मच रहा है, परंतु किसी का साहस नहीं पड़ता कि हिल रुके। किश्ती के यात्री लहरों की हलचल के मद से उन्मत्त अपनी शोचनीय अवस्था को अनुभव नहीं करते। सिर में चक्कर आ रहा है और ऐसा अंधेरा छा गया है कि उन्हें अपनी हीन दशा का परिज्ञान ही नहीं। ऐसी दशा में एक तेजस्वी महात्मा जङ्गल में चले आ रहे हैं। एक क्षण में उन्होंने सारी अवस्था को जांच लिया और एकदम से समुद्र में कूद पड़े। देखते-देखते यह गए ! वह गए ! किश्ती को जा पकड़ा और उछल कर ऊपर चढ़ गए। पतवार को भय के नशे में चूर भोगी से छीन कर अपने हाथ में लिया, और किश्ती संभल गई। वह लहरों की भंवर से निकली और किनारे पर लग गई।

ब्रह्म को प्राप्त, ब्राह्मण, ब्रह्मचारी किसलिए तैयारी करता है ? क्या विषयों का दास बनने के लिए ? यदि यही उद्देश्य होता तो भौतिक गृह से आत्मिक गर्भ में पुनः प्रवेश का क्या मतलब ! ब्रह्मचारी सारी तैयारी इसलिए करता है कि स्वार्थ को भूल कर संसार की पीड़ित प्रजा के दुःखहरण करने के लिए जनता का सच्चा मार्ग दर्शक बने। ऐसे ब्रह्मचारी उत्पन्न करने का अधिकार आर्यावर्त्त गुरुकुलों को था। क्या वह समय फिर लाया जा सकता है ? यदि नहीं, तो संसार के पुनरुद्धार की आशा छोड़ देनी चाहिए।

शब्दार्थ

(ब्रह्मचारी समिधा समिद्धः) जो ब्रह्मचारी समिधा (पृथ्वी लोक, सूर्य लोक तथा अंतरिक्ष लोक के विद्यारूपी या) से प्रकाशित (कार्ष्णम् वसानः) काले मृग का चर्म धारण किए (दीर्घश्मश्रुः दीक्षितः एति) बढ़ी हुई दाढ़ी मूंछ वाला दीक्षित होकर चलता है। (सः सद्यः पूर्वस्मात् उत्तरम् समुद्रम् एति) वह शीघ्र ही इस (ब्रह्मचर्य रूपी) पहले से ऊपर के (गृहस्थ रूपी) समुद्र को प्राप्त होता है और (लोकान् संगृभ्य मुहुः आचरिक्रत्) लोक संग्रह करके बारंबार अभिमुख (अर्थात् वश में) करता है।

7

ब्रह्मचारी जनयन् ब्रह्मापो लोकं,
प्रजापतिं परमेष्ठिनं विराजम्।
गर्भो भूत्वामृतस्य,
योनाविन्द्रो ह भूत्वासुरांस्ततर्ह।।

अथर्व., कांड 11, अ. 3, सूक्त 5, 7।

मंत्र सार

ब्रह्मचर्य की आधारशिला वेदारम्भसंस्कार है। ब्रह्मचारी सबसे पहले आचार्य से वेदमंत्र (गायत्री) की दीक्षा लेता है। फिर से ही उसे प्राणविद्या का ज्ञान होता है। ज्ञान बिना अभ्यास के कुछ भी फल नहीं लाता। प्रणविद्या का ज्ञान इसलिए आवश्यक है कि उससे प्राणों को वश में लाया जा सके। इसलिए वेदाभ्यास के साथ ही उसे तीन प्राणायाम नित्य करने की शिक्षा मिलती है। तप ब्रह्मचर्य का मूल है और मनु भगवान् कहते हैं कि (प्राणायामः परंतपः) प्राणायाम ही बड़ा तप है। प्राणों को वश में करने से ही मन वश में आता है। और तब इंद्रियां डावांडोल नहीं होतीं मन की एकाग्रता से ही संसार का यथार्थ दर्शन होता है। डावांडोल मन संसार के वास्तव्य को नहीं समझ सकता। संसार का वास्तविक स्वरूप देखने के लिए निश्चल मन की आवश्यकता है। जब लोक-संग्रह ब्रह्मचारी का परम अधिकार है तो उससे पहले उसे लोक का यथार्थ स्वरूप मालूम होना चाहिए। वेद विद्या की प्राप्ति का फल प्राणविद्या में प्रवेश और प्राण विद्या द्वारा प्राणों को वश में करने का फल जगत् के वास्तविक स्वरूप को जानना है।

लोक के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान किसलिए चाहिए ? इसलिए कि उस लोक के ठीक (लोकृ–दर्शने) दर्शन हो सकें। रूप से विमोहित होकर मनुष्य व्याकुल पागलों की भांति उसी की ओर टकटकी लगा देते हैं। परंतु प्राणों को वश में कर के ब्रह्मचारी विचार करता है—क्या अस्थी, मज्जा और चर्मादि की यह चमक है जो सुंदर मानवी चेहरे को दहका रही है ? क्या जड़ प्राकृतिक जिह्वा के अंदर वह लालित्य है जो सहस्रों को मूर्छित कर देता है ?- क्या पत्थर, पानी और पोल के अंदर वह घटा छिपी हुई

है जो हिमशिला की ओर स्वभावतः मनुष्यों की बाहरी आंखों को आकर्षित कर रही है ? प्राण के विजेता ब्रह्मचारी की अंदर की आंखें खुल जाती हैं और वह देखता है कि जड़ में सौंदर्य नहीं है। जिस प्रकार चंद्रादि लोक सूर्य से प्रकाश प्राप्त करके ही प्रकाशित होते हैं, इसी प्रकार सारी प्रकृति सौंदर्य को किसी अन्य उच्च शक्ति से धारण करती है। सारा सौदर्य उस प्रभु का है जो सबसे ऊंचा स्थित, सबमें व्यापक होकर सबको प्रकाश दे रहा है—जो सूर्य लोकों का भी द्योतक तथा देव और ऋषि महात्माओं के हृदयों का भी प्रकाशक है।

ऐसी निर्मल बुद्धि को लेकर ब्रह्मचारी दीक्षा से व्रत का अधिकारी बनता है तब उसे बाहर के प्रलोभन अपनी ओर नहीं खींच सकते। मोक्ष-स्वरूप परमात्मा के अंदर जब आत्मा स्थित हो गया तब अडोल हो जाता है। यही उसका अपूर्व गर्भ है। जब इस गर्भ में स्थिति हुआ तो बाहर की 'सुध-बुध' भूल जाता है। हर मुल्क और हर समय में आदर्श विद्यार्थी उसी को माना जाता रहा है जिसका विद्या प्राप्ति की धुन में बाहरी दुनिया के साथ कोई संबंध नहीं रहता। जिसने बालों की दासता, वस्त्रों की दासता, चटोरी ज़बान की दासता और गोष्ठी की दासता में समय और शारीरिक बल को नष्ट किया है वह सावित्री माता के गर्भ में कभी गया ही नहीं।

जिस प्रकार हाथ-पैरादि अवयव बन जाने पर प्राकृतिक माता के गर्भ में बालक हाथ-पैर मारने लगता है और बुद्धिमती माता उसे धार्मिक पिता की सहायता से शांत कर देती है इसी प्रकार जब सावित्री माता के गर्भ में ब्रह्मचारी जल्दबाज़ी से कुछ व्याकुल होने लगता है तो आचार्य की सहायता से विद्यामाता उसे सावधान कर देती है। यह गर्भ का समय बड़ा नाजुक है, विशेषतः आरंभ का समय। जब आरंभ के पांच मास व्यतीत हो जाए तो फिर माता संतान की ओर से निश्चिंत हो जाती है। इसी प्रकार जब ब्रह्मचारी गुरुकुल निवास के पहले दस वर्षों के अंदर से सही सलामत गुजर जाए तो जहां वेद विद्या पर उसका विश्वास हो जाता है वहां आचार्य भी उसकी रक्षा से अपेक्षया निश्चिंत हो जाता है। जब इस प्रकार सुरक्षित ब्रह्मचारी जन्म लेकर द्विजन्मा बनता है तब निसन्देह वह (इंद्र) पद का अधकिारी होता है।

'इंद्र' कौन है ? मानवी बनावट के अंदर ही देव और असुर दोनों हैं। ज्ञानेंद्रिय देव हैं, क्योंकि जीवात्मा जितना भी ज्ञान उपार्जन करता है वह इन्हीं के द्वारा अंदर पहुंचता है। काम, क्रोध, मद, मोह, लोभादि असुर हैं और वे भी कहीं बाहर से नहीं आते। देवभाव के उलट जाने से अंदर ही इनकी उत्पत्ति होती है। इंद्रियरूपी देवों को जब जीवात्मा वश में कर लेता है तब उसकी 'इंद्र' संज्ञा होती है और अविद्या रूपी विरोचन (विगत प्रकाश) काम, क्रोधादि को उत्पन्न करके विषयों में जीवात्मा को इंद्रियों का दास बना लेता है तभी उसकी मनुष्य से भी नीचे राक्षस संज्ञा हो जाती है।

ब्रह्मचर्य का अंतिम उद्देश्य यह है कि ब्रह्म (वेद और परमेश्वर) तेज धारण

करके संसार का कल्याण किया जाए और यह नहीं हो सकता जब तक कि काम-क्रोधादि के दलों को केवल भगा ही न दिया जाए प्रत्युत उनको 'दग्धबीजवत्' नष्ट भी न कर दिया जाए।

ब्रह्मचर्य का आदर्श इस समय लोप हो रहा है, संसार इसलिए भोग और स्वार्थ के जल में फंस रहा है। इस फांस को काटकर जनता को मुक्त कराना इस समय का सबसे बड़ा काम है। क्या माता के गर्भ में कोई ऐसा बालक रक्षा पा रहा है ? उत्तर की प्रतीक्षा करनी चाहिए।

शब्दार्थ

(ब्रह्म) वेद विद्या (प्राणः) प्राण विद्या (लोकम्) दृश्यमान जगत् और (परमेष्ठिनम्, विराजम्, प्रजापतिम्) सबसे ऊंचे स्थित, सबके प्रकाशक, प्रजा पालक (परमात्मा) को (जनयन्) प्रत्यक्ष करते हुए (ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी ने (अमृतस्य योनौ गर्भः भूत्वा) मोक्ष प्रदायनी बह्मविद्या (सावित्री) रूपी योनि में गर्भ रूप होकर और (हे इन्द्रः-भूत्वा) और निस्संदेह इंद्र होकर (असुरान् ततह) असुरों को नष्ट किया है।

8

आचार्यस्ततक्ष नभसी उभे इमे
उर्वी गंभीरे पृथिवीं दिवं च।
ते रक्षति तपसा ब्रह्मचारी
तस्मिन् देवाः संमनसो भवन्ति।।8।।

अर्थव., कांड 11, अ. 3, सूक्त 5, 8

मंत्र सार

स्वयं प्रकाशमान तथा प्रकाशमानों से प्रकाशित—दो ही प्रकार के श्लोकों से जड़ित यह अंतरिक्षरूपी अथाह समुद्र है। ये दोनों प्रकार के लोक एक ही नियम में परस्पर ग्रथित हैं। जहां एक सौर नक्षत्र के सब अङ्ग एक-दूसरे को अपनी ओर खींच लें और एक सूर्य के गिर्द एक ही नियम से चक्कर लगाने पर अपनी स्थिति स्थिर रख सकते हैं, वहां असंख्यात सौर नक्षत्र एक बड़े नक्षत्र के गिर्द चक्कर लगाते हुए ही शायद, आकाश की शोभा बढ़ाते रहते हैं। इनमें से हमारी पृथ्वी अप्रकाशमान लोकों की प्रतिनिधि रूप से तथा हमारा सूर्य प्रकाशमान लोकों के प्रतिनिधि रूप से ही सारी भौतिक विद्या के स्रोत हैं। इन दोनों की विद्या को ब्रह्मचारी के लिए आचार्य ही प्रकाशित करता है। विस्तृत फैली हुई पृथ्वी और मानवी आंखों के लिए गंभीर सूर्यलोक विद्यार्थी की दृष्टि में एक अचंभा सा दिखाई देते हैं जब तक कि आचार्य का उपदेश उसके लिए उनके रहस्यों को खोल कर नहीं सुलझा देता। आचार्य (अर्थात् ब्रह्मचर्य पूर्वक ब्रह्मचारी की इच्छा करने वाला) ही सचमुच पृथ्वी और सूर्य को ब्रह्मचारी के लिए आकृति देने वाला है।

आचार्य ने 'द्यावापृथिवी' का यथार्थ ज्ञान ब्रह्मचारी को दे दिया; परंतु फिर भी क्या उस ज्ञान से ब्रह्मचारी स्थिर लाभ उठा सकता है। बिजली चमक जाती है, कुछ काल के पीछे फिर चमक जाती है। परंतु क्या इससे मनुष्य मात्र को कुछ भी लाभ मिला। अमेरिका में 'बैन्जमिन् फ्रैंक्लिन' से पहले कितनी बार पहाड़ों पर और जङ्गलों में बिजली चमकी, परंतु सिवाय इसके कि वहां की बालबुद्धि प्रजा आश्चर्यचकित होकर मुंह बाय दे, उसका कुछ भी परिणाम न हुआ। परंतु 'फ्रैंक्लिन' ने उसी

आकाशव्यापिनी विद्युत् को पृथ्वी पर जंजीरों में पकड़ लिया और आज बलवती विद्युत् दिमाग़ रखने वाले निर्बल से निर्बल मनुष्य की भी दासी बनी हुई है। आकाश से उतार कर पृथ्वी तल पर बली विद्युत् को बंदीगृह में फ्रैंक्लिन ने किस शक्ति के आधार पर डाला। निस्संदेह वह तप की ही उत्कृष्ट शक्ति थी। उस तप की शक्ति से आज तक प्रकृति के प्रबल से प्रबल चमत्कारों को क्रियावान् विद्वान् काबू करते रहे हैं। तप की शक्ति बड़ी है। आचार्य से मिली हुई शिक्षा को दृढ़ता सेधारण करने के लिए तप की ही आवश्यकता है।

एक ही प्रकार का बीज विविध भूमियों में बोया जाता है। सब स्थानो में एक सी ही उपज नहीं होती। इसका कारण क्या है ? इसका कारण यही है कि उन भूमियों में शक्तिभेद है। एक ही आचार्य के पास बहुत से विद्यार्थी शिक्षा पा रहे हैं। परिणाम में वहां भी बहुत बड़ा भेद पड़ जाता है। जहां एक विद्यार्थी मूर्ख का मूर्ख रह जाता है वहां दूसरा मौलिक सिद्धांतों का आविष्कार करने वाला सिद्ध होता है। यह भेद क्यों ? यहां तप का अभाव वा भाव ही मुख्य कारण है। विद्यारूपी बीज सबके लिए एक सा खुला है और एक ही प्रकार शिक्षा का हल चला कर उसे बुद्धिरूपी खेतों में बोया जा रहा है। परंतु जहां तप नहीं वहां पहले तो बीज उगता ही नहीं और यदि उगता भी है तो ठीक उपज नहीं होती। आचार्य का परिश्रम तभी फलीभूत होता है जब कि ब्रह्मचारी के अंदर तप का साधन जागृतावस्था में हो।

एक ही गुरुकुल में, एक ही आचार्य की संरक्षता में, एक ही प्रकार के उपाध्यायों से शिक्षा पाते हुए क्या कारण है कि कोई उत्तम ब्राह्मण बनता है, कोई वीर प्रजापालक क्षत्रिय बनता है, कोई वैश्य बनता है और कोई शूद्र भी नहीं बन सकता। यहां भी तप ही असमानता का कारण है।

आचार्य जो ज्ञान देता है ब्रह्मचारी तप से उसकी रक्षा करता है। जिस वैदिक ज्ञान के संसार में प्रसरण का कारण भी तप ही है, उसके विस्तार की रक्षा का मूल साधन भी तप ही हो सकता है। ब्रह्मचर्य का भीषण व्रत भी तप के चट्टान पर ही स्थिर रह सकता है। तब आचार्य के लिए उत्तम गुरुदक्षिणा यही है कि जो ज्ञान उसने शुद्ध हृदय से ब्रह्मचारी को दिया है उसकी रक्षा ब्रह्मचारी तप द्वारा करे। उसका फल क्या होगा ? उस ब्रह्मचारी में सब देवता एक-मन होंगे अर्थात् उसके जीवन में विघ्नकारी न होंगे प्रत्युत सहायक होंगे। आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य तथा इंद्र और प्रजापति उसके वश में होंगे। आग और पानी, हवा और सूर्य, प्राण और मन, विद्युत और यज्ञ–सभी उसके वश में होंगे। उसके लिए लोक-लोकांतरों के पर्दे उठ जाएंगे और वह प्रत्येक प्राकृतिक वस्तु के निज स्वरूप को देखता हुआ आत्मिक जगत् में भी राज्य करने के योग्य बन जाएगा।

तप की कैसी महिमा है ? जो तप आह्लाद से भी ऊपर उठाकर, परमानंद शांत अवस्था तक पहुंचा सकता है, जो तप दुःखों के गंध को भी समीप आने से रोक

देता है, जो तप अपने स्वरूप को पहचानने के योग्य बनाता है—उस तप से मुक्त होने को ही जो नराधम स्वर्ग का साधन समझते हैं, वे ब्रह्मचर्य तथा विद्यार्थी-जीवन के गौरव को समझ ही नहीं सकते। 'सुखार्थिनः कुतो विद्या, विद्यार्थिनः कुतोः सुखम्।' विद्या तपस्वी के लिए है, सुखी के लिए नहीं। स्वर्ग की कामना से जो यह करते हैं वे अनुभव के बाद स्वयं तपस्वी हो जाते हैं। परमपिता संसार भर के विद्यार्थियों को तप के लिए प्रेरित करें यह संन्यासी की हार्दिक प्रार्थना है।

शब्दार्थ

ब्रह्मचारी के लिए (उभे इमे नभसी) इन दोनों परस्पर बंधे हुए (उर्वी गंभीरे पृथिवीम् दिवम् च) विस्तृत तथा गहरे इन पृथ्वी और सूर्य को (आचार्यः ततक्ष) आचार्य ही आकृति देता है। (ब्रह्मचारी तपसा ते रक्षति) उन दोनों की ब्रह्मचारी तप से रक्षा करता है। (तस्मिन् देवाः संमनसः भवन्ति) उस ब्रह्मचारी में सब देवता एक मन होते हैं।

9

इमां भूमिं पृथिवीं ब्रह्मचारीः
भिक्षामाजभारं प्रथमो दिवं च।
ते कृत्वा समिधावुपास्ते,
तयोरार्पिता भुवनानि विश्वा।।

अथर्व., कांड 11, सूक्त 5, मंत्र 9।

मंत्र सार

सब दानों में ब्रह्मविद्या का दान ही श्रेष्ठ है। कूप, तड़ागादि, वस्त्र भोजनादि—सब दानों में ब्रह्मदान ही उत्तम है। मनुस्मृति में कहा है—

सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते।
वार्यन्नगोमहीवासस्तिलकांचनसर्पिषाम्।।

जल, अन्न, गाय, भूमि, वस्त्र, तिल, सोना, घी—इन दानों से ब्रह्म अर्थात् वेदविद्या का दान अधिक विशेष है। आचार्य ही वेद विद्या का दान देता है। वेद की पढ़ाई में; ब्रह्मविद्या के अध्यापन में भी यदि टकापंथ ही चला तो फल कुछ नहीं होगा। विद्या कोई भी हो, उसका अध्ययन ब्रह्मविद्या द्वारा तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिए होना ही श्रेयस्कर है और उस ब्रह्मविद्या का सौदा नहीं हो सकता। उसका निष्कामता से दान ही हो सकता है। जो टकों के बदले पढ़ाता है वह टीचर हो, प्रोफेसर कहलाए, प्रिंसिपल भी प्रसिद्ध हो, परंतु वह आचार्य नहीं बन सकता। आचार्य बनने के लिए पहला स्वाभाविक गुण यह होना चाहिए कि निष्कामता की पराकाष्ठा पर पहुंच जाए। धन कमाने वाला बनिया आचार्य नहीं बन सकता, शारीरिक दंड देने वाला क्षत्रिय भी आचार्य नहीं बन सकता, फिर शूद्र का तो कहना ही क्या है। आचार्य बनने के लिए 'ब्राह्मण' का ही अधिकार है। और ब्राह्मण को वेद में शरीर के मुख्य भाग से उपमा दी है। उस भाग में प्राण हैं जो सारे शरीर को अपने दान से पुष्ट रखता है। प्राण की महिमा इसीलिए बहुत अधिक की गई है। उपनिषदों से आगे बढ़कर अथर्ववेद तक में प्राण की बड़ी प्रशंसा है। यहां तक कहा है कि सारे ब्राह्मण का आधार प्राण ही है—

प्राणस्येदं वशे सर्वं त्रिदिवे यत्प्रतिष्ठितम्।
मातेव पुत्रान् रक्षस्व श्रीश्च प्रज्ञां च विधेहि न इति।।

माता जैसे संतान की रक्षा करती है वैसे ही प्राण शरीर के सर्व अंगों तथा प्रत्यंगों की रक्षा करता है। इसी प्रकार मनुष्य समाज रूपी पुरुष की बनावट में ब्राह्मण ही सबका आधार है। ब्राह्मण ही आचार्य हो सकता है। ब्राह्मण यद्यपि दूसरों की कमाई का अन्न-जल ग्रहण करके पलता है तथापि मनुस्मृति में सब कुछ (जो भी संसार में है) ब्राह्मण का ही बतलाया है—'सर्वस्व ब्राह्मणस्येद यत्किंचिज्जगतीगतम्' और फिर कहा है—

स्वमेव ब्राह्मणो भुङ्क्ते स्वं वस्ते स्वं ददाति च।
आनृशंस्याद् ब्राह्मणस्य भुञ्जते हीतरे जनाः।।

ब्राह्मण भोजन करे, पहिरे वा देवे, सो सब ब्राह्मण का अपना ही है। दूसरे लोग जो भोजनादि करते हैं वह केवल ब्राह्मण की कृपा है।

सारा संसार ब्राह्मण के दान से ही पलता है। उस दानशील श्रेष्ठ ब्राह्मण आचार्य से ब्रह्मचारी पहली भिक्षा में प्रत्यक्ष, विस्तृत भूमि का ज्ञान उपलब्ध करता है। तृण से लेकर पृथ्वी पर्यन्त का ज्ञान आचार्य पहले देता है। वह एक समिधा हुई। परंतु एक हाथ से ताली नहीं बजती। दो के बिना पूर्ति नहीं होती। पृथ्वी प्रत्यक्ष है, इंद्रियग्राह्य है परंतु उसके अंदर के रहस्य बिना विशेष प्रकाश के समझ में नहीं आते। तब आचार्य ब्रह्मचारी को परोक्ष ज्ञान देता है। पृथ्वी से उसको 'द्युलोक' में ले जाता है। भौतिक सूर्य से लेकर आत्मा तक को प्रकाश देने वाला, 'प्रकाश स्वरूप' तक ले जाता हुआ आचार्य शिष्य के लिए भिक्षा पूरी कर देता है। इस परिशिष्ट दान को प्राप्त करके ब्रह्मचारी 'समित्पाणि' होकर गुरु के दरबार की ओर चलता है, क्योंकि आचार्य से मिली भिक्षा भीं निन्दनीय नहीं—वह भी सराहनीय है, कल्याणकारी है। परंतु 'स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्' उस गुरुओं के भी गुरु, पूर्व आचार्यों के भी आचार्य, जिसके लिए भूत और भविष्यत् कोई अस्तित्व नहीं रखता—उस परम गुरु से भिक्षा प्राप्त किए बिना ब्रह्मचारी अपने परम उद्देश्य को प्राप्त नहीं होता। आचार्य से प्राप्त किया हुआ दान उसे अगले दान का अधिकारी मात्र बनाता है। पृथ्वी और द्यौ के ज्ञान रूपी दो समिधाओं को श्रद्धांजली रूपी दोनों हाथों में लेकर ब्रह्मचारी उस परमतत्व के समीप पहुंचता है। इन्हीं दोनों समिधाओं पर सब लोक आश्रित हैं। वहां पहुंचकर ब्रह्मचारी सब देवों, प्रकाशकों, ब्रह्मांड के चलाने वाली शक्तियों को एक ही वीणा की तार बनी हुई, एक ही स्वर से अलापते सुनता है। वहां पहुंचकर द्वंद्व से मुक्त होता है और अपने आचार्य के लिए सच्चे धन्यवाद का भाव उसके हृदय में उत्पन्न होता है।

संसार सच्चे आचार्यों के बिना पीड़ित हो रहा है। उस का अशांत हृदय सच्चे पथ-दर्शकों के बिना व्याकुल हो रहा है परंतु उधर से आशाजनक शब्द भी सुनाई

देता है। शिकायत यह है कि अच्छे विद्यार्थी नहीं मिलते। किंतु शिकायत करने वाले यह भूल जाते हैं कि सच्चे आचार्य दुर्लभ हो गए हैं। जिस वेद का उपदेश ऊपर दिया गया है। उस वेद का प्रचार जिस देश में खुला था और जिसके आचार्यों के चरणों में बैठकर सदाचार की शिक्षा लेने अन्य देशों के लोग आते थे, उसी देश में जब आचार्यों का अभाव है तो और किसी स्थान से क्या आशा हो सकती है। नवीन ट्रेनिंग कॉलेज ऐसे आचार्य उत्पन्न करने में अशक्त हैं। जहां दिन-रात आचार्यों के वेतन बढ़ाने का प्रश्न उठाकर बनियों का सा सौदा किया जाता है—उन शिक्षणालयों से आशा रखना व्यर्थ है। हे परमगुरो ! तुम्हीं अपने शिक्षणालय के अंदर इस देव-निर्मित भूमि के विद्वानों को खींच लो, जिससे वे सांसारिक कामनाओं पर विजय प्राप्त करें और ब्रह्मविद्या का दान देने की शक्ति धारण करके विस्तृत भूमि और प्रकाश की शक्तियों की समिधा ब्रह्मचारियों के हाथों में देकर उन्हें विविध शक्तियों के एकत्र करने के लिए केंद्र बना सकें।

शब्दार्थ

(ब्रह्मचारी प्रथमः) ब्रह्मचारी पहले (इमाम् पृथिवीं भूमिं भिक्षाम् आज भार) इस विस्तृत भूमि को शिक्षा में आहरण करता है, (दिवं च) फिर द्युलोक को। और (समिधौ कृत्वा उपासते) उन दोनों को समिधा बना कर उपासना करता है। (तयोः विश्वा भुवनानि अर्पिता) उन दोनों में सब लोक आश्रित हैं।

10

अर्वागन्यः परो अन्यो दिवस्पृष्ठाद्,
गुहानिधी निहितौ ब्राह्मणस्य।
तौ रक्षति तपसा ब्रह्मचारी तत्,
केवलं कृणुते ब्रह्म विद्वान्।।

अथर्व., कांड 11, अ. 3, सूक्त 5, 10।

मंत्र सार

ब्रह्मचारी किस से भिक्षा ग्रहण करता है ? इस पर लिखते हुए पीछे कहा जा चुका है कि वेद विद्या का दान ही सब दानों में श्रेष्ठ है और वह आचार्य ही दे सकता है। इसलिए ब्रह्मचारी को आचार्य से ही भिक्षा लेनी चाहिए। उस पहली द्यौ और पृथ्वी (स्वप्रकाशमान तथा दूसरों से प्रकाशित) लोकों की विद्या रूपी भिक्षा प्राप्त करके ही ब्रह्मचारी को संतुष्ट न हो जाना चाहिए, क्योंकि वे सब तो 'परमोद्देश्य की प्राप्ति' के केवल साधन मात्र हैं। आचार्य की हृदय रूपी गुफा में केवल एक ही ख़ज़ाना नहीं है, उस गुफ़ा के अंदर एक और कोष भी है जिसका पता ब्रह्मचारी को तब ही लग सकता है जबकि वह पहली भिक्षा को पचाने योग्य बन जाए। तप-पूर्वक गुरुकुल में निवास करता हुआ ब्रह्मचारी द्यौ और पृथ्वी—दोनों प्रत्यक्ष लोकों की विद्या प्राप्त कर लेता है। लोकृ दर्शने—प्रत्यक्ष होने से ही तो ये सब लोक कहलाते हैं। परंतु इन प्रत्यक्ष लोकों से परे, इनसे भी ऊंचा एक पद है जिसकी प्राप्ति ही जीवन का परमोद्देश्य है। भौतिक पृथ्वी को भौतिक सूर्य प्रकाशित करता है, परंतु हृदय मंदिर को प्रकाशित करने का अधिकार आत्मिक सूर्य को ही है। जो कि जीवात्मा को भी मंदिर बनाकर उसे प्रकाशित करता है और भौतिक इंद्रियों से अगम्य है। इसी भाव की व्याख्या उपनिषद् में की है—

य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरम्।
आत्मनोऽन्तरं यमयति स त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः।।

जो परमात्मा जीवात्मा में स्थित और जीवात्मा से भिन्न है, जिसको जीवात्मा नहीं जानता कि वह मुझमें व्यापक है, जिस परमात्मा का जीवात्मा शरीर है, जो उसे

नियम में रखता है, वही अविनाशी स्वरूप तेरी भी आत्मा है उसको तू जान।

पृथ्वी और द्यौ की प्रत्यक्ष विद्या आचार्य की हृदय रूपी गुफ़ा में एक कोष है, परंतु इनसे भी परे परोक्ष दूसरा ख़ज़ाना है। यदि ब्रह्मचारी देवमंडल में शामिल होना चाहता है, अर्थात् वह यह चाहता है कि विद्याव्रत-स्नातक बनकर जब वह गुरुकुल से लौटे तो देवगण उसकी अगुआई करें, तो उसे प्रत्यक्ष से परे परोक्ष विद्या के लिए आतुर होना चाहिए—''परोक्षप्रिया हि देवाः।'' जब प्रत्यक्ष विद्या के लिए तप की आवश्यकता है तो परोक्ष ब्रह्मज्ञान के लिए उससे भी बढ़कर तप की आवश्यकता है। मानसिक-तप बड़ा कठिन है परंतु उतना ही अधिक बल देने वाला भी है। पृथ्वी और द्यौ की अपरा विद्या, साधर्न मात्र होने से गौण है, उससे ऊपर परा विद्या मुख्य है क्योंकि वह परमोद्देश्य तक पहुंचा देती है। उस मुख्य विद्या की रक्षा ब्रह्मचारी तप से करता है।

तब वह ब्रह्म को जानता हुआ केवल उसी का ही रहता है। यही कैवल्य है। प्रसिद्ध लोकोक्ति अब तक चली आती है—'गुरु बिनु ज्ञान न पावे भोला चेला'—गुरु के बिना ज्ञान नहीं और 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः'—और ज्ञान के बिना अविद्या के बंधनों से छूटना नहीं होता। इसलिए गुरु की आवश्यकता है। वह हमारे अंदर है, बाहर है, उससे सारा ब्रह्मांड आच्छादित है; परंतु जब तक हृदय के अंदर उसे देख न लें तब तक समीप होते हुए भी हम सब उससे दूर हैं। इन्हें दर्शनों के लिए गुरु की ज़रूरत है। उस प्रकाश स्वरूप की झलफ तो बिजली की चमक की तरह कभी न कभी मूढ़ पुरुष भी देखता है; परंतु उस झलक के ओझल होने पर फिर से भूल जाता है। उसके दर्शन आचार्य की कृपा के बिना नहीं होते। परंतु जब एक बार सचमुच दर्शन हो जाएं और जीवात्मा 'अपने प्रभु को चीन्ह लेवे' तब वह उसी का हो रहता है। फिर आचार्य की सहायता की आवश्यकता नहीं रहती। प्रधान आचार्य की संरक्षता में जाकर साधारण आचार्य की क्या जरूरत है ? प्राणी तब उसी का हो रहता है।

उसी का हो रहने का मतलब क्या है ? क्या प्राणी की क्रिया बंद हो जाती है ? क्या वह कर्म छोड़ देता है ? कर्म तो किसी अवस्था में भी छूट नहीं सकते, हां कर्मफल को वह त्याग देता है। जिसका हो रहा है, सब कर्म उसी के अर्पण करता है। वह इसलिए कर्म नहीं करता कि उसे कर्म का फल मिलेगा। वह यह नहीं देखता कि उसके शरीर तथा उसकी इंद्रियों को उस कर्म से क्या लाभ होगा; कर्म करने के लिए उसके पास एक ही कसौटी है—'क्या उस कर्म से वह उससे दूर न हो जाएगा ? जिसका वह हो रहा है'—निस्संदेह जो कुछ भी उसके गुण, कर्म, स्वभाव के अनुकूल है वही कर्त्तव्य है, जो उसके प्रतिकूल है वही अकर्त्तव्य है। इसीलिए तो अपने शिष्य अर्जुन को कृष्ण भगवान् ने उपदेश दिया था—

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं, बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं, गहना कर्मणो गतिः।।

कर्म क्या है ? विपरीत कर्म क्या है ? और कर्म न करना क्या है ? यह जाना चाहिए, क्योंकि कर्म की गति गहन है। बिना कर्म एक क्षण भी प्राणी जी नहीं सकता, और मुक्ति का आनंद और परमात्मा की समीपता को भी बिना प्रयत्न के स्थिर नहीं रखा जा सकता। तब कर्म का सर्वथा त्याग तो हो ही नहीं सकता। फिर बचाव इसी में है कि वह उसका हो रहे जिसका स्वरूप ही पथदर्शक है और जिसकी समीपता मनुष्य को 'अकर्म' और 'विकर्म' के दुखदायी मार्ग से अलग करके कर्त्तव्य कर्मों का बोध सदा कराती रहे। संसार को ऐसे आचार्यों की आवश्यकता है, जो स्वयं नित्य उसके सहवास में रहते हुए अपने शिष्यों को उसी का बना देवें। इस पद के जो अधिकारी हैं उनके लिए ही ब्रह्मचारी कहलाना शोभा देता है, और जब ऐसे ब्रह्मचारियों को संख्या संसार में बढ़ती है तभी संसार का कल्याण होता है।

शब्दार्थ

(अर्वाक् अन्यः) एक समीपवर्ती (दिवः पृष्ठात् परः अन्यः) द्युलोक के उपरले भाग से परे दूसरा (ब्रह्मणस्य निधी गुहा निहितौ) ब्रह्मज्ञान के दो कोश आचार्या के हृदयरूपी) गुफा में संगृहीत हैं। (तौ ब्रह्मचारीतपसा रक्षति) उन दोनों की ब्रह्मचारी तप से रक्षा करता है और (ब्रह्म विद्वान् तत् केवल कृणुते) ब्रह्म को जानता हुआ उसकी केवल आराधना करता है।

11

अर्वागन्य इतो अन्यः पृथिव्या
अग्नी समेतो नभसी अन्तरेमे।
तयोः श्रयन्ते रश्मयोधि दृढ़ा
स्ताना तिष्ठति तपसा ब्रह्मचारी ।।

अथर्व., कांड 11, अ. 3., सूक्त 5. 11

मंत्र सार

दो तेज हैं जो एक दूसरे से संबद्ध हैं। एक पृथ्वी की ओर जाता है और दूसरा उससे परे। एक प्रत्यक्ष प्राकृतिक जगत् पर प्रकाश डालता है और दूसरा परोक्ष आत्मिक जगत् पर। ये दोनों तेज बीच में ही एक-दूसरे से मिल जाते हैं। इनको मध्य में मिलाने वाला कौन है ?—"यतोऽभ्युदयानिःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः।" जिससे इस लोक तथा परलोक के सुख की सिद्धि होती है वह धर्म है। इसी धर्म ने दोनों तेजों को एकीभूत किया है। जिससे अभ्युदय सिद्ध होता है वही निःश्रेयस को भी प्राप्त करता है। दोनों धर्म में ही दृढ़ होते हैं। जिसने इस लोक के पदार्थों को यथावत् स्वरूप दिया, तृण से लेकर पृथ्वी तक और पृथ्वी से लेकर द्युलोक पर्यन्त के दर्शन कराके मनुष्य को उनसे उपयोग लेने से योग्य बना दिया—वह पहली ज्योति, ज्ञान है। परंतु अकेले इस ज्ञान से काम न चलेगा, यह ज्ञान तो मनुष्य क्रियाशील है। जैसे कर्म वह इस जन्म में करता है वैसी ही स्थिति उसे आगामी जन्म में मिलती है। ज्ञान की आवश्यकता कर्म के लिए है और ज्यों-ज्यों मनुष्य कर्मशील होता जाता है त्यों-त्यों उसका ज्ञान निश्चयात्मक होता जाता है। यही अवस्था है जब ज्ञाता ज्ञेय पदार्थ के विषय में रहस्य की बातें जानने लगता है अर्थात् उसके समीप पहुंचता है।

वही ज्ञान मंज कर विज्ञान की शकल में दूसरी ओर चलता है। उसके आगे परलोक है, वहां ज्ञान नहीं पहुंच सकता। उस उच्च पद की ओर दृष्टि उठाकर ज्ञान की पगड़ी गिर जाती है। तब मंजा हुआ ज्ञान अति सूक्ष्म होकर आगे चलता है, आत्मिक दर्शन उसी के द्वारा होते हैं। आत्मदर्शन होते ही सांसारिक पदार्थों पर भी नया प्रकाश पड़ता है। जो प्राकृतिक वस्तुएं केवल अपना बाह्य स्वरूप ही द्रष्टा को

दिखलाती थी, वे अपने अंतरीय रहस्य भी उसके सामने खोल कर रख देती हैं उसी समय दोनों ज्योतियों—ज्ञान और विज्ञान—का मेल होता है, उस मेल का नाम ही धर्म है, और उसी से जो सिद्धि होती है वह इस लोक और परलोक दोनों को अपने अंदर समेट लेती हैं। उन दोनों का प्रकाश स्थिरता से दृढ़ हो जाता है। इस प्रकाश में बुद्धि डावांडोल नहीं होती। परंतु उस प्रकाश को एक रस दृढ़ रखना तप का काम है। ज्ञान और विज्ञान की किरणों का चक्र साधारण मनुष्य के हृदय पर भी अंकित हो जाता है। परंतु वहां उसकी स्थिति बिना तप के नहीं हो सकती। इस तप को धारण करके ज्ञान और विज्ञान को उसके अंदर स्थित करने की शक्ति ब्रह्मचारी में ही होती है। उन दोनों से ऊपर स्थित होना ब्रह्मचर्य व्रत और साधन की पराकाष्ठा है।

ज्ञान और विज्ञान दोनों को स्थिति का स्थान ब्रह्मचारी का विशाल और दृढ़ हृदय है। वह ज्ञान सार्थक नहीं, उलटा व्यक्तियों और जातियों को डुबाने वाला है, जिसका आधार ब्रह्मचर्य नहीं है। इसी वेद मंत्र की आज्ञा को लक्ष्य में रखकर आचार्य, उपाध्याय और अध्यापक का ब्रह्मचारी होना आवश्यक बतलाया गया है। मानसिक शिक्षा चाहे कितनी भी ऊंची हो संसार का कल्याण करने वाली नहीं होती यदि उसका फैलाने वाला ब्रह्मचारी नहीं। जिस देश और जिस समय में अब्रह्मचारी शिक्षक प्रधान हुए उस देश और उस समय में शिक्षा मनुष्यों के लिए हानिकारक सिद्ध हुई। यूनान और रोम जिस समय रसालल को पहुंचे उस समय सांसारिक विद्या की उनमें कमी न थी। स्पाटा में 300 योद्धा सहस्रों को मुंह मोड़ देने की शक्ति उसी समय में रखते थे जबकि उस नगर में बालक और बालिकाएं ब्रह्मचर्य का कठिन व्रत धारण किया करती थीं। राम के समय अयोध्या का जो वर्णन है, वह तभी संभव था जब कि राम, लक्ष्मण से राजपूत वसिष्ठ के आश्रम से ब्रह्मचर्य के नियम पालन की शिक्षा लेकर निकलते थे। दशरथ के समय की अयोध्या का वर्णन करते समय आदि कवि बाल्मीकि लिखते हैं—

तस्मिन् पुरे वरे हृष्टा धर्मात्मानो बहुश्रुताः
नरास्तुष्टाः धनै स्वैः स्वैरलुब्धाः सत्यवादिनः
कामी वा न कदर्यो वा, नृशंसः पुरुषः क्वचित्।
द्रष्टुं शक्यमयोध्यायां, नाविद्वान्न च नास्तिकः।।

"इस श्रेष्ठ पुरी में सब लोग हृष्टपुष्ट, बहुश्रुत, रोगरहित, सत्यवादी और अपनी ही कमाई से संतुष्ट थे। कामी, कंजूस, खुशामदी, अविद्वान् वा नास्तिक कोई भी ऐसा पुरुष अयोध्या में दिखाई न देता था। रामायण के इस वर्णन को भले ही कोई पुरुष अत्युक्ति कहे, परंतु जो चित्र राम, सीता और लक्ष्मण के ब्रह्मचर्य व्रत का कवि ने खींचा है उसका परिणाम इसी प्रकार की जनता हो सकती है। धन्य है वह देश जहां ज्ञान और विज्ञान के ऊपर पग धर कर अपने बल से तपस्वी ब्रह्मचारी उनको

संसार के कल्याण के लिए दृढ़ रख सकता है।

शब्दार्थ

(अग्नी इमे नभसी अंतरा समेतः) दो अग्नि, इन दोनों एक दूसरे से मिले हुओं के अधः प्रदेश में मिलती हैं–(अन्यः अर्वाक्) एक समीपवर्ती है। (अन्यः इतः पृथिव्याः) और दूसरी इस पृथ्वी से दूर है (तया रश्मयः दृढा अधिश्रयन्ते) उन दोनों की किरणें दृढ़ होकर अधिकारपूर्वक ठहरती हैं–(ब्रह्मचारीतपसा तान् आतिष्ठति) ब्रह्मचारी तप से उनके ऊपर बैठता है।

12

अभिक्रन्दयन् स्तनयन्नरूणः,
शितिङ्गो बृहच्छेपोनुभूमौ जभार।
ब्रह्मचारी सिंचति सानौ रेतः पृथिव्यां।
तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्रः।।

अथर्व., कांड 11, अ. 3, सूक्त 5, 12

मंत्र सार

पृथ्वी के उन्नत स्थानों में ही उपजाऊ शक्ति है। वह उपजाऊ शक्ति उनमें कैसे आई ? प्रलय समय में सत्व, रज और तम इन तीनों गुणों की साम्यावस्था में स्थित रहती है। इस अवस्था का नाम ही प्रधान वा प्रकृति रहता है। प्रलय की समाप्ति पर जब सृष्टि का समय आता है तो रज से ही उसमें हल चल उत्पन्न होती है। रज क्रिया का उत्पत्ति स्थान है, अचर्ल प्रकृति को वही चलायमान करता है और सत्य ज्ञान का उत्पत्ति स्थान है और वह उस क्रिया के कार्यों को समझने की शक्ति देता है। ज्ञान और क्रिया की उत्पत्ति ही सृष्टि की रचना के कारण हैं और इन्हीं के तिरोभाव पर सृष्टि का अंत होकर प्रलय होता है। ज्ञान ब्रह्म-धर्म है और क्रिया क्षात्रधर्म है। इनकी उत्पत्ति ही जगत् बनने का साधन है। इनका उद्गम परमेश्वर से है और अंत भी उसी में होते हैं–

''यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदने।
मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः।।'

श्वेत और रक्त वर्ण धारण किए अर्थात् ब्राह्म और क्षात्र (ज्ञान और क्रिया) का प्रसार करके नियन्ता का नियम ही 'चारों ओर शब्द करता और गरजता हुआ भूमि के अंदर उपजाऊ शक्ति' लाता है, अर्थात् उसको प्रकाशित करता है। परमेश्वर के अनादि नियम द्वारा ही जब-जब तीनों गुणों की सम्यावस्था हिल कर सृष्टि रूप में आती है तब ही महत्त्व से अकाश, आकाश से वायु, वायु से अगिन, अग्नि से जल, और जल से निकलकर पृथ्वी प्रकाशित होती है। उसके अंदर उपजाऊ शक्ति पूर्ववत् ही रहती है, परंतु भूमि के अंदर उपजाऊ शक्ति रहते हुए भी जब तक उसको

ठीक करके उत्तम बीज उसके अंदर नहीं गल जाता तब तक उसमें से अन्न, औषधियां आदि उत्पन्न नहीं होते और जब अन्नादि उत्पन्न नहीं होते तो न रेत बन सकता है न वीर्य बन सकता है और न ही मनुष्य सृष्टि बढ़ाकर आगे के लिए सृष्टि क्रम को जारी रख सकता है। वह बीज जिसने पृथ्वी में गलकर मनुष्य रूपी रत्न उत्पन्न करने के लिए वीर्य की बुनियाद डाली, अर्थात् उत्तम अन्न आदि औषधियों को पैदा किया, पहले पहल वह बीज पृथ्वी में कैसे आया ? उस बीज की पृथ्वी में स्थापना करने वाला वह अनादि ब्रह्मचारी है जो सारी सृष्टि में व्यापक होते हुए भी आप इससे प्रभावित नहीं होता; जो सारी सृष्टि को चलायामान करता हुआ आप अचल है; जो ब्रह्मांड के अंदर व्यापक होता हुआ भी उस ब्रह्मांड को बाहर से घेरे हुए है; जो रोम-रोम में रमते हुए भी स्थूल और सूक्ष्म दोनों इंद्रियों के ज्ञान से परे है।

''तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य वाह्यतः।।''

यजु., अध्याय 40, मंत्र 5।

वह स्वयं अनादि किंतु इस सृष्टि का आदि ब्रह्मचारी शिक्षा देता है कि जिस भूमि में उपजाऊ शक्ति है उसके अंदर फल लाने वाला बीज स्थापना करने की शक्ति ब्रह्मचारी ही में है। उत्तम से उत्तम उपजाऊ भूमि के अंदर वही किसान ठीक बीज बो सकता है और उससे उचित फल भी प्राप्त कर सकता है जिसकी इंद्रियां अपने वश में हों। जो स्वार्थी, भोगी प्रत्येक समय प्रलोभनों में फंसा रहता है, प्रथम तो उसमें इतना संतोष ही नहीं कि वह बोने के लिए बीज बचा सके और फिर यदि बीज को खराब करके बो भी देवे तो उसमें इतना साहस नहीं कि अंतिम फल आने तक प्रतीक्षा करे, वह कच्चे फल ही तोड़ने लग जाता है और न तब अपने आपको संतुष्ट कर सकता है और न ही संसार को कुछ लाभ पहुंचाता है। ब्रह्मचारी ही में इतना बल है कि वह कर्म करता हुआ फल भोग की इच्छा को त्याग दे। यदि ब्रह्मचारी ने चारों दिशाओं में अन्न, वनस्पति, औषधि उत्पन्न कर के जीवात्माओं को सीधा मार्ग दिखला दिया है। यदि कोई मनुष्य जीवित रहना चाहता है, तो तभी रह सकता है जब कि वह सारे संसार के जीवन स्थिर रखने में भाग ले, यह शक्ति ब्रह्मचारी में ही आ सकती है। इस मंत्र का अर्थ करते हुए सायणाचार्य को भी मानना पड़ा है कि ब्रह्मचारी ही राष्ट्र में सुकाल और वृष्टि का साधन है। वह बतलाता है—'यस्मिन् राष्ट्रे ब्रह्मचारी निवसति तत्र कालवृष्टिर्भवतीति तात्पर्यार्थः।'

वेद के टीकाकारों ने ब्रह्मचारी शब्द से मेघ का ग्रहण किया है। यह अर्थ अयुक्त नहीं है क्योंकि जिस मेघ की शक्तियां बिखरी हुई नहीं हैं, जिस मेघ ने एक प्रकार से संयम द्वारा सारे जल को एकत्रित कर लिया है और साथ ही जो समभाव से वर्षा करता है वही भूमि की उपजाऊ शक्ति को बढ़ाता है। परंतु यहां ब्रह्मचारी से मतलब वह खेती करने वाला पुरुष है जिसके पुरुषार्थ पर ही मनुष्यों की जीवन यात्रा

संभव है। जिस राष्ट्र में ब्रह्मचारी कृषक हैं सचमुच उस राष्ट्र में अकाल वृष्टि कभी नहीं होती और इसलिए उसकी सारी प्रजा सुखी रहती है। जिस देश के कृषिकारों के अंदर स्वार्थ-बुद्धि नहीं आती और वे कर्तव्य-परायणता के नियम पर ही खेती करते और अधिक से अधिक भूमि की उपज प्राप्त करके जनता में फैलाते हैं, उस राष्ट्र में कोई अन्य शक्ति भी उपद्रव नहीं कर सकती, क्योंकि भूमि-पति बनने का अधिकार उन्हीं को है जो कि भूमि से रत्न निकालने का परिश्रम करें। इसलिए यदि भूमि-पति ब्रह्मचारी हों तो राष्ट्र की रक्षा में क्या संदेह है।

शब्दार्थ

(अभिक्रन्दयन्, स्तनयन्, शितिङ्ग, अरुणः) चारों ओर शब्द करता गरजता हुआ श्वेत और रक्त वर्ण धारण किए (भूमौ बृहत् शेषः अनु जभार) वह, बड़ी उपजाऊ शक्ति भूमि में निरंतर लाया है। (ब्रह्मचारी पृथिव्याम् सानौ रेतः सिंचति) ब्रह्मचारी पृथ्वी के उन्नत स्थान में बीज सींचता है (तेन चतस्रः प्रदिशः जीवन्ति) उसी से चारों प्रधान दिशाएं जीवन यापन करती हैं।

13

अग्नौ सूर्ये चन्द्रमसि मातरिश्वन्,
ब्रह्मचार्याऽप्सु समिधमादधाति।
तासामर्चींषि पृथगभ्रे चरन्ति,
तासामाज्यं पुरुषो वर्ष आपः।।

अथर्व., कांड 11, अ. 3, सूक्त 5. 13

मंत्र सार

ब्रह्मचारी पहले अग्नि में समिधा डालता है। 'अग्नेर्वा ऋग्वेदोऽजायत' अग्नि से ऋग्वेद हुआ। ऋच् स्तुतौ-ऋचा इसलिए कहते हैं कि उस वेद के मंत्रों में तृण से लेकर पृथ्वी पर्यन्त तथा पृथ्वी से लेकर परमात्मा तक का साधारण ज्ञान दिया गया है। उस साधारण ज्ञानरूपी अग्नि को पहली समिधा से वह प्रदीप्त करता है। तब क्रमशः वह यजुर्वेद द्वारा, कर्मकांड द्वारा प्रथम प्राप्त किए साधारण ज्ञान को कर्म में बदल कर, जाने हुए द्रव्यों के समीप होता है अर्थात् उनकी उपासना करता है, जिससे उसे (विज्ञान) विशेष ज्ञान की प्राप्ति होती है। 'सूर्यात् सामवेदः' दूसरी समिधा से इस प्रकार ब्रह्मचारी विज्ञान रूपी सूर्य को प्रदीप्त करता है। तब तीसरी समिधा उसके अंदर त्याग वा विनय का भाव उत्पन्न करने वाली शांति रूपी है, जो वह चंद्र में छोड़ता है। उससे प्रभावित होकर वह चंद्रमा का गुण धारण करता है। तब चौथी दयारूपी समिधा की आहुति आकाशगामी पवन में देते ही वह ऊपर उठता है और वहां से पांचवीं समिधा द्वारा जलधाराओं (मंगल कामनाओं) की शीतल वृष्टि करके संसार को तृप्त करता है। यह अलंकार सीधा और स्पष्ट है।

ब्रह्मचारी की डाली हुई समिधा की आहुतियों से हिलाई हुई एक-एक शक्ति की किरणें अपनी-अपनी परिधि के अंदर बलवती होकर ब्रह्मचारी के अंदर इकट्ठी हो जाती हैं। जिस प्रकार सूर्य के उठाए हुए, विविध प्रकार के जलों के परमाणु सूर्य मंडल में ही इकट्ठे होकर पृथ्वी पर शीतल जलधारा छोड़ उसे तृप्त करते और उससे उत्तम अन्न औषधादि उत्पन्न करते हैं, इसी प्रकार ब्रह्मचारी की प्रदीप्त की हुई सब किरणें उसी में इकट्ठी होकर संसार में आनंद की लहरें चला देती हैं।

उसका प्रथम फल यह होता है कि पुष्टिकारक पदार्थों की कमी नहीं रहती। इस सच्चाई को इस समय भारतवर्ष में भली प्रकार अनुभव किया जा रहा है। पुष्टिकारक पदार्थ क्या है ? घी आदि जिनकी उत्पत्ति दूध से होती है। परंतु वह दूध शुद्ध अवस्था में अधिक परिणाम में उसी देश में उत्पन्न हो सकता है जहां ब्रह्मचारी निवास करते हों। भारतवर्ष में दूध की नदियां बहती थीं, जब यहां जीव हिंसा का अभाव था। फिर जब शिकारी राजपुरुषों (राजपूतों) तक ही मांस भक्षण सीमित रहा तब तक भी लाभदायक पशुओं की हानि न हुई और दूध, घी से प्रजा पुष्ट होती रही। परंतु ज्यों ही मांसाहारी, भोगी विदेशियों के चरण यहां आए और इन्होंने भारत प्रजा के शरीरों को ही नहीं वरन् उनकी बुद्धियों को भी दास बनाना शुरू किया, तब से ही क्रमशः यहां से दूध, घी का ह्रास होना आरंभ हो गया, यहां तक कि आज बच्चों को भी दूध नहीं मिलता। यहां तक ही नहीं, प्रत्युत भोगप्रधान जीवन बन जाने से माताओं ने अपने विषय भोग के गहरे प्रमोद में फंसकर अपनी संतान को अपने स्तनों के अमृत रूपी दुग्ध से भी वंचित कर दिया। जब आत्मा को पुष्ट करने वाला सात्विक भोजन नहीं रहा, तो फिर उत्तम संतान की उत्पत्ति कहां से हो सकती। भारत प्रजा की संतान पर एक दृष्टि डालने से ही पता लग जाता है कि ब्रह्मचर्य के अभाव ने उसकी क्या दुर्दशा कर दी है। बालक दूध के लिए तड़प रहे हैं और माता उनके दुःख से दुखी हो रही है; परंतु सहस्रों गाएं नित्य नरपिशाचों की उदर पूर्ति के लिए कट रही हैं। यह पिशाचलीला इसलिए देखने में आती है क्योंकि कामचेष्टा ने संसार को अंधा कर दिया है।

फिर जब सृष्टि पुरुषहीन हो रही हो, जब 'मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति' की उक्ति चरितार्थ हो रही हो, तो वृष्टि कहां से आवे और वर्षा के बिना जलाशय कहां से भरें ? और जब जलाशय सर्वथा सूख चुके हों तो संसार के अंदर स्नेह और प्रेम का जल हृदय रूपी वृक्षों को कैसे सींच सके। जिस पुष्टिकारक वीर्य से पुरुष की उत्पत्ति होती है जब उसका स्रोत ही ब्रह्मचर्य है तो फिर ब्रह्मचर्य के बिना यदि आज कल की सभ्यता विचारशील पुरुषों की दृष्टि में निर्जीव दिखाई दे तो क्या आश्चर्य है ? इस अंश में आज संसार की दशा कैसी शोचनीय है। जहां एक ओर अनावृष्टि सताती है तो दूसरी ओर वर्षा के आरंभ होने पर अतिवृष्टि का भय रहता है। मनुष्य के मनुष्यरूप धारण किए हुए होने पर भी पशुओं से भी नीचतर व्यवहार देखने में आते हैं। सभ्यता के सब अंगों के अंदर से पीप और लहू बह रहा है, परंतु उसके ऊपर बनावटी प्लास्टर करके उसको छिपाया जा रहा है। जहां घर के अंदर हाहाकार मच रहा है, वहां चिकनी चुपड़ी सूरतें दिखला कर संसार को भ्रम में डाला जा रहा है। धर्म और ब्रह्मचर्य के बिना संसार की वही दशा हो रही है जो मर्यादा पुरुषोत्तम राम के बिना सकल-समृद्धि-संपन्न अयोध्या की हो रही थी। इसी अवस्था को देखकर कवि गोसांई तुलसी दास की उक्ति को इस प्रकार परिवर्तित किया जा सकता है—

जिमि भानु बिन दिन, प्राण बिन तन,
चन्द्र बिनु जिमि यामिनी।
तिमि ब्रह्मचर्य प्रकास, गुरुकुलवास बिनु,
सब सभ्यता है भयावनी।।

शब्दार्थ

(ब्रह्मचारी अग्नौ, सूर्ये, चंद्रमसि, मातिरश्वन्, आप्सु, समिधम् आदधाति) ब्रह्मचारी अग्नि में, सूर्य में, चंद्रमा में, आकाशगामी पवन में, जल धाराओं में समिधा को सब प्रकार से डालता है। (तासाम् अर्चीषि पृथक् अभ्रे चरन्ति) उनकी किरणें जुदी-जुदी मेघ मंडल में चलती हैं और (तासाम् आज्यम् पुरुषः वर्ष आपः) उनसे श्री, पुरुष, वृष्टि और सब जलाशय हैं।

14

आचार्यो मृत्युर्वरुणः सोम ओषधयः पयः।
जीमूता आसन्त्सत्वानस्तैरिदं स्वराभृतम्।।

अथर्व., कांड 11, अ. 3, सूक्त 5, 14

मंत्र सार

आचार्य मृत्यु रूप होकर ब्रह्मचारी को पहला उपदेश देता है। कठोपनिषद् में यम (मृत्यु) और नचिकेता के संवाद द्वारा जिज्ञासु को पराविद्या का उपदेश बड़ी उत्तम विधि से दिया है। सच पूछा जाए तो कठोपनिषद् को 'आचार्यः मृत्युः' इतने वाक्य की ही व्याख्या कह सकते हैं। इस रहस्य को सायणाचार्य तक ने अनुभव किया है। तभी तो उन्होंने अपने भाष्य में किया है–'यो मृत्युर्यमः स नचिकेतसे ब्रह्मविद्यामुपदिश्य आचार्यः संपन्नः।'

पहला उपदेश आचार्य का ब्रह्मचारी के प्रति वह होता है जिससे शिष्य निर्भय हो जाय। 'अभिनिवेश' बड़ा भारी क्लेश है। मौत का डर ही मनुष्य को तप और कर्तव्यपरायणता से रोकता है। उस डर को आचार्य पहले दूर करता है। मन, वाणी और कर्म से जन्म को प्रकृति से आत्मा का योग और मृत्यु को उनका परस्पर वियोग दिखला कर पहले शिष्य को निर्भय करता है। बुद्धदेव के जीवन में 'मार' की और ईसामसीह के जीवन में 'शैतान के बहकाने' की कहानी इसी कठोक्त रूपक का विस्तार है।

आचार्य जीवन और मृत्यु के रहस्यों को खोलकर शिष्यों के सामने रख देता है। जो स्वयं मौत के डर से कांपता है वह इस रहस्य की घुंडी कैसे खोल सकेगा ? इसी प्रथम वयस को लक्ष्य में रखकर कवि ने कहा है–'दशवर्षाणि ताडयेत्।' पहली ताड़ना से शिष्य के अंदर असार वस्तुओं के प्रति पूरा वैराग्य उत्पन्न करके और अभ्यास से पुष्ट करा के आचार्य जल रूप होकर उसके पापों को धो डालता है। उसी बाह्य मैल को धोने के लिए महामुनि पातंजलि ने तप, स्वाध्याय और परमात्मा पर पूर्ण विश्वास को क्रियायोग रूपी मुख्य साधन बतलाया है–

तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः।

योग सूत्र 2. 1।

जब स्थूल पाप धुल जाएं, तब जिज्ञासु ब्रह्मचारी को सूक्ष्म मानसिक विकारों का ज्ञान होता है और उसके अंदर अनुताप की लहर चलती है, हृदय व्याकुल हो जाता है। उस समय सच्चा आचार्य चंद्रमा रूप होकर ब्रह्मचारी की उदासीनता को आशा में बदल देता है। तब शिष्य के अंदर आह्लाद भर जाता है। उस आह्लाद की अवस्था में शरीर की सुध नहीं रहती, अति की उसमें भी संभावना है। उस विकट दशा को टालने के लिए आचार्य रूप होकर ब्रह्मचारी की वृद्धि में सहायक होता है। भोजन छादन, रहन सहन की विधि बतला कर आचार्य ब्रह्मचारी के शरीर को भी वज्र के तुल्य कर देता है। इसी वेद में अन्यत्र आया है कि जब शिष्य गुरु के समीप समित्पाणि होकर जाए तो पहली भिक्षा यह मांगे—'मेरा शरीर चट्टान की तरह दृढ़ हो ज़ावे'। इसके लिए ऊपर कहा है कि दूध रूप होकर आचार्य अपने शिष्य ब्रह्मचारी के शरीर को पुष्ट करता है। यह सब कुछ आचार्य क्यों कर सकता है ? इसलिए कि जीवन के नियमों को उसने सिद्ध कर छोड़ा है। जिस कलाघर के अंदर से, ठीक क्रिया करके वह ब्रह्मचारी को सुडौल शरीर, इंद्रियां, मन और आत्मा का स्वामी बनाकर निकालना चाहता है उसमें स्वयं भी गुजर कर आया है। इसलिए तो संसार के बुद्धिमान् समझने लग गए हैं कि राजा के आयोग्य होने पर इतनी हानि की संभावना नहीं है जितनी आचार्य की अयोग्यता राष्ट्र को हानि पहुंचा सकती है। 'यथा राजा तथा प्रजा' यह लोकोक्ति तो प्रसिद्ध है ही। परंतु राजा का इतना प्रभाव प्रजा पर नहीं पड़ता जितना आचार्य का शिष्य पर पड़ता है।

इसलिए जहां आचार्य और ब्रह्मचारी आदर्श हों, वहां ही मोक्ष सुख की प्राप्ति हो सकती है। वह आनंद जिसके मध्य में दुःख काल कभी न आवे, तभी फैल सकता है—जब कि उत्तम आचार्य शिक्षा देने के लिए मौजूद हों।

संसार में इस समय घोर अशांति क्यों फैल रही है ? इसलिए कि आचार्यों का अभाव है। टीचर हैं, प्रोफेसर हैं, प्रिंसिपल हैं, उपाध्याय हैं, उस्ताद मौलवी हैं—परंतु शिक्षा शिष्यों को उलटा अविद्या के गढ़े में धकेल रही है। जो स्वयं भोगी हैं वे दूसरों को त्याग कैसे सिखलाएंगे ? जो स्वयं पापों के गंदे कीचड़ में फंसे हुए हैं वे सुकुमार शिष्यों को शुद्धि का पाठ कैसे पढ़ायेंगे ? जो स्वार्थान्ध हैं वे दूसरों को निःस्वार्थ तपस्वी कैसे बनाएंगे ? फारसी के शायर ने आजकल शिक्षकों के ही विषय में कहा है 'ऊखे श्तन् गुमस्त किरा रह बरी कुंद', वह आप गुमराह है। मार्ग भूला है तो दूसरों का पथदर्शक कैसे बनेगा ? 'अंधेनैव नीयमाना यथांधाः' यदि अंधा अंधे को लेकर मार्ग पर चले तो अपने साथ उसको भी गढ़े में गिराएगा।

ईश्वरीय ज्ञान फिर सावधान कर रहा है। क्या संसार के शिक्षक-बृन्द इस पवित्र घोषणा को सुनेंगे ? परमेश्वर ऐसा करके कि जो लोग सुकुमारों के भविष्य को अपने

हाथ में लेने का साहस करते हैं, वे अपने पवित्र उत्तरदायित्व को समझें।

शब्दार्थ

(आचार्यः मृत्युः, वरुणः, सोमः, ओषधयः, पयः) आचार्य मृत्यु रूप होकर संसार की आसारता का उपदेश देने वाला जल रूप होकर पापों से शुद्ध करने वाला, चंद्रमा रूप होकर हृदय के लिए आहाल्दकारक, औषध रूप होकर शरीर को क्षीणता से बचाने वाला और दूध रूप होकर शरीर को पुष्ट करने वाला है। (जीमूताः सत्वानः आसन्) जीवन के नियमों का पुंज उसके सहनशील अनुचर हैं, (तैः इदम् स्वः आभृतम्) उन्हीं के द्वारा यह मोक्षमुख लाया गया है।

15

अमा घृतं कृणुते केवलमाचार्यो
भूत्वा वरुणो यद्यदैच्छत् प्रजापतौ।
तद्‌ ब्रह्मचारी प्रायच्छत्,
स्वान् मित्रो अध्यात्मनः।।

अथर्व., कांड 11, अ. 3, सूक्त 5, 15

मंत्र सार

आचार्य बनने के लिए आवश्यक है कि वह श्रेष्ठ गुणों को धारण करने वाला हो। वरुण पवित्रता प्रदान करने वाला हो, स्थान-स्थान पर वेद में वर्णित है। स्वयं पवित्र होकर दूसरे अपवित्रों को जो पवित्र कर सके वही 'वरुण देव' अर्थात् सदाचारी विद्वान् है। ऐसा पुरुष जब वेद के पूर्ण आदेशानुसार, बालकों का उपनयन करता और उन्हें ब्रह्मचारी बनाकर सावित्री माता के गर्भ में स्थित करता है तब पितारूप होकर रक्षा करते हुए उसे इसी घर में (अर्थात् आचार्य वा गुरु के कुल में) पवित्र कर देता है। आचार्य चुनते समय प्राचीनकाल में जिस मर्यादा का अवलंबन किया जाता था उसकी ओर आज ध्यान भी नहीं दिया जाता। किसी कालिज का प्रिंसिपल नियत करते हुए यह नहीं देखा जाता कि वह दुराचारी तो नहीं है ? फिर यह कौन देखे कि वह अपने शिष्यों के हृदय और आत्मा को शुद्ध करने की शक्ति भी रखता है या नहीं। आजकल के आचार्य मांस खाने और मद्य पीने वाले हो सकते हैं, ईर्ष्या, द्वेष में फंसकर विद्यार्थियों के साथ अनृत व्यवहार करने वाले हो सकते हैं, यहां तक कि व्यभिचारी होने पर भी उन्हें कोई शक्ति प्रिंसिपल के पद से नहीं गिरा सकती। जब तक वे विद्यार्थियों को अपना विषय पढ़ाते जाएं (चाहे किसी प्रकार से हो) और जब तक साधारण प्रबंध कालिज का कर सकें तब तक उनकी ओर आंख उठाकर भी कोई देख नहीं सकता। परंतु सार्वभौम सच्चाई यह है कि जो स्वयं अंदर से अशुद्ध है वह दूसरों को शुद्ध कभी नहीं कर सकता।

जब वेद वर्णित आचार्य ब्रह्मचारी के शरीर, अंतःकरण और आत्मा को शुद्ध कर देता है तब उससे गुरुदक्षिणा की आशा बांधता है। इसी के विषय में उपनिषद्

का प्रसिद्ध वाक्य है जिससे आचार्य स्नातकों को दीक्षा देता है–"आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः' आचार्य के लिए प्रिय धन देकर विवाहपूर्वक संतानोत्पत्ति कर। आचार्य का प्रिय धन क्या है ? ब्रह्मचारी से वह यही याचना करता है कि जिस प्रकार मैंने तुझे कायिक, वाचि और मानसिक शुद्धता से विद्यादान देकर पवित्र किया है इसी प्रकार तू जहां दूसरों को इसी विद्या का दान देकर पवित्र कर, वहां प्राप्त की हुई शिक्षा को भी अपने आचरण में ला। दीक्षांत संस्कार के समय इसी प्रकार की प्रतिज्ञाएं ब्रह्मचारी करता है। इनके अतिरिक्त आर्थिक सेवा भी वह आचार्य की करता है। आचार्य ब्राह्मण ही हो सकता है। यह ब्राह्मण मनुष्य समाज में ऐसा ही है जैसा शरीर में शिरोभाग शिक्षा से ग्रीवा तक। जैसे प्राकृतिक भोजन सारे शरीर में पहुंच कर मुख अपने लिए कुछ नहीं रखता, इसी प्रकार आचार्य को भी अपने लिए किसी भी आर्थिक सम्पत्ति की आवश्यकता नहीं है। परंतु जैसे अपने लिए कुछ भी अपेक्षा न रखते हुए मुख सारे शरीर के लिए अन्न फलादि की याचना करता है, इसी प्रकार आचार्य को अपनी आध्यात्मिक संतान के पालन पोषणार्थ प्राकृतिक संपत्ति की आवश्यकता है। पुरानी कई कथाएं प्रसिद्ध हैं, जिनमें आचार्यों ने स्नातकों से गुरुदक्षिणा में करोड़ों रुपये मांगे हैं और स्नातकों ने निर्धन होते हुए भी घोर तप द्वारा भिक्षा कर के गुरु की आज्ञा का पालन किया है। आचार्य को इस धन की क्यों आवश्यकता है ? इसलिए कि सारे कुल के पालन पोषण तथा पठन-पाठन का बोझ उसी पर है। पूर्व काल में आचार्य संज्ञा ही उसकी थी जो दस सहस्र शिष्यों का पालन कर सके।

तब अन्तेवासी ब्रह्मचारी का विद्याव्रत स्नातक होने के पीछे कर्तव्य है कि वह आचार्य को उसका प्रिय धन (प्राकृतिक वा मानसिक) अर्पण करने के पश्चात् संतोनोत्पत्ति के लिए विवाह करे। सांसारिक पिता का जो पितृ ऋण है उससे मुक्त होने का यत्न करने से पहले शरीर, मन और आत्मा तीनों की रक्षा करने वाले आत्मिक पिता-आचार्य के ऋषि ऋण से मुक्त हो लेना आवश्यक है। जिस कुल से अपने शरीर, मन और आत्मा को शुद्ध किया, उस कुल का जीवन बढ़ाने में जितनी भी सहायता हो सके, करना कुल-पुत्र का धर्म है। यदि वेद मर्यादा के अनुसार आचार्य ब्रह्मचारियों की सर्व शुद्धि में लगे रहें और ब्रह्मचारी शुद्ध भाव से जहां मन, वचन और कर्म में कभी अशुद्धि आने न दें, वहां अपने गुरुकुल का गौरव स्थिर रखने में सहायक हों और साथ ही उस कुल के कोष की पूर्ति करना अपना कर्तव्य समझें तो यह देव निर्मित भूमि फिर से आदर्श बनकर संसार की जातियों का उद्धार करने में सफल हो सके।

शब्दार्थ

(वरुणः आचार्यो भूत्वा) श्रेष्ठ सदाचारी आप्त पुरुष आचार्य होकर (अमा घृतं केवलं

कृणुतें) शिष्य को इस घर में ही क्षरणशील जल के समान शुद्ध कर देता है। (मित्रः ब्रह्मचारी यत् यत् प्रजापतौ ऐच्छत्) स्नेही ब्रह्मचारी जिस-जिस वस्तु की प्रजापालक आचार्य के लिए अभिलाषा करता है (तत् आत्मनः अधिस्वान् प्रायच्छत्) उन पदार्थों व गुणों को वह ब्रह्मचारी अपने आत्मा में से आचार्य के लिए भेंट करता है।

(मित्रः
पालक
पदार्थों
है।

16

आचार्यो ब्रह्मचारी ब्रह्मचारी प्रजापतिः।
प्रजापतिर्विराजति विराडिन्द्रो भवद् वशी।।

अथर्व., कांड 11, अ. 3, सूक्त 5. 16

मंत्र सार

आचार्य पद के योग्य ब्रह्मचारी होता है। ऋषि दयानंद इसी आशय को लेकर संस्कारविधि में लिखते हैं–'आचार्य उसको कहते हैं कि जो साङ्गोपाङ्ग (अंगों-शिक्षा कल्पादि और उपांगों-न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग-मीमांसा, वेदांतसहित) वेदों के शब्द अर्थ संबंध और क्रिया का जानने हारा, छल कपट रहित, अति प्रेम से सब को विद्या का दाता, परोपकारी, तन, मन और धन से सबको सुख बढ़ाने में तत्पर हो, जो पक्षपात किसी का न करे और सत्योपदेष्टा, सब का हितैषी, धर्मात्मा, जितेंद्रिय होवे।' आचार्य के पास शिष्य किस उद्देश्य से जाता है ? इसका वर्णन यजुर्वेद के 29वें अध्याय के मंत्र 49 में किया गया है–

ऋजीते परि वृङ्ग्धि नोऽश्मा भवतु नस्तनूः।
सोमो अधि ब्रवीतु नोऽदितिः शर्म यच्छतु।।

हे आचार्य ! अपने तेज से हमारे (शारीरिक तथा मानसिक) रोगों को सब ओर से दूर कीजिए, हमारा शरीर चट्टान की न्याईं दृढ़ हो; अमृत और मृत्यु का हमें उपदेश कीजिए और हमारे लिए सुख का विधान कीजिए (अर्थात् मौत से छुड़ा कर अमृतपान कराइए)। जिसमें ऊपर कहे गुण निवास करते हों, जो सहज में ही उपरोक्त गुणों को धारण करने वाला हो, वही पुरुष आचार्य होने के योग्य है। जिसका अपना शरीर वज्र के तुल्य नहीं, वह दूसरों का शरीर दृढ़ कैसे कर सकेगा। जिसको स्वयं जिंदगी और मौत का ज्ञान नहीं, वह दूसरों को अमृत कैसे पिला सकेगा।

इसीलिए यहां अंतिम बल इस बात पर दिया है कि अब्रह्मचारी पुरुष वा स्त्री कभी भी आचार्य के पवित्र आसन पर न बैठाए जाएं। मक्कारी से जनता को धोखा देकर यदि कोई अब्रह्मचारी आचार्य बन भी जाए तब भी उसके प्रयत्न का परिणाम उसके वास्तविक रूप को प्रकाशित कर देता है। वृक्ष अपने फल से पहचाना जाता

है। जिस गुरु के चेले तप के जीवन में न ठहर सकें और स्वार्थ तथा भोग से न बच सकें, उसको ब्रह्मचारी न समझना चाहिए।

जहां आचार्य पूर्ण ब्रह्मचारी हो वहां प्रजा का रक्षक राजा भी अवश्य ब्रह्मचारी ही होगा। एक सत्तात्मक राज्य वा प्रजातंत्र राज्य दोनों में शासक ब्रह्मचारी ही होने चाहिए। राजा वा प्रधान पुरुष से लेकर चपरासी और चौकीदार तक सब प्रजा की रक्षा के लिए नियुक्त होते हैं। यदि प्रजा के 'जान और माल की हिफ़ाजत' वे नहीं करते तो उन्हें प्रजापति नहीं कह सकते। परंतु क्यों ब्रह्मचारी ही प्रजापति बनने के योग्य है ? इसलिए कि उसे राष्ट्र से ऊंचा उठना पड़ता है। रक्षक वही हो सकता है जो अपने से रक्षित प्रजा से ऊंचा उठा हुआ है। निर्बलों की सहायता वही कर सकता है जो स्वयं सबल हो, अन्यथा अंधे को अंधा गढ़े में ही गिरा देगा।

जब शासक प्रजा से ऊपर उठा हुआ हो तभी वह सारे ऐश्वर्य का मालिक होता है। जो कामनाओं का दास है, संपत्ति का मालिक वह नहीं बन सकता। जो संपत्ति के पीछे स्वार्थ के मद से अंधा होकर दौड़ता है उससे संपत्ति कोसों दूर भागती हैं परंतु जो संपत्ति को लात मारकर ऊपर उठता है उसके पीछे संपत्ति भागी फिरती है। मुनिवर पतंजलि के शब्दों में 'अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्' जो दूसरों के पदार्थ पर दृष्टि नहीं रखता उसकी सारी दौलत हाथ बांधे खड़ी रहती है। गुसाईं तुलसीदास ने ठीक कहा है—

जिमि सरिता सागर पंह जाहीं, जद्यपि ताहि कामना नाहीं।
तिमि सुख संपत्ति बिन ही बुलाए, धर्मशील पहि जाहि सुभाएं।।

अपने अंदर के पशु-भाव पर विजय प्राप्त करके ही स्वर्ग प्राप्ति हो सकती है। मर कर स्वर्गप्राप्ति की लाकोक्ति के यही अर्थ हैं।

शासक वही हो सकता है जो तप और सत्य के प्रभाव से साधारण प्रजा से ऊपर उठ जाए। तभी उसके वश में सारी प्रजा हो सकती है। इसी वेदाज्ञा का प्रभाव था कि भारतवर्ष में राजा के बेटे को राजगद्दी देने से पहले आचार्य-कुल में रखा जाता था। एक दृष्टांत से इस वेद मंत्र का भाव उत्तम रीति से स्पष्ट है। एक युवराज का गुरुकुल निवास का समय समाप्ति पर आया तो उसका पिता (राजा) उसे घर लाने के लिए आचार्य कुल में सजे हुए घोड़े सहित गया। दीक्षांत की सारी विधि पूरी होने पर आचार्य ने राजा से कहा कि अंतिम एक शिक्षा बाकी है, उसके पूरा होते ही राजकुमार को उनके हवाले कर दिया जाएगा। यह कहकर आचार्य कोड़ा हाथ में लेकर घोड़े पर चढ़ गया और राजकुमार को साथ भागने की आज्ञा दी। आज्ञापालक शिष्य साथ चल दिया। गुरु ने घोड़े को बहुत तेज कर दिया और जब राजकुमार पीछे रहने लगा तो उसके कोड़े जमाता गया। राजा की आंखें क्रोध से लाल हो गईं। चक्कर काट कर गुरु ने राजकुमार को पिता के चरण छूने की आज्ञा दी और राजा को संबोधन करके कहा, 'राजन् ! शायद कल ही इस मेरे शिष्य को

राजगद्दी मिल जाए और वह लाखों के जान और माल का रक्षक बने। तब अन्याय और अत्याचार से बचने के लिए इसे आज की शिक्षा काम आएगी, क्योंकि इसने समझ लिया है कि पराधीनता और दासता में कितना कष्ट है।' राजा संतुष्ट होकर राजकुमार को घर ले गया। संसार इस समय नरक कुंड इसीलिए बना हुआ है कि प्रजा के रक्षक ब्रह्मचारी नहीं हैं।

शब्दार्थ

(आचार्यो ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी आचार्य होता है, (ब्रह्मचारी प्रजापतिः) ब्रह्मचारी ही प्रजापालक राजा होता है। (प्रजापतिः विराजति) राजा प्रजापति होकर विविध प्रकार से राज्य करता हैं, राष्ट्र से ऊपर उठता है। (विराट् इन्द्रो भवद् वशी) ऊंचा उठकर प्रजा को वश में कर मालिक होता है।

17

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते।।

- अथर्व., कांड 11, अ. 3, सूक्त 5, 17

मंत्र सार

रक्षा का काम तपस्वी कर सकता है, भोगी नहीं और तप ब्रह्मचर्य के बिना असंभव है। राजा का धर्म ही राष्ट्र का पालन है। आजकल राजा का अधिकार राजशासन है। इस समय अधिकारों की धूम है इसलिए कर्त्तव्य पीछे पड़ गया हैं वेद की आज्ञा है कि कर्त्तव्य पालन ही जीवन का मूल है। राजा को प्रजापति इसीलिए कहते हैं कि प्रजा का पालन उसका धर्म है ! 'The King can do no wrong' राजा कोई अधर्म नहीं कर सकता--इस वाक्य का अर्थ क्या है ? क्या इसका अर्थ यह है कि राजा जो भी पाप चाहे करे, वह दंडनीय नहीं है। ऐसा नहीं है। इंग्लैंड के जिन देश-हितैषियों ने प्रथम चार्ल्स को फांसी लगा दी, क्या वे अन्यायी थे ? कदापि नहीं। इस लोकोक्ति के अर्थ यह हैं कि जो अधर्म कर सकता है वह राजा होने योग्य नहीं है। जो स्वार्थी है, भोगी है, वह-अधर्म से नहीं बच सकता, अधर्म से बचने के लिए पूर्ण ब्रह्मचारी होना जरूरी है।

वेद उदाहरण देता है कि आचार्य ब्रह्मचर्य के बल से ही शिष्य को अपनी ओर खींचता है और उसका पालन पोषण तथा शिक्षण करता है। पहले बतलाया जा चुका है कि पूर्व काल में आचार्य उसी को कहते थे जो दस सहस्र शिष्यों का पालन पोषण करता हुआ, उनकी शिक्षा का प्रबंध करे। जिस प्रकार आचार्य ब्रह्मचर्य के तप से ही ब्रह्मचारी को आकर्षित करके अपने अधीन करता है इसी प्रकार राजा भी ब्रह्मचर्य के तप से ही प्रजा को अपनी ओर खींचता और उसकी रक्षा करते हुए उन्हें अपने वश में रख सकता है।

आज उलटी गंगा बह रही है। राजा भोग के लिए राज्य संभालते हैं। जहां एक सत्तात्मक राज्य है वहां एक भोगी की तृष्णा को संतुष्ट करना पड़ता है। जहां प्रजातंत्र राज्य कहा जाता है वहां बहुतों को विषय कामना को तुष्टि देनी पड़ती है। कहीं व्यक्ति का स्वार्थ संसार में हाहाकार मचा रहा है। इस अनाचार तथा अधर्म

की जड़ जब तक न खुद जाए तब तक संसार में शासन और राजनीति के नाम पर अन्याय और अत्याचार होते ही रहेंगे। इस अधर्म की जड़ कैसे कटे ?

बचपन में जैसी शिक्षा मिलती है मनुष्य युवा होकर वैसा ही बन जाता है। यदि अध्यापक और उपाध्याय ब्रह्मचारी हों, यदि उनकी इंद्रियां अपने वश में हों, यदि वे सब प्रकार की फंसावटों से मुक्त हों तो उनके दिन रात के सहवास का असर उनके शिष्यों पर भी अवश्य पड़े और जब उन आचार्य-कुलों से शासक भी योग्य निकल सकें।

जिस देश और जाति में शिक्षक स्वयं चरित्रवान् न हों, उसकी दशा कभी सुधर नहीं सकती। जो दीया स्वयं जल नहीं रहा वह दूसरों को क्या जलाएगा। जिसका हृदय स्वयं अंधकार से आच्छादित है वह दूसरों को प्रकाश कैसे दिखलाएगा। कहते हैं कि 'मशालची अंधा होता है परंतु दूसरों को मार्ग दिखा देता है', परंतु जहां गढ़ा आगे हो तो उसके गढ़े में गिरते ही उसके हाथ की मशाल बुझ जाती है और उसके पीछे चलने वाले उसी गढ़े में गिर पड़ते हैं। यही हाल उन शिक्षकों के अभागे शिष्यों का है, जो चरित्र-शास्त्रों की शिक्षा देते हुए स्वयं उसके विरुद्ध आचरण करते हैं। ऐसे शिक्षकों के नियंत्रण से निकलकर जो राजकीय पुरुष शासन के काम में लगते हैं उनसे रक्षा के स्थान में राज्य की हानि ही होती है। पिता पालक को कहते हैं। राजा प्रजा का पालक, रक्षक होने से ही प्रजा का पिता कहलाता है। यदि पिता ही मद्य-मांस का सेवन करने वाला और व्यभिचारी हो तो संतान का क्या ठिकाना रहे। राजा सारी प्रजा का पिता है। यदि वह व्यभिचारी हो तो धर्म का नाश ही हो जाए। क्योंकि अपनी धर्मपत्नी से संतानोत्पत्ति करने के अतिरिक्त जिस किसी अन्य स्त्री से वह संबंध जोड़ता है, हालांकि वह उसकी पुत्री के समान है। सारे संसार में इस प्रकार की वर्णसंकरता का राज्य हो रहा है। इस घोर अधर्म भ्रांति की जड़ जब तक न हिलेगी तब तक संसार में शांति नहीं फैल सकती है। हिलना ही पर्याप्त नहीं है, स्थिर शांति के लिए इसकी जड़ ही कट जानी चाहिए। परंतु जड़ कैसे कटे ?

आओ, भारतवर्ष से ही पहल करो। स्वार्थी भोगी गवर्नमेन्टों से कुछ न होगा। जो आवश्यकता को अनुभव करते हों और शिक्षा देने की योग्यता रखते हों, वे साधनों द्वारा स्वयं ब्रह्मचारी बनें और ब्रह्मचार्य रूपी तप के बल से विद्यार्थियों को अपनी ओर आकर्षित करें। जब ग्राम-ग्राम में ऐसे साधन-संपन्न शिक्षक काम करने लग जाएंगे तो पूर्वकाल में ब्रह्मचर्य-प्रधान यह जाति ही संसार की जातियों की पथदर्शक बन सकेगी।

शब्दार्थ

(ब्रह्मचर्येण तपसा) ब्रह्मचर्य के तप से (राजा राष्ट्रं विरक्षति) राजा राष्ट्र की विशेष रक्षा करता है। (आचार्यो ब्रह्मचर्येण) आचार्य भी ब्रह्मचर्य से ही (ब्रह्मचारिणमिच्छते) ब्रह्मचारी की इच्छा करता है।

18

ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्।
अनड्वान् ब्रह्मचर्येणाश्वो घासं जिगीर्षति।।

अथर्व., कांड 11, अ. 3, सूक्त 5, 18

मंत्र सार

पुरुष और स्त्री का संबंध वेद ने केवल संतानोत्पत्ति के लिए बतलाया है। जिस प्रकार अन्य इंद्रियां उचित उपयोग लेने पर ही बलवती रहती हैं और अपने विषय में फंसकर दासता को प्राप्त होती हैं, इसी प्रकार जननेंद्रिय को भी स्वादेंद्रिय बना लिया जाए तो वह भी नष्ट भ्रष्ट हो जाती है। प्रत्येक इंद्रिय से तभी काम लेने में कल्याण है जबकि वह पुष्ट होकर उस बोझ के उठाने योग्य हो जाए जो उस पर डाला जाता है। तब कौन पुरुष संतानोत्पत्ति करने का अधिकारी है ? वही जिसने कम-से-कम 25 वर्ष की आयु तक वीर्य रक्षा करके उसे पुष्ट कर लिया हो और इस प्रकार जननेंद्रिय को वशीभूत कर लिया हो। परंतु यदि उसे पत्नी योग्य न मिले तो वह उत्तम संतान कैसे पैदा कर सकेगा। बीज कैसा ही उत्तम हो, उसके अंदर कितनी ही उपजने की शक्ति क्यों न हो—यदि भूमि ऊसर है, यदि भूमि में जल नहीं है तो बीज निष्फल जाएगा। उत्तम बीज के लिए दृढ़, स्वस्थ उपजाऊ भूमि होनी चाहिए, जब वनस्पति रूपी संतान उत्तम हर्षदायक उत्पन्न होगी। इसलिए जहां पुरुष के ब्रह्मचारी होने की आवश्यकता है, जहां समावर्तन पूर्वक गुरुकुल से लौटा हुआ ब्रह्मचारी ही विवाह का पात्र है, वहां ऐश्वर्यवान् इंद्र को पाने, विवाह करने का अधिकार भी ब्रह्मचारिणी को ही प्राप्त है। अथर्ववेद में उत्तम विववाह 'सूर्या' अर्थात् आदित्या ब्रह्मचारिणी का ही लिखा है। ब्रह्मचारी का तेज जहां साधारण व्यक्ति को जला देता है वहां ब्रह्मचारिणी के तेज के साथ मिलकर वह नए तेजस्वी आत्मा का संसार में प्रवेश कराता है। ठीक है—प्राण को धारण करने की शक्ति रवि में ही है, पुरुष के तेज को सहन कर, अपने अंदर लय करने की शक्ति प्रकृति में ही है।

मनुष्य ही नहीं, पशुसृष्टि में भी यही नियम विद्यमान है। वहां भी जीवन तथा वृद्धि के लिए ब्रह्मचर्य ही प्रधान है। मनुष्य की अवस्था में ब्रह्मचर्य शब्द के पूरे अर्थ

लागू हैं। ब्रह्मनामी वेद और ब्रह्मनामी परमेश्वर का ज्ञान प्राप्त करना, उनकी ओर चलना और उन्हें प्राप्त करना—यह मनुष्य में विशेषता है—'धर्मो हि तेषामधिको विशेषः' । परंतु पशु में केवल संसार में सबसे बड़े, प्राणिमात्र के आधार अन्न (ब्रह्म) का भक्षण ही ब्रह्मचर्य है। बैल और घोड़ा दोनों प्रकार के सांड केवल ब्रह्मचर्य व इंद्रिय संयम से ही तो अपने चारे को पचाते हैं, और उसे पचाकर गाय और घोड़ी में बलवती तथा दृढ़ांग संतान उत्पन्न करते हैं। इस नियम को मनुष्यों ने ऐसी गिरह दे ली है कि बैल और घोड़े के बछड़ों की विशेष रक्षा करके उन्हें ब्रह्मचारी रखा जाता है और उनकी पैतृक शुद्धि का विचार किया जाता है। परंतु मननशील मनुष्य ने अपने संबंध में इस पवित्र नियम को भुला दिया है। वह जहां पशुओं को ब्रह्मचर्य के नियम के अनुसार रखता है वहां स्वयं उसके गुण जानता हुआ भी अंधा बन जाता है।

कभी आर्यावर्त्त ही ब्रह्मचर्यप्रधान देश था और वहां ही मनुष्य इस समय अधिक अधोगति को प्राप्त है। नालंदा और तक्षशिला का यहां निशान भी मिट चुका था, जिसे विदेशियों ने खोदकर पुनः प्रकट किया है। उस देश में भी पशुओं के लिए ब्रह्मचर्याश्रम (अर्थात् सांड के लिए नियमित काम) की प्रथा अब तक चली आती है। पशुओं को तो प्रकृति से स्वाभाविक ज्ञान मिला है। उनमें तो 'मादा' ऋतु के बिना 'नर' को समीप भी नहीं आने देती। जंगल में इसका प्रत्यक्ष प्रमाण मिलता है। यह भी मनुष्य की ही कृपा है कि जो पशु जंगल में ब्रह्मचारी ऋतुगामी रहते हैं वे आजकल के मनुष्यों के संसर्ग में आकर व्यभिचारी बन जाते हैं। उन्हें आज की मानव सभ्यता ने प्रभावित कर दिया है।

जिन जंगली मनुष्यों को भी आजकल की सभ्यता ने असभ्य की उपाधि प्रदान कर रखी है, उन जातियों में जननेंद्रिय की रक्षा की प्रथा स्त्रियों के अंदर अब तक विद्यमान है। यूरोपियन डॉक्टर साक्षी देते हैं कि जिन स्थानों में यूरोपियन लोग अब तक अपनी सभ्यता के चिह्न अर्थात् शराब और 'सिफलिस' लेकर नहीं पहुंचे, वहां अब तक गर्भस्थित होने के 2½ वा 3 वर्षों पीछे तक संतानवती स्त्री अपनी जननेंद्रिय की रक्षा करती और पुरुष को अपने समीप नहीं आने देती।

वेदाज्ञा अपनी सिद्धि के लिए अपने अंदर ही हेतु रखती है। इस समय भी ईश्वरीय नियम वैसा ही ताजा है जैसा कि सृष्टि के आदि में था। वह कह रहा है कि जो व्यवस्था उस स्वाभाविक, अनादि नियम से मनुष्यों को दूर ले जा रही है वह त्याग के योग्य है। जिस देश वा जाति में ब्रह्मचर्य व्रत से पालन पोषण पाकर कन्या आदित्य ब्रह्मचारी को प्राप्त होती है उसी जाति व देश का जीवन चिरस्थायी होता है।

शब्दार्थ

(कन्या) विवाह योग्य कन्या (ब्रह्मचर्येण) ब्रह्मचर्य पूर्ण होने पर (युवानं पतिं विन्दते) युवा, ब्रह्मचारी पति का लाभ करती है। पशु सृष्टि में जैत्ते (अनड्वान् अश्वः) वीर्यवाही घोड़ा (ब्रह्मचर्येण) इंद्रिय संयम द्वारा ही (घासं जिगीर्षति) घासादि खाद्य को पचाने में समर्थ होता है।

19

ब्रह्मचर्येण तपसा देवामृत्युमुपाघ्नत।
इन्द्रो हि ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत्।।

अथर्व., कांड 11, अ. 3, सूक्त 5, 19

मंत्र सार

'सत्यमेव हि देवाः अनृतं मनुष्याः'—साधारण अवस्था में मनन शक्ति रखने वाले की 'मनुष्य' संज्ञा होती है; जब वह सत्यमानी, सत्यवादी और सत्यकर्मी हो जाता है, जब उसकी 'देव' संज्ञा होती है। मौत को हटाकर ही अमृत की प्राप्ति हो सकती है और यही मनुष्य का परमोद्देश्य है। यद्यपि प्रकाश शरीरधारी जीवात्मा के अंदर ही विद्यमान है तथापि अंदर की आंखें बंद कर रखने के कारण वह उससे लाभ नहीं उठाता। देवता और राक्षस बनने के साधन अंदर ही मौजूद हैं। ब्रह्मचर्य से ही देवभाव का पशुभाव पर विजय होता है, तब मनुष्य देवता बन जाता है। मौत को जीतकर, अमर होकर ही अमृत के भंडार के अंदर विचरने की शक्ति मिलती है। 'सत्येन लभ्यते'—वह सत्य से ही प्राप्त होता है और सत्य को धारण करने की शक्ति ब्रह्मचर्य से प्राप्त होती है। 'सत्येन पन्था विततो देयानः'—सत्य की सड़क पर ही देवताओं के वाहन चल सकते हैं। देवता पद से बढ़कर कोई पद जीवात्मा के लिए नहीं है, तभी तो कवि ने कहा है—'सत्यमूलानि सर्वाणि, सत्यान्नास्ति परं वरम्'—सत्य से बढ़कर और क्या है ? और उस सत्यरूपी उच्चावस्था को प्राप्त करने के लिए ब्रह्मचर्य ही एक मात्र साधन है।

देवों का राजा इंद्र कहा गया है। प्रजा का पालक राजा होता है। परंतु पहले कहा जा चुका है कि प्रजापालक बनने के लिए ब्रह्मचर्य मुख्य साधन है। इंद्र ब्रह्मचर्य के बल से ही देदों के लिए सुख का सामान पैदा करता है।

इंद्र कौन है और 'देव' कौन है ? यह वेद के विवाह प्रकरण में आया है—'इमां त्वमिन्द्रमीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु' हे ऐश्वर्ययुक्त पुरुष तू इस स्त्री को श्रेष्ठपुत्र और सौभाग्य युक्त कर ! तब इंद्र जीवात्मा का ही नाम है क्योंकि जिस प्रकार सारे संसार में व्यापक होकर उसका मालिक होने से परमात्मा इंद्र कहलाता है (यथा 'इन्द्रं मित्रं'

इत्यादि वेद में और 'इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम्' मनु में) इसी प्रकार निज शरीर में व्यापक होकर उसका मालिक होने से जीवात्मा भी इन्द्र कहलाता है। इस शरीर में देव कौन है ? ज्ञान का प्रकाश करने से मनुष्यों को देव कहते हैं; मनुष्य की बनावट में ज्ञान का प्रकाश करने से 'पंच ज्ञानेंद्रिय' को देव कहते हैं। प्रत्येक ज्ञानेंद्रिय का एक-एक विषय है—आंख का रूप, कान का शब्द, नासिका का गंध, जिह्वा का रस और त्वचा का स्पर्श। यदि कोई इंद्रिय अपने विषय के अंदर फंस जाए तो जीवात्मा के लिए हानिककारक होती है, और अंधकार में फंसाने वाली होती है। प्रकाश अंदर है, क्योंकि परमात्मा का सबसे उत्तम मंदिर वा शरीर (उपनिषद् में कहा भी है—'यस्य आत्मा शरीरम्', बृहदारण्यक) जीवात्मा ही है। तब अंदर प्रकाश है क्योंकि वहां चेतन जीवात्मा प्रकाशस्वरूप के सामने है, परंतु बाहर प्रकृति है और अंधकारमय है। जो इंद्रिय विषय में फंस जाती है वह मन को बाहर खींच लेती है क्योंकि इंद्रिय मनपूर्वक ही काम करती है और मन एक समय में एक काम ही करता है। उसका तो लक्षण ही यह है—'युगपज्ज्ञानानुपपत्तिर्मनसो लिंगम्'—जब इंद्रिय ने मन को बाहर खींचा तो उसने जीवात्मा को बहिर्मुख कर दिया। बाहर अंधकार ही अंधकार है। अंदर की आंखें बंद हुईं, और प्रकाश के अंदर निवास करते हुए भी अंधेरा ही अंधेरा छा गया। यह अंधेरा कब दूर हो ? अंदर के पट तब खुलें जब बाहर के पट देय। बाहर के पट कैसे बंद हों ? जब अंदर वाला ब्रह्मचर्य का अभ्यास करके पूर्ण ब्रह्मचारी हो मन वश में करे और उसके द्वारा इंद्रियों को अपना आज्ञापालक सेवक बना ले। अपूज्य जहां पूजे जाएं, अचेतन जहां चेतन के पथदर्शक बनें वहां कल्याण कहां रह सकता है ? मालिक जहां दासों के वश में हो वहां मालिक और दास दोनों ही दुःख पाते हैं। दासों का भी कल्याण इसी में है कि उनकी बागडोरं मालिक के हाथ में हो। इंद्रियों का भी कल्याण इसी में है कि वे जीवात्मा के वशीभूत होकर रहें।

यह कैसे हो सकता है ? इसका भी एकमात्र साधन ब्रह्मचर्य ही है। जिस जीवात्मा ने साधनों द्वारा अपने आप को पुष्ट कर लिया है उसकी इंद्रियां ही उसके वश में हो जाती हैं जैसे रथ के घोड़े वीर्यवान् सारथी के वेश में होते हैं। संसार में मौत के भय से बढ़कर और कोई भय नहीं है। यही भय मनुष्य को डावांडोल करके शोकसागर में डुबाए रहता है। परंतु मौत है क्या ? जिससे इतना भयभीत जीवात्मा रहता है। मौत वियोग का नाम है। जिसके संयोग का आदि है उसका वियोग भी अवश्य होगा और पुनः संयोग भी हो सकता है। जब यह ज्ञान हो जाए तो मौत भयावनी नहीं रहती। परंतु इस ज्ञान का साधन क्या है ? निस्संदेह इसका साधन ब्रह्मचर्य ही है। जीवात्मा को इंद्र कब कह सकते हैं ? जब वह ऐश्वर्यवान् हो जाए। परंतु ऐश्वर्य प्राप्ति के लिए ब्रह्मचर्य रूपी संयम की आवश्यकता है। परमात्मा का बल ही इसमें है कि वह साक्षिरूप अनादि ब्रह्मचारी है। तब उसका पुजारी जीवात्मा भी अपनी इंद्रियों

का सच्चा स्वामी ब्रह्मचर्य के तप से ही हो सकता है और तब तपस्वीरूप के सहवास में वह मौत को जीत लेता है।

शब्दार्थ

(देवाः) सत्य आदि, दिव्यगुण युक्त ज्ञानी पुरुष (ब्रह्मचर्येण तपसा) ब्रह्मचर्य के तपो बल से ही (मृत्युं) मृत्यु को, मौत को (उपाघ्नत) मार डालते हैं, विजय प्राप्त कर लेते हैं। (इन्द्रः) परमेश्वर व जितेंद्रिय आत्मा भी (ह) निश्चय से (ब्रह्मचर्येण) ब्रह्मचर्य की शक्ति के द्वारा हो (देवेभ्यः) देवताओं व इंद्रियों के लिए (स्वः) सुख और तेज को (आभरत्) धारण कराता है, प्राप्त कराता है।

20

ओषधयो भूतभव्यमहोरात्रे वनस्पतिः।
सम्वत्सरः सहर्तुभिस्ते जाता ब्रह्मचारिणः।। 20।।

अथर्व., कांड 11, अ. 3, सूक्त 5, 20

मंत्र सार

वनस्पति अर्थात् वन के वृक्ष को बिना पुष्प लाए फल देते हैं तथा औषधि जो पुष्प से पूरित होकर पालन करते हैं—दोनों प्रकार के उद्भिद प्राणी भी ब्रह्मचारी के तपोबल से ही फल देने वाले होते हैं। इसलिए वेद में जो आर्यों अर्थात् श्रेष्ठ पुरुषों के लिए नैतिक कर्म का उपदेश है उसमें वनस्पति की रक्षा का भी विधान है। यदि मनुष्य इंद्रियों को वशीभूत करने वाला न हो तो एक भी वनस्पति अपनी पूर्ण आयु को प्राप्त न हो। माली ब्रह्मचर्यव्रत की सहायता से ही प्रलोभनों से बचता हुआ, वृक्ष और पौधे की रक्षा करता है और पकने से पहले फलों को तोड़ने से बचाता है।

भूत और भविष्यत्—व्यतीत हो गए और आने वाली दोनों—समयों का निर्माता ब्रह्मचारी ही है। बीते हुए अनुभवों से जहां ब्रह्मचारी ही स्वयं लाभ उठाता तथा संसार को दिला सकता है वहां जगत् का भविष्य भी वही सुधार सकता है। जो इंद्रियों का दास है, उसके लिए वर्तमान ही सब कुछ है। उसका भविष्य कुछ हो ही नहीं सकता। ब्रह्मचारी राम ने जहां संसार के भविष्य में धर्म की मर्यादा स्थापित कर दी, वहां रावण के कारण लंका भविष्य ही कुछ न रहा। ब्रह्मचर्य बिना न भूत है और न भविष्यत्। दिन और रात का चक्र भी ब्रह्मचर्य के आश्रय पर ही चलता है। व्रत-पालन का आदर्श ब्रह्मचारी ही है। और सूर्य की (अपनी परिधि पर घूमने और अपने सामने आई भूमि को प्रकाश देने की) शक्ति पर ही दिन रात के विभाग निर्भर हैं। ऋतुओं सहित संवत्सर भी उस व्रत का परिणाम है जो संसार चक्र में कार्य कर रहा है। जिनकी इंद्रिय वश में नहीं है, जिन्हें इंद्रियां घुमाए फिरती हैं। उनमें दिन और रात में, विवेचन करने की शक्ति नहीं रहती। वे न रात में विश्राम ले सकते हैं और न दिन में सूर्य की किरणों से प्राणशक्ति को धारण कर सकते हैं। कामी के लिए न कोई दिन है और न रात। उसके लिए सारा समय केवल अंधकारमय

है। कामी उलूक के समान रात को ही सावधान होता है। कामी तुकबंदों (उन्हें कवि नहीं कह सकते) ने कामातुरों का यही विशेषण दिया है कि वे दिन और रात में तमीज ही नहीं कर सकते। उन्हें ऋतुओं में भी कोई भेद नहीं प्रतीत होता। उनके लिए 'सब धान बाइस पंसेरी' हैं।

लोक में प्रसिद्ध है कि जिन्हें परलोक की लगन हो, जिन्हें मुक्ति की तलाश हो वे भले ही ब्रह्मचर्य का साधन करें, पर दुनियादारों के लिए ब्रह्मचर्य का उपदेश नहीं है। ऐसी लोकोक्ति के अनुयायियों को इस वेद मंत्र के भाव पर गहरा विचार करना चाहिए। जिस जुही और चम्पा, चमेली और बेला पर तुम मस्त हो रहे हो, उसकी भीनी खुशबू तुम्हारे मस्तिष्क को तरावट न देती, यदि माली ने इंद्रियों को दमन करके उसकी रक्षा न की होती। यदि माली प्रलोभन में फंसकर बिना खिली कली को ही तोड़ लेता और अपनी स्वार्थसिद्धि में ही लग जाता तो तुम्हें खिले हुए फूल की सुगंधि तथा सौंदर्य से तृप्ति पाने का अवसर कैसे मिलता। यदि भूत समय में ब्रह्मचारियों ने सदाचार और परोपकार की बुनियाद न डाली होती तो आज तुम्हें अपना तथा अपने भाइयों का भविष्य सुधारने के लिए कौन प्रोत्साहित करता। मनुष्यों की ही नहीं, वनस्पति की भी जान ब्रह्मचर्य के हाथ में ही है। वनस्पति की ही क्यों ? काल, दिशा और उनके विभागों तथा उपविभागों की जान भी ब्रह्मचर्य ही है। आज ब्रह्मचर्य अस्वाभाविक मालूम होता है। जिन्होंने विश्राम के स्थान में आलस्य को अपना लिया हो, जिन्होंने उल्टी गंगा बहाने का व्यर्थ परिश्रम अपने जीवन का उद्देश्य बना रखा हो, जिन्होंने आज जान-बूझकर आंखें बंद कर रखी हों उन्हें आंखें खोलते हुए अवश्य कष्ट प्रतीत होता है। परंतु इस क्षणिक कष्ट के भय से अपने जीवन के भविष्यत् को ही तिलांजली दे देना बुद्धिमानों का काम नहीं है। जड़ और चेतन में, मनुष्य, पशु और वनस्पति में, राजा और रंक में, सबमें ब्रह्मचर्य का राज्य है। जिस प्रकार प्रांत के राजा को और उसके राजनियम को भुलाकर उस राज्य में निवास करना कठिन है, इसी प्रकार समय के राजा ब्रह्मचर्य के न्याय शासन को भुलाकर संसार में जीना कठिन है। प्रभु बल दें कि ब्रह्मचर्य का यथावत् पालन हो सके।

शब्दार्थ

(ओषधयः) रोगों को नष्ट करने वाले और (वनस्पतिः) भरण पोषण करने वाले अन्नादि वनस्पति, दोनों उद्भिद् प्राणी (भूत भव्यं) जीवनयात्रा का भूतकाल और भविष्यत्काल अर्थात् संपूर्ण ब्रह्मांड का काल (अहोरात्रे) दिन और रात अर्थात् संपूर्ण ब्रह्माण्ड का काल (ऋतुभिः सह) षड् ऋतुओं के साथ (संवत्सरः) गमन करने वाला वर्ष अन्नादि अर्थात् अनंत काल, ये सब (ब्रह्मचारिणः) ब्रह्मचारी हैं, (जाताः) ब्रह्मचर्य की शक्ति से ही पैदा हुए हैं इसलिए (ते) वे अविनश्वर हैं, मृत्यु को प्राप्त न होने वाले हैं।

21

पार्थिवा दिव्याः पशव आरण्याः ग्राम्याश्च ये।
अपक्षाः पक्षिणश्च ये ते जाता ब्रह्मचारिणः।।

अथर्व., कांड 11, अ. 3, सूक्त 5, 21

मंत्र सार

पार्थिव पदार्थ, जिनका गंधवती पृथ्वी के साथ ही विशेष संबंध है जैसे पत्थर, मिट्टी, औषधि, अन्न, जलों के नदी नाले आदि और आकाश में रहने वाले वायु तथा वाष्प इत्यादि सब की उत्पत्ति और स्थिति ब्रह्मचर्य के प्रभाव से ही है। जो नियम मनुष्यसृष्टि में प्रचलित है उसी का प्रसरण पशु तथा कीट, पतंग और वनस्पति सृष्टि के अंदर भी है। ब्रह्मचर्य का एक गुण संयम है और संयम के बिना एक तिनका भी अपना काम पूरा नहीं कर सकता। सूर्य की गति संयम का ही परिणाम है, तथा पृथ्वी में षड् ऋतु का परिवर्तन भी संयम पर ही निर्भर है। जिस देश के निवासियों में संयम का अभाव है उसमें न भूमि फल देती है और न प्रजा की रक्षा होती है। उपजाऊ भूमियों के निवासी संयम रहित होकर भूखों मरते हैं और संयमी पुरुष, ऊसर भूमि को कमा कर, धनधान्य से पूरित हो जाते हैं। जिस भारतवर्ष में अनाज के कोष भरे रहते थे और जिस पवित्र भूमि पर दूध की नदियां बहतीं थीं, उसी भारतभूमि में आज बच्चे दूध बिना बिलख-बिलखकर मर रहे हैं और जनता के तीसरे भाग को भरपेट खाने को नहीं मिलता। इसका कारण वही संयम का अभाव और ब्रह्मचर्य का ह्रास है। ब्रह्मचर्य के आदर्श तक पहुंचने के लिए मार्ग का पहला पड़ाव यम नियमों का पालन है। जो हिंसा से मुक्त नहीं है, जो असत्य के गढ़े में गिरा हुआ है, जो दूसरों के अधिकारों की आकांक्षा नहीं छोड़ता, जिसने अपनी कर्म और ज्ञान की इंद्रियों को वश में नहीं किया और जो विषयों का दास है वह ब्रह्मचर्य की ओर पहला पग भी उठाने की शक्ति नहीं रखता। प्राचीन आर्यों की प्रार्थना नित्य यह होती थी कि पृथ्वी लोक, अंतरिक्ष लोक और द्यु लोक उनके लिए सुखकारी हों प्राचीन शास्त्रों में मन, वाणी और कर्म तीनों से प्रार्थना करने का विधान है। इसलिए शांति पाठ भी उनका ऐसा ही होता था। मन से उनकी इच्छा होती थी कि किसी लोक में जो

कुछ भी है वह उनके लिए शांतिदायक हो। वाणी से भी वह इसी की विधि का अध्ययन तथा अध्यापन करते थे और कर्म भी वे ऐसे ही करते थे जिससे संसार की सब शक्तियां उनके अनुकूल हों।

पृथ्वी लोक अनुकूल हो, शांतिदायक हो—इसका क्या तात्पर्य है ? इसका तात्पर्य है कि भूमि हमारे अनुकूल अनाज, फल और औषध उत्पन्न करे। इसके लिए आवश्यक है कि वर्षा समयानुकूल हो। जहां ऐसी वर्षा नहीं, वहां परिश्रम से खेती को तालाब और कूप के जल से सींचा जाए। फिर खोत के इर्द-गिर्द बाड़ करके उसकी जंगली जानवरों से रक्षा की जाए और बाहर के लुटेरों से राष्ट्र की सेना उसकी रक्षा करे। परंतु इन सबसे बढ़कर आवश्यक यह है कि कृषिकार स्वयं कच्ची खेती को ही खाना शुरू न कर दें। अब तक किसानों में प्रसिद्ध है कि जो किसान प्रलोभनवश बीच में ही खेती खाने लग जाता है उसकी खेती में 'बरकत' नहीं होती। ऐसे किसान की उसी पुरुष सेउपमा देनी चाहिए जो वीर्य परिपक्व होने से पहले ही उसका नाश करने लगता है। कोई भी पेशा करने वाला हो, जो 'अमानत में खयानत' करता है, जो अपने कर्त्तव्य पालन में विश्वासघात करता है उसके काम में बरकत नहीं हो सकती। हलवाई का शागिर्द जब आते-जाते, डालते-निकालते, स्वयं मिठाई मुंह में डालने लगता है तो उसकी दुकान का दिवाला निकल जाता है। फिर जिस देश का राष्ट्रपति ही रक्षक के स्थान में प्रजा का भक्षक बन जाए उस देश का क्या ठिकाना है। हम पहले कह आए हैं कि शिक्षक और राजा दोनों संयमी और ब्रह्मचारी होने चाहिएं। यदि राजा कर लगाने में कड़ा हो, यदि राजपुरुष प्रजा को लूटना ही अपना अधिकार बना लें, यदि प्रजा राजा के लिए, न कि राजा प्रजा की सेवा के लिए, समझी जाए, तब मनुष्य-विप्लव होने में संदेह क्या है ?

जो अवस्था पृथ्वीलोक की है वही अंतरिक्ष और आकाश की है। वहां की सृष्टि का आधार भी ब्रह्मचर्य ही है। अप्रकाशमान् पृथ्वी प्रकाशमान् सूर्यादिलोकों से ही प्राण शक्ति को ग्रहण करके अपने गर्भ से मनुष्यों को निहाल कर देती है। यदि सूर्य में संयम न हो तो पृथ्वी उससे क्या लाभ उठा सकती है ? यदि वही ब्रह्मचर्य का नियम अंतरिक्ष में काम न करता हो तो सूर्य और इसके गिर्द घूमने वाले ग्रह एक-दूसरे के साथ टकरा कर टुकड़े-टुकड़े हो जाएं। अतः अंतरिक्ष और द्युलोक के नियम जानने के लिए ब्रह्मचर्यपालन की कितनी आवश्यकता है यह सहज ही समझ में आ सकता है ! वास्तव में बात यह है कि ज़मीन और आसमान केवल ब्रह्मचर्य नियम के आधार पर ही खड़े (स्थित) हैं।

सारांश—जिस देश में ब्रह्मविद्या के जानने वाले ब्राह्मण शिक्षक हों, वीर्यवान् संयमी क्षत्रिय राष्ट्र के रक्षक हों, जिस में धर्मानुसार प्रजापालन के साधन प्रजा तक पहुंचाने में वैश्य लगे हुए हों और इसलिए जहां शूद्र शुद्ध भाव से सेवा का व्रत धारण किए हों—उस देश में कल्याण और शांति का राज्य फैलता है।

शब्दार्थ

(पार्थिवा दिव्याः) पृथ्वी और आकाश के पदार्थ, (आरण्याः ग्रामाश्च ये पशवः) और जो वन और ग्राम के पशु हैं (अपक्षाः पक्षिणश्च ये) जो बिना पंख वाले और पंख वाले जीव हैं (ते) वे सब (जाता ब्रह्मचारिणः) ब्रह्मचारी से प्रसिद्ध होते हैं अर्थात् ब्रह्मचर्य के प्रभाव से उत्पन्न होते हैं (ब्रह्मचर्य प्रभावाद् उत्पन्ना इत्यर्थः—सायण)।

22

पृथक् सर्वे प्राजापत्याः प्राणानात्मसु विभ्रति।
तान् सर्वान् ब्रह्म रक्षति ब्रह्मचारिण्याभृतम्।।

अथर्व., कांड 11, अ. 3, सूक्त 5, 22

मंत्र सार

एक मनुष्य की प्रकृति दूसरे से मिलती नहीं है। सब अपने जुदे-जुदे संस्कार साथ लेकर उत्पन्न होते हैं। सबके एक सी ही शक्तियां नहीं और न एक से उद्देश्य हैं। उनके कर्मानुसार उनकी रुचियां पृथक्-पृथक् हैं। सब एक ही रस्सी में बांधे नहीं जा सकते। कवि ने ठीक कहा है—'भिन्नरुचिर्हि लोकः।' कह सकते हैं कि जितने मनुष्य हैं उतनी ही उनकी लगन हैं। इन विविध रुचियों का प्रादुर्भाव कैसे होता है ? यदि शिक्षक इन सबको गडरिए की तरह हांकने वाला हो तो उनके अंदर कोई शक्ति ही दिखाई नहीं देती। वे भेड़ों के गल्ले की नाईं चल देते हैं और जब शिक्षक रूपी गडरिया एक पल के लिए भी उनसे ओझल होता है तो उनके लिए सीधे रास्ते चलना कठिन हो जाता है।

जीवात्मा मानसिक, वाचिक और कायिक कर्म करने में स्वतंत्र है। केवल उन कर्मों का फल भोगने में वह परतंत्र है। इस स्वतंत्र कर्त्ता के अंदर स्वतंत्र ही प्राण शक्ति है। यदि उसे दबा दिया जाए तो 'जीवित शव समान वह प्राणी' की लोकोक्ति उस पर घट जाती है। वह स्वाभाविक के तुल्य हुई शक्तियां किस प्रकार लाभदायक हो सकें ? इसके लिए आवश्यक यह है कि आचार्य अपने शिष्यों में वेद-ज्ञान के भरने का यत्न करे। उनको अपनी मानसिक शक्तियों का दास बनाने की चेष्टा न करे। फिर किसी प्रकार की चिंता नहीं रहती। आचार्य का स्वाभाविक रीति से ब्रह्मचारी में भरा वेद ज्ञान स्वयं उनके विकास का साधन बनता है।

बालक के अंदर उसकी प्रकृति के अनुसार ही विचित्र प्रश्न उत्पन्न होते हैं। मूर्ख अध्यापक उनको दबाने की चेष्टा करता है। प्रत्येक अध्यापक अपना गौरव स्थिर रखने के लिए आवश्यक समझता है कि वह अपने आपको अपने शिष्यों के सामने सर्वज्ञ सिद्ध करे। वह भूल जाता है कि शायद उसके सपुर्द ऐसा बालक किया गया है जो पूर्व जन्म में उससे कहीं अधिक उन्नति कर चुका है। यदि शिष्य की बुद्धि

गुरु की अपेक्षा तीव्र है तो ऐसे बर्ताव से उसको बड़ा गहरा धक्का लगता है। यह भूल नहीं जाना चाहिए कि आचार्य का काम केवल शिक्षा देना ही नहीं, शिक्षा ग्रहण करना भी उसका कर्त्तव्य ही नहीं अधिकार है। अपने बीस वर्षों के आनुपूर्वो अनुभव से मैं कह सकता हूं कि जिन शिक्षकों ने जीवात्मधारी बालकों को केवल जड़ यंत्र समझकर उनको रेवड़ की तरह हांकने का यत्न किया उन्होंने न केवल अपने आधीन विद्यार्थियों की उन्नति ही रोक दी प्रत्युत अपने आपको ही अवनत किया। परंतु जिन्होंने इन आत्म संपन्न प्राणधारियों को केवल मार्ग दिखाना ही अपना कर्त्तव्य समझा उन्होंने न केवल अपने शिष्यों के आत्मा को विचित्र प्रकार से विकसित ही किया प्रत्युत अपनी दैवी शक्तियों को भी प्रादुर्भूत किया। इसका विशेष कारण भी है। जो वाणी पर ही सारा निर्भर न करके कर्म का आश्रय लेते हैं उन्हें अपने शिष्यों का मार्ग दर्शक बनने के लिए उन गुणों का अनुकरण स्वयं करना पड़ता है जिन्हें वे विद्यार्थियों के मनों में भरना चाहते हैं।

वेद-ज्ञान ब्रह्मचारी के अंदर क्यों भरना चाहिए ? इसलिए कि वैदिक शिक्षाओं में से वह अपनी प्रकृति के अनुसार स्वयं मार्ग चुन लेवे। गुरु का परिमित, एकदेशी ज्ञान शायद ही एक दो शिष्यों के लिए उपयागी हो। वेद ज्ञान में इतनी लचक है कि उसे प्रत्येक मनुष्य अपनी आवश्यकता के अनुसार उपयोगी बना सकता है। गुरु परंपरा से जिस ज्ञान को ग्रहण करते आए हैं उसमें जो बल है वह एक व्यक्ति के कृत्रिम रीति से उपार्जन किए ज्ञान में नहीं हो सकता। इसलिए वेद द्वारा भगवान का आदेश है कि जिस मनुष्य जाति के अंदर ज्ञान प्राप्त करने का विशेष कारण (बुद्धि) विद्यमान है उसकी भलाई इसी में है कि उस कारण को स्वाभाविक रीति से पुष्ट तथा विकसित करने के लिए उसे हिला दिया जाए, उसे बलात्कार से खींचकर किसी एक ओर लगाने का यत्न न किया जाए। जब तक संसार में ब्रह्मचर्य के मूल साधनों को फैलाने का यत्न न होगा तब तक बढ़ा हुआ राग द्वेष उस संसार को, जिसे उसके निर्माता ने उन्नति का धाम बनाया था, नरक कुंड ही बनाता रहेगा।

शब्दार्थ

(सर्वे प्राजापत्याः) प्रजापति[1] आचार्य के सब शिष्य (पृथक्) भिन्न-भिन्न रुचि वाले होकर (आत्मसु प्राणान् विभ्रति) अपने शरीर में प्राणों को धारण करते हैं। (तान् सर्वान्) उन सब शिष्यों को (ब्रह्मचारिणि) ब्रह्मचारी[2] आचार्य में (आभृतम्) रखा हुआ (ब्रह्म) ज्ञान (रक्षति) रक्षा करता है।

1, 2. ब्रह्मचर्य सूक्त का 16वां मंत्र देखो।

23

देवानामेतत् परिषूतमनभ्यारूढ़ं,
चरति रोचमानम्।
तस्माज्जातम् ब्राह्मणं ब्रह्म ज्येष्ठं,
देवाश्च सर्वे अमृतेन साकम्। 23

अथर्व., कांड 11, अ. 3, सूक्त 5, 23

मंत्र सार

इससे पहले मंत्र वे वेद-ज्ञान ब्रह्मचार के अंदर भर देना ही आचार्य का कर्त्तव्य बतलाया है। यह क्यों ? इसका हेतु इस मंत्र में बतलाते हैं। कल्पना करो कि एक बड़ा भारी यंत्र है जिसमें बहुत सी कलें चल रही हैं, सैकड़ों पहिए चक्कर काट रहे हैं और बीसियों प्रकार की लाभकारी वस्तुएं तैयार हो रही हैं। यदि किसी साधारण मनुष्य को उस कलाघर में अपना काल-यापन करना है तो क्या यह आवश्यक नहीं है कि कलाघर में प्रवेश करने से पहले वह उस यंत्र के एक-एक पुर्जे से परिचित हो जाए ! इस काम के लिए कौन उत्तम शिक्षक हो सकता है ? यदि कलाघर के निर्माता इंजिनियर की निर्मित तद्विषयक पुस्तक का पाठ कराने वाला योग्य शिखक मिल जावे और एक-एक वर्णन को कलाघर पर घटाता चला जाए, तभी कलाघर का पथगामी कलाघर से लाभ उठा सकता है, अन्यथा वह पहियों के चक्कर में फंसकर जान दे बैठने के अतिरिक्त और क्या कर सकता है ?

यह संसार मनुष्य के लिए सबसे बड़ा असीम कलाघर है। इसके अंदर, मानवी कलाघरों की तरह, केवल निर्जीव जड़ सृष्टि ही नहीं, प्रत्युत चेतन सृष्टि भी भ्रमण कर रही है। इस विचित्र कलाघर की दिव्य सृष्टि संपूर्ण अनादि निर्माता ने ही निर्माण की है। आठों वसु जिनके अंदर सारी सृष्टि निवास करती है, ग्यारह रुद्र जिनके मिले रहने से स्थिति और जिनके बिछुड़ जाने से मौत और रोना होता है, संवत्सर के बारहों आदित्य, विद्युत और यज्ञ यह सब उसी प्रकाशस्वरूप से प्रकाशित होते हैं। वह इन सबका प्रकाशक है। और फिर इन देवों में अमरपन भी उसी ने डाला है। ये सब प्रकाशक देव जहां अपना प्रकाश उसी स्व-प्रकाशस्वरूप से प्राप्त करते हैं, वहां इन्हें प्रवाह से अनादि भी इसी ने बना छोड़ा है। प्रलय के पश्चात् जब-जब सृष्टि होती

है तब-तब ही ये शक्तियां अपना काम करती हैं—'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पनयत् दिवं च पृथिवीञ्चान्तरिक्षमथो स्वः।'

विधाता ने सूर्य चन्द्र, अन्य प्रकाशमान लोकान्तर तथा पृथ्वी, आंतरिक्षादि पूर्व कल्प की तरह ही निर्माण किए हैं। इन सबका रचयिता, इस कलाघर का निर्माता स्वयं कैसा है ? जगत् के सब प्रकाशमान लोक उसके वश में हैं। सांसारिक इंजिनियर तो कलाघर निर्माण करके अलग हो सकता हैं, परंतु यह इंजिनियर अपने निर्माण किए कलाघर में व्यापक है, इसलिए यह कलाघर कभी बंद नहीं होता। कलाघर के निर्माता मनुष्य को पकड़कर अलग कर दें तो उसके कलाघर की समाप्ति हो जाती है, परंतु यह संसार रूप माया का स्वामी ऐसा मायावी है कि इसे कोई पराजित नहीं कर सकता। यह प्रकाश स्वरूप सबके ऊपर विचरता है। यह जहां सूक्ष्म से सूक्ष्म इतना है कि सूक्ष्मतर पदार्थों के अंदर भी विद्यमान है वहां इतना बड़ा भी है कि सब पदार्थों को घेरे हुए है। इसकी लपेट से बाहर कोई नहीं है।

जो ऐसा ब्रह्म सबसे बड़ा और सबका स्वामी है, जिससे संसार रूपी यह विचित्र 'कलाभवन' न केवल निर्माण ही किया गया है प्रत्युत जिसके आश्रय पर ही यह स्थिति है। तज्ज×तत्अन—उसी से सब सृष्टि होती, उसी पर स्थित रहती और उसी में लय होती है। वह सबको प्रकाश देता हुआ और सबका आधार होता हुआ भी स्वयं किसी आधार की अपेक्षा नहीं रखता। उसी ने इस सारे ब्रह्मांड को रचकर उसका ज्ञान मनुष्य को दिलाने के लिए वेद का प्रादुर्भाव किया है। जिसने आंख पीछे दी, पहले उसे दिखलाने के लिए सूर्य का निर्माण किया, उसी ब्रह्म ने मनुष्य की बुद्धि को प्रदीप्त करने के लिए सत्यज्ञान का संसार में प्रसार किया है।

निस्संदेह सीधे मार्ग पर चलाने के लिए योग्य ब्रह्मचारी को सांसारिक आचार्य की आवश्यकता है, परंतु यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति के लिए ज्ञान के प्रसारक परमात्मा और जिज्ञासु के बीच में कोई तीसरा पर्दा नहीं आना चाहिए। वहां आत्मा की ही पहुंच है, इसलिए धन्य हैं वे नररत्न जो सत्य विद्या की प्राप्ति का मार्ग सांसारिक आचार्य से जानकर सीधे ज्ञानेश्वर की शरण में जाते हैं क्योंकि उसी में जीवन ढूंढ़ने से महत्त्व की प्राप्ति होती है।

शब्दार्थ

(देवानाम्) सब दिव्य शक्तियों का वा इंद्रियों का (परिषूतम्) संपूर्ण रूप से निचोड़ा हुआ सार (एतत्) यही ब्रह्मचर्य रूप होकर (रोचमानम्) सब सूर्यादि नक्षत्रों में चमकती हुई शक्ति है, जो (अनभ्यारूढं) किसी से न दबने वाली (चरित) सर्वत्र गमन करती है। (ब्राह्मणम्) ब्रह्म संबंधी (ज्येष्ठम्) सर्वोत्कृष्ट (ब्रह्म) ज्ञान वेद (तस्मात्) उसी शक्ति से (जातम्) उत्पन्न हुआ है। और (अमृतेन साकम्) अमरता के साथ (सर्वेदेवाः) सब दिव्य शक्तियां अथवा इंद्रियां भी उसी से पैदा हुई हैं।

24

ब्रह्मचारी ब्रह्म भ्राजद् विभर्ति,
तस्मिन्देवा अधि विश्वे समोताः।
प्राणापानौ जनयन्नाद् व्यानं,
वाचं मनो हृदयं ब्रह्म मेधाम्। 24

अथर्व., कांड 11, अरु. 3, सूक्त 5, 24

मंत्र सार

ब्रह्म में जिसकी गति हो उसी को ब्रह्मचारी कहते हैं। ब्रह्म तेजस्वरूप है; जो स्वयं तेजस्वी न हो उसकी तेजस्वरूप में गति कैसी हो सकती है। वेद में इसलिए आदेश है कि तेजस्वरूप परमात्मा से तेज की याचना पहले करो–'तेजोऽसि तेजो मयि धेहि।' जब तक ब्रह्मचारी के ज्ञानचक्षु खुल नहीं जाते तब तक वह ज्ञानस्वरूप का न ज्ञान प्राप्त करता है, न उसकी ओर गमन करता है और न ही उसको प्राप्त होता है। परंतु जब वह ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है तब उस ब्रह्म के निर्मित सब देव (वसु-रुद्र-आदित्य-विद्युत्-यज्ञ) उस ब्रह्मचारी में ओत-प्रोत हो जाते हैं–अर्थात् ब्रह्मचारी उनके यथार्थ स्वरूप को समझने लगता है। इसमें से एक-एक के तत्त्व को वह खोलकर रख देता है और उस ज्ञान की सहायता से वह अपने तथा अन्य मनुष्यों के जीवन के लिए प्रकाश प्राप्त करता है। लोग ब्रह्मचारी को उसके गुणों से जानते हैं और तब उसके पीछे चलते हैं।

प्राण, अपान और व्यान-प्राणों की गति का ज्ञान सबसे पहले होता है। वह प्राणों को वश में करना सीखता है। प्राणों द्वारा अंदर के विकारों को बाहर कैसे फेंकना, बाहर की शुद्ध प्राण वायु को कैसे भीतर ले जाना, सारे अन्तःस्थ वायु की समान गति को कैसे स्थिर रखना, इस सारी क्रिया पर ब्रह्मचारी ही प्रकाश डाल सकता है। संसार की सारी गति प्राणों की गति पर ही निर्भर है। एक जापानी वीर शारीरिक व्यायाम आरंभ करने से पहले क्यों दीर्घश्वास तथा प्रश्वास का अभ्यास करता है ? इसलिए कि प्राणों की गति ठीक होने से ही व्यायाम द्वारा शरीर कमाया जा सकेगा। एक बोझ उठाने वाला पहलवान चार मन की मूगरी पर हाथ डालने से पहले प्राणों

को क्यों वश में करता है ? इसलिए कि वह जानता है कि मूगरी को उठाकर स्थिर रखने के लिए प्राणों की साधना आवश्यक है। जिन वक्ताओं ने प्राणों को वश में करना नहीं सीखा वे बार-बार पानी पीते हैं तथा गला और स्वास्थ्य सब कुछ व्याख्यान पर न्यौछावर कर देते हैं। एक प्रबंधकर्त्ता आई हुई विपत्तियों का सामना नहीं कर सकता यदि प्राण उस के वश में न हों। इसके साथ ही आत्मा को परमात्मा में जोड़ने का साहस भी प्राणों को वश में करके ही हो सकता है। इसलिए उपनिषत्कार ऋषि ने कहा है–

प्राणस्येदं वशे सर्वं त्रिदिवे यत्प्रतिष्ठितम्।
भ्रातेव पुत्रान् रक्षस्व श्रीश्च प्रजां च विधेहि नः।।

तीनों लोकों में जो कुछ अवस्थित है वह सब प्राण के वश में ही है। हे प्राण ! जैसे माता पुत्रों की रक्षा करती है वैसे तुम हमारी रक्षा करो, हमारे लिए शोभा और ज्ञान की वृद्धि करो।

जब प्राण वश में हुए तभी वाणी वश में होती है। इहलोक तथा परलोक दोनों की सिद्धि के लिए वाणी का वश में होना बड़ा भारी साधन है। यजुर्वेद में वाणी की महिमा इस प्रकार बतलाई गई–'सा विश्वायुः, सा विश्वधाया, सा विश्वकर्मा।' वाणी ने जहां मनुष्य को चक्रवर्ती राज्य दिलाया है वहां वाणी के दुरुपयोग ने बादशाहतों के तख़्ते भी पलट दिए हैं। उस वाणी को ब्रह्मचारी ही कल्याणकारिणी बना सकता है। जिसने वाणी के दुरुपयोग से शत्रुओं की संख्या बढ़ा ली हो वह शांत चित्त होकर नहीं बैठ सकता। मन को संसार का विजेता बतलाया है।

मन के हारे हार है, मन के जीते जीत।
परमातम को पाइए, मन ही की परतीत।।

ऐसे बली मन को क्रमशः साधनों द्वारा ब्रह्मचारी ही काबू कर सकता है। तब हृदय की विशालता का प्रादुर्भाव होता है। संकुचित हृदय संसार यात्रा में पग-पग पर ठोकरें खाता है और जो चंचल मन ऐसे व्यक्ति को विविध नाच नचाता है वह हृदय को महान् कैसे बनाएगा ? 'ओम् महः पुनातु हृदये'–हे परमेश्वर ! अपनी महानता से हमारे हृदयों को पवित्र करो, यह नित्य की प्रार्थना कैसी महत्वपूर्ण है। जब तक हृदय उदार नहीं तब तक उस महान् परमेश्वर की महिमा को समझना कैसे हो सकेगा ? उसके विस्तृत जगत् का मर्म बतलाने वाले वेद अपने भेद को उसके लिए कैसे प्रकट कर सकेंगे ?

बाल-ब्रह्मचारी वेद के भेद को खोलकर सर्वसाधारण के सामने रख सकते हैं। वह वेद नहीं जो लेखनी और मसीपात्रों में बंधा हुआ है प्रत्युत वह वेद जो देश और काल की सीमा से परे है। व्याकुल संसार ने जब-जब ब्रह्मचारी के दर्शनार्थ हृदय से प्रार्थना की तब-तब बाल-ब्रह्मचारी ने दर्शन दिए। अब फिर प्रजा व्याकुल होकर बाल-ब्रह्मचारी की बाट जोह रही है। दयामय प्रभो ! यदि आपके प्रकाश से तेज धारण

करने में कोई ब्रह्मचारी मग्न है तो उसे शीघ्र तेज प्रदान करो, ताकि वह संसार से संदेह और अविद्या के बादलों को छिन्न-भिन्न करके उड़ा दे।

शब्दार्थ

(ब्रह्मचारी) तेजस्वरूप परमात्मा में विचरने वाला ब्रह्मचारी (भ्राजत्) उसके तेज से स्वयं चमकता हुआ (ब्रह्म) परमात्मा को (बिभर्ति) धारण करता है। तदनन्तर (तस्मिन्) उस तेजस्वी ब्रह्मचारी में (विश्वे देवाः) सब वसु आदि देव (समोताः) पूर्ण रूप से ओत-प्रोत हो जाते हैं, तद्वत् हो जाते हैं। तभी वह संयमी (प्राणापानौ) प्राण, और अपान को (व्यानम्) व्यान को वाचम्) मधुमती वाणी को (मनः) शांत मन को (हृदयम्) हृदय की विशालता को (ब्रह्म) वेदज्ञान को (आत्) और (मेधाम्) उसके योग्य विकसित बुद्धि को (जनयन्) उत्पन्न करता है, युक्त होता है।

25 : 26

चक्षुः श्रोत्रं यशो धेह्यन्नं रेतो लोहितमुदरम् ।। 25 ।।
तानि कल्पद् ब्रह्मचारी सलिलस्य पृष्ठे
तपोऽतिष्ठत् तप्यमानः समुद्रे।
स स्नातो बभ्रुः पिंगलः पृथिव्यां बहु रोचते ।। 26 ।।

अथर्व., कांड 11, अ. 3, सूक्त 5, 25. 26

मंत्र सार

'स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्'—वह पूर्वजों का भी आचार्य, गुरुओं का भी गुरु हम सबको क्रमशः ब्रह्मचर्य की अंतिम सीढ़ी पर ले जाता है। हमने सबसे पहले आंख को दृढ़ करना है, फिर श्रोत्र और उसके साथ अन्य सब इंद्रियों को। नित्य संध्या में इसीलिए ऋषियों ने सर्व शुद्धि की प्रार्थना बतलाई है। वाणी, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, नाभि, हृदय, कंठ, शिर, बाहु और हाथों को सावधान करके और उनको वश में रखने की प्रतिज्ञा करके प्रार्थी इन सबकी पवित्रता के लिए याचना करता है। यही संध्या का मार्जन मंत्र है। इसमें शुद्धि का ठीक प्रकार बतलाया है—'भूः पुनातु शिरसि'—प्राणेश्वर परमात्मा शिर को पवित्र करे, प्राणों की गति का साधन शिर ही है। 'भुवः पुनातु नेत्रयोः'—दुखों से अलग रखने वाला परमेश्वर आंखों को पवित्र करे, दुःखों का आरंभ ही आंखों के बिगड़ने पर होता है। आंखें बिगड़ने न पाएं। 'स्वः पुनातु कण्ठे'—सारे सुख का स्थान कंठ है। उसकी पवित्रता के लिए सुखस्वरूप परमात्मा से प्रार्थना है। 'महः पुनातु हृदये'—प्रभु अपनी महानता से हृदय को पवि (विशाल) करे। 'जनः पुनातु नाभ्याम्'—अपनी जनन शक्ति से परमेश्वर स्त्री और पुरुष दोनों की जननेंद्रियों को पवित्र करे, जिससे वे उन्हें सवादेंद्रिय न बनावें। 'तपः पुनातु पादयोः'—तप शक्ति हमारे पैरों में आवे। 'सत्यं पुनातु पुनः शिरसि'—सत्यरूप परमात्मा फिर से शिर को पवित्र करे। जिससे मस्तिष्क में ठीक सोचने की शक्ति आवे, और 'खं ब्रह्म पुनातु सर्वत्र'—चारों ओर, ऊपर-नीचे व्यापक परमात्मा शुद्ध करे। रक्षा करे। ऊपर के 25वें मंत्र में सिलसिला और है। आंख और कान में सब इंद्रियां आ गईं। जब वे पवित्र हों तब अपयश नहीं होता, प्रत्यक्ष पाप न होने से यश बढ़ता है। यश

से अन्न प्राप्त होता है। शुद्ध अन्न यशस्वी को ही मिलता है। पवित्र अन्न का उपभोग करने वाले का वीर्य शुद्ध होता है। वीर्य का अन्न पर ही आधार है। वीर्य ठीक होने से रुधिर की गति ठीक रहती है। वीर्यहीन पुरुष का रुधिर नियम में नहीं रहता। रक्त की शुद्धि का साधन प्राण वायु है और उसमें वीर्य की अरक्षा से विकार आ जाता है। इन सब शुद्धियों पर उदर की शुद्धि निर्भर है और उदर की शुद्धि के बिना मनुष्य की सारी बनावट अशुद्ध हो जाती है।

यह सारा शुद्धि का क्रम ब्रह्मचर्य के यथावत् पालन पर ही निर्भर है। ब्रह्मचारी इन सब मंजिलों से पार होकर समुद्र के समान गंभीर हो जाता है। और इतना तेज धारण करता है कि सर्वसाधारण से ऊंचा उठ जाता है। जिस प्रकार पर्वत पर चढ़कर महात्मा पुरुष मृत्युलोक के निवासियों के मार्गदर्शक बनते हैं, इसी प्रकार ब्रह्मचारी अपने तपोबल से तेजस्वी होकर ऊपर उठता है। तब विद्यारूपी समुद्र में स्नान से तेज धारण किया हुआ ब्रह्मचारी अपने प्रकाश से सर्वसाधारण को अपनी ओर खींचता हुआ उनकी शुद्धि का साधन बनता है।

इस ब्रह्मचर्य का जब भारत में प्रचार था उसी समय यह देश सारे संसार का शिरोमणि था और सारे संसार के लोग अपनी आचार शुद्धि के लिए इसी 'देव निर्मित' देश की शरण में आया करते थे। अब भी यदि संसार की गिरी हुई दशा का सुधार होगा तो ब्रह्मचर्य के ही पुनरुद्धार से।

शब्दार्थ

हे तेजस्वी ब्रह्मचारी ! तुम हमें (चक्षुः श्रोत्रम्) दृग् शक्ति और श्रवण शक्ति से युक्त आंख और कान तथा अन्य सब शक्तिशाली इंद्रियों को (यशः) निष्कलंक यश को (अन्नम्) पवित्र अन्न को (रेतः) कामवासनाशून्य वीर्य को (लोहितम्) शक्तिमय लाल खून को और (उदरम्) रोग रहित तथा शरीर वर्धक पेट को (धेहि) धारण कराओ ।25 ।

सब मनुष्यों के लिए (तानि) चक्षु आदि इंद्रियों को और यश आदि पदार्थों को (कल्पत्) सामर्थ्य युक्त बनाता हुआ (ब्रह्मचारी) जितेंद्रिय और यशस्वी ब्रह्मचारी ही (सलिलस्य पृष्ठे) गंभीर ज्ञान समुद्र के तल पर (तपोऽतिष्ठत्) तप करता हुआ ठहरता है। इस प्रकार (समुद्रे) ज्ञान समुद्र में (तप्यमानः) तपायाजाता हुआ (स) वह ब्रह्मचारी ही (स्नातः) असली स्नातक होकर, ज्ञान वारिधि में नहाया हुआ होकर, (बभ्रुः) चक्षु आदि इंद्रियों का और यश आदि पदार्थों का धारण करता हुआ (पिंगलः) अत्यंत तेजस्वी होता हुआ (पृथिव्यां) इस पृथ्वी पर (बहु रोचते) नाना प्रकार से सुशोभित होता है ।26 ।

तृतीय भाग

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
तेह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥

यजु., 3. 1. 16.

उपदेश

हिंसक जंतुओं से पूर्ण जंगल में अंधेरी रात को भटकना और रास्ता न पाना कैसा भयानक है ! मनुष्य थर थर कांपता है और डर कर भागता है। जब तक कोई रास्ता बताने वाला और रोशनी के उजाले से भयानक स्थानों से उसको बचाने वाला न मिले उसका हृदय शांति नहीं पाता और उसका भय दूर नहीं होता। समझता है कि अब किसी जंतु ने खाया ! कल्पना कर लो यदि ऐसा न हुआ—किसी खाई व खंदक में गिर गया निकलने का मार्ग न पाया तो भी बिचारा व्याकुल होता रहा और अपनी असमर्थता तथा भटकने पर रुदन किया अथवा अंधेरे में किसी नदी में बह गया तो और भी व्याकुलता का सामना हुआ। निस्संदेह अंधेरे में जंगल की यात्रा कष्टों का घर है। रोशनी के उजाले में मनुष्य अपना पराया तथा ऊंच-नीच सब देख लेता है। अंधेरे में ठोकर पर ठोकर, धक्के पर धक्का लगता है और स्थान स्थान पर गिरता पड़ता है। परमात्मा ने इसीलिए संसार में सूर्य का उजाला किया है कि उससे प्राणी सुरक्षित सुखपूर्वक अपने लक्ष्य तक पहुंच जाएं और मार्ग के कष्टों से आराम पाएं। अहा ! हमारा प्रभु हम पर कैसा दयालु तथा कृपालु है। हर समय हमारी सुध रखता है। हमें गिरने और भय से बचाता है। ठंडी-ठंडी वायु हर उद्देश्य पर हमें प्राप्त है। शीतल जल पीने के लिए है। अच्छी-अच्छी लुभाने वाली वनस्पतियां तथा नदियों के शीतल जल झाग पर झाग लाते हैं और आंखों को तरावट देते हैं और हमारी तप्तोष्ण पृथ्वी को सींचते हैं। समुद्र, बरफ की चट्टानें, सूर्य, चांद व तारामंडल, पृथ्वी के बहुमूल्य पदार्थ, भोज्य पदार्थ हमारी वायु के साधन हैं। यह सब पदार्थ परमात्मा की देन हैं। उनके सहवास में हमें जिस प्रकार आनंद है, वह सृष्टि की किसी वस्तु में नहीं पाया जाता।

कोई अच्छे से अच्छा ख़ाना खाओ। सोने, चांदी अतलस व ज़खफ़्त का भूषण धारण करो। राजा व सम्राट बन जाओ। भूमि व आकाश पर चढ़ जाओ—अगर परमात्मा प्यार न करें तो यह सामान हमें अच्छा नहीं लगता। उसके सामने हम कैसे ही निर्धन,

स्वामीभक्त हों—यदि वे हम से प्रेम करते हैं तो हमारे लिए वही स्वर्गधाम है। क्योंकि वह ऐसा सुंदर, बुद्धिमान, प्रकाशमान, विचित्र आनंदस्वरूप, न्यायकारी सर्वशक्तिमान है कि विशाल सूर्य चंद्रादि उसके द्वार पर खड़े हैं। वायु जिसके आगे हाथ बांधे खड़ी है—जल जिसका सदा आज्ञापालक है, अग्नि जिसका तुच्छ सेवक है, वह महान से महान, तेजस्वी से तेजस्वी है, राजाओं का राजा है, सबका दुःखविनाशक और रक्षक है। जो मनुष्य सच्चे हृदय से उसका उपासक है वह सदा उसके सहायक हैं। वह मनुष्य के साथ हों तो उसके मार्ग व जंगल में चाहे कितनी कठिनाइयां हों किंचितमात्र भयभीत नहीं होता क्योंकि वह सब भय तथा कष्टों का दूर करने वाला है। यह सत्य है कि दुःख उसके नाम से भाग जाते हैं। परंतु कठिनता यह है कि वह बाह्य चक्षुओं से दृष्टिगोचर नहीं होता और न ग्रहण होता है। उसके दर्शन के लिए आत्मा की स्वच्छता तथा अत्यंत पवित्रता और उच्चता आवश्यक है। परमात्मा कहते हैं—'यज्ञमयजन्तदेवाः' कि जिन लोगों ने विद्या के सूर्य से रोशनी पाई है वही शुद्ध होकर हमें देख सकते हैं और जिन मनुष्यों ने विद्या के प्रकाश से अपना आत्मा शुद्ध नहीं किया वह अंधे हैं और सूर्य का दर्शन नहीं कर सकते हैं। सत्य है, जब मूर्ख अपने आलस्य तथा प्रमाद में पड़कर सूर्य से अपनी आंख चुराते हैं और अंधे बन जाते हैं उनका परमात्मा का दर्शन प्राप्त नहीं होता। इसलिए हे परमेश्वर ! वेद का हमारे हृदय में प्रकाश करो ताकि शुद्ध हृदय से हम आपकी शरण में आ सकें और आपके दर्शन करने का आनंद पाने के अधिकारी बन सकें।

2

सख्ये त इन्द्रवाजिनो मा भेम शवसस्पते।
त्वामभिप्रणोनुमो जेतारमपराजितम्॥

ऋक्., 1. 11. 2.

उपदेश

पापी मनुष्य का हृदय सदा कम्पायमान रहता है। परमात्मा की दी हुई ठंडी-ठंडी वायु, पर्वतों की वनस्पतियां तथा शांतिप्रद जल उसे किंचितमात्र भी आनंद नहीं दे सकते। ईश्वरीय रचना को देखता हुआ और हर एक दृश्य तथा वृक्षों के पत्तों तक में उस परमपिता की महान् शक्ति को अनुभव करता हुआ भी हर समय भयभीत रहता है। सांसारिक सर्वोत्तम, महातेजस्वी पदार्थ उसके चित्त को किंचितमात्र भी प्रसन्न नहीं करते। उपवन में भिन्न-भिन्न प्रकार के पुष्पों की सुगंधि बिलकुल व्यर्थ है। चन्द्रमा की शोभा युक्त शीतल चांदनी से उसे किंचितमात्र शीतलता नहीं प्राप्त होती। यत्न करता है कि किसी प्रकार प्रसन्नता प्राप्त हो परंतु सब ओर निराशा पाता है। इतने पदार्थ होते हुए और आनंद लेने के इतने उपायों की उपस्थिति में भी जीवात्मा की निराशा का एक कारण है और वह यह है कि जिस मन के द्वारा इस सृष्टि को उत्पन्न करने वाले स्वामी की अद्भुत लीला को देख जीवात्मा ने मोहित होकर आनंद प्राप्त करना था, वह मन पाप के बोझ से इस प्रकार दबा हुआ है कि उसे भयंकर अवस्था में कुछ नहीं सूझता। मंद कर्मों ने उसको इस योग्य नहीं रहने दिया कि वह किसी समय ईश्वर का चिंतन कर सके। पाप में फंसा हुआ रात दिन खोटे कर्मों की ओर भागता है और परिणाम यह होता है कि उसकी अवस्था क्षण क्षण नीच दशा को प्राप्त हो जाती है। पाप का मैल और उसका बोझ अधिक से अधिक मन पर पड़ जाता है। इस समय अति व्याकुलता अनुभव कर झुंझलाता है और बहुत ही ठोकरें खाता है परंतु बनता कुछ नहीं। यह अवस्था निःसंदेह दया की पात्र है। पर क्या किया जाए ? कर्मफल अवश्य भोगना ही पड़ता है। सुख के सब साधनों की परीक्षा करके जीवात्मा निराश और थकित होकर बैठ जाता है और संसार में बंधनों में फंसा हुआ ही बेबस कहता है कि हे परमात्मन् ! यह अंतरिक्ष मेरे लिए

अभय हो जाए और यह पृथ्वी जिस पर मैं वास कर रहा हूं और मेरे सिर पर अपने बड़े तेज और प्रकाश से चमकने वाला सूर्य मुझे भयदायक न हो। और पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तर दिशाओं से मुझे किंचित भय न हो। अपने मित्रों और उन मनुष्यों से जो कि मेरे मित्र नहीं मुझे कुछ डर न हो ! ज्ञात और अज्ञात दोनों मेरे लिए हानिकारक न हों। रात्रि और दिन मुझे आनंद देने वाले हो। परंतु यह कैसे हो सकता है ? यह सब बड़े शुभ कार्यों का फल है। चित्त की वृत्तियों को दुष्ट भाव से रोका जाए, पाप का मैल मन को किसी प्रकार मैला न करे। अशुभ कामनाएं और खोटे विकल्प मन में कदापि पैदा न हों। तन, मन से ईश्वरपरायण हों तब यह गति हो सकती है कि संसार के सारे पदार्थ इस भय के देने वाले न हों। ईश्वरीय रचना के सब पदार्थ जीवात्मा के लिए कल्याणकारी हैं। यह उसकी अविद्या और मूर्खता है कि पाप कर्मों के अंधकार में फंसकर इन सब से डरने लग जाता है। जब इन शब्दों का भी फल पापी मनुष्य कुछ नहीं देखता तब और भी व्याकुल हो जाता है और बड़ा ही अव्यवस्थित चित्त होकर विचार करता है कि क्या उपाय करूं जिससे चित्त को शांति प्राप्त हो। इस दुर्दशा से बचकर शांति को प्राप्त होऊं। सोचते सोचते एक परिणाम पर पहुंच जाता है और थोड़ी देर के लिए अपने मन से बुरे विचारों को दूर करके शुद्ध हृदय से ईश्वर की शरण में आ जाता है और कहता है कि "हे परमेश्वर ! तेरी मित्रता तथा अनुकूलता में हम अनन्य बल वाले होते हुए किसी से न डरें।"

"हे बल के पति ! सबसे जीतने वाले ! किसी से पराजित न होने वाले प्रभु ! तेरी हम हर प्रकार से स्तुति करते हैं।"

बस इतने में ही चित्त को शांति हो जाती है। प्यारे मित्रो ! उस परमपिता की अनुकूलता और उसकी आज्ञा का पालन क्या ही आनंददायक है। आओ ! हम सब मिलकर उस बलपति के द्वार पर चलें जिससे उनसे बल प्राप्त करके हम इस योग्य हो जाएं कि संसार मात्र की बुरी वासनाओं का मुकाबला करते हुए उस सबसे महातेजस्वी और परमपिता की नित्य स्तुति कर सकें। और हमारे लिए सृष्टि के सब पदार्थ सुखदायी हो जाएं।

3

ओं वसोः पवित्रमसि धौरसि पृथिव्यसि मातरिश्वनो
धर्मोऽसि विश्वधा असि।
परमेण धाम्ना दृ थ्ठं हस्व मा ह्वार्मा ते यज्ञपतिर्हार्षीत्॥

यजु., 1. 2

उपदेश

आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक इन त्रिविध दुःखों से संसार मात्र पीड़ित हो रहा है परंतु यह रोग असाध्य नहीं है। इनकी निवृत्ति के लिए उपाय है। ईश्वरीय नियम है कि जो उपाय किया जाता है तदनुकूल फल की प्राप्ति होती है। मनुष्य अपनी अदूरदर्शिता तथा अविद्या से इन दुःखों में फंसता जाता है फिर उसकी निवृत्ति के लिए यदि विचारपूर्वक उपाय किया जाए तो इष्ट फल की प्राप्ति होती है। जहां आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक दुःखों के लिए अनेक प्रकार की औषधियां और उपाय हैं वहां ईश्वर ने आधिदैविक दुःखों को जड़ से मिटाने वाले उपायों का भी मनुष्यों को उपदेश किया है। परंतु इन सबसे विमुख हो मनुष्य उलटे मार्ग पर चलकर अधिक दुःखी होता है। अविद्या के कारण औषधि न करता हुआ झाड़ा, टोना, मंत्र व यंत्र में अपना समय खोता है। मनुष्य के जीवन के आधार के लिए बहुत से आवश्यक सामान हैं जिनमें से सबसे आवश्यक वायु है। मनों के हिसाब से मनुष्य के अंदर वायु जाती है और फिर बाहर निकलती है। शुद्ध तथा पवित्र वायु में श्वास लिया गया स्वास्थ्य के लिए उसी प्रकार लाभदायक है। अभिप्राय यह है कि आरोग्यता का बहुत सा भाग शुद्ध वायु सेवन पर निर्भर है। इसीलिए परमात्मा के नियम में सूर्य और वृक्ष आदि सब प्रतिदिन वायु को शुद्ध कर रहे हैं। क्योंकि मनुष्य घरों के अंदर अपने श्वास तथा मलमूत्र द्वारा वायु को अति दुर्गन्धयुक्त कर देता है इसलिए सब मनुष्यों के प्रति ईश्वर का उपदेश है कि "हे विद्यायुक्त मनुष्य ! जो तू यज्ञशुद्धि का हेतु है, जो ज्ञान के प्रकाश का हेतु और सूर्य की किरणों में स्थिर होने वाला है, जो वायु के साथ देशदेशांतरों में फैलने वाला है, जो वायु को शुद्ध कर देने वाला है, जो संसार का धारक है तथा जो उत्तम स्थान से मुख को बढ़ाने वाला है, इस

यज्ञ का मत त्याग कर। तथा मेरे यज्ञ की रक्षा करने वाला यजमान भी उसको न त्यागे।''

इसलिए हे प्रिय बंधुवर्ग ! आओ ! ईश्वर की आज्ञा का पालन करते हुए नित्यप्रति अच्छे अच्छे सुगंधिदायक पुष्टिकारक और बुद्धिवर्धक पदार्थों से अग्नि में हवन यज्ञ करें और वायु को इन गुणों से युक्त करके अपने शरीरों को आरोग्य रख सकें जिससे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति में सुगमता हो।

4

ओं अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मेराध्यताम् इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि ॥
यजु., 1. 5.

उपदेश

परमेश्वर ने सब मनुष्यों को नियमपूर्वक सेवन करने योग्य धर्म का उपदेश किया जो कि न्यायमुक्त परीक्षा किया हुआ, सत्य लक्षणों से प्रसिद्ध तथा सब का हितकारी तथा इस लोक अर्थात् संसारी और पर लोक अर्थात् मोक्ष सुख का हेतु है। वही सबको आचरण करने योग्य है और इसे विरुद्ध जो कि अधर्म कहलाता है। वह किसी को कदाचित ग्रहण करने योग्य नहीं हो सकता क्योंकि सर्वत्र इस का त्याग करना है। इस प्रकार हम को भी प्रतिज्ञा करनी चाहिए कि हे परमेश्वर ! हम मनुष्य वेदों में आप के प्रकाशित किए सत्य धर्म का ही ग्रहण करें तथा हे परमात्मा; आप हम पर ऐसा अनुग्रह कीजिए कि जिससे हम लोग उक्त सत्य धर्म का पालन करके, अर्थ, काम, मोक्ष रूप फलों को सुगमता से प्राप्त हो सकें। जैसे सत्य व्रत के पालन से आप व्रतपति हैं वैसे ही हम लोग भी आपकी कृपा और अपने पुरुषार्थ से यथा शक्ति सत्यव्रत के पालने वाले हों तथा धर्म करने की इच्छा से अपने सत्य कर्म के द्वारा सब सुखों को प्राप्त होकर सब प्राणियों को सुख पहुंचाने वाले हों। ऐसी इच्छा सब मनुष्यों को करनी चाहिए।

मनुष्यों का आचरण दो प्रकार का होता है, एक सत्य का और दूसरा असत्य का। अर्थात् जो पुरुष वाणी, मन तथा शरीर से सत्य का आचरण करते हैं वे देव कहलाते हैं और जो असत्य का आचरण करने वाले हैं वह असुर, राक्षस आदि नामों के अधिकारी होते हैं। क्योंकि सत्य भाषण आदि धर्मों के पालन करने से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि होती है इसलिए इसके लिए ईश्वर से प्रार्थना करने के लिए वेदों में इस प्रकार आज्ञा दी है कि हे सत्य भाषण आदि धर्मों के पालन करने और सत्य उपदेश करने वाले परमेश्वर ! आप में जो असत्य से पृथक् वेद विद्या, प्रत्यक्ष आदि प्रमाण, सृष्टि कर्म, श्रेष्ठ विचार तथा आत्मा की शुद्धि आदि प्रकारों से जो निर्भ्रम, तथा सिद्धांतों के प्रकाश कराने हारों से सिद्ध हुआ, अच्छी प्रकार परखा

गया—सत्यभाषण, सत्यमनन सत्यानुष्ठान है इसका अनुष्ठान तथा नियम से ग्रहण करने और जानने और इसकी प्राप्ति की इच्छा करता हूं। मेरे इस सत्यव्रत को आज अच्छी प्रकार सिद्ध कीजिए जिससे कि मैं उक्त सत्यव्रत के आचरण का नियम करूं।

इसलिए प्यारे भ्रातृगण ! आओ ! दोनों समय नित्यप्रति संध्या करते हुए ईश्वर से याचना करें और उसकी सत्ता और दया से इस योग्य बनने का यत्न करें कि हमारे मन वाणी और कर्म सब सत्य ही हों। हमारे हर प्रकार के कर्म सत्य ही हों। सर्वदा सत्य का चिंतन करें। वाणी द्वारा सत्य ही प्रकाशित करें और कर्मों में भी सत्य का ही पालन करें।

5

कस्त्वा युनक्ति स त्वा युनक्ति कस्मै त्वा युनक्ति।
तस्मै त्वायुनक्ति कर्मणे वां वेषाय वाम् ॥

यजु., 1. 6.

उपदेश

परमात्मा हमको सत्य कर्म करने के लिए प्रेरणा करते हैं। इस लोक तथा परलोक के सुख के लिए विद्या, ज्ञान तथा धर्म के सेवन से वृद्ध अर्थात् बड़े बड़े विद्वानों का सत्कार करना और अच्छी प्रकार पदार्थों के गुणों के मेल और विरुद्ध के ज्ञान से शिल्प विद्या का प्रत्यक्ष करना और नित्य विद्वानों का समागम अथवा शुभगुण, विद्या, सुख, धर्म तथा सत्य का नित्य दान करना आदि यह सब इस प्रकार के कर्म हैं जिनके बिना मनुष्य को आनंद की प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती। कल्याणकारी परमात्मा हमें उपदेश करते हैं कि सुख के अभिलाषियों को सदा पूर्वोक्त यज्ञ करने उचित हैं। जो मनुष्य इन शुभ कार्यों से पृथक् रह कर अपनी रुचि कुकर्म की ओर बढ़ाते हैं, वे ईश्वरीय नियमानुसार दंड के भागी होकर कभी सुख को प्राप्त नहीं होते। ईश्वर ने मनुष्य को स्वतंत्र पैदा किया है परंतु अपना न्याय स्थिर रखने के लिए भले और बुरे कर्मों को वेद द्वारा सूचित करके सब अच्छे कर्मों की आज्ञा दी है और कहा है कि प्रथम इस वाणी का सेवन करो जो कि ब्रह्मचर्य आश्रम में विद्या पढ़ने और पूर्ण आयु करने के लिए सेवन की जाती है। द्वितीय वह वाणी है जो कि गृहस्थाश्रम में अनेक सुख व उद्योगों से सुखों के देने वाली विस्तार से प्रगट की जाती है। तत्पश्चात् इस वाणी को ग्रहण करो कि इस संसार में सब मनुष्यों के शरीर और आत्मा के सुख की वृद्धि और ईश्वर आदि पदार्थों के विज्ञान को देने वाली, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम में विद्वानों से उपदेश की जाती है। अर्थात् कर्म से ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास के लिए यत्न करके मनुष्य शांति धाम को पहुंच सकता है अन्यथा नहीं। अपनी स्वतंत्रता से जो मनुष्य जो कर्म करता है ईश्वर अपने न्याय के अनुसार उसे फल देते हैं। परमात्मा किसी को भले बुरे कर्म करने के लिए आग्रह नहीं करते। किंतु शुभ कर्मों के करने की प्रेरणा करके उस कर्म को

मनुष्य की स्वतंत्रता पर छोड़ देते हैं। वेद मंत्रों द्वारा ज्ञात होता है कि परमात्मा सदैव अच्छे मार्ग की ओर प्रेरणा करते हैं और आगामी कर्मों को अपने अनंत ज्ञान से भली प्रकार जानते हैं। परंतु किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करते कि जिससे जीव की स्वतंत्रता नष्ट न हो जाए। वही प्रजापति परमेश्वर पुरुषार्थ और अच्छी-अच्छी क्रियाओं के करने की मनुष्यों के लिए वेद के उपदेश द्वारा प्रेरणा करते हैं। वही सब का अंतरात्मा, सर्वव्यापक जगदीश्वर, अंतर्यामी रूप से सब के आत्मा में सत्य का प्रकाश करते हैं और ऐसी विद्या विज्ञानप्रद सब विद्याओं की प्राप्ति और उनके प्रचार की आज्ञा देते हैं। इस भाव को भली प्रकार प्रगट करने के लिए जगत्पिता वेद मंत्र द्वारा प्रश्नोत्तर के ढंग से उपदेश करते हैं। कौन तुझे अच्छी अच्छी क्रियाओं के सेवन की आज्ञा देता है ? जगदीश्वर तुमको विद्या आदिक शुभगुणों के प्रकट करने के लिए विद्वान् व विद्यार्थी होने की आज्ञा देता है। वह किस प्रयोजन के लिए मुझको और तुझको युक्त करता है ? सत्यव्रत के आचरण रूप यज्ञ के लिए, धर्म के प्रचार करने में उद्योगी पुरुष को आज्ञा देता है। वही ईश्वर उक्त श्रेष्ठ कर्म करने के लिए, करने और कराने वालों को नियुक्त करता है। सब गुण और विद्याओं में व्याप्ति के लिए विद्या पढ़ने और पढ़ाने वाले मनुष्यों को उपदेश करता है।

इसलिए जाओ सुख के अभिलाषा करने वालो ! परमात्मा की आज्ञा मानते हुए शुभ कर्म में प्रवृत होओ। सदा भले पुरुषों की संगत करते हुए ईश्वरीय प्रेरणा से प्रेरित होकर अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करो ताकि परमानंद की प्राप्ति हो।

6

श्रमेण तपसा सृष्टा ब्रह्मणा वित्त ऋते श्रिता।
सत्येनावृता श्रिया प्रावृता यशसा परीवृता ॥

अथर्व. 5., 1.

उपदेश

मूर्ख, आलसी और दुराचारी मनुष्य सदैव बुरी अवस्था में देखने में आया है। न तो धन उसके पास है, न उसका आत्मा प्रसन्न है और न कोई दूसरा उसको देखकर प्रसन्न हो सकता है। उसका जीवन दुःखमय तथा भोग विलास में डूबा हुआ मालूम होता है। यह कष्ट और निर्धनता किन्हीं उन कर्मों के करने का परिणाम है जो उसने परमात्मा की आज्ञा के भंग करने में किए हैं। सत्य है, वास्तव में ऐसा ही है। मनुष्य के दिल और दिमाग–और नाक, आंख, हाथ, पांव व शरीर के सब अंग इसलिए दिए गए हैं कि वह इस शरीर के यंत्र को नेकनीयती से चलाए और दिनभर सूर्य के प्रकाश में काम करे। जिस मनुष्य का शरीर यंत्र काम नहीं करता या वह चलाना नहीं जानता या चलाने में दुराचारी तथा बुरे स्वभाव वाला है कोई मनुष्य उसके पास नहीं आता: और न उसका विश्वास करता है। वह दर दर धक्के खाता फिरता है। ऐसे मनुष्य की आयु अगर खराब न हो तो क्या हो और अगर वह जलील ख्वार न हो तो क्या हो ? परमात्मा ने इस अपवित्र जीवन से बचने के लिए अपनी अमूल्य दया से कहा है 'अंतर की दृढ़ता, हिम्मत व पुरुषार्थ, नेकनीयती व सदाचार ही तमाम संपत्तियों तथा ऐश्वर्यों का कारण है।' मनुष्य की शानशौकत, मानप्रतिष्ठा, केवल पुरुषार्थ, तप और ज्ञानप्राप्ति पर निर्भर है। जो मनुष्य सत्यवादी व सदाचारी है, और तन मन से काम में लगा रहे दुनिया की संपत्ति तथा मान उसी का है। संसार में जिस मनुष्य ने अपने दिल तथा दिमाग से काम लिया तथा अपनी उन्नति में सदा परायण रहा और ज्ञानप्राप्ति से सुभूषित हुआ वह यदि निर्धन था तो धनवान हो गया। यदि विद्याशून्य था तो विद्वान् बन गया। यदि कोई मान प्रतिष्ठा न थी तो मान पद को प्राप्त कर लिया। अरस्तू एक निर्धन पिता का पुत्र था किंतु उसकी विद्वत्ता की प्रसिद्धि ने सिकंदर जैसे सम्राटों को अपना भक्त बना लिया। सुकरात

यद्यपि गरीब था परंतु उसकी विद्वत्ता और मान-प्रतिष्ठा की प्रसिद्धि संसार भर में फैली हुई थी। स्वामी शंकराचार्य व स्वामी दयानंद जी महाराज एक अप्रसिद्ध व्यक्ति थे। न्यूटन तथा लूथर आदि तमाम महान् विज्ञानियों के जीवन की यही अवस्था है कि उनकी आयु में तप, परिश्रम मौजूद था। सच्चाई और विद्या से उन्हें विशेष प्रेम था। इसलिए संसार के ऐश्वर्य उनके पैर चूमते थे। परमात्मा का यह सच्चा उपदेश है–"हे मनुष्यो ! तुम अगर विद्या पढ़ोगे और परिश्रम करोगे, सत्यवादी और सदाचारी होगे और विश्वव्यापी नियम की ओर ध्यान दोगे कि जिस प्रकार यह हमारा चलाया हुआ कारखाना दिन रात काम कर रहा है उसी प्रकार तुम भी करोगे तो तुम्हें भी धन का घाटा नहीं है। मानप्रतिष्ठा का घाटा नहीं। तुम्हारा जीवन बड़ा सुखमय होगा। यदि ऐसा न करोगे तो दुःख के क्लेश से संतप्त होगे।

कौन मनुष्य है कि जो उस परमात्मा की आज्ञा का उल्लंघन करे और कष्ट व दुःख में न पड़े और गिरावट में न पड़े और बुरा व निकम्मा न बन जाए। यह शरीर व आत्मा निकम्मा न रहना चाहिए। गंदा व अपवित्र न होना चाहिए। सत्य और सदाचार को कभी हाथ से न जाने देना चाहिए क्योंकि आनंद इसी में है। उस परमात्मा की इच्छा इसी में है। यही सत्य मार्ग का उपदेश है। यही स्वर्गधाम है। हे मनुष्यो ! आओ !! और उस परमात्मा के इस उपदेश पर कटिबद्ध हो जाओ।"

7

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्त्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः॥

उपदेश

सूर्य उदय होने के पश्चात् जब अंधेरा दूर हो जाता है और चारों ओर प्रकाश ही प्रकाश का राज्य प्रतीत होने लगता है—कैसे विश्वास के साथ मनुष्य उस समय कदम रखते हैं और कैसे विश्वास के साथ हरेक काम को करते हैं ? वही मनुष्य जो अपनी दुर्गन्धमय कोठरी से पग बाहर रखते हुए घबराता था, जो कि प्राण डालने वाली शुद्ध वायु के भंडार से अंधकार में ठोकरों के भय के मारे घबराता था, वह आनंद-पूर्वक वायु सेवन कर रहा है। शांत हृदय होकर तथा निर्भय इधर उधर घूम रहा है। वही गृह है, वही स्थान है, वही वृक्ष हैं, वही प्राकृतिक पदार्थ हैं फिर इतना भारी परिवर्तन क्यों ? इसलिए कि सुख और दुःख, आनंद और क्लेश, शांति और अशांति इन सब अवस्थाओं के लाने वाली ये वस्तुएं नहीं हैं। प्राकृतिक पदार्थों के अंदर स्वयं दुःख सुख के साधन उपस्थित नहीं हैं—नाहीं प्रकृति के असंख्य नियमों के अंदर मनुष्य के हृदय को शांत व अशांत करने की शक्ति विद्यमान है। सुख और दुःख, बंध और मोक्ष इन सब का मूल कारण अंतःकरण है। जिस प्रकार बाह्य दुःख और सुख की उपस्थिति को हम जड़ प्रकाश व अंधकार की अवस्था पर निर्भर देखते हैं—इसी प्रकार आंतरिक दुःख और सुख का निर्भर होना, आत्मिक प्रकाश से संबंध व उससे पृथक् होने पर हमें स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। सूर्य अपनी सारी शक्तियों के साथ कैसा ही उत्तम प्रकाश क्यों न दे रहा हो यदि चक्षु ठीक नहीं हैं उनकी शक्ति में कुछ अंतर है तो आनंद कदाचित् नहीं मिल सकता। यही अवस्था जीवात्मा की है। चारों ओर जीवात्मा को प्रकृति घेरे हुए है। बुद्धि रूपी मिले हुए तो हैं परंतु उनको खोलने का अभ्यास नहीं अंधकारमय प्रकृति ने अपने संसर्ग से आंखें खोलने के योग्य ही नहीं छोड़ा। हृदय के आत्मिक सूर्य का प्रकाश होते हुए भी देखना कठिन हो रहा है। स्वतंत्र होते हुए भी परतंत्र हैं ! कैसी शोचनीय दशा है ? स्वयं चेतनात्मा होते हुए अपने स्वरूप को भुला हुआ अचेतन और अनात्मा का सेवक बन रहा है।

ऐसी हीन अवस्था में व्याकुलता बढ़ती जाती है। शोकसागर के अंदर डूबा हुआ भी अपनी शोचनीय अवस्था पर विचार करने योग्य नहीं रहता। इससे बढ़कर और क्या दुःखदायक अवस्था हो सकती है जो अपने स्वरूप को ही भूल जाए। इससे अधिक दयनीय अवस्था किसकी हो सकती है ? परंतु प्रकाश तो अंतःकरण के अंदर ही उपस्थित है। आत्मिक सूर्य की रोशनी मनुष्य की बनावट के एक एक परमाणु के अदंर भी हो रही है। इसलिए पापी से पापी जीवात्मा के अंदर आत्मिक भावों का चमत्कार दिखलाई देता है। ऐसा समय आता है कि प्रकृति के घोर अंधकार में लिप्त हुए आत्मा को भी अकस्मात् जगमगाहट चुंधिया देती है। जब ज्ञानरूपी नेत्र स्पष्ट खुल जाते हैं–आत्मिक सूर्य का प्रकाश स्पष्ट दिखाई देने लगता है–वह समय बड़ा ही कठिन होता है। यदि एक आंख, इस आश्चर्यजनक दृश्य को देखकर आंखें बंद कर लें तो मनुष्य की फिर वही दुःखदायक अवस्था हो जाती है। किंतु यदि उन खुली हुई आंखों से काम लेना आरंभ कर दे, यदि उनके द्वारा प्रकाशस्वरूप परमात्मा की महिमा का अवलोकन आरंभ कर दे और इस महिमा में लीन हो जाएं तो फिर प्रकृति का अंधेरा उसे अपनी ओर खींच नहीं सकता। इसलिए ऋषि कहते हैं कि "जीवात्मा अपने समान अनादि छिन्न भिन्न होने वाले प्रकृति के पदार्थों में डूबा हुआ परतंत्रता से अज्ञानवश शोक करता है। परंतु जब अपने में व्यापक और अपने से पृथक् स्वप्रकाश स्वरूप परमात्मा को देखकर उसकी महिमा में मग्न होता है तब शोक रहित हो जाता है और आनंद हासिल करता है।"

प्रिय पाठकगण ! क्या तुम्हारे हृदय के अंदर होते हुए, घोर पाप करते हुए भी उस आत्मिक सूर्य का चमत्कार दृष्टिगोचर हुआ है ? और क्या तुमने उस समय उस मार्गदर्शक प्रकाश से सहायता लेने का यत्न किया ? अगर नहीं तो तुमसे बढ़कर मंदभाग्य कौन है ? किंतु निराश मत होओ। चमत्कार तुम्हें फिर कभी दिखाई देगा। अत्यंत पाप करने पर भी फिर कभी तुम्हारा अंतरात्मा प्रकाशित हो जाएगा उस समय अवसर को न छोड़ते हुए अपितु बुद्धि के चक्षुओं को उस दृश्य के अंदर मग्न करके शांत चित्त हो जाना।

8

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन्देवा अधिविश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किं ऋचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥

उपदेश

नदी के किनारे पर देखो कैसे मीठे स्वर से ध्वनि निकल रही है। आगे बढ़कर देखो एक दिव्य धोती धारण कर किए, टीका लगाए, वेदपाठी ब्राह्मण सामवेद का गायन कर रहा है। दूसरी ओर यजुर्वेद के मंत्रों के उच्चारण से एक दूसरा तैलंग ब्राह्मण आकाश को गुंजा रहा है। तीसरी ओर मधुर स्वर वाला महाराष्ट्र ऋग्वेद की ऋचाओं का उच्चारण कर रहा है। हजारों हिंदू इकट्ठे हैं और धन्य ! धन्य !! के शब्दों से आसमान सिर पर उठा रहे हैं। 'सतयुग आ गया ! कैसा धर्म का प्रभाव है ? अब संसार में शांति क्यों न फैलेगी ?' इस तरह के शब्द चारों ओर से उठ रहे हैं। मैं भी इस जोश के दरिया में बहकर धन्य ! धन्य !! करता हुआ घर को चल दिया। इनमें से कई वेदमंत्रों के अर्थ सुने हुए थे। कैसी पवित्र शिक्षा उनसे मिल रही थी। मन ने कहा—"तेरा सब प्रयत्न व्यर्थ है। जिन वेदों की थोड़ी सी शिक्षा सुनकर तू आर्यावर्त्त को सुधारना चाहता है उसके संपूर्ण जानने वाले ये उपस्थित हैं। अब क्या चिंता है ? तेरे सब प्रयत्न निर्मूल हैं।" मैं शांत हो गया। परंतु जब सायंकाल को बाजार गया तो एक शराब की दुकान के पास से गुजरा तो क्या देखता हूं तीनों वेदपाठी एक दूसरे की सेहत के जाम पी रहे हैं। आह ! क्या घोर कष्ट मन को पहुंचा। वेदपाठी और यह करतूत ! आश्चर्य के साथ उनसे पूछा, "महाशय आज प्रातः तुम क्या उत्तम उपदेश दे रहे थे, अब तुम्हें क्या हो गया ?" सामवेदी बोले, क्या उपदेश ? हम तो उजरत (वेतन) लेकर वेद पाठ कर देते हैं। हमें उपदेश से क्या अभिप्राय ?" मन में तरह तरह के विचार उठने लगे। कभी उस पर अविश्वास—कभी उससे निराशा। अर्थात् मनुष्य मात्र पर से विश्वास उठाकर मैं घर पहुंचकर चिंता के समुद्र में निमग्न हो गया। मन की अवस्था शिथिल पड़ गई। काम धंधे से दिल उचाट हो गया। इसलिए दूसरे दिन फिर समय व्यतीत करने के लिए बाहर निकला। क्या देखता हूं कि जंगल में एक बड़ी मनोहर वाटिका है। उसके

मध्य में एक विस्तृत थड़ा है जिसके चारों ओर फूलवाड़ी की बहार आंखों को तरावट दे रही है। थड़े पर एक चौकी पर क्या सुंदर आसन बिछा हुआ है और उस आसन पर कैसे दिव्य मूर्ति महात्मा बैठे हुए हैं। चेहरे से शांति तथा प्रसन्नता की वर्षा हो रही है। होंठों पर कैसी मोहनी मुस्कराहट नजर आ रही है। चारों ओर चुपचाप सैकड़ों आदमी बैठे हुए हैं और महात्मा वेदमंत्रों का उच्चारण कर उनका पदच्छेद, अन्वय आदि करते हुए कैसी मीठी और प्रभावात्मक वाणी में उनका अर्थ समझा रहे हैं। ऐसी प्रचलित भाषा में ऐसे उत्तम दृष्टांत देते हैं कि मूर्ख से मूर्ख भी अपने मार्ग-प्रदर्शन के लिए कुछ शिक्षा उस स्थान से लेकर जाता है। मोहित होकर मैं उसी स्थान पर बैठ गया। कैसे उच्च आचरण की शिक्षा मिल रही है। हिंसा, चोरी, निंदा, छल-कपट, ईर्ष्या और क्रोध आदि त्याग के कैसे-कैसे उत्तम उपाय बताए जाते हैं। आज तो मेरे आनंद की सीमा न रही। जिस प्रकार कल निराश हुआ था। उससे चार गुनी आशाएं बंध रही हैं। वेदार्थ जानने वाले महात्मा के जब दर्शन हो गए तो अब बेड़ा पार है। अभ्यास तथा वैराग्य के कैसे-कैसे उत्तम उपदेश सुन चुका हूं। स्वभाव मानता नहीं कि योग के नियमों से एक क्षण भी अब वंचित रहूं। प्रातः ही महात्मा के दर्शनों के लिए पहुंचता हूं। आशा थी कि महात्मा अभ्यास में लगे होंगे समाधि से आंख खोलेंगे तो दर्शन करूंगा। परंतु वहां जाकर देखता हूं कि अब तक महात्मा शौच ही नहीं गए। महात्मा का एक मुकदमा है और उसके लिए चंदा जमा करने के अभिप्राय से आए हैं। इन दिनों भक्तजनों से चंदा एकत्र हो रहा है। दिल पर ऐसी चोट लगती है कि पागलों की तरह वहां से भागता हूं। संसार से निराश होकर ऐसे समाज से पृथक् होने की सूझती है जिसमें ऐसे आडंबर भरे जाते हैं। उस समय आगे से ऋषि चले आते दिखाई देते हैं। मेरी अवस्था देखकर उन्हें दया आती है और हाथ पकड़कर कहते हैं "कुल वेद उस अविनाशी परमरक्षक परमात्मा में निवास करते हैं। जिसके अंदर सब दिव्य गुण वास कर रहे हैं। इसलिए जो कोई उस परमात्मा को नहीं जानता, वह वेद से क्या कर लेगा और जो मनुष्य उस परमात्मा को जानते हैं, वही संसार के दुःखों से छूटकर मुक्त होते हैं।" ऋषि की आवाज ने जादू का काम किया। मेरी आंखें खुलीं और मैंने जाना कि जब तक वेद के स्वामी परमात्मा को नहीं जानता तब तक वेद तुझे क्या लाभ पहुंचा सकते हैं ? जब तक गुण को नहीं जानता गुणी को कैसे समझ सकता है। प्रभु ! मुझे अपनी सेवा में लो।

9

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।
तस्यावयव भूतिस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ॥

उपदेश

परमात्मा को जानने की क्या आवश्यकता है ? यह प्रश्न है जो कि हरेक हृदय के अंदर बारंबार उठा करता है। जब परमेश्वर को हम इंद्रियों से अनुभव नहीं कर सकते, जबकि वह निर्लेप है और हम सबसे परे है तो हम उसको जानकर भी क्या करेंगे ? इस प्रकार के प्रश्न साधारण पुरुषों के हृदय में उठा करते हैं। और जब तक इन तथा अन्य शंकाओं का समाधान नहीं होता तब तक मनुष्य का मन परमात्मा को जानने तथा उसकी शरण में आने की ओर प्रवृत्त नहीं होता। वेद कहता है क्यों न उसे परमात्मा की शरण में आने की शिक्षा दें। शास्त्र पुकार कर क्यों न कहते रहें कि उसकी शरण में आने के बिना कर्म, उपासना, ज्ञान, ध्यान सब निष्फल जाते हैं। जब तक मनुष्य को यह विश्वास न हो जाए कि हरेक सांसारिक प्राकृतिक वासना से मुक्त होकर ही परमात्मा सारे प्राकृतिक जगत के अंदर व्यापक होकर उसे चला रहा है तब तक मनुष्य का आत्मा उसकी ढूंढ़ में एक पग भी आगे रखना सहन नहीं करता। इसलिए ऋषि कहते हैं, ''परमात्मा के बिना जो चेतन जीवात्मा है वह माया से बंधता और बाह्य प्रकृति के संसर्ग में ठुकराया हुआ अपने कर्मों का फल भोगता है। परमेश्वर जिसे जगदीश्वर भी कहते हैं और माया-प्रकृति इन दोनों में यद्यपि कोई संबंध हमारी आंखें न देख सकें तो भी इस सारी माया को नानारूप में लाने वाला उस सब में व्यापक परमात्मा है। वह यद्यपि निर्लेप है, और प्रकृति की माया के जाल में बंधता नहीं और सर्वोपरि है तो भी कोई अवस्था, स्थान, समय भी उसकी व्यापकता से खाली नहीं है।'' और इस भाव को अल्प बुद्धि मनुष्य अधिकतर दिल में बैठाने के लिए ऋषि विस्तार के साथ उसकी व्यापकता का वर्णन करते हैं।

मनुष्य दिन रात कर्म करता हुआ दिखाई देता है और कर्म के बिना मनुष्य का जीवन असंभव है। इस कर्म की बुनियाद क्या है ? क्या जब तक किसी वस्तु का साधारण ज्ञान न हो कोई पुरुष भी इस पर काम करने की ओर प्रवृत्त होता

है ? प्रत्येक कर्म के पहले ज्ञान उपस्थित होता है। जो ज्ञान गायत्री आदि छंदों में बंधा हुआ है जिसके बिना न एक पैर हिल सकता और न एक हाथ उठ सकता है, सोचो वह ज्ञान कहां से हुआ ? क्या वह तुम्हारे अंदर उठा ? अगर ऐसा होता तो असभ्य जातियों की अवस्था वह न होती जो इस समय दिखाई पड़ती है। बस यह ज्ञान परमात्मा से ही पाया है जो सर्वज्ञ है और फिर उसके बाद कर्मों का प्रकाश कहां से हुआ ? क्या ब्रह्मयज्ञ अर्थात् परमात्मा के अंदर ध्यान लगा कर प्रातः और सायं मग्न होने का उपदेश हमें सिवाय ईश्वर के कहीं और से मिला है ? उसी की सृष्टि के अंदर ध्यान से शांति का दृश्य देखकर मनुष्यों ने ध्यान लगाना आरंभ किया। और फिर सूरज की किरणों द्वारा प्राणी को स्वच्छ करके खिंचने के प्रयोग से हम सब को उसी परमेश्वर ने अग्नि होत्र करना सिखाया। नित्य प्रति प्रयोग के पांच महायज्ञ कहलाते हैं उनका उपदेश न केवल वेदों द्वारा अपितु प्राकृतिक जगत् की बनावट के अंदर उसी परमात्मा ने हमें दिया। फिर अश्वमेध गोमेध नरमेध आदि बड़े बड़े यज्ञों का उपदेश हमें किसने दिया ? क्या परमात्मा के वार्षिक गोमेध को देखकर जिसके द्वारा अनाज पक कर हम सब की पालना होती है हमने यज्ञ रचने का विचार नहीं पैदा किया। कठिन से कठिन कष्टों के अंदर भी अपने भक्तों की रक्षा करते और दुष्टों को दंड देते हुए देख कर ही क्या राजा महाराजों ने अश्वमेध का ज्ञान प्राप्त नहीं किया ? नेक दिल और प्रजा रक्षक बादशाह किस जगह से अपने मार्ग प्रदर्शन के लिए शिक्षा लेते हैं ? और फिर व्रत किसने रचे ? कौन है जो हमारे अंदर पाप से भय शंका और लज्जा उत्पन्न करता है और सच्चाई पर दृढ़ रहने की प्रेरणा करता है। निर्बल मनुष्य को सच्चाई के लिए तलवार, बंदूक, तोप का मुकाबला करने का साहस कौन देता है ? और कौन है जो भविष्य तथा भूत के अंदर भी व्यापक होता हुआ सब समयों को मिला कर एक कर देता है। फिर साधारण ज्ञान हासिल करके कर्म करते हुए जब मनुष्य उन्नति प्राप्त करता हुआ किसी ऊंचे स्थान पर पहुंचता है तब कौन उसे प्रकाश देता है। जिसकी सहायता से वह विज्ञान की प्राप्ति करके आनंद में मग्न हो जाता है। यह प्रश्न कैसे गंभीर हैं। परंतु इनके उत्तर के लिए कहीं दूर ढूंढ़ने के लिए जाने की आवश्यकता नहीं। क्या हमारा अंतःकरण गद्गद और विवश होकर स्पष्टरूप से नहीं कह रहा है कि इन सबके अतिरिक्त हम सब को भी मनुष्य रूपी उत्तम देह का देने वाला भी वही प्रभु है जो कि माया रूपी प्रकृति को नाना रूप में लाकर उसके अंदर व्यापक हुआ उसे चला रहा है। फिर हे भ्रातृगण ! क्या उस परमेश्वर से विमुख होकर उसे भूलकर हम कभी भी अपने उद्देश्य को पूर्ण कर सकते हैं ? सोचो और चेतो। अब तक हमने समय व्यर्थ गंवाया है। अब तक हमने अपने लक्ष्य को ध्यान में न रखते हुए अंधेरे में हाथ पैर मारकर उन्हें घायल कर लिया है। जो शक्तियां हमें अपनी रक्षा के मिलती थीं उन्हें अलग अपने नाश के लिए प्रयोग करते रहे हैं। अब भी समय है और सदा

समय है क्योंकि सबका पिता मानुषिक निर्बलताओं से मुक्त, न्याय रूप दंड से हर समय हम पर हाथ रखता है। बालक हो या युवा अथवा वृद्ध प्रत्येक को समय है कि हर समय अपने जीवन को पलटा देकर प्रभु की शरण में आन पड़े क्योंकि वहां से किसी विश्वासी पुरुष को भी निराश लौटे हुए किसी ने नहीं देखा।

10

यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको यस्मिन्निदं सं च विचैति सर्वम्
तमीशानं वरदं देवमीड्यं निचाय्येमां शांतिमत्वमेति ॥

उपदेश

जब जगत जुदा जुदा है, जब प्रत्येक शरीर एक दूसरे से भिन्न दिखाई देता है और परमेश्वर सब के अंदर व्यापक कहा जाता है तो क्या परमेश्वर अनगिनत हैं ? अगर नहीं तो क्योंकर एक ही समय में वह प्रत्येक शरीर वाले को चला रहा है ? व्याकुल जीवात्मा अंधकार में ठोकरें खाता हुआ इस प्रकार के प्रश्न उठाता रहता है ? जब एक ही समय में एक ही प्रकार की चेष्टा जगत् के अंदर फैल रही है, जब न केवल पृथ्वी ही नियमानुसार सूर्य के चारों ओर घूम रही है अपितु सूर्य भी एक अटल नियम के अनुसार अपनी परिधि के चारों ओर घूमता और अपने प्रकाश को नियमानुसार दूसरे ग्रहों तक पहुंचाता है। अग्नि, वायु, जल और मिट्टी सबके अंदर एक ही नियम काम करता हुआ दिखाई देता है। न केवल यही, अपितु आकाश तक में इसी नियम का प्रकाश हमें दिखाई देता है तब क्या संदेह है कि एक ही महान् चेतन शक्ति सारे संसार के अतिरिक्त सब के सब जीवधारियों को गति दे रही है और इसी के सहारे हम सब जीवित हैं। हम सबका अधिष्ठाता वही है उसी के सहारे सारा जड़ और चेतन जगत ठहर रहा है। जब वर्तमान संसार चक्र समाप्त होगा जब सूक्ष्म रूप में आने के विपरीत स्थूल से सूक्ष्म की तरफ सब वस्तुएं प्रवृत्त होंगी उस समय भी यह अनुभव उसके अंदर स्थित होगा। अब यह बात सिद्ध हो गई कि इस सब संसार को स्थिति देने वाला और प्रलय काल में इस को अंदर समेटने वाला एक परमेश्वर ही है। परंतु प्रश्न फिर उपस्थित होता है यह सारा जगत् उत्पन्न कहां से हुआ ? विचारशील पुरुष के लिए जिसने परमेश्वर को ही जगत् का वर्तमान आश्रय और अंतिम स्थिति स्थान समझा है, इस प्रश्न का उत्तर स्पष्ट है। जिससे जगत् की विचित्र रचना आरंभ हुई वही उसका सहारा हो सकता है। अब परमेश्वर ही जगत का रचने, पालन करने और अंत में संहार करने वाला है इसलिए यह सारे जड़ और चेतन जगत् का स्वामी है। जब स्वामी वह है तो हम और किस से मांगें ? हमारी

आवश्यकताओं को और कौन पूरा कर सकता है ? किसकी उपासना करें ? किस के समीप होने का यत्न करें कि वह हम को नित्यप्रति दुःखों से छुड़ा कर शांति दे सके ? क्या रूप, रस, गंध, शब्द और स्पर्श की उपासना से हमारा जीवन का आदर्श पूर्ण होगा ?

हम तो दुःखों से छूटना चाहते हैं और वह अधिक से अधिक हमें दुःखों में लिप्त करने वाली हैं। यदि एक रूप हमें एक क्षण के लिए प्रसन्न करता है तो उसके कारण हमें सैकड़ों रातें कष्ट की झेलनी पड़ती हैं। यदि दो क्षण के लिए कोई रस हमारी जिह्वा की तृप्ति करके मन को इस इंद्रिय से और जीवात्मा को मन से छुड़ा कर ईश्वर के दर्शन कराता है तो बीसों दिनों तक जीवात्मा को दुःख सागर में डुबोने का कारण भी बनता है। फिर इन इंद्रियों की उपासना से हमारा क्या बन सकता है ? उन्होंने भी मन को बाहिर खींचकर किसी काम का नहीं छोड़ा। न विषय, न इंद्रियां, न मन हमें शांति दिला सकते हैं। शांति लाभ करने के लिए तो पहले इन सबको वश में करने की आवश्यकता है। यदि इन्हीं को अधिक स्वतंत्रता देकर अधिक पुष्ट किया जाए तो काम क्योंकर हो सकता है ? सांसारिक विषय, इंद्रियां और मन मनुष्य के स्वामी नहीं। यह सब जीवात्मा के दास हैं। जहां दासों का राज्य है वहां सुप्रबंध कैसे हो सकता है ? जब मन और इंद्रियां जीवात्मा रूपी राजा को जिधर चाहें घुमाते फिरें तब मनुष्य की रचना का प्रबंध स्थिर रहना कठिन है। जीवात्मा का स्वामी और सारे संसार का स्वामी परमेश्वर है उसी की उपासना जीव का कर्त्तव्य है। क्योंकि उसे सिवाय हमें दुःख से छूटने और आनंद की प्राप्ति का वर और कोई नहीं दे सकता। परंतु उपासना कैसे करें उसके समीप हम क्योंकर हो सकें ? वह शुद्ध, हम अशुद्ध, वह आनंदस्वरूप, हम दुःख सुख की व्यवस्था में फंसकर व्याकुल, वह सर्वज्ञ हम अल्पज्ञ, हम कैसे उसकी उपासना करें। व्याकुल जीवात्मा इन विचारों में फंसकर और भी व्याकुल हो जाता है। और उसे सूझता नहीं कि क्या करे। ऋषि उत्तर देते हैं कि मन, वचन और कर्म द्वारा उसकी स्तुति करो। मन में सदा उसकी महान शक्तियों का चिंतन करो। उनकी विशालता, उनकी गंभीरता पर अपना मन लगा दो। फिर वाणी से ही सही उसका अभ्यास करो। तुम्हारी वाणी से सिवाय उसके पवित्र स्वभाव के गुणों को जपने के और कुछ न निकले। इस जप के लिए यह आवश्यकता नहीं है कि तुम सांसारिक संबंधों और वार्तालाप को छोड़ दो। नहीं; कदाचित् नहीं। संसार के व्यवहार के अंदर ही तो तुम परमात्मा की स्तुति का अभ्यास कर सकते हो। तुम परमात्मा का सर्वव्यापक मानते हो और वाणी से भी उसे स्वीकार करते हो। यह परमात्मा की एक स्तुति है। किंतु क्या तुम सचमुच परमात्मा को सर्वव्यापक मानते हो ? अगर शुद्धस्वरूप परमात्मा को प्रत्येक स्थान पर उपस्थित होने को स्वीकार करते हुए भी तुम्हारा मन अशुद्ध है। अगर उसमें काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार के बुरे भाव अब तक उत्पन्न होते हैं। यदि तुम अपनी वाणी से निंदा,

छल और व्यभिचार के शब्द निकाल सकते हो। अगर तुम अपने शरीर से बुरे कार्य कर सकते हो तो निश्चय जानो तुमने अबतक उसकी सर्वव्यापकता को अनुभव नहीं किया।

और इसलिए तुम उसकी सच्ची स्तुति के योग्य अब तक नहीं बने हो। आओ प्रिय पाठक गण ! हम परमात्मा की स्तुति का अभ्यास करना सीखें। और इस अभिप्राय के लिए उन ऋषियों के पद चिह्नों पर बैठें जिन्होंने कि सारे संसार से वैराग्य का भाव अपने अंदर उत्पन्न करके अपने जीवन को एकमात्र परमपिता की आज्ञा के पालन में ही लगा दिया था।

11

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्त थ्ठं शरीरम्।
क्रतो स्मर क्लिबेस्मर कृत ँ्स्मर ॥

यजु., 4. 12

उपदेश

आत्मा बोध के बिना मनुष्य इस संसार में पशु समान विचरता है। जहां वह कर्तव्य का ज्ञान न होने से पशुओं की सी आयु व्यतीत करता है वहां यह न जानता हुआ कि मैं क्या हूं ? कहां से आया हूं ? किस लिए आया हूं ? किस तरह आया हूं ? कौन लाया है ? कहां जाऊंगा ? मृत्यु से इस प्रकार डरता है जैसे एक अंधेरी कोठरी में प्रवेश करने से बालक। मृत्यु का नाम सुनते ही उसका दिल कांप जाता है। यदि उसको सांसारिक धन ऐश्वर्य आदि विशेषता से प्राप्त है तो मृत्यु उसको और भी भयानक प्रतीत होती है। क्योंकि उसे यह मालूम नहीं कि भविष्य में मेरी क्या गति होगी। वह अपनी अज्ञानता से यही समझता है कि इस शरीर के नाश होने के साथ ही मैं भी नष्ट हो जाऊंगा। सारा खेल इस शरीर के साथ ही है। शरीर से अतिरिक्त मैं और कुछ नहीं हूं। शरीर की उन्नति के साथ मेरा प्रादुर्भाव हुआ और शरीर की मृत्यु के बाद मैं सदा के लिए मिट जाऊंगा। पर ज्ञानी की अवस्था इसके सर्वथा ही विपरीत है। वह निश्चय रूप से जानता है कि मैं शरीर नहीं हूं। शरीर से पृथक् मैं आत्मा हूं मेरा निज स्वरूप आत्मा ही है जो कि अमर है शरीर तो एक प्रकार का बाह्य वस्त्र है। वर्तमान शरीर के वियोग पर मैं अपने कर्मों की गति अनुसार परमात्मा की न्याय व्यवस्थानुकूल किसी और शरीर को धारण करूंगा। ऐसा जानता हुआ वह मृत्यु से किंचित् भी भय नहीं करता क्योंकि उसके समीप मृत्यु केवल शरीर का बदलना है। जैसे मनुष्य एक मकान के गिर पड़ने पर दूसरे मकान में निवास कर लेता है या एक वस्त्र के फट जाने पर दूसरा धारण कर लेता है। इसी प्रकार एक शरीर से पृथक् होकर जीवात्मा दूसरे को प्राप्त होता है। इसी ज्ञानता, अज्ञानता का भेद बतलाने के लिए ऊपर लिखे वेदमंत्र में मनुष्य को चेतावनी दी गई है कि वह इस प्राकृतिक शरीर को विनश्वर समझ कर रात दिन इसके पालन पोषण में

ही न लगा रहे। अंत में इस शरीर ने भस्म होना है। इस समय इसकी जीवात्मा से संबंध है इसलिए जीवात्मा के लिए उपदेश है कि मृत्यु समय परमात्मा के निज नाम 'ओ३म्' शब्द का अर्थ सहित स्मरण करते हुए अपने कर्मों को भी स्मरण करें क्योंकि कर्मों के अनुसार ही सुख दुःख प्राप्त होता है। कर्मों के ही अनुसार जन्म होता है और कर्मों से ही मुक्ति की प्राप्ति होती है। इसलिए आवश्यक है कि परमात्मा के निज स्वरूप को चिंतन करते हुए मनुष्य अपने कर्मों पर विचार करे। क्योंकि ऐसी अवस्था में अपने कर्मों का अनुमान लगाता हुआ वह जान सकेगा कि कहां तक वह बलदाता महाप्रभु की सहायता का पात्र है। जो लोग इस ईश्वरीय शिक्षा का पालन करते हुए, शरीर त्याग करते हैं उनके अंदर व्याकुलता का नाम तक नहीं रहता। वह जो नित्य विश्वास के साथ शांत चित्त होकर परमात्मा के स्वरूप का चिंतन करते हुए और उनकी अटल न्याय व्यवस्था पर भरोसा रखते हुए महर्षि दयानंद और दूसरे महात्माओं की तरह इस प्रकार के भाव प्रगट करते हुए कि 'परमात्मन् ! तेरी मंगल इच्छा पूर्ण हो' इस असार देह को त्यागते हैं वे महात्माजन जिनकी ऐसी पवित्र मृत्यु होती है मरते-मरते भी औरों के अंदर जीवन का संचार कर जाते हैं।

12

योदेवानां प्रभवोद्भवश्च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः।
हिरण्यगर्भं पश्यत जायमानं सनो बुद्धया शुभया संयुनक्तु ॥

उपदेश

शीत ऋतु में अंधेरी रात के अंदर ठहरे हुए यात्री के लिए प्रातः के सूर्य उदय का दृश्य कैसा स्वास्थ्य-प्रद सिद्ध होता है। आंखें लाल लाल अंगारे की ओर अभी घूमी ही थीं कि देखते ही देखते एक प्रकाशमान सूर्य उदय होता है। जिसकी सुंदर किरणें न केवल अंधेरे ही को भगा देती हैं अपितु थके मांदे यात्री में नए जीवन का संचार कर देती हैं। यात्री उठता है और इस जलते हुए गोले के आगे सिर झुका कर कहता है "हे देव ! तुम्हें बार बार नमस्कार हो।" जेठ मास की पूर्णमासी को दो दिन शेष रहते हैं। सायं काल को वायु प्रबल वेग से चलती है, उस तूफान में फंसा हुआ पथिक फिरता है। अकस्मात् तूफान बंद हो जाता है। आकाश स्वच्छ दिखाई पड़ता है और चन्द्रमा की शीतल ज्योति हृदय तक को शांत कर देती है। पथिक बेबस बोल उठता है, "हे देव ! तुम ही जीवन आधार हो।" कहां तक वर्णन किया जाए, पृथ्वी और नक्षत्र, वायु और बिजली अर्थात् प्रत्येक दिव्यगुण युक्त पदार्थ इसी तरह एक एक समय मनुष्य के ध्यान को अपनी ओर आकर्षित करता है और निर्बल जीवात्मा जिस व्यावहारिक देवता से थोड़ी देर के लिए प्रकाश प्राप्त करता है उसके आगे सिर झुका देता है। किंतु प्रकाश युक्त होने पर भी यह पदार्थ सदैव के लिए प्रकाश नहीं दे सकते क्योंकि अपना प्रकाश बाहर से प्राप्त करते हैं और सर्वप्रकाशमान से प्रकाशित होकर ही मनुष्य को प्रकाशित करते हैं। इसलिए, सदा के लिए प्रकाश नहीं दे सकते और प्रायः मनुष्यों के अंदर बड़े भारी अविश्वास को पैदा करने के कारण होते हैं। अब जब सूर्य, चंद्र, नक्षत्र और विद्युत् सब के सब परमात्मा से ही प्रकाश प्राप्त करते हैं और वही परमपिता, उनकी उत्पत्ति के कारण हैं। न केवल यही अपितु जब यह सब शक्तियां उसी परमात्मा के सहारे से काम कर रही है और अंत में उसी के अंदर लय हो जाएंगी तो इन सब का पीछा छोड़ कर क्यों न मनुष्य उसी परमात्मा की उपासना में मग्न होकर उसी की शरण पकड़े ? वही तो सब का ईश्वर है। उससे

बढ़कर ऐश्वर्य किसके पास है ? और उससे ऊपर कौन है ? वही सब का स्वामी है। और इसलिए सांसारिक सब देवता उसकी आज्ञा का पालन करते हैं। फिर व्यावहारिक देवताओं की शक्ति कैसी सीमित है ? जिस प्रकार प्रकाश उसके अंदर है उसी प्रकार मदद तो दे सकते हैं। परंतु उनके प्रकाश के रास्ते में कोई दूसरी रुकावट बाधक हो जाए तो वे कब दूर कर सकते हैं। सूर्य, अर्ध संसार को एक ही बार प्रकाशित कर देता है परंतु यदि आंधी चल पड़े और बादल उमड़ आएं और घनघोर घटा छा जाएं तो फिर सूर्य की क्या शक्ति है कि वह मनुष्यों की आंखों को प्रकाश दे सके परमात्म-ज्योति से प्रकाश पाए हुए ज्ञान चक्षुओं को अविद्या का बड़े से बड़ा अंधेरा भी दबा नहीं सकता। कारण कि वही सब का स्वामी तथा सर्वेश्वर है किंतु उनकी शक्ति यहां तक ही समाप्त नहीं है। वह दुष्टों का नाश करने वाला है। उसके प्रकाश की उपस्थिति में कोई भी दुष्ट भाव काम नहीं कर सकता। उसके साथ टकरा कर सर्व प्रकार की दुष्टता चकनाचूर हो जाती है और यह इसलिए कि वह अनंत ज्ञानमय है उनके ज्ञान की सीमा नहीं। उससे कोई भी भाव छिप नहीं सकता। इसलिए तो उसके भक्तों के हृदय से दुष्ट वासनाएं पृथक् रहती हैं। परंतु कठिनता तो यह है कि सब संसार के अंदर उसका प्रकाश होने पर भी, रोम-रोम के अंदर रमते हुए भी, हरेक घटना के अंदर उसकी उपस्थिति को जान कर भी, नेत्रों को बंद करके हम उसके दर्शनों से वंचित रहते हैं। सूर्य सारे प्राकृतिक जगत को प्रकाशित कर रहा है, पर यदि मैं अपनी आंखों पर पट्टियां बांध लूं तो दुपहर के सूर्य की तीव्र किरणों के चारों ओर फैले हुए रहने पर भी मुझे क्या कुछ दिखाई दे सकता है ? अब उस प्रकाशमान् सर्व व्यापक परमात्मा की उपस्थिति को अनुभव करते हुए भी मनुष्य अपने जीवन के उद्देश्य को पूर्ण नहीं कर सकता। जब तक उसके दर्शनों की प्रबल अभिलाषा अपने अंदर उत्पन्न करके आत्मा-परमात्मा के दर्शन नहीं कर लेता—मनुष्य जीवन का उद्देश्य ही यह है कि दुःखों से छूटकर सुख की प्राप्ति की जाए—जब तक अपवित्रता पृथक् नहीं होती और पवित्रता का राज्य अंतःकरण के अंदर नहीं आता तब तक दुःख दूर नहीं हो सकते। हे बंधुगण ! पवित्र स्वरूप परमात्मा के दर्शनों के लिए उत्कंठित हो जाओ और उसकी भक्ति में मग्न होकर उसके दिव्यरूप के दर्शन करते हुए संसार के सर्व प्रकार के विकारों को दूर कर दो। बंधुगण !! परमात्मज्योति, जहां सारे ब्रह्मांड के अंदर व्यापक हो रही है। वहां तुम्हारे आत्मा के अंदर विशेष रूप से उसका प्रकाश हो रहा है। इंद्रियों को बाह्य विषयों से रोक कर अंतर्मुख करो ताकि वह मन को छोड़ दें। और इंद्रियों से स्वतंत्र हुआ मन तुम्हारे आत्मा को छोड़ कर उसे परमात्मा के दर्शन का अवसर दे। उन पवित्र दर्शनों से सब विघ्नों का नाश होकर तुम्हारा आत्मा पवित्र हो सकता है।

13

यो देवानामधिपो यस्मिंल्लोका अधिश्रिताः।
य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

उपदेश

सूर्य अपने चक्र पर घूमता हुआ और अपने ग्रहों को अपने चारों ओर घुमाता हुआ स्वतंत्र प्रतीत होता है। पृथ्वी की दिन-रात की दुहरी गति को देख मनुष्य आश्चर्य में पड़ जाता है। आंधी की तेजी के लपेट में आकर सहस्रों वृक्षों को जड़ से उखेड़ते और सैकड़ों मकानों को नींव से हिल जाते हुए देखकर कौन प्राणी है जो उसके आगे सिर झुकाने से रुक सके। ज्वाला के प्रज्वलित चिंगारों को पेच-दर-पेच अपने घुमाव के अंदर दूर तक की वस्तुओं को लेते हुए देखकर कौन उसकी महत्ता को अस्वीकार कर सकता है ?

विद्याहीन, मूढ़ मनुष्य इन्हीं कारणों से जड़ पूजा के जाल में फंस जाते हैं। जब यह सब शक्तियां, जड़ और बाह्य होने के कारण आत्मा से कुछ भी संबंध पैदा नहीं कर सकती तो विवश उनके प्रतिनिधि स्थिर करने की चिंता में मूर्खता डूब जाती है और उस गिरने का परिणाम मूर्ति-पूजा है।

परंतु जड़ पूजा और मूर्तिपूजा दोनों मनुष्य के मन को शांत नहीं कर सकतीं। हवा और पानी, आग और भूमि किस से मूर्ख मनुष्य कामनाएं नहीं करते ? अपितु स्पष्ट मिलता है कि जब इनमें से एक भी अपनी शक्ति पर स्थिर नहीं है और एक की भी दृढ़ता से अपने आप पर आश्रित नहीं तो इसके अतिरिक्त इन जड़ वस्तुओं की उपासना की जगह उनके समीप होने का यत्न स्वयं जड़ बन जाने के क्या हो सकता है ? क्या मनुष्य के लिए यह उचित नहीं कि उस महाशक्ति की खोज करे जो इन सब का आधार है। जिसके भय से सूर्य प्रकाश देता है, जिसकी प्रेरणा से वायु चलती, जल शीतलता प्रदान करता और पृथ्वी नाना प्रकार के फल-फूल उत्पन्न करती है। उस परम ब्रह्म परमात्मा को ढूंढ़ना और जो सब का स्वामी है उसी को अपना स्वामी समझ कर उसकी शरण में आना यही मनुष्य का धर्म है।

जिसका बारंबार ऋषियों और देवताओं ने उपदेश दिया है परंतु मनुष्य की भी एक विचित्र रचना है। एक ओर तो मूर्ति पूजा तथा जड़ देवताओं की पूजा तक

के गढ़े में गिर जाता है परंतु जब इन सब पदार्थों की निर्बलता इसे अनुभव होती है और जब उसे निश्चय हो जाता है कि इन सब जड़ पदार्थों को गति देने वाला और इनसे भिन्न भिन्न कार्य कराने वाला एक ही चेतन परम पुरुष है तो फिर निर्बल पुरुष जिसने अभ्यास से अपनी बुद्धि को तीक्ष्ण नहीं किया है जड़ की पूजा को छोड़कर चेतन पूजा भी छोड़ बैठता है। जिस मन को एक महान आत्मा की मार्ग प्रदर्शन की आवश्यकता थी उसे अपने आप ही मार्ग प्रदर्शक बनने के योग्य समझ कर खुली छुट्टी दे देता है। इस अंधाधुंधी का जो परिणाम होता है वह आजकल मनुष्यों के शिक्षित समाज के अंदर प्रत्यक्ष देखने में आता है। परंतु क्या पशुओं के अंदर चेतनता नहीं है ? क्या गाय और बैल, घोड़ा और हाथी आदि क्या यह सब के सब चतुष्पद निर्जीव हैं ? फिर इनको अपने लिए भोजन पैदा करने, अपनी रक्षा करने की प्रेरणा किधर से होती है ? और यह मनुष्य ही क्या है ? क्या बिना शिक्षा के मनुष्य किंचित्मात्र भी शिक्षा प्राप्त कर सकता है ? जहां विद्या का प्रकाश नहीं पहुंचता क्या उन स्थानों में सदियों से मनुष्य पशुओं से भी नीचे गिरे हुए नहीं हैं ? फिर वह ज्ञान जो मनुष्य को पशुओं की अवस्था से निकाल कर मनुष्य बनाता है कहां से आया ? और यदि किसी चेतन से ही किसी ज्ञान का स्रोत निकल सकता है तो ऐसे महान ज्ञान का स्रोत क्या कोई महान चेतन न होगा ? प्रिय पाठक गण ! संसार की एक एक बाह्य घटना उस महाप्रभु की महान शक्ति तथा उसके अनंत ज्ञान की सूचना दे रही है किंतु क्या कभी भी तुमने बाहर से अपने मन को रोककर अंदर की घटनाओं को प्रत्यक्ष करने का यत्न किया है। यदि कदाचित् भी प्रयत्न नहीं किया तो अब ये अभ्यास आरंभ कर दो; क्योंकि परम ज्योति का बाह्य प्रकाश जहां प्रकृति के परदे के अंदर पूर्णतया नहीं हो सकता और जहां ऐसी अवस्था में मनुष्य धोखा खा सकता है वहां मनुष्य की आत्मा के अंदर परमात्म ज्योति अपना पूर्ण प्रकाश करती है जब कि जीवात्मा के अंतर्मुख होने से प्राकृतिक प्रत्येक प्रकार के परदे कट जाते हैं। इसलिए उसी स्थान पर परमात्म-ज्योति के स्पष्ट दर्शन होते हैं। प्रिय बंधुगण ! प्रकाशमय प्रभु, तुम्हारे अंदर प्रकाश दे रहे हैं। अंधकार का उसके सामने चिह्न भी शेष नहीं रह सकता परंतु तुम हो कि प्रकाशमय की गोद में बैठे हुए आंखों की टकटकी, अंधेरे की तरफ लगा रहे हो। आह ! कैसा भयानक दृश्य है ! 'लड़का बगल में ढंढोरा नगर में'। धन जेब में खोज नीचे ऊपर। प्रकाश हमारे अंदर उपस्थित है और हम बाहर अंधेरे गड्ढों में ठोकरें खातें फिरें। हे दयामय ! कभी कभी तो हम आपके मनोहर मंगलस्वरूप का चमत्कार देखते हैं परंतु अज्ञानवश फिर उसी अंधकार में डूब जाते हैं। दया करो, कृपा करो, हमें अपनी भक्ति के योग्य बनाओ। अपने प्रेम की डोर में बांध कर हमें ऐसे गंभीर विश्वास का वर दो कि हम कभी आपको न भूलते हुए आपके शांतिदायक प्रकाश का आनंद उठाते रहें और अंत में आपके परम पवित्र धाम के अधिकारी बनें।

14

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदुसर्वस्यास्य बाह्यतः ।।

उपदेश

आपके पांव तले एक भारी कोश गड़ा है। पर यदि आपको उसका ज्ञान नहीं तो आपके निकट होते हुए भी यह आपसे बहुत दूर है। आप चाहे सारा संसार खोज डालें, जब तक कि उस विशेष स्थान को नहीं खोदेंगे वह कोश आपको प्राप्त नहीं हो सकेगा। आपकी गिरह में कुछ धन पड़ा है परंतु आपको उसकी याद भूल गई है। इधर उधर बहुतेरा खोजते फिरते हैं पर जब तक आप अपनी गिरह में हाथ नहीं डालते आपको वह धन हाथ नहीं लगता। इसी प्रकार परमात्मा यद्यपि सारे ब्रह्मांड के अंदर-बाहर एक समय व्यापक हैं, सूर्य, चंद्र, ग्रह, नक्षत्र कोई भी ऐसा स्थान नहीं जहां कि हर समय विद्यमान न हों। यहां तक कि आकाश भी उनके अंतर्गत है इसलिए वह निकट हैं परंतु यदि आपको उनके स्वरूप का ज्ञान नहीं तो आप चाहे सारा ब्रह्माण्ड खोज डालें आपको उनका चिह्न न मिलेगा। इसी अवस्था में वह आपसे दूर से दूर होंगे। किंतु जब आपको उनके स्वरूप का ज्ञान हो गया तो आपको उनके दर्शन अंदर ही हो जाएंगे। कारण कि वह किसी स्थान विशेष में स्थित नहीं हैं। अपितु घट घट में व्यापक हैं। यदि आपके हृदय नेत्रों का अंधकार दूर हो गया और ज्ञान चक्षु खुल गए हैं तो आप उन्हें हर समय अपने आत्मा के अंदर ज्ञान नेत्रों से देख सकते हैं। जैसा कि एक कवि ने कहा है–

दिल के शीशे में है तस्वीरे यार,
जब जरा गर्दन झुकाई देख ली।

यद्यपि यह पद्य पूर्णरूप से असली भाव को प्रगट नहीं करता परंतु तात्पर्य यह है कि वह सर्वमित्र हम से दूर नहीं है किंतु हमारे हृदय के अंदर विद्यमान है। जिसमें हम उनके ज्ञान नेत्रों द्वारा वैसे ही दर्शन पा सकते हैं जैसे कि एक दर्पण में किसी मित्र का चित्र देख सकते हैं। इसी भाव को दर्शाने के लिए ऊपर कही श्रुति में बताया गया है कि वह परमात्मा मूर्खों से जिनके आत्मिक चक्षु अंधे हैं दूर

से दूर है। वह युगों पर्यन्त भी यदि उसे ढूंढ़ते फिरें और सारा ब्रह्मांड खोज डालें तो भी वह उनको प्राप्त नहीं हो सकता। परंतु जिनके ज्ञान नेत्र खुले हुए हैं उनके लिए वह निकट से निकट है। वह कहीं भी जाएं परमपिता को अपने अंदर विद्यमान पाते हैं। इसलिए एक विद्वान ने कहा है कि परमात्मा एक वृत्त है जिसका केंद्र सब जगह है परंतु परिधि कहीं भी नहीं। अहा ! ज्ञान और अज्ञान में कैसा भारी भेद है। एक लक्ष्य तक पहुंचा देता है और दूसरा सत्यमार्ग से भटकाता है। एक परमात्मा के साक्षात् दर्शन करा देता है दूसरा नास्तिक बना देता है। इसीलिए कहा गया है कि 'ऋते ज्ञानान्नमुक्तिः' कि ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं होती है।

अतएव भक्तजनो ! यह सचमुच परमात्मा के दर्शन करना चाहते हो, यदि उस सुंदर स्वरूप की अद्भुत छवि के दर्शन पाने की अभिलाषा है तो वेदोक्त कर्मों द्वारा अपने अंतःकरण के अंधकार को दूर करके ज्ञान अवस्था को प्राप्त होओ जिससे तुम्हारे आत्मिक चक्षु खुलकर उस सर्वान्तरात्मा के जो तुम्हारे समीप से समीप है दर्शन पा सको। कल्याण का मार्ग एक मात्र यही है। नहीं तो युगों पर्यन्त भी तुम्हारा उद्धार नहीं होगा। जन्म जन्मांतर के चक्र में भूलते भटकते और ठोकरें खाते फिरोगे। परमदेव ! हमारे हृदय अंधकार से आच्छादित हैं, अविद्या ने हमारे आत्मिक चक्षु अंधे कर रखे हैं। विषय विकारों ने हमारे अंतःकरण की उज्जवलता को हर लिया है। हम हर प्रकार से अत्यंत मलिन और बलहीन हैं। तुम हमारे हृदयों को अपनी ज्योति से प्रकाशित करो जिससे हमारे ज्ञान नेत्र खुल जाएं, जिससे हम आपको जो कि सदा हमारे संग संग हैं जान सकें।

15

सूक्ष्मातिसूक्ष्मं सलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्त्रष्टारमनेकरूपम्।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा शिवं शान्तिमत्यन्तेमति ॥

उपदेश

पूर्व और पश्चिम, उत्तर और दक्षिण चारों दिशाओं में ढूंढ़ मारा क्योंकि सब के स्वामी की भक्ति की प्रबल कामना हृदय के अंदर हलचल मचा रही थी परंतु जगत् पिता का कहीं भी पता न मिला। पाताल में घुस कर और आकाश में व्योमयान द्वारा उड़कर पता लगाना चाहा परंतु अदृश्य का क्या इस तरह पता लगा करता है ? जो आकाश से भी सूक्ष्मतर हो, उसका पता आकाश क्या दे सकेगा ? वह सूक्ष्म से सूक्ष्म है फिर उसको कहां ढूढ़ें ? जब वही सब का स्वामी है, जब उसी के आश्रय होकर हम जीवन व्यतीत कर रहे हैं, जब शरीर और आत्मा का बल उसी की शरण लेने से प्राप्त होता है तो उसे प्राप्त किए बिना हमें शांति कैसे हो सकती है ? और संसार में वह खोजने से मिलता नहीं तो हम जानें किधर ? ऋषि उत्तर देते हैं कि इस बने हुए कार्य जगत् के प्रबंध और क्रम के अंदर जगत् पिता की उपस्थिति को हम भूल जाते हैं। यह सुवर्ण का आवरण हमसे उस परमात्म-ज्योति को परे कर देता है। बस ! इस प्रबंध तथा क्रम तथा बाह्य भड़क आदि से अपने मन को पृथक् करके दिखावे के कुप्रबंध के अंदर दिव्य दृष्टि डालो जब कि निराकार प्रकृति के अंदर अभी तक गति पैदा नहीं हुई थी। फिर सोचो कि सत्व रज और तम की साम्यावस्था में परिवर्तन क्योंकर पैदा हुआ ? वह कौन-सी शक्ति थी जिसने प्रकृति के अंदर हलचल डाली ? बस उसी स्थान जहां से कि इस संसार की रचना आरंभ हुई, महातेजस्वी परम पिता की तलाश करनी चाहिए क्योंकि वही सारी बनावट का केंद्र है। तभी तो उसे सारे संसार का रचने वाला माना जाता है। संपूर्ण जड़ शक्तियां उसी की प्रेरणा से काम कर रही हैं। सूर्य और चांद, वायु और जल सब को अपनी अपनी शक्ति से काम लेने की सामर्थ्य देने वाला वही है। परंतु इस विचित्र क्रम और प्रबंध के अंदर उसने वस्तुओं का एक दूसरे से ऐसा भेद रखा है कि मानवीय बुद्धि उन्हें देखकर आश्चर्य में पड़ जाती है। चेतन और जड़ दोनों के अंदर तथा हजारों तथा लाखों विभागों के अंदर भी एक ही प्रकार की वस्तु, एक दूसरे से पृथक् देखी जा सकती है। मनुष्य यदि मनुष्य का कृत्रिम स्वरूप

बना देगा तो वह एक ही प्रकार का बना सकेगा। परंतु इसी एक पृथ्वी की डेढ़ अरब की मनुष्यों की जनसंख्या में एक को दूसरे से पृथक् जाना जा सकता है। यद्यपि हड्डी, मांस, रुधिर, नाक, कान, आंख, मुख, हाथ, पांव आदि सब की एक ही प्रकार की बनावट है तथापि एक मनुष्य एकदम पहचान लिया जाता है और रामदास को देखकर ब्रह्मदत्त का भ्रम भी किसी विशेष अवस्था में ही पैदा होता है। ऐसी विचित्र रचना को समझना साधारण मनुष्यों की बुद्धि की सामर्थ्य से बाहर है। जब संसार में एक कारीगर की बनाई हजारों चीजों को हम एक क्षण में पहचान सकते हैं तो उस समय स्वयमेव यह विचार पैदा होता है कि यह करोड़ों की सृष्टि एक की बनाई हुई नहीं है अपितु संभवतः भिन्न चेतन आत्माओं की बुद्धिमत्ता का प्रकाश है। किंतु दिव्य दृष्टि से देखने वाले ऋषि महात्मा लोग समाधि में मग्न साक्षी देते हैं कि इस असंख्य संसार का पैदा करने वाला एक ही है उस का प्रतिद्वंद्वी कोई नहीं। अपनी ही शक्ति से वह सारे संसार को रचता और अपने अंदर उसको लय कर लेता है। वह इस संसार को रचकर उससे पृथक् नहीं हो जाता या ऐसा कहो कि वह इस संसार से पृथक् हो ही नहीं सकता। क्योंकि वह इस सारी रचना के अंदर और बाहर हर स्थान में व्यापक है। सब ओर से इसे घेर रहा है कोई जगह उससे खाली नहीं। तभी तो तुम उससे कभी पृथक् नहीं हो सकते। रोम-रोम के अंदर वह रम रहा है। ऐसा जो सूक्ष्म से भी सूक्ष्म ब्रह्म है क्या उसके अंदर किसी प्रकार का विक्षेप है। निर्बल जीवात्मा समझता है कि जब एक तुच्छ कुटुंब के प्रबंध की चिंता एक मामूली गृहस्थी को सोने नहीं देती तो इतने बड़े संसार बल्कि इससे भी बढ़कर अनंत जगतों के प्रबंध का बोझ उनके बनाने वाले को क्यों आराम से बैठने देता होगा। परंतु बात यह है कि जो हर स्थान पर व्यापक हो जिसकी अनंत शक्ति की कोई सीमा न ले सकता हो उसे बड़े से बड़े कामों में भी क्या परिश्रम करना पड़ता है ? बिना किसी प्रकार के प्रयत्न के भी वह इस अनादि संसार को बनाता है। और बनाते हुए उसका उच्च प्रबंध स्थिर रखने का शांत स्वरूप अपने स्वरूप में स्थिर है। उस शांतस्वरूप कल्याणमय परमात्मा को जानने से ही मनुष्य अपने वर्तमान जीवन के संग्राम से निकलकर शांत अवस्था को प्राप्त हो सकता है। प्रिय पाठकगण ! जगत्पिता तुम्हारे अंदर विराजमान हैं। उसकी अनंत शक्ति अपने अनंत बल से तुम्हारी आत्मा को प्रकाश देने के लिए तैयार है। उसकी प्राप्ति के साधन भी तुम्हारे अंदर ही उपस्थित हैं फिर क्यों अज्ञान सागर में डूबे हुए हम सब इधर उधर हाथ पैर मार रहे हैं ? उठो ! चेतो !! अमूल्य समय व्यर्थ जा रहा है जो संसार के अंदर भ्रातृभाव फैलाने, सच्चाई का राज्य लाने और प्राणी मात्र के उपकार के दर्शाने में लगना चाहिए था वह हम सब द्वेषाग्नि के भड़काने और पाप और दुराचार के फैलाने में लगा रहे हैं। दयामय ! प्रभो !! आप हम सब मूर्खों को अपने ब्रह्म धाम का सीधा मार्ग दिखाओ ताकि हम तुम्हारी शरण को ग्रहण करके शांत चित्त हो सकें।

16

स एव कालो भुवनस्य गोप्ता विश्वाधिपः सर्वभूतेषु गूढः।
यस्मिन् युक्ता ब्रह्मर्षया देवता च। तमेवज्ञात्वा मृत्युपाशांश्छिनत्ति ॥

उपदेश

दुःख और क्लेश से पीड़ित पापात्मा यह मानने के लिए तैयार नहीं होता कि सर्वरक्षक शक्ति इस संसार में उपस्थित है। जब उसका दुःख दूर नहीं होता, जब पाप का परिणाम उसे क्लेश पहुंचा रहा है तो वह कैसे मान सकता है कि सर्व रक्षक की रक्षा के क्षेत्र में वह भी अंतर्गत है। पुराणों के जानने वाले उसे महाभारत के युद्ध में हाथी के घंटे के नीचे पक्षियों के बच्चों की रक्षा का हाल सुनाते हैं। दुर्योधन की सभा में द्रौपदी के वस्त्र के बढ़ने का चमत्कार दर्शाते हैं। पापी फिर चिल्ला उठता है, "यदि परमात्मा सर्वरक्षक है तो मेरा क्लेश क्यों दूर नहीं होता ?" वैदिक मतावलंबी उसे प्राचीन और नवीन दोनों समयों के दृष्टांतों से ढांढस बंधवाना चाहते हैं परंतु उसका वही उत्तर चला आता है, "यदि सर्वरक्षक है तो मेरे दुःख क्यों दूर नहीं होते।" इतने में ऋषि आ पहुंचते हैं और दीन की दशा पर दया करके उसकी अविद्या पर हंसकर इस प्रकार उसके भ्रम को दूर करते हैं, "तू क्यों निराश होता है और यथार्थता को न समझ कर क्यों नास्तिक बनता है।" क्या वाममार्ग ने इस देश के अंदर घोर अत्याचार नहीं मचा रखा था ? क्या हजारों लाखों पशुओं की गर्दनें धर्म के नाम पर नहीं काटी जाती थीं। क्या धर्म की ओट में मनन शक्ति रखने वाले मनुष्यों की भी तलवार के वार से बली नहीं चढ़ाई जाती थी ? क्या उससे बरसों हाहाकार नहीं मचा रहा ? फिर यदि कोई सर्वरक्षक न होता तो बुद्धदेव के कोमल हृदय को कौन प्रेरित करता और इसी वर्तमान समय में मूर्ति पूजा तथा कब्रपरस्ती का किस प्रकार जोर था। ब्रह्मचर्य का नाश हो चुका था। कौन समझ सकता था कि सीधा मार्ग किधर है ? क्या यह सब दुःख एक दिन दूर हो गए थे। क्या विक्रमी संवत् के आरंभ में ही किसी आचार्य का प्रादुर्भाव हुआ ? कदाचित् नहीं। अपितु 1900 बरसों की दुर्दशा के उपरांत कहीं ऋषि दयानंद का जन्म हुआ। जिसने अंधेरे को उजाले में परिवर्तित कर दिया। इस प्रबंध के लिए कोई कारण है। मनुष्यों और इसी

तरह मनुष्यसमाजों के कर्मों का फल जब तक पूर्ण रीति से न मिले तब तक उनकी अवस्था में परिवर्तन करने से उनकी अवस्था नहीं सुधरती। इसी प्रकार मूर्ख, तेरी अवस्था है। सर्वरक्षक समय पर ही रक्षा करते हैं। बात स्पष्ट हो गई। परमात्मा सर्वरक्षक है परंतु उसकी रक्षा का प्रबंध हमारे संकल्पों और हमारी इच्छाओं से परिमित नहीं है अपितु उसके असीम ज्ञान के अंदर जैसा प्रबंध उपस्थित है वैसा ही कार्य होता है। समय पर ही वह सब की रक्षा करता है। जिसे हम रक्षा समझते हैं संभवतः उसकी दृष्टि में वह रक्षा नहीं है। उसके प्रबंध को वही जान सकता है। हम तुच्छ जीव उसके प्रबंध की वास्तविकता को कब समझ सकते हैं। वही सब का ईश्वर है। उससे बढ़कर ऐश्वर्य इस ब्रह्मांड में किस का है ? जब सारे ऐश्वर्य उसी के दान के परिणाम हैं तो कौन धनाढ्य अपने धन से उसका मुकाबला कर सकता है। वह केवल धन का भंडार ही नहीं, वह केवल ज़ड़ जगत् के रचने वाला ही नहीं, वह केवल वायु को चलाने वाला और जल को बरसाने वाला ही नहीं अपितु प्राणियों के प्राण-क्रिया का आश्रय भी वही है। न केवल यही अपितु एक एक प्राणी के अंतःकरण की सब अवस्थाओं का ज्ञाता होने के कारण अगर उसी को परमेश्वर कहें तो यथार्थ है। फिर क्या संदेह है बिना उसको जाने, बिना उसको प्राप्त किए मनुष्य अपने जीवन के उद्देश्य को पूर्ण नहीं कर सकता। यहां तक तो मामला साफ है परंतु इससे आगे चलकर ही कठिनाइयों का सामना होता है। यह सत्य है कि बिना उसको जाने हुए इस विक्षिप्त मन को शांति नहीं मिल सकती। इसमें संदेह नहीं कि उसकी प्राप्ति से जन्म, मरण का दुःख दूर हो सकता है। परंतु वह है कहां ? उसका पता किससे पूछें ? गंगा और गोदावरी, काशी और प्रयाग, बद्रीनारायण और जगन्नाथ पुरी कोई धाम और कोई तीर्थ तो छोड़ा नहीं परंतु इष्ट की प्राप्ति अब तक कोसों दूर है। गिरजा और मस्जिद, मंदिर और धर्मशाला कौन से स्थान को नहीं खोज डाला ? परंतु परिणाम क्या हुआ ? यह मन उसी प्रकार अशांत है। आत्मा उसी तरह अशांत है। परंतु वह देखो ! सुखासन जमाए, प्राण चढ़ाए कौन शांत मूर्ति स्थित है ? और उसके पास ही दिव्य मस्तक, हंसता हुआ मुख किस सज्जन पुरुष का दृष्टिगोचर होता है। अहा ! एक नहीं, दो नहीं, यह तो अनगिनत मुखों का दृश्य दिखाई दे रहा है। और सुनो, उस गंभीर किंतु मधुरवाणी को जो एक स्वर से सहस्रों तथा लाखों उपस्थित महात्माओं की जिह्वा से निकल रही है। ''ब्रह्म एक है। वही सर्वेश्वर है। उसी की भक्ति से हमने शांति लाभ किया है। तुम भी उसी की शरण में पहुंच कर शांत हो सकते हो।'' प्रिय पाठकगण ! आओ हम सब बड़े प्रेम से एक दूसरे के साथ मिलकर ऋषियों तथा देवताओं की शरण में पहुंचे और उनके चरणों में श्रद्धा और विश्वास से बैठ उनसे इस सीधे मार्ग का पता पूछें जिस पर चल कर उन्होंने इन दुर्गम मार्गों को पार किया है। जिसके एक-एक पग पर दस-दस ठोकरें खाना पड़ती थीं।

17

मयीदमिन्द्र इन्द्रियं दधात्वस्मान्रायो मघवानः सचन्ताम्।
अस्माकं सन्त्वाशिषः संत्वाशिषः ॥

उपदेश

चराचर जगत् के उत्पादक पालक और संहारकर्ता जगदीश्वर से अधिक व उसके तुल्य दाता और कौन हो सकता है कि जिसने अपना दया भंडार संपूर्ण प्राणधारियों के लिए हर समय खोल रखा है जो कि अपनी अपार करुणा से सर्वजगत् के कल्याणार्थ अनेक प्रकार की शारीरिक तथा आत्मिक सुखों की वर्षा कर रहा है। वही इस अद्भुत शरीर का रचयिता है। उसी ने इसके अंदर कर्मेन्द्रियों तथा ज्ञानेन्द्रियों का विचित्र प्रबंध स्थापित किया है जिस के द्वारा जीवात्मा बाह्य तथा आभ्यांतर जगत् के पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करने और उनको यथायोग्य उपयोग में लाने के लिए समर्थ होता है। उसके बिना किसकी सामर्थ्य है कि किसी एक इन्द्रिय को भी बनाना तो एक तरफ पूर्ण रूप से समझ भी सके। जिस प्रकार घड़ी साज ही पूर्ण रूप से घड़ी के हरेक यंत्र की बनावट और यंत्रों के आपस में जोड़ तथा मेल को समझ सकता है और किसी यंत्र के बिगड़ जाने या प्रबंध में भेद आ जाने पर इसके संशोधन और ठीक करने की विधि को भली प्रकार जानता है इसी प्रकार वह सृष्टि रचियता भी इस शरीर रूपी घड़ी की रचना को पूर्ण रूप से जानता है। और अपनी अपार दया से उसकी रक्षा और प्रयोग का बोध अपने सत्यज्ञान द्वारा कराकर मनुष्य को इस योग्य बनाता है कि वह अपनी शारीरिक मानसिक और आत्मिक शक्तियों को उपयोगी नियमों तथा साधनों द्वारा उन्नत करके सृष्टि के संपूर्ण पदार्थों से यथायोग्य लाभ उठा सके। चांदी, मोती, हीरा, पन्ना, नीलम पुखराज आदि धन की सामग्री तथा उनकी प्राप्ति के साधनों का दाता भी वही है। परंतु यह वह परम पद है कि जिस को प्राप्त होकर जीव की सब आशाएं निवृत्त हो जाती हैं। इसलिए प्यारे सज्जनो ! यदि चाहते हो कि तुम्हारी इंद्रियां शुद्ध पवित्र हों, तुम कभी निराशा को प्राप्त न हों कि शुद्ध हृदय से इस भाव को अपने आत्मा में उत्पन्न करो कि "हे महाबलवान् ! शुद्ध स्वरूप भगवान् ! आप हमें विज्ञान आदि शुद्ध इंद्रिय प्राप्त कराइए। हे परम धनवान जगदीश्वर ! हम लोगों की इच्छा आप शीघ्र ही पूर्ण कीजिए जिससे हम परमानंद में सदा ही विचरें। और न्याय युक्त इच्छा के सिद्ध होने से परम सुख को भोगें।

18

घृतात्परं मणमिवातिसूक्ष्मं ज्ञात्वा शिवं सर्वभूतेषु गूढम् ।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥

उपदेश

मौत की जंजीरों के साथ चारों ओर से जकड़ा हुआ जीवात्मा विचित्र कशमकश की अवस्था में है। जिधर जाता है उधर अपने छुटकारे का दरवाजा ढूंढ़ता है। उसी ओर से उसे निराश लौटना पड़ता है। चारों ओर से घोर परिश्रम के बाद लौटकर हांफता हुआ बीच में जब बैठ जाता है तो उसकी व्याकुलता का कुछ पारावार ही नहीं रहता। बाह्य हाथों और पैरों की तो अवस्था ही क्या कही जाए जब कि आंतरिक अंतःकरण का एक एक भाव भी उसी तरह की जंजीरों से जकड़ा हुआ है। बाहर से बारंबार निराश वापिस आते हुए भी वह फिर बाहर की ओर दौड़ता है। और जाए भी किस तरफ ? जब भूख लगती है तो वह देखता है कि बाहर से रोटी, भाजी, फल और दूसरे खाने के योग्य वस्तुएं आती हैं और उसे तृप्त कर देती हैं। जब प्यास से अंदर व्याकुलता फैलती है तो बाहर से ही जल अंदर प्रवेश करके उसे शांति देता है। इन नैत्यिक अभ्यासों से जीवात्मा इसी परिणाम पर पहुंचता है कि आत्मा के अंदर जो हलचल है और उसकी एक-एक शक्ति के चारों ओर जो जंजीरें बंधी हुई हैं उनको खोलने वाला भी कोई बाहर से ही आएगा। परंतु इस आशा में बंधे हुए जीवात्मा की अवस्था प्रतिदिन शोचनीय होती जाती है। ज्यों ज्यों बाहर की ओर अधिक टकटकी लगाता है त्यों त्यों अंदर की व्याकुलता अधिक बढ़ती है। क्योंकि वास्तव में उस व्याकुलता से छूटने का साधन बाहर उपस्थित नहीं है। मनुष्य जब दुर्बल हो जाता है और उसके शरीर को पुष्ट करने की आवश्यकता पड़ती है तो बाहर से उसके अंदर घृत पहुंचाया जाता है। क्या वह घृत मनुष्य का पोषण करता है ? यदि ऐसा हो तो क्यों न मृत शरीर के अंदर घी डाल कर उसके शरीर को पुष्ट कर सके ? घृत स्वयं पुष्ट नहीं करता अपितु शरीर के अंदर उसका सत खींचकर उससे पुष्टि पाने का सामर्थ्य उपस्थित है यही अवस्था आत्मिक रचना की है। आत्मा जब निर्बल हो जाता है और काम, क्रोध, मोह, लोभ, अहंकार की जंजीरें उसके चारों ओर अधिकतर

दृढ़ हो जाती है तो उसकी पुष्टि के लिए उसकी निर्बलता को दूर करने के लिए उसे बाहर से ज्ञान रूपी घृत पहुंचाने की आवश्यकता पड़ती है। परंतु क्या इस ज्ञान के अंदर स्वयं यह बल उपस्थित है कि अपना सत आत्मा के अंदर पहुंचा कर उससे आत्मा को पुष्ट कर सके ? यदि ज्ञान के अंदर स्वयं यह बल मौजूद होता तो मनुष्यों को इस जद्दोजहद की आवश्यकता क्यों पड़ती ? यह बल ज्ञान के अंदर नहीं है अपितु जिसका ज्ञान है उसके अंदर ही यह बल है कि उसका सत जीवात्मा के अंदर फैला दे। वह ज्ञानमय कहां है ? कोई उसे पूर्व में तलाश करता है और कोई पश्चिम में। प्रत्येक दिशा, ऊपर नीचे और प्रत्येक स्थान में उसकी खोज की जाती है। कभी पहाड़ की चोटी पर और कभी वृक्ष की हरियावल में उसे ढूंढ़ते हैं। वह हर स्थान में व्यापक है किंतु जहां वृक्षों के पत्ते-पत्ते में उसकी लीला दृष्टिगोचर होती है वहां मनुष्य के आत्मा के अंदर उसका पूर्ण प्रकाश विद्यमान है। वह हमारे अंदर अपने सारे प्रकाश के साथ प्रकाशमान् है और हम उसे गिरजा, मंदिर और मस्जिद के अंदर खोज करते फिरें ! यह कैसी मूर्खता है ! ज्ञान के तत्त्व को जीवात्मा के अंदर फैलाने का बल ज्ञानमय में ही है और ज्ञानमय जब हमारे अंदर व्यापक हैं तो हम क्यों अन्यत्र भटकते हुए फिरें ? वह प्रत्येक जीवात्मा में व्यापक हैं तो हम क्यों बाहर भटकते हुए फिरें ? वह प्रत्येक हृदय में व्यापक हैं। सारे अंधकारों को दूर करने वाले स्वयं कल्याण रूप, हरेक प्रकार की बुराई से पवित्र हैं। कौन सी दिशा और कौन सी वस्तु है जिसमें प्रभु का प्रकाश विद्यमान् नहीं। रोम-रोम के अंदर वह रम रहे हैं। यह सब जंजीरें अंधकार के कारण हमें जकड़े हुए हैं। उन्हें काटने के लिए प्रकाश की आवश्यकता है। उस प्रकाश स्वरूप को ही अपने अंदर प्रत्यक्ष करना चाहिए जिससे अंधकार की जंजीरों को काटकर जीवात्मा स्वतंत्र हो सके।

प्रिय पाठकगण ! हम सबने कितना जन्म निष्फल गंवाया। मक्का, मदीना, काशी और प्रयाग, रोम और जेरुसलम कहां कहां की खाक नहीं छानी। इन स्थानों से निराश होकर हम मनुष्य पूजा के बड़े भारी गढ़े में गिरे परंतु जंजीर आगे की अपेक्षा अधिक दृढ़ होती गई। अब भी अपने ज्ञान नेत्रों को खोलो। दिन रात झुके रहने की अपेक्षा एक बार बलपूर्वक तमाम इंद्रियों को उनके विषयों से हटा लो। विषयों से पृथक् होते ही इंद्रियां मन को छोड़ देंगी। मन भी जीवात्मा को पल भर के लिए छुट्टी देगा। स्वतंत्र हुआ जीवात्मा अंतर्मुख होकर जब परम ज्योति के दर्शन करेगा तो मृत्यु की सब जंजीरें स्वयं ही कट कर गिर जाएंगी और फिर आवागमन के बंधन से छूटा हुआ जीवात्मा ब्रह्म धाम में रहने का अधिकारी बनेगा।

19

एष देवो विश्वकर्मा महात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः।
हृदा मनीषा मनसातिक्लृप्तो यत्तद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥

उपदेश

जब हम उसे आंखों से देख नहीं सकते, जब कान से सुन नहीं सकते, जब किसी भी ज्ञानेन्द्रिय की उन तक पहुंच नहीं है तो फिर हम उसे क्या कहें ? वाणी जिसे बोल नहीं सकती उसका क्या नाम रखें ? नाम तो हम उसका रख ही नहीं सकते हैं ? समझ तो हम उसे कब सकते हैं ? परंतु हां, इस प्रकार अनुभव होता है कि वह प्रकाश स्वरूप है। वह प्रकाश का भंडार है। सांसारिक वस्तुओं में हम भटकते फिरते थे। ठोकरों पर ठोकरें खा रहे थे। हमें सूझता नहीं था कि किस ओर को चलें। महात्माओं के सत्संग से सांसारिक असफलताओं की चोटों से, समुद्र की ऊंची लहरों या हिमालय की शुभ्र चोटियों से, न मालूम किस धक्के से फिरी हुई हमारी आंखें खुल गईं। उस समय शक्तियों को छोड़कर शक्तिमान् की ओर मन की प्रवृत्ति हुई और अंधेरे को काटता हुआ प्रकाश दृष्टिगोचर होने लगा। इस प्रकाश की ओर मन स्वयं खिंचता है। यद्यपि अब तक पता भी नहीं कि यह प्रकाश क्या है और किस ओर को फैल रहा है। क्या यहां ही इसका चमत्कार दिखाई देता है या हर स्थान पर उपस्थित है तब भी हमें इस प्रकार अवश्य विश्वास हो जाता है कि हमारे दुःखों का अंत अगर कभी होगा तो इसी प्रकाश के द्वारा। किंतु प्रकाश का प्रगट होना हमें आराम लेने नहीं देता। जिस मैथुनी शक्ति का प्रादुर्भाव प्रकाश द्वारा हो रहा है उसमें से केवल प्रकाश ही प्राप्त नहीं होता अपितु गरमी भी वहीं से निकल रही है और वह गरमी एक जगह ठहरे हुए जीवात्मा को एकदम से हिला देती है। मनुष्य बुद्धि आगे चलने का यत्न करती है और दूसरी जगहों में भी उसी प्रकाश का जहूर देखती है। जड़ और चेतन दोनों के लिए प्रकाश का स्वरूप एक ही दिखाई देता है केवल यही नहीं बल्कि सारे ब्रह्मांड के अंदर एक ही नियम काम करता हुआ दिखाई पड़ता है। यदि आकर्षण शक्ति हमारे सूर्य मंडल की गति को नियमानुसार चला रही है तो दूसरे अनगिनत सूर्य मंडलों की चाल को भी वही नियम के अंदर रखती है। क्योंकि न केवल उन परमाणुओं में ही अपितु उनके मध्य स्थानों के अंदर

वही आकर्षण का नियम काम कर रहा है अर्थात् यह सब रचना चतुर प्रभु का खेल है। तब उसको सब का रचयिता मानना पड़ता है। रचना तो अंधी शक्ति से भी संभव हो सकती है किंतु ब्रह्मांड के अंदर जो नियम और प्रबंध देखने में आता है उससे निश्चय हो जाता है कि उसका बनाने केवल चेतन आत्मा ही नहीं है अपितु एक ऐसी महान् आत्मा है जिसके सन्मुख जीव की कुछ सत्ता नहीं। सारांश–वह न केवल देव–अर्थात् पूर्ण प्रकाशमान् है। न केवल जगत का बनाने वाला ही है बल्कि महान् और परम आत्मा है। कोई जगह उससे खाली नहीं। इसलिए प्रत्येक प्राणिमात्र के हृदय के अंदर वह विद्यमान है। वह मनुष्य सचमुच अंधे हैं जो अपने अंतःकरण को छोड़कर दूसरे स्थानों में परम पिता को ढूंढ़ने जाते हैं। उसका सबसे पूर्ण प्रकाश मनुष्य के हृदय के अंदर ही होता है इसलिए हृदय से, सारी बुद्धि से और पूर्ण मन से उस परमात्मा को स्वीकार करने का यत्न करो। मूर्ख मनुष्य 'स्वीकार' शब्द को सुनकर घबरा जाते हैं। जब वह सर्व शक्तिमान् है, जब वह सर्वव्यापक है, जब उनकी शक्ति से सारा ब्रह्मांड बना है तो हम स्वीकार करने वाले या न करने वाले कौन ? परंतु जरा विचारो; क्या उसके राज्य में रहते हुए भी हम उससे बागी नहीं हैं ? क्या दिन रात हम उस पिता के बनाए हुए तथा प्रचलित किए हुए नियमों को नहीं तोड़ रहे हैं ? क्या आंखें हमें इन्हीं कामों के लिए दी गई थीं जिनके लिए हम उनका प्रयोग कर रहे हैं ? क्या हमने उनको उच्च आदर्श से गिराकर अपवित्र नहीं कर दिया। कान किस पवित्र ज्ञान के सुनने के लिए दिए गए थे और हम उनसे काम क्या ले रहे हैं। इंद्रिय किस पवित्र सृष्टि के काम के लिए दी गई थी उसको हमने अपवित्र करके संसार को क्या नरक धाम बना छोड़ा है ? इसलिए ऋषि शिक्षा देते हैं कि मन से परमात्मा की आज्ञा पालन करना अपना कर्तव्य बनाओ अपनी सारी बुद्धि उसकी आज्ञा और नियमों को खोज करने में लगा दो जिससे उसकी आज्ञा का यथावत् पालन कर सको। अपने मन को उसी प्रभु की आज्ञा पालन करने में लगा दो ताकि तुम्हारा मन तुम्हारी इंद्रियों को वश में करके बाह्य विषयों से उन्हें रोक दे और वे भी उसी उद्देश्य को पूर्ण करने वाली बन सकें जिसके लिए परमात्मा ने उन्हें नियत किया है। यही उपाय अमर होने का है।

शोक ! महाशोक !! जिस जीवात्मा को परमात्मा के सुख का पद प्रदान हुआ है जो परमानंद में होने का अधिकारी निश्चित किया गया हो उसकी ऐसी हीन दशा दिखाई दे !

हे अमृत पुत्रो ! तुम अमर होने के लिए यत्न करो। जन्म-मरण से छूटने के साधन तुम्हारे चारों ओर उपस्थित हैं उन साधनों को पहचानने तथा उपकार लेने के लिए तुम्हें बुद्धि और ज्ञान दिए गए हैं। फिर क्यों देर करते हो ? अपना हृदय, अपनी बुद्धि और अपना मन परमात्मा के अर्पण कर दो ताकि अमृतधाम में पहुंच कर परमानंद के अधिकारी बन सको।

20

नैनमूर्ध्वं न तिर्यञ्च न मध्ये परिजग्रभत।
न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः ॥

उपदेश

नास्तिकपन की उच्च से उच्च युक्तियों के होते हुए और जड़ जगत् के उच्च से उच्च स्रोतों के आकर्षक रूप के होते हुए कौन सा मनुष्य है जो संकट के समय अंत में उस प्रभु की ओर नहीं दौड़ता है। वह कौन है ? कैसा है यह सब न जानते हुए भी मनुष्य उसकी ओर इस प्रकार दौड़ता है जिस प्रकार कि उस माता की तरफ बालक दौड़ता है जिसकी गोद में बैठकर उसने एक बार दूध पीया है। इसलिए उसको न जानते हुए उसका महायश हो रहा है। मूर्ति पूजक हो या मनुष्य पूजक, यहां तक कि नास्तिक भी स्पष्ट शब्दों से उसकी महानता, श्रेष्ठता को स्वीकार कर रहे हैं। उस अनंत का अंत कौन पा सकता है ? इसलिए उसको पूरे तौर पर, उसको मनुष्य की बुद्धि में न समाने वाला जानते हुए भी हरेक मनुष्य की टकटकी उसी ओर बंध जाती है। क्योंकि अपनी निर्बलता से परिचित होकर प्रत्येक मनुष्य अपने समानों से सहायता की आशा से निराश होकर नीचे से ऊपर को उठना चाहता है। यही कारण है कि जहां अपने कठिन समय में अफ्रीका का मूर्ख और मनुष्याहारी हवशी आकाश की ओर दृष्टि उठाता है वहां सभ्य यूरोपियन भी ईसा के अनुकरण में अपने आसमानी बाप की तरफ ही प्रवृत होता है। लाखों ने उसे बिजली की कड़क और बादल की गरज के भीतर ढूंढ़ा और करोड़ों ने संसार के ऊंचे से ऊंचे पहाड़ों और चमकीले से चमकीले सूर्यों की रोशनी के भीतर उसकी ढूंढ़ की। जब तक यथार्थ ज्ञान से वंचित रहे तब तक किसी मात्रा में बच्चों की तरह संतुष्ट रहे। परंतु ज्योंही ज्ञान नेत्र खुले तुरंत आंख झपक गई। आकाश कहां समझे ? क्या उसके चमकते हुए मगर दृढ़ सितारे की ओर उस महान आत्मा की खोज में सर उठाएं ? जो कि सप्त ऋषियों के एक ओर सितारों के झुरमुट का केंद्र दिखाई देता है जिससे उसकी खोज में अपने पैर की ओर पृथ्वी के दूसरे भाग के आकाश की ओर नजर दौड़ाएं। इस कशमकश के अंदर प्रकाशित आत्माएं अकस्मात् चिल्ला उठती हैं कि वह न ऊपर,

न वह तिरछा, न बीच में, इन स्थानों पर उसे कौन देख सकता है। जब उसका कोई आकार ही नहीं, जब उसकी कोई मूर्ति नहीं, जब निराकार आकाश से भी वह अति सूक्ष्म है तो फिर दिशाओं में उसकी खोज कहां हो सकती है ? किस दिशा में उसे ढूंढ़ें ? यदि पश्चिम में न हो तो पूर्व में मिल सकता है ? यदि उत्तर में व्यापक न हो तो दक्षिण में उसके दर्शन हो सकते हैं ? परंतु जब कि वह सारे ब्रह्मांड के अंदर व्यापक है, जब आकाश और पृथ्वी, जल और वायु, अग्नि और विद्युत कोई भी उसकी व्यापकता से पृथक् नहीं तो एक स्थान या एक वस्तु के अंदर उसकी खोज पूर्ण मूर्खता है। जब कोई स्थान कोई वस्तु भी उसकी व्यापकता से पृथक् नहीं है तो मक्का और मदीना, जगन्नाथ और काशी, जेरूसलम और रोम, अर्थात् किसी विशेष स्थान में भी मारे मारे फिरने से जीवन का अभिप्राय प्राप्त नहीं हो सकता। फिर क्या उसकी खोज ही न करें ? क्या सर्वव्यापक कहते हुए भी उसके दर्शनों से वंचित रहें ? कदाचित् नहीं ? अपितु उससे पवित्र और उच्च स्थान में खोज करें जहां कि हमें उसके खुले दर्शन हो सकते हैं। जो हिमालय की चोटी के अतिरिक्त पृथ्वी की गहरी से गहरी कंदराओं में भी उपस्थित रहता है। क्या वह चेतन महानात्मा, चेतन जीवात्मा के अंदर ही व्यापक नहीं ? जब मनुष्य के हृदय का वह ईश्वर है और वही उसका उत्तम आसन है तो फिर अपने अंतःकरण के भीतर उसकी खोज न करके ऊपर और नीचे, दाएं और बाएं निगाह दौड़ाना और पहाड़, नदी, जंगल और बियाबान की खाक छानते फिरना कब बुद्धिमत्ता है ? उस निराकार अनंत स्वरूप परमात्मा को अपने आत्मा के अंदर ही ढूंढ़ना चाहिए और जब उसके दर्शन हों तो उसके दरबार से कभी भी अनुपस्थित न होना चाहिए।

हे प्राणपति परमेश्वर ! आपके सत्स्वरूप को भूलकर मैंने स्थानों और वस्तुओं के अंदर आपको ढूंढ़ा और मनुष्यों, पशुओं के जीवन के अंदर आपके प्रकाश की खोज की; परंतु कहीं पर भी शांति न मिली। कृपानाथ ! इस तरह का भटकना सदैव के लिए बना रहेगा ? युक्ति और प्रमाणों से हम क्या सिद्ध करें कि आप मेरे अंदर विराजमान हैं। परंतु क्या मेरा जीवन सिद्ध करता है कि मेरा यह विश्वास वास्तविक है ? यदि सचमुच आपके हृदयेश्वर होने का मुझको विश्वास होता तो मैं क्या संसार के भले के लिए आपके सत्य को प्रकाश करने से रुक सकता ? हे दयामय ! कृपा करके इस अविश्वासी हृदय को विश्वासपात्र बना मुझे मेरे कर्तव्य का सीधा मार्ग दिखाइए।

21

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।
हृदा हृदिस्थं मनसा य एनमेवं विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥

उपदेश

आंख किस रूप को देख सकती है ? जिस प्रकृति से आंख बनी है उसी प्रकृति के जो स्थूल रूप हैं उन्हीं को आंख देख सकती है। प्रकृति से परे आंख की गम्यता कब है ? और प्रकृति में भी रस, गंध, स्पर्श और शब्द पर आंख का क्या प्रभाव पड़ सकता है ? जब इन विषयों के दिखाने में ही आंख अशक्त है फिर उस आंख से उस पुरुष के देखने की आशा रखना जो कि रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द से रहित है, कैसी मूर्खता है ? उसका स्वरूप ही ऐसा है कि आंख उसके लिए नहीं ठहर सकती। फिर आंख से उसे कौन देख सकता है ? जो लोग आंखें खोले हुए उसकी खोज में इधर उधर देखते फिरते हैं वे कैसे मूर्ख हैं ? उसे वेद और शास्त्रों में हृदयेश्वर कहा है। ऋषियों ने भी खोजने से उसे हृदय के अंदर ही पाया है इसलिए हृदय में ही उसकी खोज होनी चाहिए। जो मनुष्य उसकी खोज में पूर्ण रीति से लगन के साथ मन को उसके अंदर दौड़ाते हैं उनका मन भी थककर बुद्धि को आगे भेजता है; और बुद्धि उस परिश्रम के कारण अधिक से अधिक सूक्ष्म होती हुई अंत में उस ब्रह्म के वैसे ही दर्शन करती है जैसा कि वह है ! इस प्रकार जो पुरुष उस परम पुरुष को जानने की याचना करते हैं उन्हें न केवल उसके दर्शन ही होते हैं अपितु वह अमृत धाम के अधिकारी बन जाते हैं। यह कैसा मनोहर सत्य है ! परंतु कितने पुरुष हैं जो इस सत्य को अनुभव करते हैं ? यह जानते हुए कि जो सारे संसार में व्यापक हो रहा है वह किसी स्थान विशेष में क्यों कर मिल सकता है और यह मानते हुए कि जो अनंत है उसे हमारी इंद्रियां अनुभव नहीं कर सकतीं। निर्बल जीवात्मा उसके पीछे इसी संस्कार के अंदर व्याकुल होकर घूम रहा है। इस अविद्या अंधकार में फंसकर हम सब से क्या अनुचित चेष्टाएं नहीं हो रहीं ? अगर यथार्थतः हमें पूर्ण विश्वास हो कि वह परमात्मा प्रत्येक स्थान में व्यापक है तो क्या कभी संभव है कि हम कोई बुरा कार्य कर सकें ? यदि विश्वास हो कि हमारे हृदय में उस परम पिता

का शुद्ध आसन है तो क्या संभव है कि उस हृदय के अंदर मलीने वासनाएं उत्पन्न हो सकें ? पर हमारी अवस्था क्या है ? अगर हम कानून के पंजे से बच सकें और अपने साथियों की दृष्टि से अपने कर्मों को बचा सकें तो फिर हम किसी पाप से भी नहीं डरते। वे मनुष्य जिनकी नजरें प्रायः धोखा खाती रहती हैं जिनके कान प्रायः कुछ न कुछ सुन सकते हैं जिनकी जिह्वा कुछ का कुछ स्वाद ले सकती है। जिनकी नासिका सुगंधी को दुर्गन्धी समझ सकती है ऐसे मनुष्यों की आंखों और दूसरी इंद्रियों से हम क्या भयभीत होते हैं ? एक पांच बरस का बालक, हमारा पाप की ओर बढ़ा हुआ हाथ रोकने के लिए पर्याप्त है। परंतु सारे ब्रह्मांड के स्वामी की उपस्थिति भी हमें अपने मन के अंदर बुरे विचार उठाने से रोक नहीं सकती। अपने हृदय के अंदर आंदोलन करो। अंतःकरण को बाहर से बिलकुल हटा लो।

आह ! कैसा भयानक दृश्य है ! घात और व्यभिचार, क्रोध, चोरी, छल-कपट और मक्कारी किस किस दुर्गुण का नाम लें उन्हीं ने दिल के ऊपर अपना राज्य किया हुआ है। जिस हृदय को परमात्मा स्वयं अमर ज्योति से प्रकाशित कर रहे हैं हमारे उस हृदय के अंदर कैसी कैसी भयानक वासनाएं उठ रही हैं। जो मन पवित्र पारब्रह्म की उपस्थिति के कारण शुद्ध होना चाहिए था उसमें कैसी-कैसी अपवित्रताएं भरी पड़ी हैं ?

प्रिय पाठकगण ! क्या तुम्हें अभ्यास है कि तुम दिन रात में न्यून से न्यून एक बार अपने अंदर की खोज किया करो। यदि तुम्हें ऐसा अभ्यास नहीं है तो आज से ऐसा अभ्यास आरंभ कर दो फिर तुम्हें मालूम होगा कि तुमने कहां तक अपने 'अंदर' को 'बाहर' पर कुर्बान किया हुआ है। तुम्हें मालूम होगा कि तुमने असार वस्तुओं का पीछा करते हुए सार वस्तुओं को कहां तक भुला दिया है। यह संसार पल-पल में बदल रहा है। इस बदलने वाले संसार के लिए यदि हम न बदलने वाले परमेश्वर को भूल कर बैठ जाएं तो हमसे बढ़कर मूर्ख कौन है ? परमेश्वर हृदय के अंदर विराजमान है। उनकी खोज में भटकते मत फिरो, अपितु बाह्य वस्तुओं से मन को पृथक् करके उसके दर्शनों में लीन होकर अमृत धाम के अधिकारी बनो।

22

अजात इत्येवं कश्चिद्भीरुः प्रपद्यते।
रुद्र यत्ते दक्षिणं मुखं तेन मां पाहि नित्यम् ॥

उपदेश

मनुष्य बावजूद अपनी समस्त शक्तियों के, वास्तव में किस गिनती में है ? शारीरिक शक्तियों पर मनुष्य अभिमान भी क्या कर सकता है ? यदि शरीर की शक्ति का अनुमान लगाया जाए तो मनुष्य से कहीं बढ़कर शक्ति न केवल पशुओं में ही है अपितु प्रायः पक्षियों के अंदर भी दिखाई देगी। यदि मोटे होने का दावेदार हो तो उससे बढ़कर कैसे कैसे सुंदर और शक्तिशाली शरीर वाले पशु जगत् के अंदर उपस्थित हैं। और फिर अगर अपनी दौलत का अभिमान करे तो जिन साधारण वस्तुओं पर उसका अधिकार है वे तो दूर रहीं अगर सारी दुनिया का राज्य भी अधिकार में आ जाए तो फिर भी उसके स्रोत की क्या सत्ता है ? शनि और वृहस्पति के सम्मुख उसका अधिकार ही क्या है और प्रकाशमय रत्नजटित सूर्य के सम्मुख तो पृथ्वी केवल तुच्छ है। इस ब्रह्मांड के अंदर कितनी और भूमियां इस पृथ्वी से भी बढ़कर भ्रमण कर रही हैं ! किस वस्तु का मनुष्य अभिमान कर सकता है ? क्या अपनी बुद्धि पर अभिमानी होना चाहता है ? बड़ी से बड़ी बुद्धि की पहुंच अब तक उन अनगिनत सितारों तक नहीं हुई जिनका चमकता हुआ मंडल प्रतिदिन रात्रि को स्वस्थ मनों को मोहित कर रहा है इन तारों में क्या है ? चमकते वेगा क्युटिरस के अंदर किस प्रकार की आबादी है ? किस प्रकार की धातुएं जल रही हैं ? इन अरबों खरबों कोस दूरी रहने वाले सितारों को जाने दो। तुम्हारे समीप ही बुध है; उससे कुछ अधिक फासले पर शुक्र है। सच बताओ तुम्हें उनके अंदर का हाल कुछ मालूम है ? और बहादुर मंगल के सुर्ख चेहरे को तुम प्रायः देखते हो ? क्या उस चेहरे के सुर्ख पर्दे को दूर करके तुमने अब तक पता लगाया कि उसके अंदर किस प्रकार की आबादी है ? जब मनुष्य की बुद्धि की यह अवस्था है तो बुद्धि पर भी अभिमान क्या किया जा सकता है ? एक वायु का झोंका या बादल की गरज के आगे सारी बुद्धि रह जाती है ? चौथाई शताब्दी के बल और शक्ति की कमाई एक साधारण-सी प्राकृतिक

शक्ति एक पल में दूर कर देती है ? फिर किस शरीर पर, किस दिमाग पर और किस बुद्धि पर मनुष्य अभिमान कर सकता है ? बड़ी पुस्तकें लिखने, सारी दुनिया के गिर्द चक्कर लगाने उत्तर और दक्षिण ध्रुव की सीमा के ढूंढ़ने के लिए निडर जाने, दर्शनों के सूक्ष्म से सूक्ष्म प्रश्नों पर विचार करके भी मनुष्य वैसे का वैसा दुर्बल है जैसा कि पैदा हुआ था। यदि उसको किसी और शक्ति का सहारा न मिले, बड़ी से बड़ी पुस्तकें लिखने के पश्चात् जब शरीर को राजरोग ग्रस लेते हैं तो उस समय भी बौद्धिक शक्ति क्या सहायता दे सकती है ? जहाज को दक्षिण के अंत की ओर ले जाने के यत्न में, जब बरफानी चक्कर के अंदर जहाज फंस जाता है, जब तख्ते से तख्ता टकरा कर टूट जाता है और आसमान के अतिरिक्त कुछ दिखाई नहीं देता उस समय मूर्ख और सरदी का सताया हुआ वैज्ञानिक किस स्थान से बल प्राप्त करता है ? ऐसे ही समय में तो स्वयमेव परमात्मा के रुद्र रूप का ध्यान आता है। संसार की समस्त वस्तुएं क्षणिक हैं। पर्वत तथा वृक्ष, हिम तथा जल, सूर्य तथा विद्युत् सब के सब असार हैं। कोई समय था जब कि यह न थे और समय आएगा कि यह सब फिर न रहेंगे। परंतु एक है जो सदा से है और सदैव रहेगा। भयानक से भयानक जंगली जानवरों के आक्रमण और खतरनाक से खतरनाक हिंस्र मनुष्यों के अत्याचार के समय तुम सब को वही स्मरण आता है। इसलिए जहां कि वह अत्यंत दयालु है और हम दीनों की पुकार को बड़ी उदारता से सुन लेता है वहां वह रुद्र भी है। दुष्टों को अपने न्याय नियमों से दंड देकर रुलाने वाला है। इसलिए हम सब को उसकी शरण में जाना चाहिए। इस पर क्या मैंने कभी विचार नहीं किया ? सांसारिक विषयों की चोटों से व्याकुल हुए इस आत्मा ने कई बार अपनी दुर्बलता को अनुभव किया है, और इस समय भी वही निर्बलता मेरे लिए स्पष्ट हो रही है। थोड़ी देर के लिए अविद्या का पर्दा जब दूर हो जाता है तो स्पष्ट दिखाई देता है कि मैं बड़ा निर्बल हूं। मुझे रुद्र का सहारा ढूंढ़ना चाहिए। हे परमात्मन् ! मैं जन्म से ही भीरु हूं। आपकी रक्षा की मुझे बड़ी भारी आवश्यकता है। आप दिन रात मेरे हृदय के अंदर विराजमान मेरी रक्षा भी कर रहे हो परंतु क्योंकि मैं आपके दर्शन के योग्य नहीं हूं इसलिए अब तक डर रहा हूं। कृपानाथ ! मुझे अपने दर्शन के योग्य बना दीजिए ताकि आप के दर्शन से तेज धारण करके हर प्रकार की भीरुता को अपने अंदर से दूर कर सकूं।

23

मा नस्तोके तनये मा न आयुषि मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिष।
वीरान्मा रुद्र भामिनावधीर्हविष्मन्तः सदमित्वा हवामहे ॥

उपदेश

जब मनुष्य अपनी निर्बलता का अनुभव कर लेता है और यह भी जान लेता है कि सिवाय परमात्मा के और कोई भी ऐसा नहीं है जो उसको दिन-रात क्षमा कर सके तब वह विचारने लगता है कि कौन-कौन से विघ्न हैं जिनके कारण ईश्वर प्राप्ति के साधन यथावत् नहीं हो सकते। अनुभव से इन विघ्नों के मूल कारण को जानना कठिन नहीं है। किसी बड़े शहर में चले जाओ अभी दस कदम नहीं चले हो कि अकस्मात् सामने से एक पुरुष अपने हाथों में कपड़ों में लपेटी हुई कुछ वस्तु लिए जा रहा है। पीछे बहुत-सी स्त्रियां हा-हाकार करती जा रही हैं जिनमें से एक की शोकजनक आवाज पत्थरों को भी रुला रही है। उस कपड़े में क्या लिपटा हुआ है ? और यह मुसीबत की मारी स्त्री कौन है ? सवाल करते ही तुम्हारा साथी तुम्हें बताता है कि कपड़े में लिपटी हुई नवजात बच्चे की लाश है और यह उसकी माता है जो दुःख से पीड़ित, जान की भी परवाह न करती हुई साथ चली जा रही है। आगे अभी बीस कदम और न चले होगे कि एक भव्य भवन के अंदर हलचल मची हुई है। डॉक्टर पर डॉक्टर आ रहा है और रुपया ठीकरियों की तरह खर्च हो रहा है। संध्या का समय है। गुरुकुल के ब्रह्मचारी उस समय संध्या से निवृत्त होकर एकांत देश में उस समय हवन की तैयारी कर रहे हैं। परंतु यहां एक आर्य धनाढ्य पुरुष का बड़ा महल है। अब तक संध्या का किसी को ध्यान नहीं। तुम्हें फिर आश्चर्य होता है कि ऐसा क्यों है ? क्योंकि तुम मकान के मालिक को संध्या में दृढ़ देखा करते थे परंतु देखो उसका चेहरा कैसा मुरझाया हुआ है ? पूछने पर जान पड़ता है प्यारा दस साल का लड़का बीमार है। उसके दुःख से दुःखी होकर उसने सब कुछ भुला दिया है। तीसरी ओर जाओ; तुम्हें एक बीस वर्ष का नव-जवान आदमी टेढ़ी कमर किए चलता दिखाई देता है। कठिनता से हिल सकता है। दस दिनों के पश्चात् देखो तपेदिक ने उसे श्मशान भूमि के समीप पहुंचा दिया है। नाड़ी डॉक्टर के हाथ में

है। कुछ दिन का ही मेहमान है। आह ! कैसा दुःख इस युवा पुरुष को मिल रहा है। फिर चौथी ओर जाओ सारे कुटुंब को दूध से पालने वाली गाय मरने के लिए तड़प रही है और एक शानदार आदमी उसके पास खड़ा आंसू बहा रहा है। पांचवीं तरफ एक अमीर घोड़े के पास पशु डॉक्टर को लिए खड़ा है। नाली फांदते हुए घोड़े के सख्त चोट आ गई है। एक और मुहल्ले में जा निकले हो। खड़ा स्यापा हो रहा है। स्त्रियां बड़ी बेदर्दी से छाती पीट पीट कर खून निकाल रही हैं और एक अमीर पोषाक पहने प्रभावजनक मनुष्य एक मृतक का मुख देख-देखकर रो रहा है। इनका एक युवा संबंधी इसी समय मरा है। दुःख से सब की यही अवस्था हो रही है। कहां तक वर्णन किया जाए अपने संबंधियों के वियोग और उनके कष्ट के कारण बड़े से बड़े धार्मिक मनुष्य भी ऐसे व्याकुल हो जाते हैं कि संध्या-वंदन और ईश्वर प्राप्ति आदि समस्त अन्य साधनों को भी भूल जाते हैं। कौन मनुष्य है जिसमें जरा भी सोचने का मादा है और वह यह नहीं समझता कि परमेश्वर प्राप्ति के बिना सांसारिक क्लेशों से छूटना कठिन है। परंतु उनमें से कितने पुरुष हैं जो कि ऐसे समयों पर सावधान रह कर अपने मनों को स्थिर रख सकते हैं। ऐसी निर्बलता क्यों है ? यह प्रश्न ही व्यर्थ है। मुझे तो तब अचंभा होता अगर मनुष्यों के अंदर ऐसी निर्बलता न पाई जाती। निर्बल तो मनुष्य हैं ही; परंतु यह निर्बलता तब तक है जब तक प्रकृति के संसर्ग से उसके दास बन रहे हैं। ज्यों-ज्यों प्रकृति की दासता से छुटकारा होता जाता है और परमात्मा के साथ प्रीति का संबंध स्थिर होता जाता है त्यों त्यों यह निर्बलता दूर होती जाती है। इस जगह साधारण पुरुषों को फिर संदेह उत्पन्न होता है। वे सोचते हैं जब "ईश्वर सर्वव्यापक है तो हमारे साथ उसका पहले से ही संबंध है अब हमारा नया संबंध क्या स्थापित होगा।" यह सच है कि परमेश्वर का हमारे साथ सदैव का संबंध है और सदा रहेगा परंतु जब तक कि हम उस परम पुरुष को स्वीकार न करें तब तक दुख दूर नहीं हो सकता। परमेश्वर को स्वीकार करना, उसी के परायण हो रहना ये कर्म हैं। जिनके कारण से संबंधियों के क्लेश और दुःख हम को सता नहीं सकते। अन्यथा हमारी निर्बलता तो ऐसी है कि स्वयं हम कुछ भी करने के योग्य नहीं हैं। हे रुद्र परमात्मन् ! इसलिए आपकी पवित्र सेवा में उपस्थित होकर बड़ी नम्रता से प्रार्थना करते हैं कि आप हमारे सब संबंधियों की रक्षा कीजिए और हमारी आयु को भी सुखपूर्वक बढ़ाइए ताकि निर्विघ्न आपकी प्राप्ति के साधनों पर आचरण करते हुए हम आपके पवित्र और शांतिदायक ब्रह्मधाम के अधिकारी बन सकें।

24

यदा तमस्वन्न दिवा न रात्रिर्नसन्नचा सच्छिव एव केवलः।
तदक्षरं तत सवितुर्वरेण्यं प्रजा च तस्मात् प्रसृता पुराणी ॥

उपदेश

मनुष्य का आत्मा चारों ओर से अंधकार से छिपा हुआ है जिधर दृष्टि डालता है उसके बुद्धि रूपी नेत्रों को वापस ही आना पड़ता है। व्याकुल होकर अंत में महात्माओं की शरण पकड़ता है। धर्म में जिज्ञासा का यहीं से आरंभ होता है। ऋषि इसे प्रथम अवस्था के त्याग देने की शिक्षा देते हैं। युक्तियों से कायल होकर उनके सर्वथा त्याग में वह प्रवृत्त होता है। परंतु पुराने संस्कार उसे कुछ नहीं करने देते। तब ऋषि शिक्षा देते हैं सबसे पहले शौच का अभ्यास कर। शरीर को पानी से, मन को सत्य से, आत्मा को विद्या और तप से, बुद्धि को ज्ञान से जब शुद्ध कर लेता है तो हिंसा का स्वभाव स्वयं दूर हो जाता है। सारा संसार मित्र ही मित्र दृष्टिगोचर होता है। फिर सत्य का पालन करने योग्य होता है। कर्म और वाणी एक ओर रहे, मन में असत्य का ध्यान भी न करने का अभ्यास करता है। यहां पर लालच अधिक होता है। जिस को रोकने के लिए संतोष का अभ्यास कराया जाता है। इस पदवी से गुजरकर अभी तक दूसरों का अधिकार लेने का स्वभाव नहीं जाता। उस समय तप का अभ्यास करना पड़ता है। धर्म पर जान भी चली जाए तो भी कुछ परवाह नहीं। कष्ट पर कष्ट पड़ें और धर्म का रास्ता न छूटे; जब ऐसी अवस्था हो जाती है तब मनुष्य काम बली के तिरछे बाणों के सहन करने के योग्य बनता है। उस समय ब्रह्मचर्य के व्रत धारण करने का साहस कर सकता है परंतु ब्रह्मचर्य का व्रत कैसा कठिन है। इसे वे ही पुरुष कुछ जानते हैं जिन्हें काम बली का सामना पड़ा है। ब्रह्मचर्य की दृढ़ता के लिए महात्मा पुरुष स्वाध्याय की महिमा वर्णन करते हैं। परमात्मा के निज नाम 'ओ३म्' का जाप और उसके अनंत अर्थों के अंदर आत्मा को लीन कर देने से ब्रह्मचर्य व्रत का पालन संभव हो सकता है। इस व्रत के पूर्ण होने के लिए परमात्मा पर पूर्ण विश्वास होना चाहिए। ब्रह्मचारी सब कार्य परमात्मा के ही अर्पण कर देता है तब ही उसका मोह संसार से दूर होता है। इस तरह वैराग्यवान् होकर

सब विषयों से मुक्त मनुष्य परमेश्वर की प्राप्ति का अभ्यास कर सकता है। उस अभ्यास में पहले परमात्मा तक पहुंचने के साधनों के लिए यथार्थ आसन से बैठने की आवश्यकता है। फिर प्राणायाम से मन और इंद्रियों को विषयों से पृथक् करके प्रत्याहार का साधन करके धारणा और ध्यान से समाधि अवस्था तक पहुंचता है। उस समाधि अवस्था में मुक्त जीवात्मा की क्या अवस्था होती है ? इसका उत्तर सिवाय मुक्त ऋषियों के कौन दे सकता है। कपिल ऋषि कहते हैं वहां न दिन है न रात है। जब वहां अंधेरे का नाम ही नहीं और प्रकाश ही प्रकाश का राज्य है तो दिन और रात के भेद की क्या आवश्यकता ? यह बनी हुई सृष्टि क्या दिखाई देती है और फिर प्रकृति की ओर भी कब ध्यान होता है ? प्रकृति वर्तमान है। सारा संसार वर्तमान है। सूरज के गिर्द पृथ्वी और ग्रह घूम रहे हैं। ऐसे अनगिनत सूर्य मंडल बड़े बड़े सूर्यों के गिर्द चक्कर लगा रहे हैं। यह सब कुछ है परंतु ब्रह्म धाम में विचरने वाले मुक्त जीवात्मा के लिए यह सब कहां है ? उसे सिवाय परमात्मज्योति के और कुछ दिखलाई कहां देता है ? शांति धाम में विचरते हुए उसे चारों ओर ब्रह्म ही ब्रह्म दिखाई देता है। शांति धाम में निवास करते हुए उसे कल्याण स्वरूप शिव जी महाराज के हर समय दर्शन होते हैं। जिसको प्राप्त करने की कामना सदैव से विद्वान् धर्मात्मा पुरुष करते आए हैं। परंतु फिर प्रश्न होता है कि क्या केवल दर्शनों से आत्मा की शांति हो सकती है ? आत्मा चेतन है उसकी शांति बिना ज्ञान के कैसे हो ? उत्तर मिलता है ब्रह्म धाम में एक ही नहीं अपितु सब ओर ब्रह्मज्योति फैल रही हैं। जहां ब्रह्म ज्योति का प्रकाश चारों ओर फैल रहा है वहां उससे ही सदैव फैलने वाली उसकी सनातनी विद्या वेद भी मुक्त आत्मा के चारों ओर फैल रही है। प्रिय पाठकगण ! सांसारिक विषयों के अंदर शांति की तलाश वैसी ही है जैसी बालू से प्यास बुझाने का यत्न। इन विषयों से स्वतंत्र होकर जब इंद्रियां और मन आत्मा को छोड़ देते हैं और वह अनंत धाम के अंदर प्रकाश ही प्रकाश के राज्य में विचरता हुआ ब्रह्मांड को अनुभव करना आरंभ करता है। उस समय आत्मा शांत हो जाता है। जिस शांति की खोज में जंगल और बियाबान, बस्ती और नगर छानकर धन, स्त्री, भूमि एकत्र किए थे उस शांति का मिलाप इन सब को छोड़ने से होता है। प्रिय भ्रातृवर्ग ! क्या प्राकृत पदार्थों के सताए हुए तुम्हारे मन अब तक उस शांति धाम के लिए व्याकुल नहीं हुए जिसमें केवल शिव स्वरूप परमात्मा ही विराजमान हैं।

25

आ पश्यति परा पश्यति सर्वं य आ पश्यति।
तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥

उपदेश

पर्वतों की बरफ़ से ढकी चोटियों पर चढ़कर, गंभीर से गंभीर समुद्र की तह में घुस कर जहां तक दृष्टि डाली; पिता ! सब में आप की ही लीला, बुद्धिमत्ता भरी पाई। पुष्प, पुष्पवाटिका, नहर निझरों में, आकाश पृथ्वी में, जल और वायु में आपकी ही महत्ता का प्रकाश देखा।

आकाश मे दूर से दूर उड़ जाने वाले पक्षी केवल आपके दिए बल और शक्ति पर उड़ रहे हैं। केवल आपके ही सहारे इधर से उधर, उधर से इधर उड़ रहे हैं। नदियों के किनारे सारस व बगुले, जंगलों में हिरण और गाय, शेर और चीते, समुद्र में मछलियां और सांप, चांद और सूर्य के परमाणुओं और अनगिनत सितारों पर आपकी दृष्टि है। यह रंग बिरंगे बादल, यह बिजली, यह छमाछम वृष्टि, यह पतझड़ की ऋतु, यह वसंत की ऋतु, यह ग्रीष्म की ऊष्णिमा, यह शीत ऋतु की शीत, यह चांद की चांदनी, यह सब आपकी अद्भुत बुद्धिमत्ता तथा रचना की पूर्णता का प्रकाश है। जिसकी सुंदरता पर हर मनुष्य चकित-सा है। हर पल, हर घड़ी, प्रतिदिन, प्रति रात्रि, प्रति प्रातः तथा सायं, क्षणक्षण, वर्ष तथा मास सब आप की रचना है। प्यासों को पानी, भूखों को रोटी, जीवितों को मृत्यु, मृतक को जीवन देना, सब से कर्मों का हिसाब लेना, उनका फल या उत्पत्ति देना ये सब आपके कार्य हैं। मनुष्य एक दिन किसी पर कोई भलाई करता है परंतु सारी आयु उसको नहीं छोड़ता। उपालंभ देता है और कृतज्ञता जताता है परंतु आपकी गंभीरता निस्संदेह माननीय है। प्रत्येक मनुष्य आपकी बरकतों से प्रसन्न है। निर्धन से लेकर धनी तक और सम्राट् से लेकर भिखारी तक आप सब को पालते हैं। और आई बला को उनके सिर से टालते हैं। रात्रि के समय जब सब संसार बेसुधी की निद्रा में सो जाता है तो आपकी जागृत आंख सब की देखभाल करती है। चोर व डाकू, सांप, बिच्छू किसी की शक्ति नहीं कि किसी का धनादि उठाए या कोई किसी को काट खाए। आप तुरंत ही मनुष्य को

जगा देते हैं जिससे वे बाल बाल बच जाते हैं। यह आपकी कितनी अधिक करुणा है और किस प्रकार की कृपा है। आप ही माता के पेट में सबकी रक्षा करते हैं। मुर्गी के अंडों, पशु पक्षियों, वर्षा के कीड़ों, सब की आपको चिंता है। यह सब यदि आपके प्रदान को नहीं समझते तो भी आप उनसे दया का हाथ नहीं हटा लेते। इसलिए आप सच्चे पिता हैं। मृत्यु के दुःख से छूटकर मनुष्य को मुक्ति का सुख आप से ही मिल सकता है। आंप ही संसार की सब योनियों के द्रष्टा, नेता व पालनकर्ता हैं। जब कभी हम आपके इस महान् संसार चक्र पर दृष्टि डालते हैं तो स्वयमेव यह मुख से शब्द निकलते हैं–

आ पश्यति–परा पश्यति....।

आप सर्व द्रष्टा, सर्व नियंता और सर्व आधार हो। आपके बिना हमारा कहीं गुजारा नहीं। पिता ! इसलिए बारंबार आप ही को नमस्कार हो। सब जग आपके ही आधार है। आपको छोड़ हम कहां जाएं किसको अपना हाल सुनाएं। हमारा कहीं और ठिकाना नहीं। हमें काल के मुंह से छुड़ाओ। अपने चरणों में लगाओ। पिता ! यही हमारी वाञ्छा है, यही कामना है। हमारी कामना को पूरा करो। पूरा करो।

26

द्वे अक्षरे ब्रह्म परे त्वनन्ते विद्याविद्येति हिते यत्र गूढे।
क्षरं त्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या विद्या विद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः ॥

उपदेश

जिस अविनाशी तथा सर्वव्यापक परब्रह्म के अंदर ब्रह्मविद्या और उससे उल्टी पदार्थ विद्या दोनों गहरी अवस्था में उपस्थित हैं और जो ब्रह्मविद्या और पदार्थ विद्या दोनों का स्वामी है वह और ही है। और अविद्या, पदार्थ विद्या दोनों नश्वर हैं परंतु विद्या निश्चयपूर्वक ही मोक्ष देने वाली है। संसार और परमार्थ दोनों की विद्याओं का प्रकाश हम देखते हैं दूसरी ओर सांसारिक पदार्थों को तुच्छ समझकर परमार्थ की प्राप्ति में, लगे हुए सूक्ष्म से सूक्ष्म विचारों को समझने की शक्ति रखने वाले दिखाई देते हैं। क्या मनुष्यों की जात में भेद है ? क्या जीवात्माओं की हस्ति कई प्रकार की है ? प्रत्यक्ष दो विरुद्ध तरीकों पर मानवीय बुद्धियों को काम करते देखकर ऐसा ही भ्रम होता है परंतु निःसंदेह ऐसा नहीं है। स्थूल दृष्टि में सांसारिक विद्या विरुद्ध काम करती हुई दिखाई देती है। परंतु वास्तव में वह ब्रह्म विद्या की ही सहायक क्यों न हो ? जबकि उसी ब्रह्म के अंदर से दोनों का प्रकाश हुआ है जो ब्रह्म अद्वितीय तथा सर्वव्यापक है। अर्थात् संपूर्ण ज्ञान का प्रकाश परमात्मा से हुआ है। यदि नहीं हुआ तो हे मनुष्य ! बतला किस जगह से उनका प्रकाश हुआ है ? क्या तेरे अंदर से विद्या प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना पड़ता है। आंखों को देखने के लिए प्रयत्न नहीं करना पड़ता ? कान को स्वयं सुनना नहीं पड़ता है। जिह्वा को स्वाद लेने के लिए सिखाने की आवश्यकता नहीं पड़ती ? रंगों में भेद करने, शब्दों में भेद जानने और स्वादों के सूक्ष्म भेदों को समझने के लिए भी शिक्षा की आवश्यकता पड़ती है। मनुष्य समाज की हर एक पीढ़ी अपनी से पहली पीढ़ी से शिक्षा प्राप्त करके ज्ञान में उन्नति करती चली आई है इसलिए इसमें संदेह नहीं कि विद्या मनुष्य के अंदर से स्वाभाविक तौर पर नहीं होती; अपितु कहीं बाहर से आती है। वह बाहर कौन सा स्थान है जहां से विद्या आती है। मनुष्य के अंदर से निकलती नहीं (क्योंकि मनुष्य के अंदर ज्ञान प्राप्त करने और बाहर से अंदर लाने की केवल साधन कोटि है) जड़ प्रकृति के अंदर

ही नहीं। फिर सिवाय इसके कि उस परम पुरुष से प्रकाश हो जिसने सूर्य, चंद्र, नक्षत्र और आकाश को वर्तमान रूप दिया और कहां से विद्या का प्रकाश हो सकता है। परंतु विद्या की कोई स्वंतत्र सत्ता है ? क्या विद्या विशेष द्रव्य है ? कदाचित् नहीं; अपितु परमात्मा के अंदर उपस्थित है। संसार तथा परमार्थ दोनों का भंडार परमात्मा है।

वह उनसे बिलकुल पृथक् है। क्योंकि यह दोनों उसके गुण हैं फिर क्या दोनों से मानवीय जीवन का उद्देश्य पूर्ण हो सकता है ? ऋषि उत्तर देते हैं कि हो सकता है परंतु केवल एक अर्थात् अविद्या जो कि इसका वास्तविक अभिप्राय है। फिर क्या सांसारिक ज्ञान निकम्मा है ? क्या सांसारिक विद्याओं से पूर्ण बचाव करना चाहिए ? कदाचित् नहीं। सब सांसारिक विद्याओं को बड़ी अच्छी तरह प्राप्त करना चाहिए। इसलिए नहीं कि इससे सीधे मुक्ति मिल सकती है बल्कि इसलिए कि वह भी ब्रह्मविद्या तक मनुष्य को पहुंचाने के लिए एक साधन है। पदार्थ और सांसारिक अविद्या का प्रकाश भी परमात्मा से ही होता है परंतु उससे उन सांसारिक पदार्थों का ज्ञान होता है जो कि नाशवान हैं। आग, पानी, हवा, मिट्टी और आकाश यह नाशवान् हैं। इनसे जो भिन्न-भिन्न सूरतें बन रही हैं वे एक दिन बिगड़ जाएंगी। इनको स्थिरता नहीं है। जब इन वस्तुओं को ही स्थिरता नहीं तो इनकी विद्याओं को कैसे स्थिरता हो सकती है। इसलिए सांसारिक प्रत्येक वस्तु नश्वर है। नश्वर पदार्थ से प्रेम करना बुद्धिमानों का काम नहीं। शरीर सब नश्वर हैं। इसलिए जो मनुष्य शरीर के साथ प्रेम करते हैं। उन्हें बड़े बड़े कष्ट उठाने पड़ते हैं। जीवात्मा अविनाशी है इसलिए जिसने आत्मा के साथ प्रेम लगाया उसे कष्ट नहीं हुआ। क्या शरीर से लाभ नहीं उठाना चाहिए ? क्या शरीर की स्वस्थता के बिना प्राणायाम कर सकते हैं ? जिस तरह कि शरीर के नश्वर होते हुए भी उसे आत्मा की उन्नति का एक साधन बना सकते हैं इसी तरह सांसारिक विद्याएं यद्यपि सांसारिक वस्तुओं की तरह नाशवान् हैं तो भी उन्हें ब्रह्मविद्या की प्राप्ति का साधन बना सकते हैं और उस ब्रह्म विद्या की प्राप्ति पर उनका स्वयं नाश हो जाता है।

प्रिय पाठकगण ! सांसारिक विद्या बड़ी मोहनी मूर्ति धार कर तुम्हारे सामने आती है। उसके अंदर मति फंसने का बड़ा भय है। उसकी चमक दमक बड़ी नजर आती है। परंतु उसके अंदर मत फंसो। जो तुम्हें अपने उद्देश्य में चलने के लिए एक साधन के तौर पर दी गई है; जो तुम्हारे आधीन हो गई है इस सांसारिक विद्या के दास बनकर अपने असली उद्देश्य को नष्ट न करो।

27

यो योनि योनि मधितिष्ठत्येको विश्वानि रूपाणि योनिश्चवीः ।
ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्विभर्ति जायमानं च पश्येत् ॥

उपदेश

जो संपूर्ण शरीरों का एक ही मालिक है वही विद्याविहीन पैदा हुए जीवात्मा को पहले पहल ज्ञानेन्द्रियों से विभूषित करता है और पैदा हुए इस जीवात्मा को और उसके संपूर्ण रूपों तथा शरीरों को देखता है। तमाम विद्याओं का स्रोत परमात्मा को पहले बता चुके हैं। पदार्थ विद्या से उन्नति करते हुए ब्रह्मविद्या को प्राप्त होकर मुक्तिधाम में पहुंचने का साधन अच्छी प्रकार वर्णन हो चुका है। किंतु फिर भी निर्बल जीवात्मा को संदेह ही रहता है। अपने आपको अनादि और स्वतंत्र जानता हुआ जीवात्मा अभिमान से भर कर समझ नहीं सकता कि ज्ञान कहीं बाहर से आ सकता है ! परंतु वास्तव में ज्ञान बाहर से आता भी कहां है ? ज्ञान के भंडार ज्ञान-स्वरूप परमात्मा जब रोम रोम में रम रहे हैं तो ज्ञान की साधन कोटि के अंदर भी उनका प्रकाश वर्तमान है फिर बाहर से आने की क्या आवश्यकता है ? परंतु ज्ञान जीवात्मा से नहीं निकलता। जो सांसारिक दृष्टि में विद्वान् समझे जाते हैं जिनका ज्ञान और जिनके अन्वेषणों की धूम मच रही है, क्या वह कह सकते हैं कि देखने की आंखें, सुनने के कान, स्वाद लेने की जिह्वा, सूंघने की नाक, स्पर्श का साधन त्वचा स्वयं वे ही बनाएं ? क्या उन्हें वह युग याद है जबकि सूक्ष्म ज्ञानेन्द्रियां तो एक ओर स्थूल शरीर बनाने के लिए वह बैठे थे ? यदि नहीं तो सारी डींग निकम्मी है। अपने शरीर को हमने नहीं बनाया। फिर ज्ञानेन्द्रियों के गोलकों और उनकी सूक्ष्म शक्तियों को बनाना हमारी शक्ति में कैसे हो सकता है। यह कब संदेह हो सकता है कि इस सारे शरीर को बनाकर उसके अंदर ज्ञानेंद्रिय को ज्ञान प्राप्ति का बाह्य साधन उसी परम पिता ने नहीं बनाया ? जिसने कि सारी सृष्टि को रचा है। इस ज्ञान शक्ति के अंदर कैसे-कैसे भाव हैं ? यदि ज्ञान प्रकाश न होता तो जीवात्मा पशु आदि योनियों में घूमता घूमता ही समाप्त हो जाता। फिर उन्नति के कुछ अर्थ ही न रहते। यह गिरने और फिर उठने की कशमकश कहां होती ? इंद्रियों के स्वामी ने इंद्रियों को पैदा करके उनके

काम के लिए वेदों के ज्ञान सूर्य का प्रकाश कर दिया यह कैसी अपार दया उस परमात्मा की है। परंतु परमात्मा ने हमारे साथ यहीं तक संबंध नहीं रखा अपितु उसका संबंध हमारे साथ अनंत काल तक रहेगा। न केवल यही कि सृष्टि के आदि में प्रत्येक बार वह ज्ञान का सूर्य हमारे लिए उदय कर देता है अपितु ज्ञान के प्राप्त करने वाले जीवात्मा और जिन जिन चीजों का ज्ञान वह जीवात्मा जागृत अवस्था में प्राप्त कर सकता है अर्थात् पशु आदि जागृत और सुषुप्त अवस्था की योनियां, सब जड़ पदार्थ, इन सब का साक्षी वह परमात्मा ही है। शकलों को बना और योनियों को पैदा करने के पश्चात् परमात्मा इन सबसे अपना संबंध पृथक् नहीं कर लेता अपितु इन सब का आधार बना हुआ क्रियानुसार सब को फल देता हुआ इनकी रक्षा करता है। इसलिए प्रिय पाठकगण ! संसार में बड़े ज्ञानी प्रसिद्ध होते हुए भी आप तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त करने का साधन करते हुए निश्चय जानो कि जिस परम पिता ने आपको ज्ञान प्राप्त करने के साधन दिए और उन साधनों के लिए ज्ञान का भंडार खोल दिया उसका इस वेदादि के ज्ञान के दान से विशेष अभिप्राय है। वह तुम्हारी शिक्षा के लिए ज्ञान के सूर्य का प्रकाश इसलिए करता है कि तुम शिक्षा प्राप्त करके उस उत्तम शिक्षा पर चल कर अपना उद्देश्य पूर्ण कर सको। तुम्हारा ज्ञान निष्फल है यदि तुम उन पर आचरण नहीं करते। विद्या बिना आचरण के मनुष्य को हर घड़ी तथा हर पल नरक धाम में डाले रखती है इसलिए आचरण करने के लिए ही विद्या प्राप्त करो। तुम्हारे उत्तम और बुरे कर्मों का फल प्रदाता सदैव जागता हुआ तुम्हारे साथ सदैव संबंध रखता है। वह कभी भी तुम्हारी उन्नति के विचार से असावधान नहीं होता; उसे दिन रात, हर स्थान और प्रत्येक अवस्था में उपस्थित जानते हुए अपने ज्ञान और कर्तव्य को एक कर दो ताकि तुम्हारे जीवन का उद्देश्य पूर्ण हो। परंतु हमारे हृदय पर तो अविश्वास का राज्य हो रहा है। हम उन्हीं हतभाग्य पुरुषों में से हैं जिनके विषय में पवित्र वेद कहते हैं कि ''आंखें रखते हुए भी नहीं देखते और कान रखते हुए भी नहीं सुनते, क़दम कदम पर ठोकरें खाते हैं'' परंतु फिर भी अविश्वास के गढ़े से निकालने वाला कोई नहीं है। आंखें बंद मत करो। ज्ञान नेत्रों को बलपूर्वक खोलो और देखो उस अनंत शक्ति को जिसने तुम्हारी रक्षा के लिए हाथ पसार रखे हैं। चले जाओ पूर्ण विश्वास से उसकी गोद में। और फिर तुम उस उत्तम अवस्था को प्राप्त हो सकोगे जहां पर कि बुढ़ापे और मृत्यु का भय ही नहीं रहता।

28

एकैकं जालं बहुधा विकुर्वन्नस्मिन् क्षेत्रे संहरत्येष देवः।
भूयः सृष्ट्वा पतयस्तथेशः सर्वाधिपत्यं कुरुते महात्मा ॥

उपदेश

प्रकाशमय सब स्रोतों का स्वामी परमात्मा प्रत्येक जाल को भिन्न भिन्न प्रकारों से उलझाता हुआ इस क्षेत्र में बिगाड़ देता है फिर प्रजा के पालने वालों को पहले की तरह बनाकर उन पर शासन करता है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, इन पांचों तत्त्वों के मिलाप के पृथक् पृथक् दृश्य हमको इस संसार में दिखाई देते हैं। तत्त्व हैं तो पांच; परंतु इनमें से एक एक के (मनुष्य के लिए) अनगिनत रूप दृष्टिगोचर हो रहे हैं। एक एक वस्तु को कई-कई अवस्थाओं में परिवर्तित कर देने की शक्ति निर्बल मनुष्य में भी है परंतु जिस प्रकार कि उसकी शक्तियां सीमित हैं उसी तरह वे पृथक् पृथक् सूरतें जो एक वस्तु में वह पैदा कर सकता है, सीमित होती हैं। इसके विपरीत इस संसार की रचना के अंदर यह तत्त्व अनगिनत प्रकारों से एक दूसरे के साथ नई सूरतें, और नई अवस्थाएं पैदा कर रहे हैं। क्या इन अवस्थाओं को आज तक किसी एक मनुष्य या किसी मनुष्य समुदाय की संगठित बुद्धि ने गणना की है। क्या इन अवस्थाओं की गणना करना मानवीय शक्ति के अधिकार में है ? जब नहीं; तब पता लगाओ कि यह विचित्र रचना किस अनंत दिमाग से निकली। एक एक तत्त्व के अंदर किसने अनगिनत सूरतें स्वीकार करने की शक्ति दी। प्रकृति के एक एक दृश्य से इन प्रश्नों को बार-बार करो ? वास्तविक दर्शन के अभ्यासी बनो। तब कहीं तुम्हें पता लगेगा कि इन पांचों तत्त्वों को एक-दूसरे के साथ फंसाकर उनको जुदा-जुदा रूप देने वाला वही चेतन पुरुष हो सकता है जिसकी यह सब संपत्ति है। परंतु क्या यह जाल स्वयं नहीं बन सकता ? सृष्टि की रचना उत्तर देती है कि कदाचित् नहीं। क्योंकि इसके अंदर नियम तथा प्रबंध की पूर्णता दिखाई देती है और जड़ होते हुए भी प्रत्येक वस्तु नियम के साथ रूप बदलती है। ब्रह्मांड के मध्य मनुष्य रचना क्या सत्ता रखती है परंतु यदि इसी को ध्यान से देखें तो मालूम पड़ता है कि इसके अंदर सूक्ष्म से सूक्ष्म सम्मिलन के द्वारा सारे कार्य निर्विघ्न हो रहे हैं। जड़ शरीर के अंदर

इस प्रकार आश्चर्यजनक नियम काम कर रहे हैं कि जिनके केवल विचार से बुद्धि चक्कर में आ जाती है परंतु क्या कोई निर्बल मनुष्य कह सकता है कि यह सब प्रबंध उसकी बुद्धि या उसके मन से निकला है ? उसकी बुद्धि ही कितनी है, उसके ज्ञान की सीमा ही क्या ? निस्संदेह यह अद्भुत जाल किसी ऐसे कारीगर ने फैलाया है जिसके ज्ञान की कोई सीमा नहीं है। जिसके प्रबंध को सिवाय उसके और कोई भी समझने की शक्ति नहीं रखता। वही पांचों तत्त्वों को जुदा जुदा रूप देता और उनको जुदा जुदा प्रकारों पर चलाता है। फिर इन तत्त्वों के भिन्न रूपों को दूर करके उन्हें उनकी वास्तविक अवस्था पर लाने का भी वही कारण है। और उसके पश्चात् जबकि सूक्ष्म अवस्था के अंदर गति उत्पन्न होती है तो वह भी उसी के नियमानुसार। आखिरकार वही परमात्मा फिर इससे पूर्व की प्रजा को उत्पन्न करे और दुनिया के प्राणियों को कार्यों में लगाए, उनका पोषण करने वाले सूर्य और चांद को उत्पन्न करे परंतु क्या नाश और विकास का काम करके परमात्मा इस जाल से पृथक् हो जाता है ? क्या उत्पत्ति तथा मृत्यु के साथ ही उसका संबंध है ? यदि ऐसा हो तो उत्पत्ति के पश्चात् हरेक कार्य नियमपूर्वक क्यों होता रहता है ? इसलिए निश्चय जानो कि परमात्मा सारे जगत् की खेल को रचाकर भी स्वयं ही उसको नियमपूर्वक चलाता है।

वह किसी समय भी अपनी सृष्टि के प्रबंध से पृथक् नहीं होता। सच तो यह है कि ब्रह्मांड से पृथक् हो ही नहीं सकता। क्योंकि सारे ब्रह्मांड का सहारा वही है। फिर हे मानवीय शरीर के धारण करने वालो ! उस सच्चे रक्षक पिता को किसी समय भी न भूलो। उसे जागृत-ब्रह्म और जीवित शक्ति समझते हुए दिन रात उसकी शरण में रहने का यत्न करो। इस जड़ जगत् के अंदर जिस प्रकार जीवन दृष्टिगोचर होता है वह सब उसी का दिया हुआ है। वह जीवन का आधार है इसलिए यदि जीवित रहना चाहते हो और वास्तविक जीवन की खोज है तो परमात्मा की शरण में आओ। जड़ की संगत में चेतन पुरुष भी जड़ बन जाता है। प्रकृति की दासता से निकल कर परमात्मा की शरण में आने से ही मृत्यु का भय दूर हो सकता है। फिर क्यों हम सब जड़ पदार्थों की लहरों में बहे चले जा रहे हैं। प्रिय पाठकगण ! हम सबको बुद्धि की नौका दी गई है यदि वह प्रयोग के योग्य नहीं तो उसे जिस प्रकार सूक्ष्म हो सके बनाओ। सच्चे विश्वास के पतवार से उसे स्थिर करके भक्ति के चप्पू से खेते हुए चले जाओ। परमात्मा की कृपा से अंत में बेड़ा पार होगा। परंतु विश्वास कहां से आए ? हे दयामय विश्वास प्रवर ! आपकी ही कृपा से हम सच्चे विश्वासी बन सकते हैं। इसलिए कृपा करके हमें अपने सच्चे विश्वास के भीतर खेंचकर सब जड़शक्तियों से सुरक्षित कर दो क्योंकि तुम ही जीवन के आधार हो।

29

सर्वा दिशः ऊर्ध्वमधश्च तिर्यक् प्रकाशयन्भ्राजते यदऽड्वान्।
एवं स देवो भगवान् वरेण्यो योनि स्वभावानधितिष्ठत्येकः ॥

उपदेश

जिस प्रकार सूर्य सब दिशाओं में ऊपर और नीचे तिरछी किरणों से प्रकाश करता हुआ स्वयं प्रकाशमय होता है उसी प्रकार वह दिव्यगुणों का आधार, सब स्रोतों का स्वामी, भक्ति करने योग्य अकेला परमात्मा भिन्न भिन्न शरीरों, स्वभावों पर शासन करता है। इस जड़ संसार की रचना के अंदर सूर्य एक अद्भुत शक्ति है। पूर्व और पश्चिम, उत्तर और दक्षिण, ऊपर और नीचे जिधर दृष्टि डालो उसी का राज्य दिखाई देता है। कोई दिशा और कोई स्थान भी ऐसा नहीं जहां इसकी किरणें प्राणियों तथा अप्राणियों के शरीरों में प्राणशक्ति न डाल रही हों। मनुष्यों के शरीरों की वृद्धि और उनकी प्रसन्नता उसी प्रकार सूर्य की रोशनी पर निर्भर है जिस प्रकार कि पशुओं वनस्पतियों का जीवन और उनका पोषण। जो अवस्था सूर्य की जड़ जगत् के अंदर है निःसंदेह वही अवस्था आत्मिक जगत् में परमात्मा रूपी सूर्य की है। जड़ सूर्य का राज्य तो केवल दृष्टि के अंत पर ही समाप्त होता है लकड़ी पत्थर और फूंस अर्थात् तुच्छ से तुच्छ वस्तुएं भी उसके प्रकाश को चक्षुओं से ओझल कर सकती हैं परंतु उस अंधेरे से पृथक् प्रकाशस्वरूप परमात्मा के अनंत प्रकाश को रोकने की किसी में भी शक्ति नहीं है क्योंकि संसार में जिस प्रकार दिव्य गुण हैं उन सब का आधार वही दिव्यस्वरूप है। गुलाब के फूल के अंदर जो सुंदरता तुम्हें दिखाई देती है क्या वह जड़ है ? स्त्री और पुरुष के चेहरों को जो सौंदर्य शोभा दे रहा है क्या इस सौंदर्य का स्रोत हड्डी, मांस और चर्म है ? क्या गालों की सुर्खी के अंदर केवल रक्त ही काम करता है ? शोक ! हम जड़ पूजा करते करते ऐसे जड़ बुद्धि हो गए हैं कि चेतन की महिमा को समझने के योग्य नहीं रहे। सारा सौंदर्य उस दिव्य स्वरूप से निकलता है जिसकी शोभा के आगे मोहित होकर बड़े-बड़े योगीराजों की आत्मा भी नृत्य करने लग जाती है। उसकी शोभा को अनुभव करने के लिए भी बड़े साधनों

की आवश्यकता है। और उन साधनों का सेवन मनुष्य के लिए आवश्यक भी है। क्योंकि मनुष्य के हृदय के अंदर ऐश्वर्यवान् बनकर संसार में उजागर होने की अभिलाषा बड़े वेग से काम कर रही है। यह सच है कि जहां इंद्रियों का दास केवल इंद्रियों की तृप्ति के लिए ऐश्वर्य का स्वामी बनना चाहता है वहां इंद्रियों का राजा धर्मात्मा पुरुष केवल परोपकार के लिए धन की इच्छा करता है। दोनों स्रोतों (धनों) के स्वामी बनना चाहते हैं। वह स्रोत कहां से निकलते हैं ? उनका भंडार कहां है ? जब तक उसकी खोज न की जाए एक का भी अभिप्राय पूरा नहीं होता। इसलिए दिव्य स्वरूप सब स्रोतों के स्वामी की खोज करनी चाहिए। परंतु उसकी खोज किस तरह की जाए ? जब सारे स्रोतों का स्वामी और सारे सौंदर्य का दान करने वाला वह है तो फिर किस को संदेह हो सकता है कि उसी की खोज करने से मनुष्य-जीवन का उद्देश्य पूर्ण हो सकता है। परंतु प्रश्न फिर वही उपस्थित होता है उसकी खोज किस तरह और कहां करें ? ऋषि और योगीजन उसको अगम्य कहते हैं; उसे न जानने योग्य कहते हैं। हमारी इंद्रियां उस तक पहुंच नहीं सकतीं। मन उसकी महत्ता तक पहुंचने में असमर्थ है। उसकी ओर रुख करते ही बुद्धि की पगड़ी भी उतर जाती है। निर्बल मनुष्य अत्यंत आश्चर्यान्वित हो जाता है। करे तो क्या करे, किधर जाए ? क्योंकि उपाय ही नहीं दीखता। ऐसी असामर्थ्य की अवस्था में कभी पर्वतों से सिर टकराता और कभी नदियों की लहरों के थप्पड़ खाता; पागल सा घूमता है।

उसकी अवस्था रामचन्द्र के विरह की सी बन जाती है राम पूछता था–"हे पर्वत ! हे वृक्ष ! हे पक्षीगण ! मेरी प्राणप्रिय दुलारी सीता भी किसी ने देखी है...।" इसी तरह वह दीवाना, पत्थर और लकड़ी आग और पानी हरेक से यही प्रश्न करता है, "हे संसार की मूर्तियो ! और सारे ब्रह्मांड की शक्तियो ! क्या तुम मुझे उस दरबार तक ले जा सकते हो जहां से कि अनगिनत चमकती हुई किरणें चारों ओर फैल कर संसार के अंधकार को दूर कर रही हैं।" अशक्त का विलाप कौन सुने जबकि यही विलाप की ध्वनि हर दिशा से उठ रही है। इस संसार रूपी कारागार में कौन किस की आवाज को सुने। सब को एक ही की खोज है और सब एक ही प्रश्न करने वाले हैं। उत्तर देने वाला कोई नहीं। परंतु ठहरो। वह धीमी और गंभीर आवाज कहां से उठ रही है। महात्मा समाधि लगाए बैठे हैं। चेहरे से उल्लास बरस रहा है और सांसारिक भूले हुए पागलों के कशमकश और कष्ट को देखकर दया का भाव उनके हृदय में उत्पन्न हो रहा है। वह कहते हैं–"हे मर्त्यलोक के निवासियो ! क्या तुम्हारी निर्बल शक्तियां तुम्हें परमात्मा तक पहुंचा सकती हैं ? छोड़ो इन व्यर्थ चेष्टाओं को और विश्वास के साथ अपने मन तथा आत्मा का सारा प्रेम उसकी ओर छोड़ दो; भक्ति से ही तुम उसकी ओर पहुंच सकते हो। क्या तुम देखते नहीं कि बच्चे के हाथ पसारते ही माता उसे गोद में ले लेती है। इसी तरह वह जगदम्बा भी तुम्हारे

लिए अपनी गोद को हर समय खोले बैठी है। तुम्हारे हाथ पसारने की देर है कि तुम उस अमृत भरी गोद में बैठकर निश्चिन्त हो सकते हो।" ऋषि की गंभीर आवाज ने कड़े से कड़े हृदयों को भी हिला दिया और उन्होंने अनुभव किया कि जब तक पूर्ण श्रद्धा के साथ परमात्मा की भक्ति में मनुष्य मग्न नहीं हो जाता तब तक उसको जीवन के उद्देश्य की प्राप्ति नहीं हो सकती।

30

यज्ञ स्वभावं पचति विश्व योनिः पाच्यांश्च सर्वान् परिणामयेद्यः
सर्वमेतद्विश्तमधितिष्ठत्येको गुणांश्च सर्वान् नियोजयेद्यः।
तद्वेद् गुह्योपनिषत्सुगूढं तद् ब्रह्म वेद ते ब्रह्म योनिम्।
ये पूर्व देवा ऋषयश्च तद्विदुस्ते तन्मया अमृता वै बभूवुः ॥

उपदेश

जो स्वभावों को पकाता है और पकाने के योग्य सब वस्तुओं को जो पकता है और जो अकेला सारे जगत् पर राज्य करता है और सब गुणों को जोड़ता है जिसके गुणों का बखान वेदों का रहस्य बताने वाले उपनिषदों में वर्णित है वह ब्रह्म है। जिन प्राचीन देवताओं और ऋषियों ने उसे जाना वह उसी में रत होते हुए अमर हुए। मनुष्य के हृदय में बारंबार यही प्रश्न उठता है ये सांसारिक असह्य दुःख कैसे दूर हों ? इस उत्पन्न होने और मरने के क्रम से कैसे मुक्त हों ? व्याकुल मन पुनः पुनः यही प्रश्न दोहराता है और घबराया हुआ जीवात्मा जड़ पदार्थों के पीछे दौड़कर अपने दुःख दूर करना चाहता है। कभी वायु और कभी जल, कभी आग और कभी मिट्टी, बारंबार प्रत्येक प्रकार के जड़ पदार्थों की शरण लेता है परंतु उसे शांति नहीं मिलती। फिर जब उस जगह अपना मनोरथ सिद्ध होता नहीं देखता, जब जड़ में अपने दुःख की निवृत्ति के साधन नहीं पाता तो चेतन की ओर भागता है। कीट, पंतगों से लेकर पृथक् पृथक् प्रकार के जानवरों के अंदर भटकता-भटकता मनुष्य तक पहुंचता है। परंतु इन सब को भी निर्बल पाता है। उसे मालूम होता है कि जब मनुष्य स्वयं जड़ शक्तियों के आगे अनुभव रहित है। जब बड़े से बड़े विद्वान्, जोकि बिजली को कैद कर सकते हैं, स्वयं बिजली का ग्रास हो जाते हैं। जब बड़े से बड़े इंजीनियर, जिन्होंने नदियों को टुकड़े टुकड़े करके मानवीय आवश्यकताओं का दास बनाया, स्वयं नदी में डूबकर मर जाते हैं तब इन सबसे अपने उद्देश्य की पूर्ति की आशा छोड़कर किसी और की ही खोज में व्याकुल जीवात्मा चल पड़ता है। तब थोड़ा सा विचार करने पर मालूम होता है कि जिस अग्नि के तेज पर मोहित हम उसके पीछे भागे वह तेज का स्वभाव उसे किसी और ने ही प्रदान किया हुआ है। जिस वायु के आगे

हम सिर झुकाते थे उस वायु को वह बल किसी और ने ही दिया है। जिस मानवीय बुद्धि के दास बनकर हम वहां से शांति की आशा रखते थे वह बुद्धि किसी और ने ही बनाई है। बस, आंखें खुलती हैं और उस परम पुरुष की तलाश आरंभ होती है। उस समय मालूम होता है कि वह न केवल पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश के गुण नियत करने वाला है अपितु प्रकृति के परमाणु से उन्हें स्थूल करके मानवीय इंद्रियों के अनुभव करने के योग्य बनाने वाला भी वही है। फिर क्यों न उसी की शरण चलें। सृष्टि से अभिप्राय सिद्ध कब हो सकता है। जो स्वयं मेरी तरह किसी बनाने वाले से शरीर, इंद्रियां और मन धारण करता है जो स्वयं प्राणशक्ति किसी दूसरे से प्राप्त करने की आवश्यकता रखता है वह कब मेरे प्रश्नों का उत्तर दे सकेगा। और जब इन सबका चलाने वाला, पदार्थों को बनाने वाला और इनके गुणों को भी दृढ़ करने वाला एक ही चेतन पुरुष है तो फिर उसके सिवाय हम कहां जा सकते हैं ? परंतु प्रश्न फिर उत्पन्न होता है—माना कि उसने सब पदार्थों को बनाया और उनके गुण नियत किए परंतु यदि उसका उन पदार्थों से अब संबंध नहीं है तो हमें उससे क्या ? कुम्हार ने बर्तन बना दिए और वह पृथक् हो गया। अब बर्तनों का प्रयोग करना चाहिए। कुम्हार से क्या संबंध ? किंतु बात ऐसी नहीं है वह परमात्मा कुम्हार की तरह बर्तन बनाकर पृथक् नहीं होता; अपितु सारे जगत् को बनाकर उस पर राज्य कर रहा है। वही सब गुणों का पदार्थों से जोड़ने वाला और वही उन्हें स्थिर रखने वाला है। तब उसको हम किस तरह जान सकते हैं। ऋषि उत्तर देते हैं कि वेदों का जो असली रहस्य है उसको समझने से वह परमात्मा मिल सकता है। वेद परमात्मा का ज्ञान है। उसका प्रकाश मनुष्य के पथ-प्रदर्शन के लिए परमात्मा ने किया है। उस वेद के गंभीर रहस्य को समझने वाले ऋषियों ने अपने भाव वाणी द्वारा प्रकट किए हैं। उनके अंदर ऋषियों और देवताओं ने अपने अनुभव वर्णन किए हैं। जब तक कि वेदों के उस गंभीर रहस्य को मनुष्य नहीं समझता तब तक वह उस ब्रह्म के महत्व को नहीं जान सकता, जोकि सब जड़ और चेतन जगत् पर राज्य कर रहा है। उसी ब्रह्म को ऐसा महान समझ कर ही प्राचीन ऋषि और देवता, विद्वान् और भक्ति करने वाले उसके प्रेम में मग्न हो जाते रहे हैं और तब वह जन्म मरण के बंधन से छूट अमर होते रहे हैं। भ्रातृगण ! आओ हम सब मिलकर उसी ब्रह्म को जानने और उसके दर्शन करने का यत्न करें। परंतु इस यत्न में हम कब सफलता प्राप्त कर सकते हैं ? अनुभवी देवता और ऋषि उत्तर देते हैं कि जब तक तुम वेदों के गंभीर रहस्य को नहीं समझ सकते तब तक तुम ब्रह्म के दर्शन के अधिकारी नहीं हो सकते। इसलिए हम सब का कर्तव्य है कि हम वेद के असली रहस्य को जानने का यत्न करें। इसीलिए ऋषियों ने स्वाध्याय का आदेश दिया है। उठते, बैठते, सोते और जागते, हर समय महात्मा पुरुष वेद का ही स्वाध्याय करते हैं। उसी के गंभीर रहस्यों को समझने का यत्न करते हैं और अपने आचरण से बतलाते हैं कि

जो मनुष्य वेदों के स्वाध्याय को आरंभ करेंगे, वेदों का प्रकाश करने वाला ज्ञान का भंडार वह परमात्मा स्वयं उनका मार्ग प्रदर्शन करेंगे। वे स्वयं उन्हें शनैः-शनैः आगे ले चलेगा और उन्हें उस अमृत-धाम का अधिकारी बना देगा जहां पहुंच कर न बुढ़ापा सताता है और न ही मृत्यु अपनी भयानक शकल दिखाती है। बंधुवर्ग यह कठिन मार्ग प्रतीत होता है किंतु कठिन है नहीं। इस पर चलने वाले अनुभव कर सकते हैं कि कैसा स्पष्ट और सीधा यह मार्ग है। तब आओ हम सब मिलकर वेदों के स्वाध्याय की फिर से नींव डालें और ऐसा यत्न करें कि न केवल भारतवर्ष के अंदर ही; बल्कि सारी दुनिया के अंदर स्त्री और पुरुष, बालक और वृद्ध सब के सब वेद के स्वाध्याय को अपने जीवन का उद्देश्य समझें।

31

गुणान्वयो यः फलकर्म-कर्ता कृतस्य तस्यैव सचोपभोक्ता।
स विश्वरूपस्त्रिगुणस्त्रिवर्त्मा प्राणाधिपः संचरति स्वकर्मभिः ॥

उपदेश

जो आत्मा गुणों से युक्त है, फलों और कर्मों का कर्त्ता है वही इस किए का भोगने वाला भी है। वह अनेक रूपधर्ता है। तीन गुणों का धारण करने वाला, तीन मार्गों पर चलने वाला, प्राणों का स्वामी अपने कर्मों से घूमता-फिरता है। जीवात्मा अपने स्वरूप का किंचित्मात्र ज्ञान हुए बिना इस योग्य नहीं होता कि परमात्मा के स्वरूप को समझ सके जब तक कि परमात्मा की महिमा का बाह्यप्रकाश भी समझ में न आए तब तक जीवात्मा को अपने स्वरूप का यथार्थ ज्ञान नहीं होता और होगा ही क्योंकर ? जब तक कि यह समझ में न आए कि किसके सहारे से सूर्य अपनी परिधि पर घूम रहा है ? किसके सहारे चंद्र और ग्रह अपनी परिक्रमा को पूरा करते हैं। जब तक यह पता न लगे कि वायु और जल को कौन चलाता है और आग और बिजली में जलाने और प्रकाश देने की शक्ति कौन डालता है तब तक कब मालूम हो सकता है कि यह सारा ब्रह्मांड तुच्छ जीव के लिए नहीं बनाया गया अपितु प्रत्येक वस्तु परमात्मा के नियम के अंदर एक अदृश्य सत्ता रखने वाली बनाई गई है। जब जीवात्मा को यह ज्ञान हो जाता है तब वह अपनी वास्तविकता को समझने के योग्य होता है। उसे मालूम होता है कि वह इन इंद्रियों से पृथक् है जिनके द्वारा वह कर्मों को करता है अर्थात् विषयों के ग्रहण करने में इंद्रियां स्वतंत्र नहीं हैं अपितु उसके अधीन हैं। साधारण अवस्था में जीवात्मा इंद्रियों को अपने अपने विषयों के पीछे जाते हुए देखकर यह समझ लेता है कि यह इंद्रियां विषयों में लिप्त होने के लिए बनाई गई थीं इसलिए वह उनकी गुलामी से छुटकारा पाने के प्रयत्न से निराश हो जाता है। किंतु जब वह अपने निज स्वरूप को समझता है तो उसे मालूम होता है कि इंद्रियां जड़ होने के कारण गुण वाली नहीं हो सकतीं। यद्यपि चक्षु देखते हैं किंतु शोक जनक दृश्य को देखकर दुःख चक्षु को नहीं होता; अपितु चक्षु के द्वारा देखने वाले जीवात्मा को होता है। यद्यपि स्वाद तो जिह्वा लेती है परंतु स्वादिष्ट पदार्थ का

आनंद उसके द्वारा केवल जीवात्मा ही लेता है न कि जड़ जिह्वा। देखना, सुनना, स्वाद लेना, सूंघना और स्पर्श करना वास्तव में जीवात्मा के गुण हैं। जड़ इंद्रियों की जब यह अवस्था है तो जीवात्मा फिर कैसे गिर सकता है ? विषय उसके आधीन बनाए गए हैं न कि वह विषयों का दास बनाया गया है; तो वह निराश नहीं हो सकता। तब उसका उत्साह बढ़ जाता है और वह विषयों की दासता से स्वतंत्र होने का यत्न आरंभ करता है। परंतु इस यत्न के समय उसे अकस्मात् बड़ा भारी दुःख पहुंचता है। अब तक वह यह समझे हुए था कि बुरा देखने से चक्षु को कष्ट होगा। अपशब्द सुनने से कान को दुःख होगा, स्वादों में फंसने से जिह्वा पकड़ी जाएगी; परंतु अब प्रतीत हुआ कि गुणों का मेल जीवात्मा के साथ है न कि इंद्रियों के साथ और इसलिए कर्म करने वाला आत्मा है; जड़ इंद्रियां नहीं। फिर इस किए का फल सिवाय जीवात्मा के कौन भोगता है ? यह प्रश्न है जो मनुष्यों को प्रायः भ्रम में डाल देता है और मनुष्य आस्तिकता की ओर बढ़ता हुआ नास्तिकता की ओर झुक जाता है। क्योंकि सदा सहस्रों कर्मों का फल जीवात्मा को इसी मनुष्य योनि में मिलता हुआ दिखाई नहीं देता है, इसलिए वह विश्वास कर लेता है कि कर्मों का फल संभवतः मिलता ही नहीं। उसे संदेह हो जाता है कि इस संसार के अंदर कोई क्रम और कोई प्रबंध भी है या नहीं। ऐसे अविश्वास की अवस्था में ऋषि फिर जिज्ञासु को सावधान करते हैं और बतलाते हैं कि जीवात्मा 'अनेक रूप धारण करता है'। हरेक कर्म का फल उसी समय नहीं मिलता। जब उसी शरीर के किए हुए कई कर्मों का फल बरसों के पश्चात् मिलता है तो यह निश्चय कर लेना बिलकुल उचित है कि जो फल हमें बिना कर्मों के प्रतीत होते हैं वह असल में किसी पिछले जन्म के कर्मों का फल हैं और फिर यह विश्वास कर लेना सुगम हो जाता है कि जिस प्रकार पिछले जन्म के कुछ कर्मों का फल हमने इस जन्म में भोगा है उसी प्रकार इस जन्म के कर्मों का फल अगले जन्म में भोगेंगे जिनका कि फल भोगना इस जन्म में रह गया है। बस, यह जीवात्मा जो कि अनेक योनियों में विचर सकता है कर्मों का करने वाला और उनके फलों को भोगने वाला है परंतु यह नाना प्रकार के कर्म उससे क्यों हो जाते हैं। सत्, रज और तम इन तीन गुणों के समूह का नाम प्रकृति है। इन तीन गुणों के साथ संबंध उत्पन्न करने के कारण मनुष्य कर्मों के बंधनों में फंसता है; इन्हीं के संसर्ग में उसमें भिन्न-भिन्न कर्मों का प्रकाश होता है और इन तीनों गुणों के धारण करने के कारण वह तीन मार्गों पर चलने वाला होता है अर्थात् जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति की तीन अवस्थाओं को धारण करता है। इन्हीं मार्गों में चलता हुआ प्राणों का स्वामी जीवात्मा अपने कर्मों के कारण घूमता फिरता है। फिर जीवात्मा का उद्देश्य क्या है; इन कर्म बंधनों से मुक्त होना ? परंतु मुक्त कैसे हो सकता है; जब तक कि सत्, रज और तम के साथ इनका संसर्ग बना हुआ है। जबकि जागृत, स्वप्न, सुसुप्ति के तीनों मार्गों से विचर कर वह चौथे पद पर पहुंचता है अर्थात्

तुरीयावस्था को प्राप्त होता है तब संसार चक्र से उसे मुक्ति मिलती है। इसलिए भ्रातृवर्ग ! आओ; हम सब मिलकर जड़ प्रकृति से अपने संबंध को तोड़कर आत्माओं के आत्मा परमात्मा के साथ अपना संबंध जोड़ें जिससे तुरीयावस्था को प्राप्त होकर ब्रह्म धाम में आनंद के साथ विचरें।

32

अंगुष्टमात्रो रवितुल्य रूपः। संकल्पाहार समन्वितो यः।
बुद्धेर्गुणेनाऽऽत्मगुणेन चैव आराग्रमात्रो ह्यपरोऽपिदृष्टः।
बालाग्रशतभागस्य शतधाकल्पितस्य च।
भागो यो वः स विज्ञेयः सचाऽऽनन्याय कल्पते ॥

उपदेश

जो अंतःकरण के गुण से अंगूठे के परिमाण वाला किंतु अपने स्वरूप से आरे के अगले हिस्से के बराबर ही है। सूर्य की तरह जो प्रकाश करने वाला है, संकल्प और अहंकार से जो युक्त है ऐसा दूसरा भी कोई निश्चय ही देखा जाता है। प्रश्न हो सकता है कि यदि ऐसा है तो सीमावला मूर्तिवान् होगा। ऋषि समाधि अवस्था में उत्तर देते हैं बाल के सौवें हिस्से का फिर हिस्सा करने पर जितना हो उतना जीवात्मा जानना चाहिए और वह अनंत शक्ति वाला है। पहले दो पक्षी अर्थात् दो चेतन बतलाने के पश्चात् परमात्मा की महिमा का वर्णन किया है परंतु यह जानकर कि जब तक अपने स्वरूप का ज्ञान न हो तब तक परमात्मा का यथावत् ज्ञान नहीं हो सकता; ऋषियों ने जीवात्मा रूपी दूसरे पक्षी का स्वरूप बतलाना आरंभ किया। वह जीवात्मा जो पाप पुण्य रूप कर्मों का फल भोगता है वह कहां रहता है और उसका परिमाण क्या है ? यह प्रश्न सबसे पूर्व उठता है। ऋषि इसका उत्तर देते हैं कि जीवात्मा का स्थान हृदयदेश है जो अंगूठे के बराबर कहा जाता है। यह यद्यपि जीवात्मा की आज्ञाएं दिमाग से चलती हुई सांसारिक डॉक्टरों को दिखाई देती हैं फिर भी मुर्दों की चीर-फाड़ से काम लेने वाले; जीवित शरीर की वास्तविकता को क्या समझ सकते हैं ? वह जीवात्मा अंगूठे के बराबर हृदयदेश में हृदय के अंदर भी व्यापक है तो भी स्वयं बहुत ही सूक्ष्म है फिर उसे कैसे पहचान सकते हैं ? उसके गुणों से जड़ शरीर किसी प्रकार की कल्पना नहीं कर सकता। हाथ ग्रहण नहीं कर सकते, पैर चल नहीं सकते और कोई भी ज्ञानेन्द्रिय चेष्टा नहीं कर सकती, जब तक कि संकल्प न उठे और दूसरे कोई भी कार्य नहीं कर सकते; जब तक जीवात्मा अपने व्यक्तित्व के पृथकत्व का ज्ञान न रखता हो; और यह जड़ के गुण नहीं हैं। संकल्प और अहंकार चेतन

के गुण हैं। जिसके अंदर संकल्प उठते और जो अपनी पृथक् सत्ता के होते हुए भी बारंबार शरीर के सारे परमाणु बदल जाने पर भी एक सम जानता है उसे जीवात्मा कहते हैं। परंतु प्रश्न फिर उत्पन्न होता है कि ऐसा सूक्ष्म तथा सीमा वाला जीवात्मा किस प्रकार सारे शरीर और मानवीय रचना के ऊपर शासन करता है ? उत्तर मिलता है कि उसका प्रकाश सूर्य की तरह है जिस प्रकार कि सूर्य अपने आप प्रकाशित होकर सृष्टि की तमाम वस्तुओं को प्रकाश दे रहा है उसी तरह जीवात्मा भी सारे शरीर रूपी जगत् को प्रकाशित कर रहा है। उसकी सूक्ष्मता का विचार करो तो उससे सूक्ष्म कोई सांसारिक वस्तु विचार में नहीं ला सकते हो, परंतु इसके होते हुए भी वह सीमित नहीं है। वह सारी इंद्रियों, शरीर और मन के अंदर एक सम व्यापक हो रहा है। यही कारण है कि छोटे से छोटे और बड़े से बड़े शरीरों के अंदर प्रवेश करके भी जीवात्मा एक सम अपनी शक्तियों का प्रकाश कर सकता है। बस, स्पष्ट सिद्ध है कि सारे जड़ शरीर को गति देने वाला, प्रत्येक अंधकारमय प्रकृति से बने हुए अंग का प्रकाश करने वाला जीवात्मा ही है। फिर कैसे मूर्ख हैं कि कर्म करने में स्वतंत्र और चेतन होते हुए भी अपने स्वरूप को भूलकर हम सब दास प्रकृति की दासता में फंस रहे हैं। हाथ और पैर जिस तीव्र गति से काम किए जाते हैं, आंख, नाक, कान, जिह्वा आदि को जिस असाधारण यत्न से काम दिया जाता है, शरीर को जिस यत्न से बाहर स्वच्छ और स्थिर रखा जाता है (यद्यपि अंदर की स्वच्छता शरीर में भी करनी हमारे वश से बाहर मालूम होती है) निःसंदेह यदि उसका दसवां हिस्सा पुरुषार्थ भी जीवात्मा की शुद्धि और स्वच्छता के लिए किया जाए तो मनुष्य वास्तव में किस प्रकार उन्नति कर सके। परंतु हम अपने आपको भूले हुए अपनी उन्नति के स्थान पर अपने दासों की उन्नति कर रहे हैं और यह स्पष्ट है कि दासों की उन्नति का परिणाम वही होगा कि स्वामी स्वयं दासों का दास बन जाए। प्रिय भ्रातृगण ! वेदों की शिक्षा जो कुछ पुकार पुकार कर कह रही है ऋषिगण उसी का समर्थन करते हैं और हमारे अंदर से भी उसी की साक्षी मिलती है। फिर क्यों हम अपने स्वरूप को भूलते हुए इधर उधर भटकते फिरते हैं ? जो शरीर पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश के संयोग से बना हुआ है वह उनकी तीक्ष्ण शक्तियों के आगे कैसे ठहर सकता है। जड़ शरीर को जड़ शक्तियां तुरंत दबा लेती हैं परंतु आत्मा पर इनका वश नहीं चल सकता। वह सूक्ष्म होने के कारण इन सबको भी छेदन, भेदन करता हुआ अपने ज्ञान द्वारा इन्हें वश में ला सकता है। वायु का वेग जीवात्मा के प्रतिकूल टकरा-टकराकर थक जाता है। जड़ तेज इसके आत्मिक तेज के आगे ठहर नहीं सकता। फिर हम सब क्यों प्राकृतिक उन्नति के पीछे व्याकुल घूम रहे हैं। जड़ प्रकृति को अगर उन्नत करके जीवात्मा का दास बनाया जाए तो निःसंदेह उन्नति कही जा सकती है परंतु यदि प्रकृति को उन्नत करते-करते जीवात्मा की उन्नति को बिलकुल भुला दिया जाए तो फिर जीवात्मा को स्वयं दासता करनी

पड़ती है। प्रकृति अंत वाली है इसलिए उसकी उन्नति अंत वाली है। आत्मा का अंत नहीं। उसको कभी मृत्यु नहीं पा सकती और इसलिए इसकी उन्नति की भी कोई हद नहीं है। उसकी उन्नति का अंत ब्रह्मलोक में होता है जो स्वयं स्वभाव से सीमा के बाहर है। बस, पाठकगण ! जो अंत तक उन्नति कर सके उसकी उन्नति को मुख्य समझो।

33

नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसकः।
यद्यच्छरीरमादत्ते तेनैव स रक्ष्यते।
संकल्पन् स्पर्शन् दृष्टिमोहैर्ग्रा साम्बुवृष्ट्या चाऽऽत्मविवृद्धिजन्म।
कर्मानुगोन्यत् क्रमेण देही, स्थानेषु रूपाण्यभि संप्रपद्यते।

उपदेश

यह जीवात्मा न स्त्री है न पुरुष; और न नपुंसक ही है। परंतु जिस जिस शरीर को प्राप्त करता है उस उससे वह नाम रखा जाता है। वह शरीर वाला जीवात्मा संकल्प, स्पर्श, दर्शन और मोह से देहों में कर्मानुसार ही रूपों को प्राप्त होता है और क्रम से खान पान के सींचने से देह वृद्धि और जन्म को भी प्राप्त होता है।

शरीरों की भिन्नता के कारण जीवात्मा का पुरुष, स्त्री और नपुंसक नाम रखा जाता है। अन्यथा जीवात्मा न पुरुष, न स्त्री, न नपुंसक है। शरीर की विशेष रचना के कारण जीवात्मा के भिन्न भिन्न नाम रखे जाते हैं परंतु यह भिन्नता क्यों है ? कैसे एक जीवात्मा पुरुष और दूसरा स्त्री बनाया गया है ? क्योंकि संसार में कोई भी जीव अपनी अवस्था में संतुष्ट नहीं मालूम होता। और जब यह अवस्था है तो क्यों बिना कारण एक जीवात्मा को ऐसे शरीर के अंदर कैद किया जाता है जिससे कि उसके विचार के अनुसार दुःख ही दुःख मिलता है। इस प्रकार के अनगिनत प्रश्न, संशयात्मक मनुष्य के मन में पैदा होते हैं। परंतु विचारशील पुरुष इन प्रश्नों के चक्कर में न पड़ते हुए तत्त्वों की ओर ध्यान लगाते हैं। वे देखते हैं कि पैदा होते ही बिना किसी ज्ञान के प्राप्त किए और बिना किसी प्रकार के वर्तमान संस्कारों के प्रभाव के पड़ने के भी बच्चे के अंदर किन्हीं विशेष बातों में अधिक रुचि और किन्हीं विशेष से अवर्णनीय घृणा उपस्थित होती है। सिवाय इसके कि इसे पिछले जन्मों के संकल्प का परिणाम कहें और कुछ भी समाधान इस शंका का हो नहीं सकता। संकल्प का बड़ा जबर्दस्त प्रभाव होता है। अनुभव से सिद्ध किया गया है कि संकल्प मात्र से मनुष्य रोगी और रोगरहित अवस्थाओं को प्राप्त कर सकता है। संकल्प की महिमा उपनिषदों में विशेष तौर पर वर्णन की गई है और इस जगह

बतलाया है कि मनुष्य को अपने भाव हर समय इसलिए शुद्ध रखने चाहिए जिससे कि मरते समय उसके भाव शुद्ध हों, क्योंकि उन भावों का उसके अगले जन्म पर बड़ा भारी प्रभाव पड़ेगा। इसी उत्तम विचार को लेकर फक्कड़ों ने यह उक्ति घड़ी है कि 'तपा और काहे को खपा अंत मत्ता सोई गता'। परंतु ये फक्कड़ लोग भूल जाते हैं कि जब तक तप न किया जाए अर्थात् सच्चाई, ब्रह्मचर्य आदि रूपी सच्चे तीर्थों का सेवन न किया जाए तक तक अंत भला हो नहीं सकता। इसलिए उसके परिणाम में अच्छी योनि भी प्राप्त नहीं हो सकती। संकल्प को शुद्ध करना अत्यंत आवश्यक है परंतु संकल्प को बनाने वाला कौन है ? स्पर्श और दर्शन संकल्प के कारण हैं। दर्शन के लिए दूसरा शब्द 'निरीक्षण' प्रयोग कर सकते हैं। जीवात्मा अपनी पांचों ज्ञानेन्द्रियों से जो कुछ निरीक्षण करता है उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। इस प्रत्यक्ष को फिर स्पर्श अर्थात् परीक्षा करके मनुष्य अपने लिए कार्यक्रम बनाता है। इसी निरीक्षण और परीक्षण का परिणाम नाना प्रकार के मोह होते हैं। 'मोह' शब्द सदैव बुरे अर्थों में ही प्रयोग किया जाता रहा है। बुरे और अच्छे दोनों प्रकार के मोह संसार में दिखाई देते हैं। अच्छे प्रकार के मोह अंत समय अच्छे संकल्प पैदा कराते हैं और बुरे प्रकार के मोह से बुरे संकल्प उत्पन्न होते हैं। यह अच्छे और बुरे प्रकार के संकल्प भी उसी तरह पुष्टि पाते हैं जिस प्रकार कि खाने पीने की वस्तुओं से मनुष्य देह पुष्टि पाता है। सात्विक भोजन से देह में जिस प्रकार सात्विक बुद्धि और संकल्प संपन्न होता है उसी प्रकार राजस भोजन से राजस वृत्ति को प्राप्त होता है। और जिस प्रकार कर्म से शरीर में परिवर्तन आता है उसी प्रकार संकल्प की अवस्था भी बदलती जाती है। जब यही अवस्था है तो फिर पुरुष या स्त्री होने का अभिमान व्यर्थ है। अच्छे विचारों का परिणाम अच्छे स्त्री और पुरुष होते हैं और बुरे विचारों का परिणाम बुरे स्त्री-पुरुष होते हैं। और क्या नपुंसक घृणा के योग्य हैं ? शरीर की रचना से मन और बुद्धि का पता लगाना मूर्खों का काम है। प्राचीन रोम के इतिहास को ध्यान से पढ़ो; क्या नासिस आदि नपुंसक बड़े बहादुर और उत्साहशाली सेनापाति नहीं हो गुजरे। क्या गार्गी और सीता का नाम याद करने वाले यह कह सकते हैं कि स्त्री का शरीर घृणा के योग्य है ? जीवात्मा स्त्री नहीं है। जीवात्मा पुरुष नहीं है। वह नपुंसक भी नहीं है। केवल निरीक्षण और परीक्षण के अंदर दोष आ जाने के कारण भिन्न भिन्न रूपों के अंदर प्रगट होता है। इसलिए मनुष्य के संबंध जिस प्रकार के हैं वे सब इस एक ही जन्म तक साथ रहते हैं। इस देह के अंत के साथ ही माता, पिता, भ्राता, भगिनी, पति, पत्नी आदि के सब संबंध समाप्त हो जाते हैं, केवल अपने किए हुए कर्मों के संस्कार साथ रह जाते हैं। शरीर कुछ नहीं, कर्मेन्द्रियां कुछ नहीं, ज्ञानेन्द्रियां भी कुछ अधिक सत्ता नहीं रखतीं; केवल संकल्प प्रबल है। इस संकल्प को शुद्ध रखना और जिस मन के अंदर वह संकल्प उत्पन्न होता है उसको पवित्र करना यही मनुष्य जीवन का उद्देश्य है। यही कारण है कि परमात्मा ने अपनें वैदिक

ज्ञान द्वारा हम जीवों को मन की शुद्धि के लिए बड़ी प्रबल प्रेरणा की है। सारी सृष्टि की कला इस मन के चारों ओर घूम रही है। वेद और शास्त्रों का ज्ञान, मानसिक और आत्मिक यज्ञों की क्रिया का अभिप्राय यह है कि सारे ब्रह्मांड का प्रबंध इसी मन के चारों ओर चक्कर काट रहा है। इसलिए पाठकगण ! बड़े शुद्ध भाव और पूर्ण पुरुषार्थ से इस मन के संकल्प शुद्ध करने का यत्न करो जिससे कि तुम उत्तम योनियों को प्राप्त होते हुए अंत में मुक्तिधाम तक पहुंच सको।

34

स्थूलानि सूक्ष्माणि बहूनि चैव रूपाणि देही स्वगुणैरुपेतः।
क्रियागुणैरात्मगुणैश्च तेषां संयोगहेतुरपरोऽपि युक्तः ॥

उपदेश

जीवात्मा स्थूल और सूक्ष्म अनेक जन्मों को अपने कर्मानुसार स्वीकार करता है और दूसरा भी क्रियाओं से उत्पन्न हुए गुणों से ही जाना जाता है। और वही उनके अर्थात् जीवात्मा तथा देह के संयोग का हेतु है। कर्मगति के अंदर बंधा हुआ संसार विचित्र प्रकार नियमानुसार चक्कर काट रहा है। कर्म ही मनुष्य के भाग्य का निर्णय करने वाले हैं अन्यथा भाग्य वास्तव में कुछ सत्ता नहीं रखते। उत्तम और दुष्ट कर्म ही मनुष्य को स्वर्ग की अवस्था में पहुंचाने और नरक दुःख के पहुंचाने वाले होते हैं। यही कर्म जीवात्मा को पृथक् पृथक् शरीर देने वाले होते हैं। जिस प्रकार के कर्मों का समूह जीवात्मा इकट्ठा करता है उसी प्रकार का शरीर उसके लिए पहले से ही तैयार मिलता है। न्याय भी इसी में है। अन्यथा यदि जीवात्मा को अनादि न मानकर केवल परमात्मा का जीवन डाला हुआ मानें अर्थात् उसकी उत्पत्ति मानें तो उसका भिन्न शरीरों के अंदर पैदा किया जाना किसी नियम पर सिद्ध नहीं हो सकता। क्योंकि एक जीवात्मा कीट या पतंग के शरीर में और दूसरा मनुष्य के शरीर में रखा गया है और मनुष्यों में भी क्यों एक बच्चा भिखमंगे के झोंपड़े में और दूसरा राजकीय भवनों में पाला जा रहा है। इन प्रश्नों के उत्तर में सिवाय कर्म के सिद्धांत के और कुछ नहीं हो सकता। जीवात्मा कर्म करने में स्वतंत्र है इसलिए अपने किए कर्मों का फल भोगना भी उसके लिए पूर्ण उचित है। परंतु क्या अपने किए कर्मों का फल भोगने के लिए जीवात्मा आप ही आप तैयार हो जाता है ? किसी भी अपराधी को हमने अपने आप कारागार में प्रविष्ट होते नहीं देखा। यह दूसरी बात है कि कारागार के अंदर चिरकाल तक रहकर स्वतंत्रता के विचार का अनुभव तक भी किसी मनुष्य के अंदर बाकी न रहे। परंतु यह कभी नहीं देखा कि मनुष्य अपने किए अपराध का दंड भुगतने के लिए अपने आप ही बंदी खाने में प्रविष्ट हो गया हो। जिस प्रकार कि हम वर्तमान जगत में अपराधियों को उनके किए हुए अपराधों का दंड भुगतने

के लिए न्याय के विशेष स्थानों और न्यायालयों का प्रबंध देखते हैं इसी प्रकार जीवात्मा को उसके कर्मों का फल भुगताने के लिए भी एक विशेष प्रबंध उपस्थित है जिसे कि सूक्ष्म देखने वाली दृष्टियां देख सकती हैं। यह प्रबंध कहां है ? क्या जड़ प्रकृति और अल्प जीवात्मा के अंदर अपने आप दिव्य प्रबंध उपस्थित है ? कदाचित् नहीं। क्योंकि यदि ऐसा होता तो हम मनुष्यों को अपने आप किए का दंड भुगतने के लिए तैयार देखते। फिर कहां है वह प्रबंध और कौन है वह प्रबंधक जिसकी सत्ता से सृष्टि का प्रबंध चल रहा है ? स्थूल दृष्टि से उसको कब देख सकते हैं ? जिसको आंख देख नहीं सकती—कान सुन नहीं सकते, त्वचा जिसका स्पर्श नहीं कर सकती—जिह्वा जिसका स्वाद नहीं ले सकती और जिसके सूंघने में नासिक असमर्थ है। साधारणतया मन की पहुंच जिस तक कठिन है उसको कैसे दिखला सकते हैं। परंतु क्योंकि प्रत्येक सांसारिक घटना के अंदर उसी की गति काम कर रही है इसलिए सूर्य और चंद्र, तारागण और नक्षत्र सब उसी की महिमा का गायन कर रहे हैं। इन सब बनावटों के अंदर हम उसी के गुणों का अवलोकन करते हैं। हरे लहलहाते पत्तों के साथ रंग-रंग के फूलों की शोभा को देखकर क्या संदेह हो सकता है कि महान् शक्ति की दी हुई सुंदरता से उसका विकास हुआ है। उस शक्ति के अंदर सौंदर्य कूट-कूटकर भरा हुआ है। ब्रह्मांड की महत्ता को देखकर कौन संदेह कर सकता है कि हमारे लिए इस अनंत ब्रह्मांड को रचने वाला परमेश्वर सबसे बड़ा है। तिनके से लेकर सूर्य मंडल तब सब उसकी उपस्थिति तथा उसकी अपार शक्ति की साक्षी दे रहे हैं। बस, वही परमात्मा हम सब को कर्म फल का भुगतने वाला है। उसकी न्याय व्यवस्था के अंदर ही हम सब प्राणी टिके हुए हैं। परंतु शरीर ही सब कर्मों का साधन है। जीवात्मा के साथ शरीर का मेल ही उसे उत्तम और दुष्ट कर्मों के अंदर फंसाकर सुख या दुःख का भागी बनाता है। इन कर्मों का नाश तब ही हो सकता है जबकि जीवात्मा शरीर रूपी कारागार से मुक्त हो। बस, मनुष्य का सारा पुरुषार्थ इस मुक्ति के लिए लगना चाहिए। अंत में, सब कठिनाइयों का समाधान इसी प्रश्न पर निर्भर है कि शरीर रूपी बंदीखाने से कैसे मुक्ति हो। क्या तुम जानते हो कि शरीर का चोला तुम्हें किसने पहनाया ? निस्संदेह उसी में यह शक्ति है कि वह तुम्हें इस बंदीखाने से मुक्ति दे। बस, महान्यायकारी, सर्वशक्तिमान, सर्वनियंता परमेश्वर की शरण लो। यदि तुम देह रूपी कारागार से स्वतंत्र होना चाहते हो तो उसी की स्तुति करो। उसी बल के लिए प्रार्थना करो और अपने कर्मों को शुद्ध करते हुए और उसकी एक एक आज्ञा पालते हुए शनैः-शनैः उसके समीप होते जाओ। अर्थात् उसी की उपासना करो ताकि वे तुम्हारे समस्त दुखों के बंधनों को काट कर तुम्हें प्रत्येक बंधन से स्वतंत्र करके अपने परम धाम का अधिकारी बना दें।

35

अनाद्यनन्तं कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम्।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥

उपदेश

आदि और अंत से शून्य, परमाणु-रूप अवस्था से जगत् को रचने वाले, नाना प्रकार से संसार में व्यापक होने वाले, पूर्ण प्रकाशमान् को जानकर मनुष्य सब बंधनों से मुक्त हो जाता है।

मनुष्य अपने से किसी अधिक बलवान् शक्ति को न जानकर बहुत बार संसार में स्वतंत्रता के गहरे गढ़े में पड़ा हुआ क्या-क्या कुकर्म कर बैठता है। सारी सृष्टि के पदार्थों को अपना भोग्य पदार्थ जानकर इंद्रियों पर अधिकार रखने के स्थान में इंद्रियों का दास बन बैठता है। तमोगुण की नीच दशा को प्राप्त हो अपने असल स्वरूप को भी भूल जाता है। अपनी आत्मिक और शारीरिक विचित्र उत्पत्ति को स्रष्टा की महान दया के बिना पैदा हुआ जानकर अपने आंतरिक शक्ति का दुरुपयोग करता है और संसार में अधिक अंधेर फैलाने का कारण बनता है और स्वयं मोह और अहंकार के जाल में फंस कर कभी सुख और कभी दुःख मनाता है। इंद्रियों के विषयों से मिला, सुख क्षणभंगुर होने के कारण उसकी लालसा को बढ़ाता चला जाता है। संसार में चारों ओर क्लेश और असह्य दुःख की यह भयानक ध्वनि जगत् को दुःखमय प्रगट कर रही है। प्राकृतिक साधन हिमाच्छादित पर्वत, सुरम्य सरोवर, शीतल पवन, उत्तम जल के स्रोत और स्वादिष्ट वनस्पति सबके सब दुःखदायक बन रहे हैं और हाहाकार की गूंज अंदर और बाहर से बराबर आ रही है। आह ! क्या मनुष्य स्वभाव से ही दुःख का कारण अथवा दुःख भोगने का हेतु बना है। मनुष्य सर्वप्राणियों में श्रेष्ठ बनकर इतना दुःख क्यों भोगता है ? जबकि पुश पक्षी और सारी सृष्टि के जीव-जंतु सब अपने-अपने भोगों को प्राप्त करके बड़े आराम और शांति से अपनी आयु व्यतीत कर रहे हैं। यदि मनुष्य भी सृष्टि नियम को समझता और स्रष्टा की आज्ञा का पालन करता तो यह दुःख स्वरूप जगत् शांतिधाम बन जाता। इस अभिमान में पड़कर कि 'संसार में कर्मों का दंड दाता कोई नहीं और इंद्रियों के भोगों में ही

आराम है' मनुष्य नास्तिक बनकर पुश समान खाने-पीने, सोने और मैथुन आदि को ही अपना कर्त्तव्य जान लेता है। परंतु कर्म-गति विचित्र है। किए कर्म का फल अवश्य भोगना पड़ता है और अज्ञान का फल तो दुःख ही है। कर्म करने के पूर्व ज्ञान की उपलब्धि होनी आवश्यक है। ज्ञान से मनुष्य मनुष्य पदवी को प्राप्त होता है और संसार की उत्पत्ति तथा परमात्मा की अनंत शक्तियों का विचार करता हुआ इस संपूर्ण रचना को ज्ञान के चक्षु से देखता है और संसार की उत्पत्ति तथा परमात्मा की अनंत शक्तियों का विचार करता है कि अनादि जगतकर्ता कारण-रूप से प्रकृति को नाना प्रकार की सृष्टि में परिवर्तित कर रहा है और वेद द्वारा उपदेश देता है कि यह प्राकृत वस्तुएं तुम्हारे भोग और सुख के कारण बनी हैं। यह हमारा ही दोष है कि उत्तम और लाभदायक पदार्थों को उपयोग में नहीं लाते हैं और यह हमारा ही अपराध है कि हम स्रष्टा उसकी शक्तियों और उसके ज्ञान को न जानते हुए दुःख पाते हैं। इसलिए दर्शाया है कि हे मनुष्यो ! तुम परमात्मा के ज्ञान को जानो और उसके अनुकूल अपने आचरण रखो, इसी में तुम्हारा कल्याण है। परमात्मा के ज्ञान को उपलब्ध करके कर्म गति को समझते हुए उस अंत और आदि से रहित सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी परमात्मा की संगत करो; इसी शक्ति से समस्त बंधनों से छुटकारा पाओगे।

36

भावग्राह्यमनीडाख्यं भावाभावकरं शिवम्।
कलासर्गकरं देवं ये विदुस्ते जहुस्तनुम् ॥

उपदेश

जो लोग भक्ति से मिलने वाले निराकार, उत्पत्ति और प्रलय के स्वामी सब कलाओं के सृजने वाले देव (परमेश्वर) को जानते हैं वे मनुष्य देह के त्यागी हैं। मनुष्य के लिए उत्तम भाग्य अपने आंतरिक बल और शक्तियों के जानने में है। जिस प्रकार परमात्मा की सृष्टि में वृक्षों तथा अन्न-जीव-जंतुओं के पूर्ण युवावस्था को प्राप्त होने से पूर्व बीज मात्र से वृद्धि आरंभ होकर उच्च अवस्था तक बढ़ती जाती है ऐसे ही मनुष्य इंद्रियों की वाह्य इच्छाओं से पृथक् होकर जब अपनी आत्मिक शक्तियों को बढ़ाता है तो बहुत ही बलवान् होकर अपने से उच्च शक्तिवान् वस्तुओं की ओर दृष्टि डालता है। उस अवस्था में अपनी निर्बलता को जानकर अपनी अल्पज्ञता पर विचार करता है और सर्वज्ञ परमात्मा से शक्ति और बल को ग्रहण करता है; क्योंकि वेद में आज्ञा है कि परमात्मा षोडश-कला के धारण करने से सब संसार को रचता, पालता और अपनी अध्यक्षता में रखता है। वह परमात्मा इस संसार में जीवों को अपने कर्मों के फल भुगताता है। दुष्ट से दुष्ट क्रियाओं के करने पर भी मनुष्य मात्र को स्वतंत्रता प्रदान करता है। इसलिए वेद में इस अनंत शक्तिमान को शांतस्वभाव कहा है। जहां आत्मिक दृश्य इस प्रकार दृष्टिगोचर होते हैं वहां भौतिक जगत् भी अपने परमाणुओं को हर समय बदल रहा है और जब परमाणु अपनी स्वाभाविक शक्ति में शिथिल होते हैं वहां प्रलय द्वारा उनको अपनी अनंत विद्या और शक्ति से पुनर्जीवित कर सृष्टि की उत्पत्ति करता है। ऐसी महान और बलवान् शक्ति जो अपनी सोलह कला द्वारा जगत् को उत्पन्न और लय करने तथा जीवों को कर्मों के फल देने के योग्य है वेद उसको जगत्-जननी मृत्यु रहित अनंत शक्ति के नाम से पुकारता है। इसलिए उसको निराकार तथा आकाश की तरह सूक्ष्म और सर्वव्यापक बतलाता है। जिसका आकार यह सब ब्रह्मांड है। जिसकी शक्तियां अपने अटल नियम द्वारा इस सब दृष्टिगोचर होने वाले जगत् को चला रही हैं। इसलिए महान पिता

से ही आनंद की प्राप्ति हो सकती है। प्राकृत वस्तुएं क्षणभर के लिए सुख देकर सर्वदा के लिए शरीर को दुःखों में फंसा देती हैं। वह परमपिता तो ज्ञान, शांति और आनंद का भंडार है। उसके मिलने का उपाय केवल मात्र एक भक्ति है। आओ भाइयो ! हम सब एकत्र हो उस अनंत बल वाले परमात्मा से बल ग्रहण करें; और तेज-पराक्रम प्राप्त करके अपनी आत्मिक शक्तियों को बढ़ाएं जिससे हमारा कल्याण हो और मोक्ष पद को ग्रहण करने के योग्य बनते हुए वेद की आज्ञा का पालन करें; जिसमें बतलाया है कि भक्ति द्वारा ऐसे न्यायकारी और दयालु परमात्मा को प्राप्त कर हम पंचभौतिक देह को त्यागकर आनंद को पा सकेंगे।

37

येना वृतं विश्वमिदं हि सर्वं सर्वज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद्यः।
तेनेषितं कर्म विवर्तते ह पृथ्व्याप तेजोऽनिलखानि नित्यम् ॥

उपदेश

जिसमें यह सारा ब्रह्मांड सदा आच्छादित रहता है, जो काल का भी कर्ता, गुणों का स्वामी, सर्वज्ञ है। सब संसार के कर्मों का निरीक्षक, भिन्न-भिन्न प्रकारों से पालन करता है और पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश भी उसी के वश में हैं। यही विचारणीय है।

स्वभाव और काल को ब्रह्मांड चक्र के चलाने में हेतु मानने वालों की दृष्टि विचारते-विचारते अंत में विस्तार पकड़ती है। उस समय उन्हें प्रतीत हाता है कि जहां स्वभाव और काल का विचार वर्तमान संसार-चक्र से बाहर निकालना कठिन है वहां इस ब्रह्मांड तक ही हस्ती की समाप्ति नहीं। स्वयमेव प्रश्न उठता है, क्या यहां तक ही जीवात्मा का अंत है या उसे इससे आगे चलना है ? और यदि चलना है तो इसका लक्ष्य क्या है ? ऋषि बतलाते हैं कि लक्ष्य ब्रह्मांड से बहुत परे है। यद्यपि ब्रह्मांड के अंदर ही उसकी प्राप्ति होती है जड़ प्रवृत्ति के कार्य देखकर कभी निश्चय नहीं हो सकता कि इसके अंदर अपने आप सुंदर से सुंदर और सूक्ष्म से सूक्ष्म कालान. ... बन जाने की शक्ति वर्तमान है; परंतु संसार की बनावट ओर, तथा मनुष्य शरीर की बनावट दूसरी ओर स्पष्ट तौर साक्षी देती है कि उनके बनाने वाले के अंदर पूर्ण बुद्धि और पूर्ण शक्ति उपस्थित थी। बस, जो पुरुष इस सारे ब्रह्मांड को न केवल चला रहा है अपितु जो उससे भी व्यापक और .... घेरे हुए है; जो सबसे बड़ा, काल का भी नियम में रखने वाला और सब गुणों का और वस्तुओं का संबंध पैदा करने वाला है। वह स्वरूप से चेतन है, सारा विश्व उसके कार्य क्षेत्र में है क्योंकि इस सारे संसार को नाना प्रकार के रूप उसने प्रदान किए हैं और वही उन सब रूपों का अंतिम आधार भी है। जब यह अवस्था है तो क्या इसमें संदेह हो सकता है कि सब मनुष्य, स्त्री, पुरुष, वृद्ध, युवा, बालक सबके सब उसी के अंदर अपने कर्मों को पूरा कर रहे हैं। जब कोई स्थान भी उस परमात्मा से खाली नहीं, जबकि

वह न केवल बाह्य संसार में ही व्यापक है—अपितु जीवात्मा के सूक्ष्म स्वरूप के अंदर भी अतीव सूक्ष्म रूप से उपस्थित है फिर भी केवल यही किंतु जब वह सारे ब्रह्मांड को अपने अंदर ढाले हुए है तो कौन कह सकता है कि मैं एक काम भी उसके सहस्राक्ष शक्ति से छिपकर कर सकता हूं। वह हमारे दिन और रात के कर्मों का समान रूप से साक्षी है। अंधेरी से अंधेरी कोठरी में किया हुआ कर्म भी उससे छिप नहीं सकता। मन छिपे से छिपे कोने में बुरा चिंतन उससे छिपा नहीं रह सकता। जब यह अवस्था है और जब वही कर्मों का फल पाता है तो हम सब कैसे मूर्ख हैं जो छिप छिपकर कर्मों के करने से अपना छुटकारा समझ लेते हैं। पाठकगण ! आओ; पल के लिए शुद्ध हृदय से विचार करें क्या चलते-फिरते, उठते-बैठते, हमारे अंदर अत्यंत दुष्ट विचार नहीं उठते ? जब हमें मुख और उससे प्रकाश टपकता मालूम होता है उस समय हृदय कैसा मलीन और मन कैसा कलुषित होता है। हम समझते हैं कि यह मन की मलिनता हमने परमेश्वर से छिपा ली है। कौन-सा विचार है जो उसके सम्मुख शीशे की तरह स्पष्ट नहीं ! फिर बाह्य आडंबरों से वास्तव में छुटकारा कब हो सकता है ? तुम समझते हो कि एक बार पाप का विचार करके यदि किसी प्रकार से बच गए तो बस छुटकारा हो गया। परंतु क्या तुम नहीं जानते कि तुम्हारी स्मरण शक्ति तुम्हारे साथ ही है। वह कदाचित् कभी दम नहीं लेने देगी। वह उस पाप के डूबे हुए विचार के भयानक चित्र हर समय तुम्हारे संमुख रखेगी। कहीं जाओ, कहीं ठहरो; उठते, बैठते, जागते और सोते हुए भी स्वप्न में वही चित्र तुम्हारे आगे रहेगा। तुम्हारे जीवन को पल-पल में वह चित्र .... जाएगा। इसलिए बंधु-वर्ग ! आओ; संभलने का समय है। जहां न्यायकारी परमात्मा हर समय हमारे कुकर्मों के लिए हमको दंड देने के लिए तैयार रहते हैं वहां सच्चा पश्चात्ताप करके उलटे मार्ग को छोड़ने की इच्छा पर हमारी उस जलती हुई आग से मातृवत् रक्षा भी करते हैं।

38

नैनमूर्ध्वं न तिर्यञ्चं न मध्ये परिजग्रभत्।
न तस्य प्रतिमास्ति यस्य नाम महद्यशः ॥
न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कञ्चनैनम्।
हृदा हृदिस्थं मनसा य एनं ये विदुरमृतास्ते भवति ॥

उपदेश

ऊपर, नीचे, बीच में कहीं से भी परमात्मा को हाथ से कोई पकड़ नहीं सकता। जिस ईश्वर का दसों दिशा व काल में यश फैला है उसकी कोई स्थूल प्रतिमा नहीं।

इस प्रकृत ईश्वर का रूप, गुण मनुष्यों के सामने कभी नहीं ठहरता। आंख से साक्षात् कोई नहीं देख सकता। एकाग्र, शुद्ध, सूक्ष्म विचार से अपने हृदय में ही स्थित ईश्वर को जानने के लिए जो चेष्टा करता है वही उसको साक्षात् पाता है। इस प्रकार से परमात्मा को जानने वाला अपार दुःख से छूट जाता है। परमात्मा की सृष्टि का अध्ययन करने वाले चारों ओर किसी महान शक्ति का प्रकाश अनुभव करते हैं और सृष्टि नियम का लगातार एक साम्यावस्था में निर्विघ्न चलते देखकर आश्चर्य युक्त प्रश्न करते हैं कि उस महान् शक्ति को कैसे जानें ? कहां ढूंढ़ें ? किन यत्नों से अपने खोज में सफल हों ? ऋषि उत्तर देते हैं कि वह महान शक्ति न ऊपर है न नीचे है; और न मध्य में है; अपितु यह चारों ओर दसों दिशाओं में भी दृष्टिगोचर नहीं होती। जिस महानात्मा की चर्चा सब देशों में और हर समय के लोगों में फैली है उसकी कोई स्थूल प्रतिमा नहीं, जिसको कर्मेंद्रियों या ज्ञानेन्द्रियों द्वारा हम पा सकें। ऐसी अवस्था में जब हमारे अनुभव सफल नहीं हो सकते तब स्वभाव से ही यह प्रश्न उठता है तो फिर कैसे उस ज्योति को जान सकें ? आगे चलकर बतलाया गया है कि ईश्वर का रूप, गुण मनुष्यों के सामने कभी नहीं ठहरता। यह रूप आदि चक्षु इंद्रिय के विषय हैं और आंख कभी भी उस अनंत शक्ति को साक्षात् नहीं कर सकती। जब स्थूल प्राकृत वस्तुओं से मन हटाया जाए और सूक्ष्म वस्तुओं की ओर मन एकाग्र होकर विचारे तो क्रमशः स्थूल प्राकृत पदार्थों से इंद्रियों के विषय, विषयों से सूक्ष्म कर्म व ज्ञानेन्द्रियां, विषयों और इंद्रियों से सूक्ष्म मन, चित्त, बुद्धि, अहंकार से हटकर

हरेक को अनुभव करता हुआ अपने आपको यथार्थ रूप में देख ले तो उसके पश्चात् परमात्मा साक्षात् हो जाते हैं। संसार के मनुष्यों के लिए उस महान ज्योति के साक्षात् करने की विधि आश्चर्यजनक है। परंतु सृष्टि नियम बताता है कि मनुष्य स्थूल शक्ति के आधीन काम करते हैं। बाह्य पदार्थ हमें नित्य आश्चर्य में डालते हैं कि साधारण अल्पज्ञ मनुष्य अपने मनन और विचार शक्ति से परमात्मा की सृष्टि में भौतिक पदार्थों पर किस प्रकार अधिकार कर लेता है। वेद के ज्ञान द्वारा पदार्थों के तत्त्वों को जानकर और उनके गुणों को समझकर अब अग्नि, जल, पृथ्वी, वायु और आकाश पर अपना अधिकार जमा लेता है और इन भौतिक पदार्थों से भृत्यवत् काम लेता है। परमात्मा न केवल प्राकृत पदार्थों पर बल्कि देश, काल आदि तथा प्राणिमात्र को अपनी सर्वज्ञ शक्ति से वश में रखता है। स्थूल इंद्रियां सीमित काम कर सकती हैं, मन सहस्रों, करोड़ों कोस तक एक क्षण भर में होकर लौट आता है और सीमा बना देता है कि वहां तक और इतने समय में अनुभव कर लिया है परंतु वह परमात्मा अपनी अनंत शक्ति के कारण मन का विषय ही नहीं। मन सीमित या असीमित को कैसे जान सकता है ? इसलिए बतलाया कि प्राकृत वस्तुओं को छोड़कर सूक्ष्म से सूक्ष्म की ओर चलो। अपने आत्मा को पहले अनुभव करो उसके पीछे परमात्मा साक्षात् हो जाएंगे जिससे मृत्यु का दुःख छूट जाएगा। पाठकगण ! आओ हम यह यत्न करें और अधिकारी बनें। जब तक स्थूल जगत् और इंद्रियों के दास हैं जब तक हमारा मन हमारे काबू में नहीं; हम अधिकारी भी बन नहीं सकते। आओ ! सब मिलकर साधन करें और सूक्ष्म जगत् के मार्ग पर चलते हुए ऋषि वाक्य को अपने जीवन में धारण करें। प्रभु, बल दो कि हम संसार के भोगों को तुच्छ समझते हुए आपकी आज्ञा पालन में तत्पर हों।

39

ऋचोऽक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन्देवा अधिविश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचाकरिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥

उपदेश

ऋग्वेदादि वेदों के मुख्य वाच्यार्थ, आकाश के तुल्य व्यापक, अनंत ईश्वर जिसमें प्रबल शक्तियों वाले अग्नि आदि देवता तथा यह स्थूल तथा सूक्ष्म जगत् ठहरता है उस परमात्मा को जो नहीं जानता वह ऋग्वेद पढ़कर क्या करेगा ? जो लोग उस ईश्वर को जान लेते हैं वह पाप आदि उपद्रवों से रहित होकर सुख पाते हैं। यह मंत्र ऋग्वेद में भी आया है। निर्बल मनुष्य प्राकृत वस्तुओं से संबंध पैदा करके प्रायः अपने आपको भी भूल जाते हैं। हम कौन हैं ? क्यों जगत् में पैदा हुए ? जीवन का उद्देश्य क्या है ? सांसारिक मनुष्यों से हमारा क्या संबंध है ? हम किसके अधीन हैं ? क्यों ऐसे-ऐसे प्रश्न बहुधा हमारे मन को विस्मित करते हैं ? अधोगति को प्राप्त हुए हम किंचित् विचार कर पुनः इंद्रियों के व्यसनों में गोते लगाते हैं और अपने जीवनोद्देश्य और जीवनादर्श को मलिन बुद्धि के कुसंस्कारों पर निर्भर रखकर सर्वदा के लिए भूल जाते हैं। सृष्टि की उत्पत्ति स्वाभाविक भासने लगती है। हमारा जन्म हमारे पूर्व कर्म के फल का परिणाम नहीं प्रतीत होता; यहां तक कि हम शून्यवादी बन जाते हैं और अपना मनुष्य जन्म व्यर्थ समझने लगते हैं। हा ! शास्त्र की आज्ञा-विरुद्ध हमने चलकर कितना सत्यनाश कर लिया ? वेद भगवान् बताता है कि अग्नि आदि देवता और वह तमाम शक्तियां जिससे सूक्ष्म स्थूल जगत् में प्रकाश हो रहा है उसका आदि मूल परमात्मा है। और यह सब वस्तुएं एक अनंत, शक्तिमान् परमात्मा के आधार पर ठहरी हुई हैं। सांसारिक विद्याओं के जानने से पूर्व उस असीम ईश्वर को तथा उसकी शक्तियों को जानना अति आवश्यक है; क्योंकि सर्व वस्तु का ज्ञान बींज रूप होकर उसमें ही व्याप्त हो रहा है। ऋग्वेद जिसमें सब विद्याओं का वर्णन है उसको जानना मनुष्य मात्र का कर्तव्य है। परंतु उसके पढ़ने से क्या लाभ यदि मनुष्य उसके ज्ञान को समझ न सके या उसके ज्ञान के भंडार परमात्मा को साक्षात् न कर सके। सब सूक्ष्म और स्थूल जगत् जिसमें व्यापक है जिससे सब प्रकार के ज्ञान की प्राप्ति हो

सकती है ऐसे जगदाधर को जानना बहुत ही आवश्यक है। इसलिए इस मंत्र द्वारा उपदेश दिया गया है कि जो परमात्मा को नहीं जानता वह ऋग्वेद पढ़कर क्या लाभ उठाएगा ? साथ ही बतलाया है कि जो मनुष्य योगाभ्यास द्वारा उस परमात्मा को साक्षात् कर लेते हैं तो उन्हें जगदाधार की नाना प्रकार की शक्तियों का ज्ञान हो जाता है। जितनी शक्तियां स्थूल व सूक्ष्म जगत् में सृष्टि नियमानुकूल कार्य कर रही हैं वह सब उसके सामने उपस्थित हो जाती हैं। उनके लाभ व हानि का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। अपने जीवन संबंधी सारे कठिन प्रश्न सरल रूप से स्वतः हल हो जाते हैं। कौन ऐसा मनुष्य है जिसको यदि यह पूर्ण विश्वास हो तो संसार के दुखों के छूटने और पापादि मलिन संस्कारों को त्यागने पर उद्यत न हो जाए। हमारा अविश्वास ही हमको अधोगति में ले जा रहा है। हमारी जीवन यात्रा कैसे सफल हो ? जब हम प्राकृत वस्तुओं की शक्तियां जानने की अभिलाषा रखें परंतु जिसके आधार में वह शक्तियां ठहर कर नियम पूर्ण कर रही हैं उसकी प्राप्ति की ओर कुछ भी विशेष प्रयत्न न करें ? आओ; सज्जनो ! हम मिलकर विचारें यह सब सृष्टि कैसे हमें नित्य शिक्षा दे रही है कि भौतिक पदार्थ अपनी स्वाभाविक गति को कदापि नहीं त्यागते। हम क्यों अपना अमूल्य जन्म व्यर्थ निष्फल जाने दें। हममें बहुत शक्तियां उपस्थित हैं। हमारा कर्तव्य तो यह है कि उनको सुरक्षित रखें और उनको सीधे मार्ग पर चलाकर लाभ उठाएं। प्राकृत वस्तुएं अधोगति को प्राप्त कराती हैं। केवल एक परमात्मा ही से ऊर्ध्व गति की प्राप्ति संभव है। इसीलिए महात्माओं ने सृष्टि के आदि से योग बल द्वारा ही तेज और यश को पाया। अनंत बलवान् स्रष्टा को साक्षात् किया और स्वयं सांसारिक पापादि उपद्रवों से रहित हो गए। मनुष्य के लिए यही परमधर्म है कि जिस किसी प्रकार योगाभ्यासादि के द्वारा परमात्मा का चिंतन करे उसी को जानने के लिए वेदों का पढ़ना है। और वेदाध्ययन द्वारा परमात्मा को जानने के बिना अन्यत्र कोई सुख नहीं।

40

सिनीवाले पृथुष्टुके या देवानामसि स्वसा।
जुषस्व हव्यामाहुतं प्रजादेवि दिदिड्ढि नः ॥

उपदेश

हे कुमारियो ! तुम ब्रह्मचर्य आश्रम के साथ समस्त विद्याओं को प्राप्त होओ। युवती होकर अपने को अभीष्ट, स्वयं परीक्षा किए गए वरने योग्य पतियों के साथ आनंद से प्रजा को उत्पन्न किया करो।

जितने प्राणी इस संसार में जीवन यात्रा कर रहे हैं उन सबमें से एक मनुष्य योनि ही इस प्रकार की है जिसमें पाप और पुण्य, उन्नति और अवनति का बोध होता है। इस चर और अचर जगत् द्वारा सर्वशक्तिमान् परमात्मा ने सब विद्याओं को बीजवत् सृष्टि में प्रगट किया हुआ है। मनुष्यों में स्त्री और पुरुष के संबंध ही से संसार में परिवर्तन हो रहा है। सामाजिक सुधार घर से आरंभ होकर जाति और देश के उद्धार का हेतु हुआ करता है। मनुष्य सुधार के लिए नैमित्तिक ज्ञान की आवश्यकता है। नैमित्तिक ज्ञान का भंडार और केंद्र वेद मात्र ही हैं। अतएव परमात्मा अपनी दयालुता से मनुष्य समाज या मनुष्य जाति के सुधार के लिए आज्ञा देते हैं कि बिना विद्या की प्राप्ति के मनुष्य अपना जन्म सुधार नहीं सकता और विद्या की प्राप्ति बालकपन से ही होनी आवश्यक है। परंतु इससे पूर्व कि संस्कारों के महत्व पर विचार हो गृहस्थ की बनावट संबंधी (सोशियल साइंस) परमात्मा हमें उपदेश देते हैं कि पुरुष-स्त्री गुण, कर्म, स्वभाव अनुकूल आपस में विवाह करें। जहां पुरुषों को न्यून से न्यून पच्चीस वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्याश्रम में रहने की आज्ञा है वहां कुमारियों को इस मंत्र द्वारा उपदेश दिया है कि तुम ब्रह्मचर्य आश्रम को धारण करो और इस अवस्था में उन सर्व विद्याओं को प्राप्त करो जो तुम्हारे लिए गुणदायक हों और युवावस्था तक विद्या की प्राप्ति में यत्न करती चली जाओ जिसके अनंतर समावर्तन संस्कार पर अपने समान गुण, कर्म, स्वभाव वाले पति की स्वयं परीक्षा कर गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करो। और ऐसे पति के साथ अपनी जीवन यात्रा आनंदपूर्वक व्यतीत करते हुए उत्तम संतान उत्पन्न करो।

पाठकगण ! मनुष्य योनि को इसीलिए अमूल्य बतलाया गया है कि जन्म-जन्मांतरों के अच्छे कर्मों का फल मनुष्य योनि की प्राप्ति है। इसी ही में हम परमात्मा के दान दिए ज्ञान द्वारा उच्च पदवी को पाकर मोक्ष पा सकते हैं अथवा कुकर्म, कुसंस्कार, और कुचेष्टाओं द्वारा नीच योनि में जाने के लिए अविद्या और अज्ञान में फंस उद्धतपन करते हैं। परमात्मा की आज्ञा है कि स्त्री पुरुष जब तक कि उनकी शारीरिक दशा पूर्ण वृद्धि को प्राप्त नहीं हुई हो कदापि गृहस्थ में प्रवेश न करें बल्कि प्रथम आश्रम में वेद आदि सच्छास्त्रों के गूढ़ मर्मों पर विचार करें और सृष्टि क्रम का स्वाध्याय करें। जब शारीरिक अवस्था पूर्ण हो गई और आगे को विद्या द्वारा इस शरीर से धर्म अर्थ और काम की प्राप्ति यथावत् हो सके तो कुमारी को चाहिए कि अपने जैसे विद्वान् उत्तम शरीर वाले युवा को अपने लिए पसंद करे जिससे न तो गृहस्थ में कभी द्वेषअग्नि प्रज्वलित हो और न ही आपस के आनंद में परस्पर विरोध होने से बाधा पड़े। इसीलिए परमात्मा की आज्ञा है कि गृहस्थ जैसे पवित्र आश्रम में प्रवेश करने से पूर्व बड़ी सावधानी से आपस में स्वयंवर की रीति अनुकूल संस्कार किया जाए। ऐसे गृहस्थ का फल जहां उत्तम स्वभाव, सुंदर, बलवान, तेजस्वी और पुष्ट संतान की उत्पत्ति है वहां आपस में शास्त्र मर्यादानुसार सुख और आनंदपूर्वक जीवन यात्रा व्यतीत करने की आज्ञा है। आओ सज्जनो; हम गंभीरता से विचारें कि यह उपदेश हमें किस प्रकार लाभदायक है और हम किस प्रकार अपनी संतान का सुधार कर सकते हैं। वेद में आज्ञा है कि भूत और वर्तमान काल के कर्मों का फल यह शरीर प्राप्त होता है और तमाम प्राकृत जगत् पर सर्वज्ञ परमात्मा अपना अधिकार रखकर प्राणीमात्र के लिए सृष्टि की उत्पत्ति करते हैं। जहां इन भौतिक पदार्थों से ऊर्ध्वगति मे विरले पुरुष चलते हैं वहां सामान्य बुद्धिवाले और साधारण पुरुष उलटा परिणाम निकालकर प्राकृतिक वस्तुओं के आधीन हो जाते हैं। मनुष्य जन्म को सफल करने के लिए वर्णाश्रम मर्यादा का पालन करना है और ब्रह्मचर्याश्रम की नींव पर ही हमें गृहस्थ आनंददायक होता है। यदि हम अपनी न्यूनताओं पर विचार करें तो शीघ्र ज्ञात हो जाएगा कि हम सर्वथा परमात्मा की आज्ञा का भंग कर रहे हैं। परमात्मन् ! आप हम निर्बलों को बल दें कि हम लोक लज्जा की परवाह न करते हुए अपने गृहस्थ को उत्तम बनाने के हेतु अपनी कुमारियों को शिक्षित करके गृहस्थ जैसे पवित्र आश्रम के योग्य बनाएं और आपकी आज्ञानुसार उनको उनका अधिकार दें जिससे संसार में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति हो और मनुष्य-मात्र दिन-प्रतिदिन उन्नति कर जीवन को सफल करें।

41

स्वधया परिहिता श्रद्धया पर्यूढा दीक्षया गुप्तायज्ञे प्रतिष्ठिता लोको निधनम्।
ओजश्च तेजश्च बलं च वाक् चेन्द्रियं च श्रीश्च धर्मश्च ॥

उपदेश

मनुष्य अपने ही पदार्थों का धारण करें और सब का सत्य व्यवहार पर अत्यंत विश्वास हो। विद्वानों की सत्शिक्षा से रक्षा को प्राप्त हो प्राणियों की रक्षा करें। तीन प्रकार के यज्ञों में सदा प्रवृत्ति रखें। जब तक जीवित रहें आलस्य त्याग कर सत्य कर्म में पुरुषार्थ करते जाएं। सत्यव्यवहार से पराक्रम, तेज, सहनशीलता, ऐश्वर्य और धर्म की प्राप्ति करें जो मनुष्य जीवन के सुधार का पहला ही अंग है।

अथर्ववेद में इन दो मंत्रों द्वारा परमात्मा मनुष्य मात्र को उपदेश देते हैं कि मनुष्य के लिए जीवन का आदर्श केवल धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति होना चाहिए। जिनमें से धर्म इन सब का मूल है। धर्म ही से अर्थ, काम तथा मोक्ष की प्राप्ति संभव है। धर्म की प्राप्ति कैसे हो ? जिज्ञासु के इस अभाव को लेकर श्रुति आज्ञा देती है कि सब का पहला कार्य जो मनुष्यों का कर्तव्य है वह यह है उनका लौकिक व्यवहार शुद्ध होना चाहिए। असत्य बोलना, कपट और छल केवल इस कारण से किया जाता है कि आकांक्षित और अप्राप्त वस्तु मिल जाए जिसके लिए दूसरों की संपत्ति को छीनने की सूझती है। लौकिक-व्यवहार की जड़ और सत्य आचार का भेद यही है कि पुरुषार्थ और भोग द्वारा जो जिसका अधिकार हो वह उसी को धारण करे और दूसरे के अधिकार लेने पर उद्यत न हो। इस अवस्था में जाने के लिए आगे उपदेश दिया गया है कि सब का सत्यव्यवहार पर अत्यंत विश्वास हो। ऐसे तो संसार में कोई काम ही नहीं हो सकता जिसका आधार असत्य हो। असत्यवादी भी अपना कार्य सिद्ध करने के हेतु सत्य का ही आश्रय लेकर छल अथवा कपट करते हैं। परंतु आचरण तथा व्यवहार के उत्तम बनाने के लिए आवश्यक है कि हमारा सत्य व्यवहार पर दृढ़ विश्वास हो जिससे दूसरों की आज्ञा बिना किसी वस्तु को भी प्रयोग में न लाएं। इस अमृत रूप सत्य व्यवहार में सदा युक्त होने के लिए हमारा दृढ़ विश्वास हो कि सत्य से ही व्यवहार सिद्धि हो सकती है। परंतु मनुष्य अल्पज्ञ

है और निर्बलता के कारण तथा संस्कारों के प्रभाव से तब तक इस उच्च आदर्श पर पहुंचने के योग्य नहीं बन सकता जब तक कि विद्वानों की सत् शिक्षा से रक्षित न हुआ हो। विद्वानों की संगति से जब कोई सत्य व्यवहार में आरूढ़ और असत्य के त्याग में कटिबद्ध हो तो दूसरों की असत्य व्यवहार से रक्षा करे। साथ ही सत्यव्यवहार और सत्य आचरण बनाने के लिए सर्व व्यापक परमात्मा की उपासना द्वारा नित्य नए बल को ग्रहण करे। नित्य कर्म से लेकर अश्वमेधादि यज्ञों द्वारा अपना तथा दूसरों का उपकार करे। तृण से लेकर सूर्य पर्यन्त प्राकृत वस्तुओं के ज्ञान द्वारा भौतिक पदार्थों से शिल्प विद्या को सिद्धि करके स्वयं सुखी हो और दूसरों को लाभ पहुंचाएं। इस प्रकार मृत्यु पर्यन्त सत्यकर्म में सदा पुरुषार्थ करे। आलस्य को त्याग दे। ऐसा न हो कि तमोगुण और रजोगुण में प्रवृत्त होकर असत्य व्यवहार में फंस जाएं। धर्म के पालन से युक्त पराक्रम को प्राप्त हो जाए और पराक्रम से भयरहित होकर दीनता से दूर रहे। अर्थात् पराक्रम से तेज को ग्रहण करे और अपने सत्य-व्यवहार के तेज से सुख दुःख, हानि लाभ आदि की प्राप्ति में हर्ष, शोक आदि छोड़ कर सत्य धर्म में दृढ़ रहना, दुःख का निवारण तथा सहन करना, ब्रह्मचर्य आदि अच्छे नियमों से शरीर को पुष्ट तथा आरोग्य रखना, और वीर्यरक्षा से बुद्धि और स्मरण शक्ति आदि बल का बढ़ाना, सत्य विद्या की शिक्षा, सत्य मधुर अर्थात् कोमल प्रिय भाषण करना और मन पांच ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों को वश में रखते हुए पाप कर्म से रोककर सदा सत्य पुरुषार्थ में प्रवृत्त करना और धनादि ऐश्वर्य की प्राप्ति में पूर्ण पुरुषार्थ करके उपलब्ध करने के पश्चात् वेदोक्त न्याय से युक्त होकर और पक्षपात को छोड़कर सत्य ही का सदा आचरण और असत्य का त्याग करे तथा जो सबके उपकार करने वाला और जिसका फल इस तथा पर-जन्म में आनंद है उसी को धर्म और उससे उलटा करने को अधर्म जानिए। पाठकगण ! वेद की यह आज्ञा है। सरल शब्दों में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति का आदर्श हमारे सामने रखकर धर्म को जानने तथा ग्रहण करने का उपदेश दिया है। सामाजिक दशा सुधारने के लिए आवश्यक है कि हमारा उद्धार सत्य कर्मानुसार हो और हमारे आचरण शुद्ध और पवित्र और विद्वानों की शिक्षानुसार हों। हम वेद-व्यवहार, शुद्धाचार और उत्तम कर्मों द्वारा पराक्रम, तेज, सहनशीलता और धर्म की प्राप्ति करें। आओ; हम सब मिलकर अपने जीवन को महान बनाने का यत्न करें और परमात्मा से बल मांगें कि हमारी संगत और संस्कार वेदाज्ञानुकूल हों।

42

यस्मान्न जातः परो अन्यो अस्ति। य आविवेश भुवनानि विश्वा।
प्रजापतिः प्रजया स ँ्रराणस्त्रीणि ज्योतींषिसचते स षोडशी॥

उपदेश

जिस परब्रह्म से दूसरा कोई भी उत्तम पदार्थ नहीं है, जो सर्वत्र व्यापक हो रहा है, जिसने अग्नि, सूर्य व बिजली इन तीन प्रकार की ज्योतियों को रचकर संकेत किया है और 'शोडषी' कहलाता है; वही सब जगत् का पालनकर्ता और अध्यक्ष है। संसार में जितने पदार्थ हैं उन सबमें तीनों गुण हैं। उन गुणों के कारण एक दूसरे की अपेक्षा उत्तम कहलाता है। चर अचर जितनी चीजें जगत् में उपस्थित हैं उन सबमें उत्तम गुणों वाला चेतन, विज्ञान का भंडार वह परमात्मा है। इसलिए उनसे कोई भी वस्तु उत्तम नहीं। यह जड़ और चेतन जगत् सारा परमात्मा के अधीन है और वह अनंत परमात्मा अपनी शक्तियों द्वारा प्राणियों को भोग और कर्म में प्रवृत्त कराते हैं और स्वयं सर्वत्र व्यापक हैं। जिस ईश्वर ने अग्नि, सूर्य व विद्युत् इन तीन प्रकार की ज्योतियों को संकेत करके सारे संसार को प्रकाशमान किया है और जो परमात्मा सोलह कला वाला कहलाता है उसी से इस सारे जगत् का पालन हो रहा है। वही जड़ और चेतन जगत् को अपनी अध्यक्षता में रखता है। वेद में इस मंत्र द्वारा परमात्मा को 'शोडषी' कहा है अर्थात् ईश्वर सोलह कला युक्त है। वह सोलह कला यह हैं। 1. ईक्षण–जो यथार्थ विचार 2. प्राण–जोकि सब विश्व का धारण करने वाला 3. श्रद्धा–सत्य में विश्वास 4. आकाश 5. वायु 6. अग्नि 7. जल 8. पृथ्वी 9. इन्द्रिय 10. मन अर्थात् ज्ञान 11. अन्न 12. वीर्य अर्थात् सत्यबल और पराक्रम 13. मंत्र अर्थात् वेद विद्या। 14. तप–अर्थात् धर्मानुष्ठान 15. कर्म अर्थात् सत्यचेष्टा और (16) नाम अर्थात् दृश्य और अदृश्य पदार्थों की संज्ञा; यही सोलह कला कहलाती हैं। इसमें बतलाया गया है कि संसार में जितना ज्ञान है वह सारा परमात्मा द्वारा उपजा है। जितने पदार्थ दृष्टिगोचर होते हैं या जो यह सारी सृष्टि है वह सब ही इस परमात्मा द्वारा हुई है। मनुष्यों में ज्ञान नैमित्तिक है और यही कारण है कि यहां उपदेश दिया गया है कि जितने दृश्य और अदृश्य पदार्थों की संज्ञा है या जिसे हम 'भाषा' कहते हैं वह परमात्मा

ने हमें अपने ज्ञान द्वारा प्रदान की है। यह हमारी शक्ति से बाहर है कि बिना उपदेश और शिक्षा के भाषा रच सकें अथवा इसका हमें ज्ञान हो सके। ऐसे ही वेद-विद्या ईश्वर ने हमारी आत्माओं को सत्यमार्ग पर चलने के लिए दान दी है जिससे हमें लौकिक और पारलौकिक ज्ञान हो। इन सोलह कलाओं द्वारा सारा संसार चक्र चल रहा है। प्रकृति और जीवात्मा का संबंध तथा जीवात्मा और परमात्मा का संबंध इससे स्पष्ट ज्ञात होता है। वेदों का मुख्य तात्पर्य परमेश्वर ही के प्राप्त कराने और प्रतिपादन करने में है। उस परमेश्वर के उपदेश रूप वेदों से कर्म, उपासना, ज्ञान इन तीनों कांडों का लाभ उठाकर उपकार करने के लिए सब मनुष्य पुरुषार्थ करें। क्योंकि यही मनुष्य देह धारण करने का प्रयोजन है। पाठकगण ! इस वेद-मंत्र द्वारा मनुष्यों को परमात्मा उपदेश देते हैं कि इस सारे संसार में नैमित्तिक ज्ञान से विद्या, कर्म इत्यादि सत्याचार और सत्यव्यवहार में प्रवृत्ति हो सकती है। हमारा कर्तव्य है कि हम अपना आधार वेद वाणी पर रखें। यहां बतलाया है कि परमात्मा से ही वेद की उत्पत्ति हुई है और वेदों का ज्ञान मनुष्य मात्र को सत्य मार्ग पर चलने के लिए दिया गया है। ऐसे महान् परमात्मा को जिसने इन सोलह कलाओं द्वारा न केवल जड़ जगत् को रचा है अपितु हमारे आत्मिक ज्ञान और जीवों को मोक्ष अवस्था में जाकर आनंद पाने के लिए वेद-विद्या का उपदेश दिया है। आओ ! हम सब मिलकर उस परमात्मा की उपासना करें और वेद विद्या को ग्रहण करते हुए शुभ-कर्मों में प्रवृत्त हों।

43

नित्योऽनित्यानाञ्चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्।

उपदेश

संसार के नाना संबंधों में पड़े हुए प्राणी प्राकृत वस्तुओं में अपना हित मान रहे हैं और जब कभी इनको कोई वियोग तथा पीड़ा होती है तो तत्काल अधीर होकर सृष्टिकर्ता के नियमों पर दृष्टि डालते हैं। इस जगत् में परमात्मा से बढ़कर हमारा रक्षक और हितैषी कौन हो सकता है ? वही हमारे पिता, वही माता और बंधु हैं। सृष्टि का एक एक नियम उनके इन करुणामय अपार और असीम हित को प्रगट कर रहा है और बड़े बल से हमें प्राकृत संबंध के बंधन से हटाकर उस अनंत ज्योति की प्रेम भरी गोद में चलने की प्रेरणा कर रहा है। वह दयालु परमात्मा प्राणीमात्र का शुभचिंतक है। वह राग द्वेष से रहित है जो हमारे कल्याण के लिए प्राकृत वस्तुओं को सृष्टि नियम में रखता है और नाना प्रकार के विभेदों से इस जगत् की रचना का आदि मूल बनता है। जिसकी आज्ञा में सूर्य, चंद्र, नक्षत्र और तारे हमारे कल्याण के लिए नियमानुकूल चल रहे हैं। निश्चित ही वह परमात्मा प्राणीमात्र का मित्र है। उसके ही अनुभव से सुख और शांति प्राप्त होती है। इस महान् ज्योति का अनुभव कौन कर सकता है, क्या वह जो सांसारिक व्यवहारों में अत्यंत निपुण प्रतीत है ? क्या वह जो राजगद्दी पर बैठकर नाना प्रकार की सामग्री अपने सम्मुख रखे हुए है। क्या वह जो अनित्य और जड़ पदार्थों में अनंत आनंद पाने की आशा रखता है ? क्या वह जो अपने आत्मा के विरुद्ध संसार में दिखलावे के लिए पूजा पाठ करता है और मन में मलीन भावों को लिए हुए संसार में कपट फैला रहा है। ऋषि बतलाते हैं, वह पुरुष जो अनित्य पदार्थों को नित्य माने हुए हैं और वह जो जड़ में चेतन भाव रखता है कदापि इस महान् ज्योति का अनुभव नहीं कर सकता; क्योंकि वहां न तो सूर्य का चमत्कार पहुंचता है और न चंद्रमा और तारों का शीतल प्रकाश। नहीं इस शीघ्रगामी बिजली का वहां तक गमन है। इस साधारण अग्नि के प्रकाश का तो क्या ही कहना। उस प्रकाशमान् ज्योति से यह सब जगत् प्रकाशित है। इसके

ही तेज से यह सब प्रकाशमान पदार्थ अपने प्रकाश को फैलाते हैं। इस जगत् जननी को विद्वान्, ज्ञानी और धीर पुरुष अनुभव करते हैं; जिन्होंने सृष्टि क्रम को भली प्रकार समझा है। जो प्राकृत भोगों और क्षण-भंगुर सुखों को तिलांजलि दे बैठे हैं जिनका पुरुषार्थ सत्य के अनुष्ठान और असत्य के नाश में लगा हुआ है। जो धीरात्मा सदा अपने मन को उस ज्योति के ध्यान में लगाए रखते हैं और जो उसके अनुभव का यत्न करते हैं। सच्चे भक्त उस मंगलस्वरूप को दृष्टिगोचर होने वाले जड़ और चेतन पदार्थों में नहीं खोजते। स्थूल पदार्थ ही स्थूल इंद्रियों के विषय हुआ करते हैं। वह निराकार परमात्मा रूप रहित जीवात्मा का ही विषय है। मन और इंद्रियों का तो वहां गमन ही नहीं। इसीलिए धीर पुरुष अपने मन को बाह्य जगत् से हटाकर अपने आत्मा में गोता लगाते हैं। जो भक्तजन इस प्रकार सच्चे मन से उस परम पुरुष की भक्ति करते हैं उनको वह आनंदस्वरूप जगदीश्वर परमार्थ सुख अवश्य देते हैं। उनके लिए कोई सुख अप्राप्त नहीं रहता जबकि उन्होंने सब सुखों तथा आनंद के केंद्र को पा लिया। आओ ! हम मन को सर्वविकारों से रहित करके प्रेम भरे हृदय से अपने सच्चे बंधु और जगत्पिता से याचना करें कि हे पिता ! हम याचकों की बुद्धियों को सत्य के ग्रहण और असत्य के त्याग के लिए प्रेरित करो जिससे हम इस लोक व परलोक के सुख के लिए हृदय नगर में अपनी महान् ज्योति को अनुभव करने के योग्य बन सकें। इसलिए आओ भक्तजनो ! हम सब सच्चे मन से उस महान् प्रभु की शरण में पहुंचें जो कि सब का निश्चित कल्याणकारक है।

44

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकन्नेमा विद्रूयुतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।

उपदेश

यह पृथ्वी जो सहस्रों मील तक नाना प्रकार की वनस्पति, पत्थर, रेत, धातु आदि अनेक वस्तुओं से आच्छादित हो अपना चक्कर नित्य-प्रतिदिन काटती हुई किसी विचित्र दैवीय शक्ति का आधार ढूंढ़ती है, यह आकाश जिसमें करोड़ों मील तक सारे सितारे और अनेक सूर्य अपनी गति में अटल नियम का पालन कर रहे हैं जतलाता है कि यह उत्पत्ति, यह सृष्टि और यह दृश्य किसी सर्वज्ञ और पूर्ण सर्वव्यापक शक्ति के आश्रित है। वायुचक्र, विद्युत् और भौतिक पदार्थ जब वैज्ञानिक तौर पर भिन्न-भिन्न शकलों को धारण करते हैं, क्रियात्मक रूप में बतला रहे हैं कि इस सृष्टि का कर्म महागंभीरता और ज्योति-मय शक्ति से अलंकृत है। जिज्ञासु जब इन विचित्र लीलाओं को विचारता है तो अपने नित्य के कार्यों में प्रकाशमय शक्ति की लीला का अनुमान करता है। दिन रात के समय में परिवर्ततन हो रहा है। मौसम दिन-प्रतिदिन बदल रहा है। आज यदि पतझड़ से वृक्षों के पत्ते झड़ गए हैं, वायु शुष्क और तीक्ष्ण चल रही है, गरम वायु शरीर झुलसा रही है तो वह दिन दूर नहीं जब शीतल वायु आकाश मंडल में बादल दल को एकत्र करके इस हमारे निवास स्थान को वर्षा से विभूषित कर देगी। वर्षा की ऋतु कुछ थोड़े दिन रहती है कि शीत ऋतु का आरंभ हो जाती है। फल-फूल वनस्पति आदि सब अपने नियम से समय-समय पर सृष्टि क्रम का प्रकाश करते हैं। जिज्ञासु आश्चर्य युक्त भावों को अपने मन में विचार कर इस परिणाम में पहुंचता है कि इस प्रकृति, इस ब्रह्मांड का जो रक्षक, स्वामी और स्रष्टा है उससे हमारा घनिष्ठ संबंध है। जब जरा और अधिक सोचता है तो अपनी बनावट और ईश्वरीय आत्मिक शक्तियां उसे पूर्ण विश्वास दिलाती हैं कि मैं इस स्रष्टा के अनेक और असीम गुणों को ग्रहण कर अपने जन्म का सुधार कर सकता हूं। इस भाव को धारण कर जिज्ञासु अपने से उत्तम गुणों वाले महात्मा पुरुष की खोज करता है जो उसे अपने क्रियात्मक अनुभव और दुःख सुख का वर्णन कर सके। ऐसे महान

पुरुष संसार में प्रायः कम दीखते हैं। आत्मिक बल के अभाव में और विद्याहीन होने के कारण वह किसी स्थूल वस्तु को अपना आधार बनाना चाहता है जिससे वह ऐसे महान ज्योति स्वरूप को प्रत्यक्ष कर सके। परंतु भौतिक इंद्रियां अपने भौतिक विषयों में ही मग्न रखती हैं। उस ज्योतिर्मय अद्भुत, अनंत, बलवान और सर्वज्ञ ईश्वर को जो केवल स्थूल ही नहीं अपितु सूक्ष्म से भी अति सूक्ष्म है क्योंकर पा सकता है ? जिज्ञासु विस्मित चित्त हो हारकर घबरा जाता है और उसके मन को शांति के स्थान में अविश्वास घेर लेता है। कभी धीरज के विचार सिर पर सवार हो जाते हैं। कभी पुराने विचारों के संस्कार पुनः आकर जगाते हैं कि सूक्ष्म जगत् स्रष्टा को स्थूल पदार्थों का विषय न समझो। हमारा रूप का प्रत्यक्ष ज्ञान एकमात्र हमारी चक्षु द्वारा होता है। वस्तुएं तभी दृष्टिगोचर होती हैं जब इस भौतिक चक्षु को अग्नि, विद्युत्, चंद्रमा, तारों और सूर्य की ज्योति प्रकाश दान देती है। परंतु यह पदार्थ तो स्वयं स्थूल हैं। इनसे स्थूल पदार्थ प्रतीत होंगे। अतएव मंत्र द्वारा ऋषि विचार करते-करते अपने विचारों को सरल उपदेश भरी वाणी में प्रगट करते हैं कि इस महान प्रकाशमान् अनंत जगत रचयिता को अनुभव करने के लिए इन स्थूल ज्योति देने वाले भौतिक पदार्थों का आश्रय मत लो क्योंकि न वहां सूर्य का गमन है, न चंद्रमा और तारों की ज्योति पहुंचती है न यह आंखों को चुंधियाने वाली बिजली उस स्थान पर प्रवेश कर सकती है और यह भौतिक अग्नि तो वहां कैसे जा सकेगी ? उस महान् ज्योति के प्रकाश से यह सब प्रकाशित होता है और भौतिक प्रकाश देने वाले पदार्थ भी अपनी ज्योति उसी ज्योतिर्मय से प्राप्त करते हैं। जिस प्रकार से रूप आंख का विषय होता हुआ भी सूर्य, चंद्रमा, तारे बिजली या अग्नि के आश्रय से चक्षु को प्रतीत होता है ऐसे ही इन भौतिक पदार्थों का प्रकाश भी उसी प्रकाशमय के आधार से है। आओ ! ईश्वर के दर्शन की इच्छा करने वाले सज्जनो ! हम अपनी अज्ञानता को विचारें और सूक्ष्म से सूक्ष्म जगत् स्रष्टा को अनुभव करने के लिए अपने आत्मा के अंदर गोता लगाएं; क्योंकि इन भौतिक पदार्थों का ज्ञान उस अनंत सरोवर की ओर हमें ले जाने में असमर्थ है।

45

इदं मे ब्रह्म च क्षत्रं चोभे श्रियमश्नुताम्।
मयि देवाद धतु श्रियमुत्तमां तस्यै ते स्वाहा ॥

उपदेश

सत्य आचरण से मेरे यह ज्ञान और क्रिया दोनों यश को प्राप्त हों जिससे विद्वान् लोग मेरे लिए अति श्रेष्ठ यश को धारण करें। तेरे लिए भी उसी यश की प्राप्ति का हम प्रयत्न करें। इस संसार में मनुष्य मात्र में यह एक प्रबल इच्छा पाई जाती है कि तमाम नीति और व्यवहार का प्रयोग लोकैषणा, वित्तैषणा, पुत्रैषणा में किया जाता है। हमारे आंतरिक विचार चाहे कितने मलीन क्यों न हों, हमारे संस्कार चाहे कितने कलंकित कराने वाले क्यों न हों, परंतु हम विचारते और करते वही हैं जिसमें हमें लोक लज्जा न हो और लोक लज्जा से अनुचित लाभ उठा वित्तैषणा और पुत्रैषणा की प्राप्ति करते हुए अर्थ और काम को प्राप्त होते हैं। साथ ही हमारे कर्तव्य का फल जो यश कहलाता है उसके प्राप्त करने की प्रबल कामना घेरे रहती है। परंतु यश की प्राप्ति हो नहीं सकती—जब तक कि हम प्राणीमात्र और संसार मात्र के उपकारार्थ अपने शरीर और मन को समर्पण न कर दें। वृक्ष से प्राणियों को संसार में सुख पहुंचता है उसकी छाया तले सहस्रों प्राणी विश्राम करते हैं। उसके फल फूल अनेक प्राणियों को सुख पहुंचाते हैं; और सृष्टि नियम द्वारा वही वृक्ष फलआदि उत्तम पदार्थों से सुशोभित होता है अपना सिर अर्थात् फल फूल और डाली सब नीचे झुका देता है और अपनेपन को भूल जाता है। परंतु जहां भौतिक पदार्थ वृक्षादि हमें ऐसी मनोहर शिक्षा देते हैं वहां ही सृष्टिक्रम बतलाता है कि फल फूल और पत्तियां आदि तब ही लगती हैं जब बीज गल जाता है और अपने शरीर की सत्ता तक को खो देता है। वृक्ष की बनावट और उत्पत्ति के लिए उत्तम पृथ्वी, शुद्ध जल और रक्षा के साधनों की आवश्यकता है। इसी प्रकार उस मनुष्य शरीर के लिए प्रथम उत्तम साधनों की आवश्यकता है जिससे शरीर निरोग रहता हुआ उन्नति करे। शारीरिक उत्तम व्यवस्था से आत्मिक शक्तियों की पुष्टि द्वारा हम किसी उत्तम कर्म करने के योग्य बन सकते हैं और आत्मिक शक्तियों में से एक मेधा है जिसके उत्तम होने

से हम सत्यासत्य का विवेचन अर्थात् अच्छे बुरे का विवेक करने के योग्य बनते हैं। इसीलिए कई जगह पर वेद में आज्ञा है कि प्राणी अपनी मेधा को पवित्र बनाने में परिश्रम करे इसी में उनका हित है।

इस वेद मंत्र द्वारा उपदेश दिया गया है कि ज्ञान और कर्तव्य दोनों को सफल करने वाली एक मेधा है। मनुष्यों को उचित है कि श्रेष्ठ विद्वानों और ऋषियों से 'मेधा' नाम्नी बुद्धि की शिक्षा पाकर उसे अपने ज्ञान और कर्तव्य की एकता में लगा दें। श्रेष्ठ ही सोचें और श्रेष्ठ ही कर्म करें। ऐसा ही करने से शिक्षा देने वाले का पुरुषार्थ सफल होता है जिससे यश की प्राप्ति हो सकती है। अन्याय, असत्याचरण, कपट और द्वेष से जो मनुष्य आत्मा और मेधा की आज्ञा विरुद्ध काम करते हुए लोक लज्जा का पालन करते हैं अर्थात् अपनी आत्मा की साक्षी की उपेक्षा करते हुए देश की रीति तथा रिवाज अनुकूल चलकर अपने अर्थ और काम को सिद्ध करते हैं वास्तव में वह यश को प्राप्त नहीं होते। किंतु किंचित्काल के लिए वह प्रापाश्रित अपने स्वार्थसिद्धि से सुख मानते हुए मन को क्लेशित और अशांत कर बैठते हैं। इस मेधा द्वारा यदि हमारा ज्ञान और हमारे कर्तव्य एकता को प्राप्त हों अगर हम सारे व्यवहार और अपने कार्य ईश्वरीय ज्ञानानुकूल करें तो हमारे मन में समता से शांति हो सकती है। मनुष्य समुदाय में जब तक शरीर के समान संपूर्ण अंग स्वस्थ न हों तब तक सभा या समाज की व्यवस्था उत्तम हो नहीं सकती। इसलिए आवश्यक है कि शांति पाने के लिए दूसरों के दुःखों की निवृत्ति के उपाय विचारें। स्वयं शिक्षा प्राप्त कर सत्याचरण से दृढ़ होकर औरों में उसी बुद्धि के फैलाने का यत्न करें क्योंकि सारे संसार की भलाई में ही अपनी भलाई शामिल है। यदि चारों तरफ कोलाहल मच रहा है तो चाहे कितनी ही मेधा उत्तम बनाई गई हो पूर्ण शांति नहीं दे सकती। इसलिए स्वयं शांति प्राप्त करने के लिए आवश्यक है कि उसी शांति का प्रचार औरों में भी किया जाए। इसलिए संसार के कोलाहल से अपने मन को अशांत रखने वाले सज्जनो ! आओ; हम मिलकर विचारें कि इस असार संसार में निर्वाह करने के लिए हम किस प्रकार से जीवन बिताएं ? क्या कपट, ईर्ष्या, द्वेष और अधर्म व्यवहार से हम लोक लज्जा की परवाह करने पर भी उस सृष्टि कर्ता की आज्ञा पालन कर रहे हैं ? या सृष्टि कर्म द्वारा अपने मन को सांसारिक दुर्व्यसनों से हटाकर शांत करने के लिए उत्तम कर्म संचय कर रहे हैं जिससे हमें शांति हो ?

सारी सृष्टि परस्पर के उपकार पर स्थिर है इसी प्रकार हमारे शरीर तथा सभा के प्रत्येक भाग का कर्तव्य है कि दूसरों की भलाई करे। शुभ-ज्ञान तथा उत्तम कर्तव्य द्वारा यश की प्राप्ति होती है और हमारा आपका जीवन सफल तभी होगा अगर हम दूसरे प्राणियों के लिए भलाई की भावना करें; क्योंकि उनके भी उत्तम ज्ञान, उत्तम कर्तव्य से हमें सुख है और यह सुख तभी प्राप्त होगा जब अपनी तथा अपने अन्य भाइयों की मेधा को पवित्र बनाएं और अपने कर्तव्य ज्ञानानुसार रखें।

46

ततः परं ब्रह्म परं बृहन्तं यथा निकायं सर्वभूतेषु गूढम्।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारमीशं तं ज्ञात्वाऽमृता भवन्ति ॥

उपदेश

परमात्मा सारे ब्रह्मांड में व्यापक है। कोई स्थान भी उनकी व्यापकता से खाली नहीं। स्थूल से स्थूल, सूक्ष्म से सूक्ष्म प्रत्येक पदार्थ में वह व्यापक है। रोम-रोम में वह रम रहा है। फिर क्या संसार के अंदर ही उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती ? क्या इसी शरीर में हम उसे आलिंगन नहीं कर सकते ? यह प्रश्न बड़े बल से मनुष्यों के अंदर उठता है। यही कारण है कि बहुत से भद्र पुरुष अपने आचरणों को वर्तमान अवस्था में अच्छे देखकर बेखबर हो जाते हैं और इस जगत् के महानचक्र से छुटकारे का यत्न नहीं करते। परमेश्वर निःसंदेह सारे ब्रह्मांड में व्यापक हैं; परंतु जैसा कि यजुर्वेद के इकत्तीसवें अध्याय में निरूपण किया है उस ब्रह्म का एक जागृत पाद ही इस सृष्टि को बार-बार प्रलय के बाद उत्पन्न करके उसके अंदर व्यापक रहता है। परंतु त्रिपाद-पुरुष अर्थात् स्वप्न, सुषुप्ति, तुर्या शक्तियां उसके अंदर लिपटी हुई सबके ऊपर विराजमान हैं अर्थात् सारा ब्रह्मधाम इस जड़ जगत् से परे ठहर रहा है। उस ब्रह्मधाम की प्राप्ति करके ब्रह्मांड के अंदर विचरने को ही मोक्ष कहते हैं। बस, जब तक कि प्राकृत पदार्थों के साथ संबंध लगा हुआ है और जब तक कि जड़ जगत् ने हमारे विचारों के चारों तरफ घेरा डाला हुआ है तब तक संभव नहीं है कि हम दुःखों से पूर्णतया मुक्ति प्राप्त कर सकें। यह सत्य है कि जड़ शरीर रखते हुए भी प्रायः घंटों तक आनंद का अनुभव होता है। परंतु प्रकृति का संसर्ग उस सुख को चिरस्थायी नहीं होने देता। बड़े से बड़े महात्मा पुरुष और योगीजन भी प्रकृति के कारागार में जब तक कर्मानुसार रहने के लिए बाधित होते हैं तब तक उच्च से उच्च शांति के अंदर भी दुःख उनको आकर घेर ही लेते हैं। इसलिए जब तक कि मनुष्य आवागमन से मुक्त नहीं होता तब तक आनंद की अवस्था से फिर गिरने का भय बराबर बना रहता है। इसलिए ब्रह्मधाम इस ब्रह्मांड से बहुत ही परे है ऐसा ऋषियों का सिद्धांत है। इस ब्रह्मांड से परे त्रिपाद पुरुष सबसे ऊंचा विराजमान है। वह सबसे बड़ा है

क्योंकि सर्वव्यापक है। हरेक वस्तु के अंदर व्यापक है यद्यपि इंद्रियों से अनुभव नहीं होता तथापि ज्ञान दृष्टि से स्पष्ट उसके दर्शन होते हैं। वही सबका स्वामी है उसी को जानकर अर्थात् उसी के दर्शन करके ही जन्म-मरण के दुःख से हम छूट सकते हैं। इसीलिए वेद ने मुक्त-पुरुष के संबंध में बतलाया है कि वह सांसारिक बंधन से छुटकारा पाकर पुकार उठता है–

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्य वर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥

मैं जानता हूं उस महान पूर्ण प्रकाश-स्वरूप अंधकार से दूर रहने वाले पुरुष को; उसी को जानकर मनुष्य मृत्यु आदि के दुःखों के पार जा सकता है। प्रिय पाठकगण ! अपने हृदयों में प्रवेश कर अपनी अवस्था पर विचार करो। क्या सचमुच हम सब उस परम पुरुष की आज्ञा पर आचरण करके ब्रह्मधाम की ओर चल रहे हैं ? यदि नहीं तो फिर विलंब क्या है ? जीवन का भरोसा किस को है ? एक पल हम अपना नहीं कह सकते। इसलिए आओ ! इसी समय जबकि हमारे हृदयों पर चोट लगी है जड़ संसार से मुंह मोड़कर ब्रह्मधाम की ओर चलना आरंभ करें।

47

यस्मात् परं नापरमस्ति किंचिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्। वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ॥

उपदेश

मुक्ति का स्वरूप समझ में आ चुका। उस वास्तविक सरोवर को प्राप्त करके जीवात्मा जो कुछ अनुभव करता है उसका भी ज्ञान हो चुका है। ऋषियों की साक्षी मिल गई। पूर्ण निश्चय हो गया कि ब्रह्मधाम में पहुंचना मनुष्य के लिए संभव है। परंतु फिर व्याकुल जीवात्मा के अंदर वही प्रश्न उठता है। ब्रह्म कहां है ? उसे किस जगह ढूंढ़े ? उसकी उच्चता को सुनकर भोला पुरुष समझ लेता है कि वह बहुत दूर है इसलिए चकित रह जाता है। समझ में नहीं आता कि हिमालय की ऊंची चोटियों तक कैसे मनुष्यों की पहुंच हो सकती है। तो फिर उस ब्रह्म तक, जो दूर से दूर बतलाया जाता है, किस प्रकार पहुंचें ? और ऐसी अवस्था में निर्बल जीवात्मा हाथ पैर ढीला छोड़ देता है ! पुरुषार्थ को बिलकुल जवाब दे बैठता है। तब हृदय के अंदर बड़ी तीव्र गति पैदा होती है। निराश जीवात्मा भी कुछ समय के लिए विषयों से उपरम-सा हो जाता है। निराशता अनुभव करने के उसे अयोग्य बना देती है। तब अंतर्मुख होकर उसे एक प्रकाश दृष्टिगोचर होता है। उसको देखकर वह चकित हो जाता है तब ऋषि हाथ पकड़ कर सावधान करते हैं। कहते हैं, "क्या तुझे न कहा था कि मत घबरा। परमात्मा जहां उच्चता के कारण दूर से दूर है वहां अपनी व्यापकता के कारण समीप से समीप भी है।" प्रभु रोम-रोम में रम रहे हैं। जीवात्मा के अंदर निवास करते हैं। गंगा और काशी में उसे ढूंढ़ने की आवश्यकता नहीं। मक्का और मस्जिद की उससे मिलने के लिए आवश्यकता नहीं। गिरजा और मंदिर उसकी खोज में जाने की आवश्यकता नहीं। वह समीप से समीप है। उससे अधिक समीप हमारा संबंधी कोई भी नहीं। परंतु केवल समीप होने ही से तो कठिनता दूर नहीं होती। वह सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है। उसकी महत्ता को समझना मनुष्य के लिए कब संभव है ? फिर समीपता से भी क्या लाभ हुआ ? जब हम उसे देख नहीं सकते, जब हम उसे दूसरी इंद्रियों से अनुभव नहीं कर सकते तो उसकी समीपता से हमें क्या लाभ

पहुंचा ? इस प्रकार की शंकाएं जब मन को घेर लेती हैं तब ऋषि फिर जिज्ञासु का हाथ पकड़ कर उसे परमात्मा की महानता को दर्शाते हैं तब मालूम होता है कि वह जहां सूक्ष्म से सूक्ष्म है वहां बड़े से भी बड़ा वही है। उसकी उच्चता की कोई सीमा नहीं। चांद और सूरज, तारागण और नक्षत्र, वायुमंडल और अग्नि, पर्वत और जंगल, एक-एक उसी परमात्मा की महानता और उच्चता की साक्षी दे रहे हैं। परंतु इस प्रकार विस्तृत होने पर भी वह परमेश्वर ब्रह्मांड में व्यापक, दृढ़ वृक्ष की तरह निश्चल है। वह सारे जगत् को चला रहा है। परंतु उसे कोई भी चलायमान नहीं कर सकता। वही प्रभु चारों ओर भरपूर हो रहा है। वह एक ही है कोई उसका हिस्सेदार नहीं। सहायक नहीं। सारा ब्रह्मांड उसकी सत्ता से पूरित हो रहा है। इसलिए

ततो यदुत्तरतरं तदरूपमनामयम्। यएतद्विदुरमृतान्ते
भवन्त्यथेतरे दुःखमेवापि यान्ति ॥

''उस अनुभव करने के योग्य प्रभु को जो परे से परे है और जो अदृश्य है, इंद्रियों से जानने के अयोग्य और दुःख रहित है जो जानते हैं वे अमर हो जाते हैं और जो उसे नहीं जानते निश्चय दुःखों को प्राप्त होते हैं।'' परमेश्वर की समीपता प्राप्त करना इसलिए हरेक मनुष्य का कर्तव्य है कि मुक्ति को प्राप्त करे। दुःखों से मुक्त हो। बस, कोई भी मनुष्य यह कहकर पीछा नहीं छुड़ा सकता कि उसे मुक्ति की आवश्यकता नहीं। जिस प्रकार सभ्य देशों में इसलिए शिक्षा को बाधित कर दिया गया है कि प्रत्येक मनुष्य देश के नियमों से परिचय प्राप्त करके और आपस में सामाजिक व्यवहार की उत्तमता को जानकर मनुष्य समाज के लिए योग्य बन जाए; इसी तरह हरेक मनुष्य का कर्तव्य है कि वह अवश्य परमेश्वर प्राप्ति के साधनों को प्रयोग में लाए। क्योंकि जब मनुष्य समाज के अंदर वास करता है तो जब तक एक एक मनुष्य मुक्ति के साधनों में तत्पर न हो जाए तब तक संसार के अंदर सुख और शांति का राज्य आ नहीं सकता।

48

सर्वानन शिरो ग्रीवः सर्वभूत गुहाशयः।
सर्वव्यापी स भगवांस्तस्मात्सर्वगतः शिवः ॥

उपदेश

मनुष्य का मन विचित्र शीघ्रगामी है। मन की शक्तियों का मुकाबला कोई भी सांसारिक पदार्थ नहीं कर सकता। सब इंद्रियों का मन राजा है। परंतु इसके होते हुए क्या मन निर्बल है कि एक समय में केवल एक ही कार्य कर सकता है। यदि मन का संबंध मस्तिष्क के साथ हो गया और मस्तिष्क सोचने में लग गया तो फिर जिह्वा बंद हो जाती है। उपदेश लेने के लिए सैकड़ों जिज्ञासु इर्द-गिर्द बैठे-हुए हैं। प्रश्न पर प्रश्न कर रहे हैं परंतु महात्मा जी तो समाधि में हैं। मन तो किसी और तरफ लगा हुआ है। मन का संबंध उस समय वाणी के साथ नहीं है। फिर जिज्ञासुओं की आवाज को कौन सुने। परंतु कुछ समय पश्चात् समाधि खुल जाती है। मन का संबंध वाणी के साथ हो जाता है। कैसे मधुर शब्द उस वाणी से निकल रहे हैं। जिसमें कि पांच मिनट पहले कुछ शक्ति ही प्रतीत नहीं होती थी। अकस्मात् भद्र पुरुष के कानों में दीन आवाज सुनाई दी। आंख उठाकर देखा तो कुछ दूरी पर एक अपाहिज रोटी के लिए पुकार मचा रहा है। अब मन उस अपाहिज की आवश्यकताओं की ओर लग रहा है। रोटी लेकर महात्मा उसकी ओर जा रहे हैं। अब उपदेश कौन करे। जिज्ञासु सबके सब शनैः-शनैः उठकर चले जाते हैं। ऐसी अवस्था में योग की उच्च से उच्च सिद्धियां प्राप्त किया हुआ मनुष्य भी अपनी बेबसी पर रो पड़ता है। अपने मस्तिष्क बुद्धि को सारे संसार में घुमाकर फ्रांस के राजाधिराज नैपोलियन बोनापार्ट ने प्रत्येक देश को अपने वश के आधीन बनाने का निश्चय कर लिया था। चारों ओर विजय ही विजय का डंका बजाकर यूरोप पर चढ़ाई की तैयारियां कर रहा था। अकस्मात् फ्रांस के सीमा प्रांत पर विरोध की एक चिनगारी-सी जल उठी। मन उन किश्तियों की ओर से हटाना पड़ा जो कि यूरोप की चढ़ाई के लिए तैयार की जाती थीं। आस्ट्रिया, प्रशिया और रूस को मन का रुख बनाना पड़ा। बरसों के मनोरथ खाक में मिल गए। कुछ का कुछ हो गया ! सिकन्दर महान ने सैनिक विद्या पर

मन को दृढ़ करके अपनी सेना को सारी दुनिया पर छोड़ दिया। संसार उसके साहस के मुकाबले में छोटा नज़र आता था परंतु इन दोनों का अंत क्या हुआ ? कौन कह सकता है नैपोलियन-सा दुनिया को विजय करने का साहस करने वाला पुरुष एक अज्ञात द्वीप के अंदर जंगली पशु की तरह बंद होकर तड़फ-तड़फ कर जान दे देगा। और किसे ज्ञात था कि सिकन्दर-सा विजयी अंत को थोड़े से घूंट का शिकार होकर दुनिया की संग्राम भूमि में मरणासन्न दिखाई देगा। परंतु यह दृश्य संसार में हो गुज़रे हैं और इसी प्रकार के हजारों दृश्य दिन-प्रतिदिन दिखाई दे रहे हैं। यदि ऐसा ही प्रबंध उस सृष्टि का होता तो भविष्य की चिंता अनावश्यक थी परंतु इन न्यूनताओं का परमात्मा के प्रबंध में स्थान कहां ? वहां सीमित मन की आवश्यकता है ? जहां मनुष्य का दिमाग एक-देशी है वहां परमात्मा के स्वाभाविक ज्ञान, बल और क्रिया सारे ब्रह्मांड के अंदर एक समान व्यापक हो रहे हैं। मन, वाणी और कर्म तीनों का सामर्थ्य उसका सर्वत्र एक समान है। और वह इसलिए कि वह सब प्राणधारियों के अंदर उपस्थित है। जीवात्मा जोकि बहुत ही सूक्ष्म है शास्त्र ने उसे भी परमात्मा का शरीर कहा है। अर्थात् उसका निवास स्थान जीवात्मा का हृदय माना है। फिर उस परमेश्वर की सूक्ष्मता को कोई पुरुष विचार में ला सकता है ? वह क्यों हर स्थान में वर्तमान है ? हर सूक्ष्म व्यक्ति के अंदर भी वह क्यों हर समय प्रकाशमान है। इसलिए कि वह सर्व-व्यापक है परंतु हमें उससे क्या ? आकाश भी तो व्यापक है ? फिर क्या आकाश की भी हम उपासना करें ? ऋषि उत्तर देते हैं कि वह न केवल व्यापक है अपितु सारे स्रोतों का स्वामी है और इसलिए वह अनंत स्वरूप है। दुःख उसे होता है जिसे किसी वस्तु की आवश्यकता है। जिसकी सब इच्छाएं पूरी न होने वाली हों परंतु जो स्वयं स्रोतों से भरपूर और उनका स्वामी है उसे दुःख कहां ? वह आनंद स्वरूप है और जीवात्मा दुःख के अंदर बिलबिला रहा है। इसी दुःख से छूटने के लिए जीवात्मा का सारा कशमकश है। फिर सिवाय उस परमात्मा के जो कि आनंद का सागर है जीवात्मा और किस की शरण में जाकर शांत हो सकता है। कंगाल यदि कंगाल की शरण ले तो उसे शांति कहां मिल सकती है ? मनुष्य यदि मनुष्य की शरण में जाए तो उसके जीवन का उद्देश्य कैसे पूर्ण हो सकता है ? बस, यदि मनुष्य को सच्ची शांति की आवश्यकता है और अपने जीवन का अभिप्राय वह पूर्ण करना चाहता है तो उसे आनंद सागर और स्रोतों के एक स्वामी ऐश्वर्यवान् परमात्मा की शरण में आना चाहिए।

प्रिय पाठकगण ! हम सब कंगाल हैं। आत्मिक ऐश्वर्य से हम सब शून्य हैं। आत्मा ही सदैव रहने वाला है। इसलिए इसकी उन्नति आत्मिक ऐश्वर्य के भंडार परमात्मा की शरण में आकर ही हो सकती है। प्रभु आशीर्वाद दें कि हम सब आपकी शरण में आने के अधिकारी बन सकें।

49

महान्प्रभुर्वै पुरुषः सत्वस्यैष प्रवर्तकः।
सुनिर्मलामिमां प्राप्तिमीशानो ज्योतिरव्ययः ॥

उपदेश

मनुष्य दुःख से क्यों घबराता है ? वह सुख की ओर क्यों प्रवृत्ति करता है ? वह प्रश्न हैं जिनके उत्तर मनुष्य नित्य-प्रतिदिन दे रहे हैं परंतु अविद्यान्धकार के अंदर फंसे हुए हम लोग अपने जीवन से भी शिक्षा नहीं ले सकते हैं। जीवात्मा स्वरूप से दुःखी नहीं है; यदि ऐसा होता तो उसकी निवृत्ति असंभव होती। जीवात्मा स्वभाव से स्वच्छ और निर्मल है। दुःख उसे निमित्त से होता है। बस, पता लगाना चाहिए कि दुःख का निमित्त क्या है ? ऋषि कहते हैं स्वच्छ अवस्था अर्थात् पवित्रता की अवस्था में जीवात्मा को कोई भी दुःख नहीं होता; अपितु ज्यों-ज्यों जीवात्मा के अंदर पवित्रता आती जाती है। त्यों-त्यों वह दुःखी होने लगता है। अर्थात् तमाम दुःखों का कारण अपवित्रता ही है। अब ध्यान देना चाहिए कि हम लोगों के अंदर अपवित्रता किस प्रकार कूट-कूटकर भरी हुई है। फिर जब तक इस अपवित्रता को दूर करने का यत्न न किया जाए तब तक दुःखों के दूर होने की संभावना कैसे हो सकती है। परंतु क्या अपवित्र मनुष्य अपवित्रता को दूर कर सकता है ? अपवित्रता को दूर करने की शक्ति निर्बल मनुष्य में कहां ? उसे दूर करने के लिए परम पवित्र प्रभु की शरण में आने की आवश्यकता है। परंतु फिर शंका उत्पन्न होती है, निर्बल जीवात्मा पूछता है कि क्यों न शुद्ध पवित्र दूसरे मनुष्यों की शरण लें ? वह हमारी बात को समझ सकते हैं। अपनी कठिनाइयां उनके आगे धर के हम क्यों न अपनी अपवित्रताओं को पृथक् करने का यत्न करें। ऋषि उत्तर देते हैं कि क्या सीमित मनुष्य दूसरे मनुष्यों की अपवित्रताओं को धो सकता है ? कदाचित् नहीं। यह शक्ति अनंत में ही हो सकती है। परमेश्वर अनंत है और इसलिए सब अपवित्रताओं को दूर कर सकता है। यही नहीं अपितु वह सब का स्वामी है। कोई मनुष्य भी सबका स्वामी नहीं हो सकता। मनुष्य की उपासना से, आधिदैविक क्लेशों से कैसे पवित्र हो सकेंगे ? फिर वह सारे ब्रह्मांड के अंदर परिपूर्ण हो रहा है। कोई स्थान और कोई

भी अवस्था उसकी उपस्थिति से शून्य नहीं है। एक पवित्र मनुष्य अपनी उपस्थिति में दूसरे मनुष्य पर प्रभाव डाल सकता है परंतु जब आंखों से ओझल हो गया तो फिर क्या हो सकता है ? परंतु परमेश्वर सर्वव्यापक है उससे कोई स्थान भी शून्य नहीं। वह प्रत्येक अवस्था में हमारी अपवित्र इच्छाओं को रोकने में सहायक हो सकता है। फिर सब भलाइयों का भी स्रोत वही है। वह सबसे उच्च प्रेरक है। बस, उसकी सहायता के बिना मनुष्य कभी भी किसी अवस्था में भी पवित्रता नहीं प्राप्त कर सकता। मनुष्य बड़े से बड़ा और शुद्ध से शुद्ध भी अपनी अवस्था को बदलता रहता है वह एक रस नहीं है। परंतु परमेश्वर एक रस है इसलिए उस प्रभु की अवस्था एक-सी रहती है। बस, वह एक ही हमारी सुधि ले सकता है और हमें सीधे मार्ग पर चला सकता है, और बड़ी भारी बात यह है कि वह प्रकाशस्वरूप है। मनुष्य उच्च से उच्च योग-शक्तियों को प्राप्त करके और मुक्ति की उच्च पदवी को प्राप्त करके भी ज्ञान का भंडार नहीं बनता—प्रकाश स्वरूप नहीं बन सकता। जिसने स्वयं प्रकाश प्राप्त न किया हो वह दूसरों को स्थिर प्रकाश कैसे दे सकता है ? इसलिए प्रकाश स्वरूप परमात्मा के बिना किसी के भीतर भी ऐसी शक्ति मौजूद नहीं है कि वह स्थिर प्रकाश से दूसरों के हृदयों को प्रकाशित कर सके। क्योंकि वह प्रकाशमय है इसलिए पवित्रता का स्रोत है। प्रकाश के आगे अंधकार ठहर नहीं सकता। प्रकाश तमाम अंधेरे को छिन्न-भिन्न कर देने वाला होता है। ऐसे प्रभु को छोड़कर जो कि दिन-रात हमारे संग-संग हो, जिससे हमारा संबंध कभी भी छूट न सकता हो, जो अपनी सत्ता के अंदर हमें घेरे हुए हो, जिसके संबंध से अंधेरे का नाम तक भी शेष न रहे, जिसकी कृपामात्र से अपवित्रताएं दूर हो जाने वाली हों ऐसे स्वामी को छोड़कर हम सब किस अंधेरे गढ़े में गिर रहे हैं। प्यारे भाइयो ! प्रभु ने हमारे लिए अपनी दया की बांह पसारी हुई है। उनका प्रकाशमय स्वरूप हमारे सब संतापकारी पापों को भस्म करने को तत्पर है। फिर हम सब क्यों दिन-रात पापाग्नि में जल रहे हैं। क्यों अंधकार की जंजीरों में जकड़े हुए दुःख भरी आहों की पुकार कर रहे हैं। क्या तुम नहीं देखते कि संसार में जो मनुष्य हमें मार्ग प्रदर्शन के लिए अपनी ओर बुला रहे हैं वे स्वयं किस प्रकार मार्गभ्रष्ट हैं। क्या तुम्हें उनके मुखों पर प्रकाश के चिह्न दिखाई देते हैं ? क्या तुम कह सकते हो कि उन्होंने स्वयं शांति प्राप्त की है। यदि की भी है तो क्या दूसरों में बांटने के लिए उनके पास कुछ भंडार भी है। प्रिय बन्धु गण ! हमें मनुष्य जन्म मिला हुआ है। मनन शक्ति हमें इस समय सहायता दे रही है। हम अपनी हानि और लाभ समझ सकते हैं। हमारे लिए सब साधन तैयार हैं। प्रकाशमय की गोद हमारे लिए खुली है। वहां पहुंच कर सब मैल नष्ट हो सकते हैं। हमारी ओर से बांह फैलाने की देर है। क्या हम इस प्रकार प्रयत्न और पुरुषार्थ भी न करेंगे।

50

अंगुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः।
हृदा मनीशो मनसाऽभिक्लृप्तो य एतत्तद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥

उपदेश

परमात्मा की खोज में बाहर घूमते हुए कई मनुष्य समुदायों को युग बीत गए परंतु सुख और शांति की प्राप्ति का उनके लिए अभी पहला दिन ही है। बुतखाने और गिरजाघर, मस्जिदें और वेदी अनेक प्रकार के भव्य भवन बनवा-बनवाकर मनुष्यों ने सांप्रदायिक प्रभाव जमाने के प्रयत्न किए और उनके द्वारा पाप से जले हुए हृदयों को शांत करना चाहा। सामयिक उपाय कई अवस्थाओं में मनुष्यों को धोखे में डालने वाला हुआ है परंतु अंत में अशांति अधिक से अधिक बढ़ती गई। यह क्यों ? इसलिए कि वह परमात्मा चेतन प्रकाश स्वरूप और ज्ञानमय होने के कारण जीवात्मा के बहुत ही समीप है—निकट से भी निकट है। क्योंकि जिस हृदय आकाश के अंदर जीवात्मा विद्यमान है उसी हृदयाकाश के अंदर जीवात्मा को भी अपना शरीर बनाए हुए परमात्मा विराजमान है। वे जीवात्मा के अंदर परिपूर्ण हो रहे हैं और होना भी ऐसा ही था। क्योंकि जड़ प्रकृति की अपेक्षा जीवात्मा का अधिकतर निकटतम् संबंध परमात्मा से है। यद्यपि अविद्यान्धकार में पड़कर इस समय हमने उस पवित्र संबंध को बिलकुल भुला दिया है। किसी युग और किसी अवस्था में भी जीवात्मा का परमात्मा से यह संबंध दूर नहीं होता। यह संबंध नित्य है। इसको तोड़ने की शक्ति किसी में भी नहीं है। फिर हम लोग कैसे मूर्ख हैं जो परमात्मा को खोज करने के लिए बाहर भटकते फिरते हैं। जबकि वह हृदय का स्वामी सदा हमारे संग-संग है। जिसके दर्शन हम हर समय बिना हिले जुले ही कर सकते हैं। उसके दर्शनों की इच्छा से जंगलों और निर्जन प्रदेशों में यदि भटकते फिरें तो हम-सा मूर्ख कौन हो सकता है। और सांसारिक कठिन से कठिन कष्ट भी हमें इसलिए सताते हैं कि हम अपने असली संबंध को समझ नहीं रहे हैं। परमेश्वर की खोज और मुक्ति की प्राप्ति की प्रबल इच्छा रखते हुए भी मनुष्य अपने मन के अंदर बुरे से बुरे भाव उठाते हैं। जिसकी अभिव्यक्ति किसी समय उनके बाह्य कर्मों के अंदर भी हो जाती है। उसका कारण

क्या है ? क्या वह हिंदू यात्री जो तीर्थों के अंदर भी व्यभिचार, धोखा और छल से हटता नहीं, मुक्ति का अभिलाषी नहीं ? क्या वह दीनदार मुसलमान जिसका मस्जिद में भी नमाज के समय दूसरे की जूती की ओर ध्यान है वास्तव में पापों से मुक्ति का अभिलाषी नहीं है ? क्या वह ईमानदार ईसाई जिसकी दृष्टि गिरजे के अंदर भी उसके विवाह के लिए किसी नव-युवती स्त्री की तलाश कर रही है, शांति का अभिलाषी नहीं है ? यह सब मुक्ति के अभिलाषी हैं। परमात्मा हृदय का ईश्वर और मन का स्वामी है। जब हम लोग उसके अंदर विद्यमान होते हुए भी किसी का बुरा चिंतन कर सकते हैं तो हमने परमात्मा के साथ अपने संबंध को नहीं समझा। इसलिए हम उसके समीप होते हुए भी अपने आपको उससे पृथक् समझ रहे हैं। ऐसी अवस्था में सुख और शांति की अभिलाषा रखना हमारे लिए व्यर्थ है। प्रिय बंधुगण ! परमात्मा हमारे मन और हृदय का स्वामी है। वह हमारे एक एक संकल्प को जानता है, उससे हमारा कोई भी विचार छुपा हुआ नहीं है। ज़ब हमें निश्चय है कि हमारे अंदर हरेक भाव का साक्षी विद्यमान है तो फिर हमारे लिए आवश्यक है कि हम अपने अंतःकरण को हरेक बुराई से पवित्र करें। परंतु हम सब निर्बल हैं। इस देवासुर संग्राम का सामना होते ही अधीर हो जाते हैं। काम, क्रोध, मोह, लोभ, अहंकार के दल बादल की तरह उमड़े हुए आते देखकर हमारे होश मारे जाते हैं। परंतु क्या इन सबका हमारा तुच्छ हृदय सामना कर सकता है ? कदाचित् नहीं। अपितु इस देवासुर संग्राम में भी हमको वही जगदीश्वर सहायता देते हैं। जिनकी समीपता हमारे लिए उच्च आनंद का निश्चय दिला रही है। प्रभु धन्य हैं ! उनकी महिमा धन्य है ! इसलिए आओ; सच्चे मन से उनसे सहायता मांगें जिससे आसुरी सेना का दमन होकर हमारे मन में सच्चे सुख का प्रकाश हो।



तृतीय अध्याय

वेदार्थ करने की विधि

वेदार्थ करने की विधि

यज्ञेन वाचः पदवीयमायन् तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम्।
तामाभृत्या व्यदधुः पुरुत्रा तां सप्तरेभा अभिसंनवन्ते।

पूजनीय परमात्मा से मनुष्यों ने वाणी के मार्ग, वेदवाणी, को प्राप्त किया। उस वाणी को ऋषियों द्वारा उपलब्ध किया। उस वेदवाणी को धारण कर के उन ऋषियों ने उसका बहुत प्रचार किया। वह वेदवाणी वर्णन करने वाले सात छंदों के संगम से बनी हुई है।

किसी उद्देश्य तक पहुंचने के लिए मनुष्यों को कुछ-एक बातों का पहले से ही ध्यान रख लेना आवश्यक होता है। यदि हम किसी अपरिचित स्थान पर जाना चाहें और हमें इस का परिज्ञान न हो कि वहां तक पहुंचने का मार्ग कौन सा है और कैसा है तो हम निस्संदेह किसी उलटे रास्ते पर जा पड़ेंगे और लक्ष्य पर कभी न पहुंच सकेंगे। हमें भली-प्रकार इस बात का ज्ञान होना चाहिए कि अमुक-अमुक स्थान पर अन्य मार्ग निकलते हैं उन को छोड़ते हुए वास्तविक मार्ग पर चलना है। अथवा हम किसी ऐसे पथदर्शक के पीछे-पीछे चलें जो हमें विपरीत मार्गों से बचाता हुआ असली लक्ष्य पर पहुंचा दे। इसी प्रकार वेदार्थ करने से पूर्व मनुष्य को किन बातों पर सदा ध्यान रखना चाहिए जिस से वह उलटे रास्ते पर ले जाने वाली पगडण्डियों से बचकर अपने उद्देश्य में सफल हो सके इस बात की आलोचना करनी वेदाध्ययन के लिए अत्यावश्यक जान पड़ती है।

वैदिक भाषा सृष्टि के आदिकाल में जहां मनुष्यों को पूर्ण-तथा परिज्ञात थी वहां वेदाध्ययन भी नियम-पूर्वक गुरुपरंपरा से चला आता था। उस समय वेदार्थ समझने में वह निस्सीम बाधाएं नहीं हो सकती थीं जो आज दृष्टिगोचर हो रही हैं।

गौतमबुद्ध के कथनानुसार मनुष्यों के एकमात्र कोष वेदों के विपरीत अर्थ कोई शताब्दियों से ही नहीं किए जाने लगे, परंतु इस अनर्थ का सूत्रपात इक्ष्वाकु राजा से ही हो चुका था। बुद्ध के समय पवित्र वेदों के नाम पर जो वेचारे प्राणियों का बलिदान करके हत्याकाण्ड किया जाता था वह किसी से छिपा नहीं। सुत्तनिपात के ब्राह्मणधम्मिक सुत्ते में आया है कि एक समय बुद्ध श्रावस्ती के जेतवन विहार में

रहते थे। वहां बहुत से कोसल देशीय बृद्ध ब्राह्मण आए और पूछने लगे कि भगवन् ! क्या इस समय प्राचीन ब्राह्मणों के ब्राह्मण धर्म में स्थित कोई ब्राह्मण है ? बुद्ध ने बड़े शोक से उत्तर दिया कि इस समय वैसे कोई ब्राह्मण नहीं दिखाई पड़ते। तब उन के पूछने पर वह प्राचीन ब्राह्मणों के धर्म सुनाता है।

इसयो पुब्बका आसुं सञ्ञतत्ता तपस्सिनो
पंचकामगुणे हित्वा अत्तदत्थ मकारिसुं। 286
न पसू ब्राह्मणा नासुं न हिरञ्ञं न धानियं
सज्झाय धन धञ्ञासुं ब्रह्मं निधिमपालयुं। 227

अर्थात् पहले ब्राह्मण ऋषि, संयमी, तपस्वी थे। ज्ञानेन्द्रियों के पांचों विषयों को छोड़कर आत्मोन्नति में ही लगे रहते थे। ब्राह्मण पशुओं का वध नहीं करते थे। उनके पास सुवर्ण धान्यादि कोई सांसारिक पदार्थ न थे। स्वाध्याय ही उन का धन-धान्य था और ब्रह्मनिधि की वेदरूपी कोष की ही सदा रक्षा करते थे।

इस प्रकार प्राचीन ब्राह्मणों के बड़े सरल तथा सुंदर शब्दों में गुण बखान करते हुए कहते हैं कि वह तण्डुल, घृत, तैलादि से यज्ञ किया करते थे। उन यज्ञों में गोवध, पशुवध कभी नहीं होता था। परंतु समय के फेर से ब्राह्मण अपने धर्म से च्युत हो गए उन में विषयवासनाएं बढ़ने लगीं और लालच के वशीभूत होकर मंत्रमंथन करके, वेद मंत्रों का यथेष्ट अर्थानुसार संग्रह कर के इक्ष्वाकु राजा के पास गए (ते तत्थ भंते गन्थेत्वा ओक्काकं तदुपागमुं) और कहा महाराज तुम्हारे पास बड़ा धन है यज्ञ करो। तब उसने अस्समेध, पुरिसमेध, सम्मापास, वाज़पेय, निरगल यह पांच महायज्ञ किए जिन मे सैकड़ों पशुवध किए गये। इस से पाठक यह न समझे कि बुद्ध का यह मत था कि उन्हीं ब्राह्मणों ने स्वेच्छानुसार वेद मंत्र रचे। परंतु प्राचीन ''ब्राह्मणों के महत्व को दिखाते हुए ब्रह्मंनिधि मपालयुं'' पहले ही कह चुके हैं और यहां ''भन्ते गन्थेत्वा'' शब्द है जिस का स्पष्ट अर्थ यही है कि वेद मंत्रों का ग्रंथन करके, संग्रह करके। इस कथन से हम यही परिणाम निकाल सकते हैं कि ब्राह्मणों ने कुछ मंत्रों का संग्रह करके और स्वेच्छानुसार विपरीत अर्थ करके इक्ष्वाकु को कहा कि महाराज वेदों में यह कर्तव्य लिखे हैं उन को पूर्ण कराइये तब आप को स्वर्ग मिलेगा।

वेदरूपी खजाना सब का प्रियतम था, अतः उसने उनके कथन को स्वीकार कर लिया।

इन्हीं पञ्चमहायज्ञों का वर्णन संयुक्तनिकाय के कोसल संयुक्त प्रथम वर्ग में भी किया है।

1. **अस्समेधं पुरिसमेधं सम्मापासं वाजपेय्यं निरग्गलं**
   महायञ्ञा महारंभा ने ते होन्ति महप्फला।
2. **अजेळका च गावो च विविधा यत्थ हञ्ञरे**
   न तं सम्मग्गता यञ्ञं उपयंति महेसिनो।

3. ये च यञ्ञा निरारम्भा यजति अनुकूलं सदा
अजेळका च गावो च विविधा नेत्थ हञ्ञरे।

4. एतं सम्मग्गता यञ्ञं उपयन्ति महेसिनो
एतं यजेथ मेधावी एसो यञ्ञो महप्फलो।

5. एतं हि यजमानस्य सेय्यो होति ने पापियो
यञ्ञो च विपुलो होति पसीदन्ति च देवता।।

1. अर्थात् अश्वमेध, पुरुषमेध, शम्यापाश (सत्रयाग जिसका दूसरा नाम शम्याक्षेप भी है) वाजपेय, निरर्गल (सर्वमेध) यह महायज्ञ जिनमें महान् पाप किया जाता है कुछ भी फलदायक नहीं होते।

2. यहां अनेक बकरे, मेष, और गायें हनन की जाती हैं उस यज्ञ में ज्ञानशील, महर्षि सम्मिलित नहीं होते।

3. पापरहित यज्ञों को जो सदा अनुकूल (जो उन यज्ञों का वास्तविक अभिप्राय है उसके अनुकूल) करता है जिन में अनेक बकरे, मेष, और गायें नहीं हनन की जातीं।

4. इस यज्ञ में ज्ञानशील, महर्षि सम्मिलित होते हैं मेधावी मनुष्य इसी का यज्ञ करे, यही यज्ञ महान् फलदायक होता है।

5. इस यज्ञ के करने से कर्ता कल्याण का भागी होता है, पापी नहीं होता। और यज्ञ महान् होता है तथा विद्वान् लोग प्रसन्न होते हैं।

तृतीय गाथा से पता लगता है कि अश्वमेधादि यज्ञ इक्ष्वाकु से पूर्व भी किए जाते थे परंतु हिंसा नहीं होती थी। उनका प्रकार पश्चात् प्रचलित विधि से भिन्न था। उसका वर्णन हमें संयुक्त निकाय की अर्थ कथा में मिलता है। जिसे बुद्धघोष ने लगभग 415 ईस्वी में अशोक के पुत्र महेंद्र द्वारा सिंहल भाषा में रची हुई अर्थकथा को पालि में परिवर्तित किया था। उसमें दर्शाया है कि पहले यह पांचों यज्ञ राष्ट्र को संगठित रखने के विशेष साधन थे। परंतु पीछे इनके अर्थ विपरीत करके उनमें पशुवध की प्रथा जारी की गई। वह सब वर्णन यहां देना प्रकृत विषय के लिए बहुत उपयोगी नहीं अतः उसे छोड़ दिया जाता है।

पाठकगण ! उपरोक्त घटना को दिखलाने का मेरा मुख्य प्रयोजन यही था कि जिससे हमें इस बात का पता लग सके कि वेदों के विपरीत तथा अयथार्थ अर्थ कितने दीर्घ काल प्रचलित हैं। पालि भाषा में लिखित महावंश के अनुसार गौतम का पिता शुद्धोदन इक्ष्वाकु से 82012 वां राजा था। इससे आप अनुमान कर सकते हैं कि वास्तविक वेदार्थ कब से अपरिज्ञात हो चुके हैं और उनके समझने के लिए कितनी कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा।

जिस किसी साहित्य का हम अध्ययन करना चाहें उसे उसी की भाषा का एकमात्र आश्रय लेकर अध्ययन किया जाता है। न जाने फिर इस सर्व व्यापक सिद्धांत

को वेद के लिए क्यों सदा के लिए बनवास दे दिया जाता है। प्राकृत नियम का उल्लंघन हम करते हैं परंतु वेदों को शंका प्रवाह की तीक्ष्ण धारा से अयथार्थ सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाता है। मनुष्य केवल संस्कृत भाषा का अध्ययन करके इस बात की कल्पना कर लेते हैं कि अब हम वेदों के अर्थ भली प्रकार कर सकेंगे। बस यही अर्थ वेद का बिलकुल ठीक है क्योंकि हमने संस्कृत भाषा और उसके व्याकरण के अनुसार किया है। इस में किसी प्रकार की त्रुटि नहीं आ सकती।

इसी संस्कृत भाषा को आधार में रखते हुए वह इस बात पर विश्वास रखते हैं और एक निश्चय बना लेते हैं कि वेदों में ऐसे उच्च भाव नहीं जो इन्हें अपूर्व सिद्ध करें; यह परमात्मा का ज्ञान नहीं, इसमें इतिहास पाया जाता है, यह केवल वनेचरों के प्रमत्तगीत हैं, इसके अध्ययन से क्या लाभ ? इसमें अपना अपूर्व जीवन खोना मूर्खता है, इसमें प्रत्यक्ष वैज्ञानिक से सिद्धांतों के विपरीत पाया जाता है। इस प्रकार के संदेह उन्हें वेद से विमुख कर देते हैं। हां ! यह सब ठीक होता यदि वास्तविक मार्ग का अवलंबन करने पर भी हम असली स्थान पर न पहुंच जाते। उस दशा में उपरोक्त परिणाम निकालने सुपरिणाम और सच्चे जंचते। परंतु यदि देखा जाए तो हम तो मूल से ही बड़ी भारी भूल कर रड़े हैं। हम किसी स्थान पर पहुंचने के लिए चल तो पड़े परंतु उत्तर की ओर मुख करने के स्थान पर दक्षिण की ओर मुख मोड़ लिया। निस्संदेह हमने लाखों मील चलकर निस्सीम प्रयत्न किया और अपनी सारी शक्तियां व्यय कीं परंतु हम उद्दिष्ट स्थान पर नहीं पहुंच सके। हमने अपना सारा जीवन उसी जगह पर पहुंचने के लिए अर्पण किया परंतु वह स्थान कुछ ही दिनों का रास्ता होने पर भी हम वहां पहुंच नहीं सके। यह उस स्थान का दोष नहीं परंतु यह हमारा ही दोष है जो चलने के मूल स्थान से ही बड़ी भारी भूल कर बैठे हैं। देखने में तो यह भूल बड़ी तुच्छ सी जान पड़ती है परंतु परिणाम बड़ा भयंकर निकलता है। यही अवस्था आजकल के वेदाध्ययन की है। हम वैदिक और संस्कृत भाषा को एक समझ कर संस्कृत भाषा के आधार पर वैदिक भाषा समझना चाहते हैं जो दक्षिण की तरफ मुख करने वाले की न्याई सर्वथा विपरीत परिणाम दिखाती है।

इन दोनों भाषाओं में महान् अंतर है। केवल एक भाषा के परिज्ञान से दूसरी को पूर्णतया समझ सकना बड़ा दुष्कर है। इस बात को बिल्कुल स्पष्ट करने के लिए मैं पालि भाषा के दो उदाहरण देता हूं। उससे उपरोक्त आवश्यक सिद्धांत ठीक ठीक समझ में आ सकेगा।

गौतमबुद्ध उपदेश देते हुए धम्मपद में कहते हैं—

1. **मातरं पितरं हन्त्वा राजानो द्वे च खत्तिये**
   रट्ठं सानुचरं हन्त्वा अनिघो याति ब्राह्मणो।

2. असद्धो अकतञ्ञू च सन्धिच्छेदो च यो नरो
हतावकासो वन्तासो सवे उत्तम पुरिसो।

इनका संस्कृत में अक्षरशः परिवर्तन इस प्रकार होगा—

1. मातरं पितरं हत्वा राजानौ द्वौ च क्षत्रियौ।
राष्ट्रं सानुचरं हत्वा अनघो याति ब्राह्मणः।।

2. अश्रद्धोऽकृतज्ञश्च संधिच्छेदश्च यो नरः।
हतावकाशो वान्ताशः सो वै उत्तमपुरुषः।।

सामान्यतः संस्कृत साहित्य की दृष्टि से इसका अर्थ यह होगा कि माता पिता, दोनों क्षत्रिय राजाओं और अनुचरों सहित राष्ट्र का घात करके दुःख पाप रहित ब्राह्मण (मुक्ति को) जाता है।

जो मनुष्य शुद्धा रहित, कृतघ्न और संधि का छेद करने वाला है, जिसने अवकाश का नाश कर दिया है और आशायों को चमन कर दिया है निश्चय से वही उत्तम पुरुष है। इस में कोई संदेह नहीं कि पालि संस्कृत से अधिकतम मिलती है परंतु फिर भी पालि का अर्थ सर्वत्र संस्कृत की दृष्टि से नहीं किया जा सकता। पालि साहित्य को पालि भाषा की दृष्टि से ही देखना चाहिए ना कि संस्कृत के स्वरूप में। यदि हम यहां पर पालि की विशेषताओं को भुला दें तो महाअनर्थ होगा। और हम सहसा कह उठेंगे कि यह बुद्ध वचन तो उन्मतप्रलापवत् हैं। कहां दुःखों, पापों से मुक्त होना और कहां मातापिता आदि पूज्यतमों का हत्याकाणड ! कहां उत्तम पुरुष और कहां श्रद्धा से विमुखता तथा कृतघ्नता ! इनमें इतनी परस्पर विरुद्धता कहां पुण्यात्मा बनना और कहां उसके साधन महापातक नीच कर्म ! यह सब उपदेश किसी पागल या उन्मत्त मनुष्य के हैं।

परंतु पालि भाषा के विचार से अर्थ करने पर इन का बड़ा उच्च तथा गंभीर भाव प्रकट होता है। इनका वास्तविक अर्थ यह है—तृष्णा, अहंकार, शरीर को नित्य मानना तथा पुनर्जन्म को न मानना इन दोनों मिथ्यादृष्टियों और विषयों सहित चक्षुरादि इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करके ब्राह्मण दुःख से रहित होकर अनंत सुख को प्राप्त करता है।

(अश्रद्धः=अचलश्रद्धः) जो मनुष्य अपने श्रेष्ठ गुणों से विचलित नहीं होता, मोक्ष पर विश्वास रखता है और उसकी प्राप्ति के साधन जानता है, जगत् में फंसाने वाले विषयों का नाश कर बैठा है, दुःसंस्कारों की उपस्थिति का हनन कर चुका है, और आशायों को वमन की न्याई बाहर उगल चुका है, निश्चय से वही श्रेष्ठ मनुष्य है।

यह है उच्च अर्थ, यह है उच्च आशय जिस को दूसरी भाषा के विचार से देखते हुए हम उन्मत मनुष्यों की बिलबिलाहट समझे हुए थे।

ठीक यही दशा वेद के साथ की जा रही है। वैदिक-भाषा को संस्कृत से कोई

भिन्न भाषा ही नहीं समझा जाता। संस्कृत भाषा पढ़ी और वेदों की आलोचना प्रारंभ हो गई। उसका परिणाम वही अवश्यंभावी है जो उपरोक्त बुद्ध के वचनों के साथ किया जा सकता है। हम वेद को एकदम उन्मादियों का प्रलाप कहेंगे, युक्तिशून्य कहेंगे, असंगत कहेंगे, विरुद्धार्थक कहेंगे, असंभावार्थक कहेंगे, तुच्छ वर्णन करने वाला कहेंगे, अविस्पष्टार्थक कहेंगे और न जाने अन्य क्या-क्या वेदों पर अशंकाएं की जाएंगी। भूल वेदाध्ययन करने वालों की है और दोषारोप किए जाते हैं वेदों पर।

शब्दों के यौगिक अर्थ

वैदिक भाषा में जो मुख्य नियम काम कर रहा है वह यह है कि इसके सब शब्द यौगिक हैं। जो अर्थ धातु और प्रत्यय के मिलने से बनता है वही उस शब्द का अर्थ होना चाहिए। इस प्रधान नियम के पोषक अधिक करके प्राचीन सभी विद्वान् पाए जाते हैं।

(1) महर्षि पतञ्जलि संस्कृत व्याकरण के प्रामाणिक विद्वान् हैं वह महाभाष्य में 'उणादयोबहुलम्' सूत्र की व्याख्या करते हुए लिखते है—

बाहुलकं प्रकृतेस्तनुदृष्टेः प्रायसमुच्चयनादपि तेषाम्
कार्यसशेष विधेश्च तदक्तं नैगमरूढ़िभवंहि सुसाधु

अर्थात् (क) उणादिपाठ में थोड़ी सी प्रकृतियों से, धातुओं से प्रत्यय विधान किए गए हैं।

(ख) अैर उन प्रत्ययों का समुच्चय, संग्रह भी प्रायः करके हैं संपूर्ण नहीं। धातुओं से संपूर्ण प्रत्यय नहीं कहे गए पर थोड़े ही बताए गए हैं।

(ग) तथा सूत्रों के कार्य भी सशेष है संपूर्ण नहीं। जितने शब्द उणादिगण से सिद्ध किए जाते हैं उन में होने वाले कार्य वर्तमान सूत्र संपूर्ण नहीं करते।

इन तीनों न्यूनताओं का बहुल शब्द दूर कर देता है।

(क) जिन धातुओं से उक्त प्रत्यय नहीं कहे गए उन से भी वह प्रत्यय हो जाते हैं जैसे ''हृष्'' धातु से उलच् प्रत्यय कहा है परंतु शंकुलः यहां शक्ति से भी हो जाता है।

(ख) जो प्रत्यय किसी धातु से नहीं कहे वह भी पाए जाते हैं जैसे दा धातु से इष्णुच् प्रत्यय कहा है परंतु देष्णः यहां पर इष्णंच् भी हो जाता है।

(ग) और जो कार्य सूत्रों से प्राप्त नहीं वह भी हो जाते हैं, जैसे आप धातु से वन् प्रत्यय कर के ''अप्वा'' शब्द सिद्ध किया है. यहां ''आ'' को ह्रस्व अ किसी सूत्र से प्राप्त नहीं था वह हो गया, अन्यथा ''आप्वा'' रूप होता है।

अब इस में यदि किसी को संदेह हो कि उणादिपाठ में जितने धातुओं से जितने प्रत्यय विधान किए गए हैं और शब्दों की प्रसिद्ध में जितने कार्य सूत्रों से हो सकते हैं उन में परिवर्तन क्यों किया जाए ? तो इस प्रश्न का उत्तर भाष्यकार स्वयं देते

हैं कि वैदिक शब्द और लौकिक संज्ञा शब्द भली प्रकार सिद्ध हो सकें–इसलिए उन में परिवर्तन किया जाता है, उणादिपाठ को अपरिपूर्ण समझा जाता है। यदि ऐसा न करेंगे तो सब वैदिक शब्द तथा संज्ञाशब्द सिद्ध नहीं किए जा सकते।

यहां नैगम शब्दों को लौकिक रूढ़ि शब्दों से पृथक् रखा है जिससे यह निःशंक हो कर कहा जा सकता है कि पतञ्जलि सब नैगम शब्दों को आख्यातज या यौगिक मानते हैं। इसीलिए उन्होंने स्पष्ट किया कि यदि वैदिक शब्द उणादिपाठ से भी सिद्ध न हो सकें तो उन्हें बहुल ग्रहण से प्रकृति प्रत्यय पता लगा कर सिद्ध कर लेना चाहिए।

(2) इसी प्रकार यास्काचार्य कहते हैं "नामान्याख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्त समयश्च" अर्थात् सब नाम शब्द धातुज है ऐसा शकट का पुत्र शाकटायन मानता है और यहां निरुक्तकारों का सिद्धांत है। और इसी बात को पतंजलि ने "नाम च धातुजमाह निरुक्ते व्यकरणे शकटस्य च तो कम्" इन शब्दों में दोहराया है। निरुक्त वेद की कुंजी है। वेदाध्ययन में निरुक्त का आश्रय लेना परम प्रधान है। निरुक्त वैदिक कोष निघंटु की व्याख्या है। उन कठिन शब्दों के अर्थ करने का मार्ग बतलाता है। यास्कने 'समाम्नायः समाम्नातः स व्याख्यातव्यः, कहते हुए निघण्टु को सामाम्नाय कहा है। समान्यते समभ्यस्यते मर्यादाय ऽयमिति समान्यः। जिसका नियमपूर्वक भली प्रकार अभ्यास किया जावे उसे सामन्य कहते हैं। निघंटबशब्दों का निगम भी वताया है (तमिमं सामाम्नादं निघण्टव इत्यावक्षते। निघण्टवः कस्मात् निगमा इमे भवन्ति) निच्श्येन गमयंति ज्ञायंति मन्त्रार्थानिति निगमाः। अर्थात् जो वेदमन्त्रार्थों को निश्चय से जतलाते हैं, जिन शब्दों के परिज्ञान से मंत्रार्थ निश्चयपूर्वक समझ में आ सके उन्हें निगम कहा जाता है। इसमें क्या प्रमाण है कि निघंटुशब्दों के यथार्थ ज्ञान हैं जाने से मंत्रार्थ समझ में आ सकेंगे ? इस आशंका का उत्तर देते हुए यास्क कहते है। "छन्दोभ्यः समाहत्य समाहत्य समाम्नात्ताः' यह दुगम शब्द छंदों से वेदों से ले ले कर पृथक् इकट्ठे किए हुए हैं। अतः उन दुर्गम शब्दों के परिज्ञान के बिना मंत्रार्थों का जानना कठिन होगा। जब इस प्रकार वैदिक दुर्गम शब्दों के कोष की व्याख्या करते हुए निरुक्तकारों का यह निश्चित सिद्धांत है कि वैदिक नाम शब्द सब यौगिक है तो वेद के अनुशीलकर्त्ता को यह मूल सिद्धांत अपनी दृष्टि से कभी दूर नहीं रखना चाहिए।

(3) वैदिक शब्दों की व्याख्या करने वाले दूसरे ग्रंथ ब्राह्मण हैं। वह भी उपरोक्त नियम क़ी ही पुष्टि करते दीख पड़ते हैं। इसे स्पष्ट करने के लिए ब्राह्मणों के कुछ एक उदाहरण देने आवश्यक होंगे।

(i) ऐतेरेय ब्राह्मण ही 6 पंजिका 5 अध्याय 6 खण्ड में परिक्षित् का अर्थ करते हुए लिखा है "अग्नि वैं परिक्षेति अग्नि र्हीमाः प्रजाः परिक्षेति, अग्निं हीमाः प्रजाः परिक्षियन्ति...संवत्सरो वै परिक्षित् संवत्सरो हीमाः प्रजाः परिक्षेति, संवत्सरं हीमाः प्रजाः परिक्षियन्ति" अर्थात् अग्नि ही परिक्षित् है क्योंकि वह सर्व प्रजाओं मे निवास करती

है। अथवा अग्नि का आश्रय लेकर ही सर्व प्रजाएं निवास करती हैं। इसी प्रकार संवत्सर भी परिक्षित् हैं।

इससे पता लगा कि परितः (सर्वत्र) क्षियति (निवसति) अथवा परितः क्षियन्ति एवम् इन दोनों व्युत्पतियों से जो कोई भी व्यापक या सब का निवःसहेतु हो उसको परिक्षित् कहेंगे।"

(ii) इमे वै सर्वे लोकाः सर्पास्ते हानेन सर्वेण सर्पन्ति यदिदं किंच। श. 7. 3. 1. 25। यहां सब पृथिव्यादि लोकों को सर्पणाशील, गतिमान् होने से सर्प कहा है।

(iii) कतमों ऽध्यर्धे इति योऽयं पवते...यदस्मिन्निदं सर्वम् अध्यान्र्धोत् (अधिकं वृद्धि प्रापत्) तेनाध्यर्धः। शत. 14 5. 7. 10. यहां अध्यर्ध का अर्थ लौकिक साहित्य के अनुसार डेढ़ नहीं परंतु वायु है क्योंकि उसी के कारण यह सब जगत् वृद्धि को प्राप्त करता है। यदि वायु न रहे तो मनुष्य पशु पक्षि वनस्पति आदि कुछ भी जीवित न रह सके। इस प्रकार अर्ध का यौगिक अर्थ वृद्धि देने वाला जतलाया गया।

(iv) इयं वै पृथ्वी पूषा, पशवो वै पूषा शत. 3.5.1.7, 3.5.2.10 यहां पृथ्वी और पशुओं को पोषक होने के कारण पूषा कहा गया है।

एवं, ब्राह्मणों में स्थान-स्थान पर वैदिक शब्दों को यौगिक मानते हुए अर्थ किए गए हैं। उनमें से यह केवल चार दिग्दर्शन के तौर पर आप के समक्ष रख दिए हैं, कुछ एक अन्य उदाहरण आगे के लेख में आजावेंगे।

(4) सायण ने वेदमंत्रों के ऐतिहासिक अर्थ करते हुए शब्दों को रूढ़ि माना है। परंतु वह भी इस सिद्धांत में कृतकृत्य नहीं हो सका। एक शब्द का यदि कहीं संज्ञावाची शब्द समझ कर अर्थ करता है तो दूसरे स्थल पर वह उसी अर्थ पर दृढ़ नहीं रह सका। वहां उसकी भी कोई पेश नहीं चली कि वह संज्ञावाची ही अर्थ कर सके। दृष्टांत के लिए सोमानं स्वरणं...औशिजः ऋ. 1.18.1 में तो औशिजः का अर्थ उशिज् नामी मनुष का पुत्र करता है, परंतु आदित्ते अस्य...वृषन्नु शिजो. ऋ. 1. 131. 5 में उशिजः का अर्थ "धर्मं कामयमानाः जनाः" धर्म की इच्छा रखने वाले मनुष्य किया है। त्रितः कूपेऽवहितो. ऋ. 1. 105. 17 में त्रितः का अर्थ त्रितनामी ऋषि किया है "परंतु यमेन दत्त' त्रिम एनम्. ऋ. 1. 163. 2 में त्रितः का "अर्थ पृथिव्यादिषु त्रिषु स्थानेषु वर्तमान स्तीर्णतमों वा वायुः" किया है।

आवां विश्वाभिः...प्रियमेधा अहूषत ऋ. 8.8.18 में प्रियमेधाः का अर्थ 'एतत्संज्ञाः ऋषयः' करते हैं, परंतु वयः सुपर्णाः...प्रियमेधा ऋषयो...ऋ. 10, 74, 11 यहां प्रियमेधाः का प्रिययज्ञाः अर्थ करते हुए सूर्यरश्मियों का विशेषण कहा है।

आवां विश्वाभिः...प्रियमेधा अहूषत ऋ. 8.8. 18 में प्रियमेधाः का अर्थ 'एतत्संज्ञाः ऋषयः" करते हैं, परंतु वयः सुपर्णाः...प्रियमेधा ऋषयो...ऋ. 10. 74. 11 यहां प्रियमेधाः का प्रिययज्ञाः अर्थ करते हुए सूर्यरश्मियों का विशेषण कहा है।

यही हाल यजुर्वेद पर भाष्य करने वाले उबट मही धर का भी है। स्वामी दयानन्द

वैदिक शब्दों को यौगिक मानने के इतने कट्टर पक्षपाती थे उसमें तो किसी को संदेह ही नहीं इसलिए उसकी सिद्धि में कोई प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं।

यौगिक शब्दों की सिद्धि

यहां प्रकृति प्रत्यय स्पष्ट है वहां एक ही धातु से साधारण व्याकरण के अनुसार शब्द सिद्ध किया ही जाता है। परंतु वेद में मुख्यतः चार और नियम काम करते हैं जिन को यहां देता हूं।

(1) वेद में यह कोई आवश्यक नहीं कि वैदिक शब्द एक ही धातु से सिद्ध किया जावे। यदि आवश्यकता पड़े तो दो तीन धातुओं को मिलाकर भी एक ही शब्द सिद्ध किया जा सकता है। इस सिद्धांत के पोषक निरुक्तकार तथा ब्राह्मणग्रंथ दोनों पाए जाते हैं। "त्रिभ्य आख्यातेभ्यो जायते इति शाकपूणिः। इता दक्ताद् दग्धाद्वा नीतात्। स खलु एते रकारमदत्ते गकार मनक्तेर्वा दहतेर्वा नीपरः। नि. 7. 14 शाकपूणिः। निरुक्तकार अग्नि शब्द इण, अञ्ज-2 या दह, और णीञ् इन तीन धातुओं से सिद्ध करता है पहली धातु से अ दूसरी धातु से ग और तीसरी धातुसे नि लेता है। इस प्रकार एक अग्नि शब्द में तीन गुण दर्णित हैं। जो गतिशील ज्ञानवान् या प्राप्त करने वाला हो, प्रकाशकर्त्ता या दाह करने वाला हो, और ले जाने वाला हो उसे अग्नि कहेंगे। अब इस के वाच्य अर्थ आग, परमात्मा, राजा सेनानी, विद्वान् आदि कई प्रकरणानुसार किए जा सकते हैं।

(ii) मित्र; प्रमीतेस्त्रायते 10. 21 मित्र शब्द यास्क ने मीञ् और त्रैङ् दो धातुओं से सिद्ध किया है। जो हिंसा से, मृत्यु से, दुःख से, कष्ट से, नाश से, रक्षा करने वाला हो उसे मित्र कहेंगे।

(iii) शकुनिः शन्कोति उन्नेतुमात्मानम् 9. 3 शकुनि शब्द शक्लृ, और उत् पूर्वक णीञ् इन दो धातुओं से बनाया है। जो अपने को ऊपर ले जा सकता हो, उन्नत कर सकता हो उस का नाम शकुनि होगा। इस के अर्थ पक्षि, विद्वान् आदि अनेक हो सकते हैं।

(iv) कपिञ्जलः कमनीयं शब्दं पिञ्जयति 3. 18 कपिञ्जल शब्द कमु और पिजि दो धातुओं से बनाया है जो सुंदर मधुर प्रिय शब्द बोले वह कपिञ्जल कहा जा सकता है। चाहे वह पक्षि हो चाहे मधुरभाषी विद्वान् हो।

शतपथ ब्राह्मण 14.6.7.1 में हृदय शब्द हृ, दा, इण् इन तीन धातुओं से बनाया है। जो हर्ता हो, दाता हो, गंता ज्ञाता या प्राप्त करने वाला हो उसे हृदय कहेंगे। इस के अर्थ हृदय, मन, जीवात्मा, ब्रह्म आदि हो सकते हैं (एष प्रजापतिर्यद् हृदय मेतद्ब्रह्मैतत्सर्वम्। तदेतत् त्र्यक्षरं हृदयमिति, हरित्येकमक्षरमभिहरन्त्यस्मै खाश्चान्ये च य एवं वेद, द इत्येकमक्षरं ददत्यस्मै स्वाश्चान्ये च य एवं वेद, यमित्येकमक्षरमेति स्वर्गलोकं य एवं वेद)

(2) एक ही शब्द भिन्न 2 धातुओं से भी पृथक्-2 सिद्ध किया जाता है। इस प्रकार धातुभेद से एक ही शब्द के अनेक अर्थ भी हो सकते हैं। द्रष्टांत के लिए इषिरः शब्द है। इस को यास्क ने तीन धातुओं से सिद्ध किया है। एक ईष धातु से जिस का अर्थ गति है, दूसरा इच्छार्थक इषु धातु से और तीसरा दर्शनार्थक ऋषी धातु से। इस से इषिर शब्द के गतिमान् ज्ञानवान् प्राप्ति मान् इच्छामान् और दर्शनवान् इतने अर्थ हो जावेंगें।

(ii) इन्द्र शब्द 11 धातुओं से सिद्ध किया है अतः उस के 11 अर्थ होंगे (इरां दृणाति) अन्न का विदारण करने वाला (इरां ददाति) अन्न दाता (इरां दधाति) अन्न का धारण करने वाला (इन्दवे द्रवति) इंदु के लिए जाने वाला। (इन्देभूतानि) प्रकाशदाता (इदं करणात्) यह कार्य करने वाला, कर्त्ता (इदं दशेनात्) यह कार्य देखने वाला, द्रष्टा (इंदते वैंश्वयेकर्मणः) एश्वर्यवान् (इंदन् शत्रूणां दारयिता) ऐश्वर्यवान् होता हुआ शत्रुओं का विदारण करनेवाला (इंदन् यज्वनां आदरयिता) एश्वर्यवान् होता हुआ शिष्टों का आदरकर्ता।

(iii) अक्षाः शब्द अशूङ, क्षि, क्षर तीन धातुओं से बनाया है अतः व्यापन करता है, निवास करता है, क्षरण होता है यह तीन अर्थ होंगे।

(3) भिन्न-भिन्न कारकों में प्रत्यय करने पर एक ही शब्द के अनेक अर्थ हो जाते हैं जैसे अर्क शब्द में "एनम् अर्चन्ति" से पूज्य, "अनेन अर्चन्ति" से पूजा का साधन, "अर्चति भूतानियः" से पूजाकर्ता यह तीन अर्थ होंगे।

(i) तत् शब्द "तन्यते अस्मात्" से पिता, "तन्यतेअयं" से पुत्र इन दो अर्थों को जतलाने वाला है।

(ii) अन्धस् "शब्द आध्यायते यत्" से जिसकी चिंता की जावे अर्थात् अन्न और "न अस्मिन् ध्यानं भवति" से अंधकार, इन दो अर्थों को कहने वाला होगा।

(iii) समुद्र शब्द "समुद्रवन्ति अस्मात् आपः' से सागर और "समभिद्रवन्ति एनं आपः" से अंतरिक्ष, इन दो अर्थों को बताता है।

(4) णिजन्त रहित तथा णिजंत धातु से प्रत्यय करने से एक ही शब्द के दो अर्थ हो जाते हैं। जैसे ग्ना शब्द "गच्छति एनाम्" से स्त्री और "गमयति ज्ञापयति" से वेद तथा वाणी इन अर्थों का बोधक होता है। इसीलिए शतपथ 6.4.2.7 में "छदांसि वै ग्नाः" लिखते हुए छंदों को, वेदों को ग्ना कहा है।

(ii) गौ शब्द "गच्छति" से पृथ्वी, आदित्य, रश्मि, गाय आदि अर्थों को कहता है और "गमयति इषून्' से धनुष का बोधक होता है।

वेदों के यौगिक शब्द मानते हुए मुख्यतः इन चारों नियमों का बड़ा प्रयोग पाया जाता है। वेदाध्ययन करते समय इन नियमों को बहुत कुछ भुला दिया जाता है जिस से अर्थ युक्ति-युक्त नहीं जंचते। वैदिक भाषा से सर्वथा अपरिचित होने और संस्कृत साहित्य के वायु मण्डल में पले होने के कारण जब हम वेदार्थ करने बैठते

हैं तो एकदम हमारे दिमाग़ में वही संस्कृत के संकुचित और रूढ़ि अर्थ आ विराजमान होते हैं। हमारा उसके फंदे से छूटना बड़ा दुष्कर हो जाता है। हमारे मन में इसकी कल्पना ही नहीं होती कि इस का दूसरा अर्थ भी हो सकता है। इसलिए हमारे मनों में वेदों पर अनेक शंकाएं उत्पन्न होती हैं। हम पूछते हैं इस शब्द का यह अर्थ कैसे हो गया। हमें वहां खींचातानी प्रतीत होती है। परंतु पाठकगण ! यह संस्कृत भाषा नहीं वैदिक भाषा है। अपने को इस समय वैदिकभाषा के वायु मण्डल में रखिए और आलोचना कीजिए देखिए क्या परिणाम निकलता है। अब में उपरोक्त चारों मुख्य नियमों को दृष्टि में रखता हुआ आपके सन्मुख कु‌ एक वेदमंत्र पेश करता हूं जिससे पाठकों को विदित हो जावेगा कि वेदों के यौगिक अर्थ न कर सकने से कितना अनर्थ होता है।

1. **हिमेनाग्निं घ्रंसमवारयेथां**
पितुमती मूर्जमंस्मा अधत्तम्।
ऋबीसे अत्रिमश्विनावनीतम्
उन्निन्यथुः सर्वगणं स्वस्ति।

वेदों में आए हुए अश्वि देवताओं के बारे में सायणीचार्यादि विद्वान् लोग बड़ी विचित्र सी कल्पनाएं करते हैं। वह कहते हैं कि अश्विन् नामी दो विशेष व्यक्ति थे उन्होंने अमुक-अमुक कार्य किए। परंतु क्या उनकी यह कल्पना सच है। नही, शब्दों के यौगिक होने पर उनका यह कथन कभी संगत नहीं हो सकता। अश्विन् शब्द अशू व्याप्तौ और अशुङ् भोजने इन दो धातुओं से बना है।

(क) अश्नोति व्याप्नोतीति अश्वी। जो व्यापक या बहुत प्राप्त करने वाला हो उसे अश्विन् कहेंगे। इसी के द्विवचन में अश्विनौ रूप है। यास्क ने अश्विनौं के अर्थ द्यावापृथिव्यौ, अहोरात्रौ, सूर्याचन्द्रमसौ–द्युलोक पृथ्वीलोक, दिनरात, सूर्यचन्द्र किए हैं, क्योंकि यह सब को प्राप्त किए हुए हैं।

(ख) अश्नाति कर्मकलं भुंक्ते इति अश्वी। जो कर्म फल का भोग करे वह अश्वी, अर्थात् भोक्ता मनुष्य। उसी का स्त्रीलिंग में अश्विनी होता है। जिसका अर्थ स्त्री है। "पुमान् स्त्रियाः" पाणिनि सूत्र के अनुसार यह व्याकरण का साधारण नियम है कि जब स्त्रीलिंग के साथ पुर्लिंग आया हुआ हो तो एक शेष के समय पुर्लिंग शेष रह जाता है अर्थात् अश्वी च अश्विनी च अश्विनौ यह रूप बनेगा। इस प्रकार अश्विनौ का अर्थ स्त्री पुरुष होगा।

(ग) अश्यते व्याप्यते इति अश्वी तौ अश्विनौ। यहां भाव में प्रत्यय करने से जो प्राप्त करने योग्य हों उन विद्वान् स्त्री पुरुषों, राजाराज्ञी आदि को भी अश्विनौ कह सकते हैं। पता लगता है कि ऐतिहासिकों ने अश्विनौ से जो पुण्यकृत् दो विशेष राजा माने हैं उस भ्रम का मूल कारण यही है कि उन्होंने शब्दों की यौगिकता और पुमानृस्त्रियाः सूत्र को सर्वथा भुला दिया था। संभव है कि अश्विनौ का अर्थ राजानौ

किया जाता होगा जिस का अर्थ राजाराज्ञी है। उन्होंने राजा च राजा च राजानौ ऐसा एकशेष समझ कर दो राजा अर्थ कर दिया।

(घ) अश्विनौ की चौथी सिद्धि अश्व शब्द से मतुष् अर्थ में इनि प्रत्यय करने से होती है जिसका अर्थ अश्वंतौ है। इसीलिए शतपथ ब्राह्मण में अश्विनौ का अर्थ सव्येष्ठा और सारथि किया है क्योंकि वह दोनों एक ही अश्वयुक्त रथ में बैठते हैं। सयोनी वा अश्विनौ, सयोनी सव्यष्ट सारथी समानंरथमधितिष्ठतः 5.2.5.8।

(ङ) अश्व का अर्थ रश्मि भी होता है इसलिए रश्मि वाले सूर्य चन्द्र यह अर्थ भी हो सकेगा।

(च) अश्व अलंकाररूप से या यौगिक अर्थों में इन्द्रियों के लिए भी प्रायः आता है। अतः प्रशस्तार्थ मे मतुप प्रत्यय करने पर प्रशस्त इन्द्रियों वाले, जितेन्द्रिय इस अर्थ में भी अश्विनौ शब्द आ सकेगा। इस प्रकार अश्विनौ के अर्थ प्रकरणानुसार कई हो सकते हैं। जिसको भुलाकर सायणाचार्य उपरोक्त वेदमंत्र से इतिहास निकालते हैं कि असुर लोगों ने अत्रि ऋषि को शत द्वारों वाले पीड़ागृह में बंद करके तुषों से अग्नि लगा दी। ऋषि ने स्तुति द्वारा अश्वि देवताओं को प्रसन्न किया। उन्होंने वहां पहुंचकर अग्नि को जल से शांत किया और ऋषि को सर्वाग्ङ पूर्ण बिना किसी हानि के निकाल लिया।

पाठकगण ! अब आप निरुक्त का आश्रय लेते हुए वैदिक भाषा के मण्डल में आइये और देखिए क्या सुंदर प्राकृतिक वर्णन पाया जाता है।

(अश्विनौ) हे द्युलोक पृथ्वीलोको ! तुम दोनों (हिमेन) जल से (अग्निं घ्रसं) अग्निवत् तीक्ष्ण तपाने वाले, दाह करने वाले दिनों को, ग्रीष्म दिनों को (अकारयेथां) दूर करते हो जिस से (अस्मैं पितुमतीं ऊर्ज अधत्तम्) इस के लिए, इस प्राणिमात्र के लिए अन्नयुक्त बल का प्रदान करते हो (ऋवी से अवनीतं अत्रिं उन्निन्ययुः) पृथ्वी में नीचे गई हुई अग्नि को, तापको ऊपर उठाते हो। इस का फल क्या होता (सर्वगणं स्वस्ति) सर्व प्राणिमात्र का कल्याण होता है।

ऋवीसम्=अपगत् भासम्, जिसका प्रकाश चला गया हो, प्रकाश रहित हो, स्वयंप्रकाश न हो अर्थात् पृथ्वी। अत्रिः–अत्ति इति अत्रिः जो खाने वाली हो, जलाने वाली हो अर्थात् अग्नि।

इस वेद मंत्र में ग्रीष्म काल ओर वर्षा काल का वर्णन है। ग्रीष्म ऋतु के दिन बड़े तीक्ष्ण तथा ताप देने वाले होते हैं। पृथ्वी के भीतर इतना ताप व्याप्त रहता है कि सब औषधियां उस ताप से जल जाती हैं। वर्षा काल में वृष्टि होती है, दिन ठंडे हो जाते हैं, पृथ्वी का ताप निकल जाता है। औषधि वनस्पतियों खेतों में, वनों में लहलहाने लगती हैं। खाद्य पदार्थ उत्पन्न होते हैं। प्राणियों को सुख मिलता है और उन का कल्याण होता है।

अब प्रश्न उठता है कि द्युलोक पृथ्वीलोक को इस कार्य का कर्त्ता क्यों माना

गया है। सूर्य की किरणें पृथ्वी तल से जल को खींचती हैं। उन से मेघ बनते हैं और वृष्टि होती है। द्युलोक और पृथ्वीलोक दोनों मिलकर वृष्टि के कारण हैं जिससे उपरोक्त सर्व कार्य होते हैं अतः अश्विनौ का अर्थ द्यावा पृथिव्यौ करना ही ठीक प्रतीत देता है।

2. **आथर्वणयाश्विना दधीचे अश्व्यं शिरः प्रत्यैरयतम्।**
स वां मधु प्रवोचदृतायन् त्वाष्ट्रं यद्दत्रावपिकक्ष्यं वाम्।।

इस मंत्र का अर्थ सायण इस प्रकार करते हैं–हे अश्वियो ! तुम ने अथर्वा के पुत्र दव्यङ् नामी महर्षि के अश्वसंवधि शिर जोड़ा। उस का मानुष शिर काटकर उस की जगह घोड़े का शिर लगाया। और उस ने तुम दोनों की पूर्व प्रतिज्ञा को पूर्ण करने के लिए इन्द्र से प्राप्त की हुई मधुविद्या काा उपदेश दिया। दशनीय अश्वियो ! शिर कटे हुए यज्ञ पर कक्ष प्रदेश से पुनः शिर जोड़ने वाली मधुविद्या को उसने तुम्हें कहा।

कैसा विचित्र अर्थ है ! यदि थोड़ी देर के लिए यह मान भी लें कि वेदों में इतिहास है, तो क्या यह कभी संभव हो सकता है कि कोई अपना सिर काटकर और घोड़े का शिर लगाकर किसी को मधुविद्या, ब्रह्मविद्या का उपदेश दे सके। कहां ब्रह्मविद्या और कहां घोड़े का सिर। ब्रह्मविद्या पहले ही बड़ी गूढ़ है उस के समझने समझाने के लिए अनेक कठोर साधनों की आवश्यकता है परंतु यहां घोड़े के दिमाग़ से उस को शिक्षा दी जाती है। यह उदाहरण बिल्कुल वैसा ही है जैसे मैंने पहले माता पितादि का घात करके अनंत सुख की प्राप्ति का उदाहरण त्रिपिटक में से दिया है। यह है फल वैदिकभाषा से अपरिचिति का है। यदि हम इस वेद मंत्र का यही अर्थ मान लें तो हम वेदवाक्यों के साथ उतना ही अन्याय कर रहे होंगे जितना कि उस बुद्धवचन के साथ किया जा सकता है।

इस मंत्र का अर्थ करने से पूर्व इस में आए हुए संदेहास्पद शब्दों पर पहले विचार कर लेना आवश्यक हैं

अश्विनौ के बारे में मैं पहले बतला चुका हूं कि किसप्रकार इस का अर्थ स्त्रीपुरुष होता है। दूसरा शब्द आथर्वग है। आथर्वा का अर्थ करते हुए यास्क लिखता है 'थर्वेतिश्चरतिकर्मा तत्प्रतिषेधः 11. 19 थर्व धातु गति अर्थ में आती है। अतः थर्वत का अर्थ हुआ इधर-उधर जाने वाली मतिवाला, अस्थिर बुद्धिवाला मनुष्य। और न थर्वा अथर्वा अर्थात् स्थिरबुद्धि मनुष्य, जिसकी मति क्षण-क्षण में बदलने वाली न हो प्रत्युत परिपक्व दृढ़, स्थिर हो। अथर्वा एवं आथर्वणः स्वार्थ में अण् प्रत्यय करने से जो अर्थवा का अर्थ है उसे ही आथर्वण शब्द प्रकट अण् प्रत्यय करने पर भी आधवर्ण शब्द सिद्ध हो जावेगा। परंतु इस का अर्थ संस्कृत साहित्य की न्याई यह नहीं समझना चाहिए कि आथवर्ण अथर्वा का पुत्र है। वेद में ऐसे स्थलों में पुत्रादि शब्द, या अपत्यार्थ प्रत्यय किसी गुण की अत्यंता, अधिकता के द्योतक होते हैं। यह शब्द या प्रत्यय

गुणी के गुण को ओर उत्कृष्ट, उच्च, या महान् दिखाते हैं। दृष्टांत के लिए किं ते कृण्वंति...आ नो भर प्रमगंदस्य वेदः...इस वेदमंत्र की व्याख्या करते हुए यास्क लिखते हैं मगंदः कुसीदी तदपत्यं प्रमगन्दोऽयंत कुसीदि कुलीनः 6. 32 मगंद का अर्थ है ब्याज लेने वाला, उस का जो अपत्य वह प्रमगंद अर्थात् अत्यंत कुसीदी कुल वाला। यहां प्र शब्द तद्धितार्थ में हैं। मगंदप्रभवः प्रमगंदः=मगंद का पुत्र। यहां प्रभव के भव का लोप हो जाता है, जैसे प्रगतं अग्रम् प्राग्रम् में गत का लोप होता है। इस प्रकार वेद के उपरोक्त भाग का यह अर्थ होगा कि हे राजन् ! (प्रमगंदस्य) अपने राज्य में अत्यंत ब्याज खाने वाले मनुष्य के (वेदः) धन को (नः) हम श्रेष्ठ मनुष्यों के प्रति (आभर) आहरण करो। अर्थात् राजा का कर्तव्य है कि वह ऐसा प्रबंध करे कि उस के राष्ट्र में कोई मनुष्य अधिक ब्याज न ले सके। यदि कोई लेता है तो उस की संपत्ति छीन कर उन्हीं में बांट दी जाए जिन से ब्याज लिया था।

(ii) **अग्ने वाजस्य गोमत ईशानः सहसो यहो।**
अस्मे धेहि जातवेदो महिश्रवः। यजु. 15. 35

(सहसः यहो) हे बल के पुत्र—अत्यंत बलवान् (जात-वेदः) प्राप्त विज्ञान (अग्ने) ज्ञानवान् तेजस्वी नेता विद्वान्-इण, अञ्चू, णीञ, धातुओं से अग्नि शब्द बना है।

(गोमतः वाजस्य ईशानः) प्रशस्तवाणी युक्त ज्ञान के अधिपति (अस्मे महि श्रवः धेहि) तुम हमारे में महान् श्रवण को महती विद्या को धारण कराओ। यहां सहस् के पुत्र से अभिप्राय अत्यंत बलवान् है।

(iii) इसी प्रकार "ओमासः चर्षणीधृतो...दाशुषः सुतम्" ऋ. 1. 3. 7 इस मंत्र में दाशुषः सुतम् का अर्थ अत्यंत दान शील है। अतः वेदार्थ करते समय उपरोक्त नियम को भी सदा ध्यान में रखना चाहिए। इस नियम के भूलने से ही प्रायः वेद के वाचकवृंद संबंध में पुत्रादि या अपत्य प्रतयांत शब्दों के आ जाने से मंत्रों को ऐतिहासिक अर्थ कर बैठते हैं।

तीसरा शब्द दधीचे हैं। यह दध्यञ्च् शब्द की चतुर्थी विभक्ति का रूप है। निरुक्त ने इसका अर्थ "दव्यङ् प्रत्यक्तो ध्यानम्" किया है। ध्यानं प्रति अक्तः, ध्यान में जो गया हुआ हो, ध्यान में निमग्न हो, उस ध्यानरत महात्मा को दव्यङ् कहेंगे। ध्यान पूर्वक अञ्चू धातु से क्विन प्रत्यय और ध्यान की जगह दधि आदेश करने से दव्यङ् शब्द सिद्ध होता है। अथवा, दधातीति दधिः आकारांत धारणार्थक धा धातु से "आदृगम हन जन किकिनौ लिट्च" पाणिनि सूत्र से वेद में कि प्रत्यय ओर लिट्वत् होता है। लिट्वत् होने से धातु को द्वित्व हो जावेगा। अर्थात् जो धारण करनेवाल हो, सारे ब्रह्माण्ड का धर्ता हो उस परमात्मा का दधि कहेंगे। दधिम् अञ्चतीति दध्यङ्। उस धर्ता परमात्मा को जो प्राप्त करने वाला हो वह दध्यङ्। या जो विद्या धर्म को धारण करने वाले महात्मा को प्राप्त करता है उस सत्संग करने वाले विद्वान् धार्मिक मनुष्य को भी दध्यङ कहेंगे।

चौथा शब्द अश्व्यम् है। जिस प्रकार अश्विन् शब्द दो धातुओं से बना है उसी प्रकार अश्व शब्द भी उन्हीं दो धातुओं से सिद्ध होता है। जो व्यापक हो, बहुत स्थानों में उपस्थित हो, शीघ्रगति वाला हो (अश्नुते अध्वानं) भोक्ता हो उसे अश्व कहेंगे। इसीलिए शतपथ ने इस के भिन्न-2 स्थानों पर अनेक अर्थ किए हैं। असौ वा आदित्य एषोऽश्वः 6.2.3. 29 यहां आदित्य अर्थ, अग्निरेष यदश्वः 6.3. 1. 22 यहां अग्नि अर्थ, वीर्यवा अश्वः 2.1.4. 24 यहां वीर्य, पराक्रम अर्थ। शतपथ की काण्वशाखा में उषा वा अशवस्य, अहर्वा अश्वं पुरस्तात् महिमान्व जायत—इन स्थानों में काल अर्थ, रश्मियों के लिए अश्व शब्द का आना प्रसिद्ध ही है। इस प्रकार अश्व शब्द के अनेक अर्थ होने पर भी अश्व्य का अर्थ घोड़े से संबंधि करना भूल है। ब्राह्मण के अनुसार इस का अर्थ वीर्य संबंधि, वीर्यवान् या अग्नि संबंधि, तेजस्वी होगा। अर्थात् वह दिमाग् जो सूक्ष्म से सूक्ष्म वातों को भी बड़ी शीघ्र समझ ले, बिल्कुल शुद्ध और पवित्र हो उसे अश्व्य कहेंगे।

पांचवा शब्द मधु है। मधु का अर्थ है अत्यंत प्रिय। जो वस्तु अधिक प्रिय लगे उसे मधु कहते हैं। ब्रह्म ज्ञान से बढ़कर संसार में मनुष्य के लिए अन्य कौनसी वस्तु प्रियतम हो सकती है, इसीलिए शतपथ ने ब्रह्मज्ञान को ही मधु के नाम से पुकारा है। इसी वेद मंत्र को देते हुए (14. 4. 5. 17) उसने बताया है कि यहां मधु से अभिप्राय उसी मधुविद्या, ब्रह्मज्ञान से है। स्वाष्ट्रम=त्वष्ट्रा संबंधि। त्वज्ञति करोतीति त्वष्टा, सारे संसार के कर्ता रचयिता परमात्मा को त्वष्टा कहते हैं।

दस्रौ=यह शब्द दो धातुओं से बनाा है। एक दर्शनायेक दसि धातु से, और दूसरा उपक्षयार्थक दसु धातु से। अतः इसका अर्थ दर्शनीय या दुःखों, कष्टों पापों का नाश करने वाले होगा। कक्ष्य=कर्म, निघण्टु में कक्ष्या शब्द अंगुलियों के लिए आता है क्योंकि प्रकाशयन्ति कर्माणि, यही सर्व क्रियाओं का प्रकाशन करती हैं। कक्ष्यासु भवं कक्ष्यम् भवेच्छंदसि से यत् प्रत्यय। अंगुलियों में जो होने वाले हों वह कक्ष्य अर्थात् कर्म।

अब उपरोक्त वेद-मंत्र का अर्थ इस प्रकार होगा—

(अश्विना) अश्विनौ ! हे स्त्रीपुरुषों ! तुम (आथवेणाय दध. चे) अत्यंत स्थिरबुद्धि, ध्याननिमग्न उपदेष्टा महात्मा के लिए (अश्व्यं शिरः) सूक्ष्म से सूक्ष्म बातों को भी शीघ्र समझ लेने वाले शुद्ध पवित्र तेजस्वी दिमाग़ को (प्रतिऐरयतम्) प्राप्त करायओं (दस्रा) हे दर्शनीयो ! या दुःखों, कष्टों के नाश करने वाले स्त्री पुरुषों ! (सः ऋतायन्) वह महात्मा सत्य की इच्छा रखता हुआ, सत्य प्रचार की अभिलाषा से प्रेरित हुआ (वां) तुमको (त्वाष्ट्रं मधु) जगत्कर्ता प्रभु संबधि सब के प्रिय ब्रह्मज्ञान को (प्रवोचत्) कहे (अपियत् कक्ष्यं) और जो कर्त्तव्य कर्म है उनका भी उपदेश दे।

इस वेद मंत्र में कैसे सुंदर शब्दों में बनाया है कि सब स्त्री पुरुषों का यह परमधर्म है कि उन मे जो अत्यंत स्थिर बुद्धि, ध्यानी उपदेशक शिक्षक जन हों उन

का पूर्णतया पोषण करें। उन को रहने-सहने, खाने-पीने का किसी प्रकार से कष्ट ने होने दें। जब उनको किसी प्रकार की चिंता न होगी भोजन उत्तम, वीर्यवर्धक मिलता रहेगा, उनका दिमाग़ स्वच्छ होगा, उनकी बुद्धि कुशाग्र होगी। तब ऐसे श्रेष्ठ मनुष्य उन्हें ज्ञान और कर्म दोनों की शिक्षा देंगे। उन्हें ज्ञानशील और कर्मशील बनाने के पूर्ण साधन होंगे। उनका भी यह कर्त्तव्य होगा कि वह राष्ट्र का अन्न खाकर उसके प्रत्युपकार में राष्ट्र को ज्ञानयोगी और कर्मयोगी बनावें, अन्यथा वह भी अपने धर्म से च्युत होते हैं।

साथ ही वेद मंत्र में यह भी बताया कि राष्ट्र का अन्न ग्रहण करने के वही अधिकारी हैं जो निश्चल प्रकृति, ध्यानी या संयमी हों। उनके अतिरिक्त दूसरों का कोई अधिकार नहीं। इसी उच्च आशय को युद्ध ने धम्मपद में स्पष्ट किया है जिस का ठीक अनुवाद यह होगा कि तप्त अग्नि की शिखा के समान लोहे की गोली निगल जाना श्रेष्ठ है परंतु राष्ट्र के दिए हुए अन्न को संयमरहित और दुःशील होकर खाना अच्छा नहीं (सेय्यो अयोगुलो भुनो तत्तो अग्गिसिखूपमो। यं चे युञ्जेय्य दुस्सोलो रट्ठपिण्डं असञ्ञतो)

3. **सोमानं स्वरणं कृणुहि ब्रह्मणस्पते**
कक्षवीन्तं य औशिजः। ऋक्, यजु.

इसका सायणदि ने ऐतिहासिक अर्थ इस प्रकार किया है। हे ब्रह्मणस्पति नामक देव ! तू मुझ सोमरस के अभिषवकर्त्ता को उशिज के पुत्र कक्षीवान् की तरह देवताओं में प्रसिद्धियुक्त कर।

अब आप वैदिकभाषा के अनुसार मंत्र पर विचार कीजिए।

सोमात्म=सूते ऐश्वर्यवान् भवतीति सोमा तम् सोमानं ऐश्वर्यवंतम्। ऐश्वर्यार्थक षु धातु से औणादिक मनिन् प्रत्यय करने से सोमन् शब्द सिद्ध होता है जिस की द्वितीया विभक्ति में सोमानम् है।

स्वरणम्=सु उपसर्ग पूर्वक गत्यर्थक ऋ से ल्यु प्रत्यय। गति के तीन अर्थ होते हैं ज्ञान, गमन, प्राप्ति। अतः स्वरणम् के मुज्ञानवंतम्, सुगतिमंतम्, सुमाप्तिमंतम् यह तीनों अर्थ संगत हो सकेंगे। अर्थात् साधुगति वाला साधु ज्ञान वाला, साधु क्रियाओं वाला, साधु प्राप्ति वाला। ब्रह्मणस्पते=ब्रह्मणः वेदस्य पते ! वेद के स्वामी वेदज्ञान के प्रदाता परमात्मन् ! परमात्मा को वेदपति क्यों कहा गया इसकी साक्षि हमें वेदों द्वारा ही स्पष्टतया मिलती हैं। ऋग्, यजु, अश्नर्व, तीनों वेदों में आए हुए तस्माद् यज्ञात् सर्व हुत ऋचः सामानि जज्ञिरे...इस मंत्र से तो परमात्मा द्वारा चारों वेदों की उत्पत्ति प्रसिद्ध ही है। परंतु ऋग्वेद के 10. 71. 3 मंत्र से भी परमात्मा का वेदपति होना स्पष्ट ज्ञात होता है। वह मंत्र यह है–

यज्ञेन वाचः पदवीयमायन् तामन्वविन्दनृषिषु प्रविष्टाम्
तामाभृत्या व्यदधुः पुरुत्रा तां सप्तरेभा अभिसंनवंते

इस मंत्र का अर्थ सामान्यतः लेख के प्रारंभ में लिख चुका हूं। यहां उसे स्पष्ट करके दिखलाता हूं।

(यज्ञेन) पूजनीय परमात्मा से (वाचः पदवीयं) वाणी के मार्ग, वेदवाणी को मनुष्यों ने (आयन्) प्राप्त किया। वह वेद वाणी परमात्मा से मनुष्यों तक किस प्रकार पहुंची इसका उत्तर अगले भाग में देते हैं (तां) उस वेद वाणी को (ऋषिषु प्रविष्टां) ऋषियों में प्रविष्ट हुई को, अर्थात् जिन ऋषियों के हृदयों में वह वेदवाणी सब से पूर्व प्रकाशित हुई थी उन ऋषियों द्वारा (अन्वविन्दन्) मनुष्यों ने उपलब्ध किया। उन ऋषियों से अन्य मनुष्यों ने कैसे वेदवाणी प्राप्त की इसका उत्तर आगे देते हैं (तां) उस वेद वाणी को (आभृत्य) धारण करके (पुरुत्रा) बहुत्र, अनेक स्थलों में, स्थान-स्थान पर (व्यदधुः) उन ऋषियों ने प्रकाश किया, प्रचार किया। इससे वह वेदवाणी सब मनुष्यों को उपलब्ध हो गई। इस वेदवाणी की रचना कैसी है इस प्रश्न का उत्तर चौथे भाग में देते हैं। (तां) उस वेद वाणी (सप्तरेभाः) सात यथार्थ वर्णन करनेवाले छंद (अभिसंनवंते) संगत किए हुए है। अर्थात् वह वेद सातछंदों में रचित हैं।

इसी मंत्र के दूसरे तथा तीसरे पद का ठीक अनुवाद निरुक्त के शब्दों में इस प्रकार है "साक्षात् कृत धर्माण ऋषयोवभूवुः, तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मत्रान्संप्रादुः" जिनको सब से पूर्व धर्म का, वेद का साक्षात्कार हुआ ऐसे ऋषि हुए। उन्होंने दूसरे मनुष्यों को जिन्हें वेद का साक्षात्कार नहीं हुआ था, वेद का ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ था उपदेश द्वारा वेद मंत्रों को दिया, वैदिकज्ञान का अन्य मनुष्यों में प्रचार किया।

सप्तरेभाः=रेभ का अर्थ निघण्टु में स्तोता बतलाया है जो स्तुतयर्थक रेभ धातु से बना हुआ है। जो वस्तु जैसी हो उस को उसी यथार्थ स्वरूप में जो वर्णन करे वह स्तोता या रेभ कहलाता है। वेद की रचना गायत्री, उष्णिक् अनुष्टुप्, वृहती, पंक्ति त्रिष्ट प् जगती इन्हीं सात छंदो में पाई जाती है, आठवां कोई छंद नहीं। इन्हीं सात छंदों कें मंत्र वस्तुओं के यथार्थ स्वरूप का वर्णन करते हैं। अतः उपरोक्त मंत्र में छंदों को रेञ्ज या वर्णनकर्ता कहा गया। अभिसनवन्ते=अभि सम् पूर्वक निघण्टु में पढ़ी हुई गत्यर्थकनु धातु से यह रूप बनता है।

इससे पाठकों को भलीप्रकार विदित हो गया होगा कि परमात्मा को ब्रह्मस्पति वेदपति क्यों कहा गया।

कक्षीवंतम्=कक्ष्यासु अग्निलिषु भवाः कक्ष्याः क्रियास्ता प्रशस्ताः विद्यंते यस्य तं कक्षीवंतम्। कक्ष्या का अर्थ किया, कर्म किस प्रकार है यह पहले लिख चुका हूं। कक्ष्या शब्द से प्रशस्तार्थ में मतुप प्रत्यय करने पर कक्षीवत् शब्द सिद्ध होता है अर्थात् प्रशस्त, श्रेष्ठ कर्म करने वाला मनुष्य।

(ii) शब्द कल्पद्रुम मे कक्षा शब्द को समता अर्थ में देते हुए कक्षावान् का यह अर्थ किया है—कक्षा सर्ववस्तुनि साम्यं सा विद्यते यस्य सः कक्षावान्। अर्थात्

जिसकी सर्व वस्तुओं में समता बुद्धि हो, सर्व प्राणीमात्र को एक दृष्टि से देखने वाला हो, किसी भी सांसारिक वस्तु में विशेष प्रेम न हो उस महात्मा पुरुष को कक्षावान् कहगें। वेद में आकार को ईकार करते हुए उसी को कक्षीवान् कहेंगे। वेद में आकार का ईकार करते हुए उसी को कक्षीवान् के नााम से पुकारा है। इसी भाव को मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भृतानि समीक्षामहे इस वेद मंत्र में जतलायाा है।

औशिजः=वष्टे कामयते इति उशिक्, काम्त्यर्थक वश् धातु से औणादिक इजि प्रत्यय। आथर्वण की तरह उशिक् से स्वार्थ में या अपत्यार्थ में अण् करने से औशिज शब्द सिद्ध होता है। कांति के दो अर्थ होते हैं एक कामना, इच्छा दूसरा शोभा, तेज। अतः आथर्वण की तरह औशिजः का अर्थ अत्यंत इच्छावाला या अत्यंत तेजस्वी हुआ।

(ii) शब्द कल्द्रुम में औशिज का अर्थ परमात्मा का पुत्र किया है। "उशिक् कमनीयं ब्रह्म तस्य पुत्रः। उशिक=कमनीय, तेजस्वी ब्रह्म, उसका पुत्र।

अब वेदमंत्र का अर्थ बिल्कुल स्पष्ट है। (ब्रह्मणस्पते) हे वेदपते परमात्मन् ! (यः औशिजः) जो अत्यंत इच्छुक, या तुम्हारा सच्चा पुत्र है उसको (सोमानं) ऐश्वर्यवान् (स्वरणं) साधु ज्ञानवान् (कक्षीवंत) और प्रशस्त कर्मशील, या सांसारिक सब पदार्थों को समान दृष्टि से देखने वाला (कृतणुहि) कीजिए। यत् तत् का नित्य संबंध होने से यहां तम् का अध्याहार किया जावेगा।

जिस मनुष्य को ज्ञानी या कर्मयोगी बनने की उत्कट अभिलाषा ही नहीं वह किसी तरह भी कोई प्रयत्न करने को उद्यत नहीं होता। जब तक प्रयत्न कुच्छ न किया जावे, मनुष्य निष्क्रिय बना रहे तब तक लाख प्रार्थनाएं करने पर भी कुछ फल नहीं होता। प्रार्थना वहीं फलीभूल होती है यहां प्रार्थना के अनुकूल कर्म भी किया जावे अतः प्रार्थना का अधिकारी होने के लिए मनुष्य को उन गुणों की इच्छा वाला होना आवश्यक है। या, हम संसार में देखते है कि जो पुत्र पिता का सच्चा पुत्र, पिता का प्यारा, या उसका आज्ञा पालक होता है उसे पिता सदा प्रेम की दृष्टि से देखता है, उसको उच्च बनाने का पूर्ण प्रयत्न करता है। इसी प्रकार यहां दर्शाया है कि परमात्मा उसी को ज्ञानी और कर्मयोगी बनाते है जो उसका पुत्र उस में श्रद्धा रखने वाला, उसका आज्ञा पालक, उसका भक्त हो।

4. **उतग्ना व्यंतु देवपत्नीरिन्द्राण्यग्नाय्यश्विनीराट्।**
आ रोदसी वरुणानी शृणोतु व्यंतु देवीर्य ऋतुर्जनीनाम्।।

यह मंत्र ऋग्वेद अथर्ववेद दोनों में आया है। इसका अर्थ सायण और उस के अनुयायी रूढ़ि शब्दों को लेकर इस प्रकार करते हैं कि देवताओं की पत्नी स्त्रियां हविः का भक्षण करें जो इन्द्र की पत्नी, अग्नि की पत्नी, अश्वियों की पत्नी रुद्र की पत्नी, वरुण की पत्नी हैं। यह सब देव पत्नियां सुनें और जो स्त्रियों का काल है। उस समय हवि का भक्षण करें।

इस के पूर्व कि मैं वेद मंत्र का वैदिक भाषा की दृष्टि से अर्थ आपके सामने

उपस्थित करूं, इस से पहले मंत्र पर विचार कर लेना उचित होगा। फिर मंत्र का अर्थ स्पष्टतया समझ में आ सकेगा। वह मंत्र यह है–

देवानां पत्नी रुशती रवंतु नः
प्रावंतु न स्तुजये वाजसातये
याः पार्थिवासो या अपामपि व्रते
ता नो देवीः सुहवाः शर्म यच्छत

(देवानां पत्नीः) विद्वानों, श्रेष्ठ पुरुषों की पत्नियों (इुशतीः) इच्छा रखती हुई, हमें चाहती हुई। (नः अवंतु) हमें प्राप्त हों। देवानां पत्नीः यह भाविनी संज्ञा है। जिस प्रकार कोई जुलाहे को कहे कि इस सूत की धोती बना दो तो उसका अभिप्राय यही होता है कि बुनने के पश्चात् जिस का नाम धोती पड़ेगा वह वस्त्र बनादो। इसी प्रकार यहां उन कुमारियों का देवपत्नी के नाम से पुकारा है जो विवाहित हों जाने पर विद्वानों की पत्नियां बनेंगी। अथवा देवानां पत्न्यः रक्षिकाः देवों को, श्रेष्ठ गुणों की रक्षा करने वालीं, उत्तम गुणों को धारण करने वाली कुमारियों का यह भी अर्थ हो सकता है। (तुजये) बलवान् संतान तथा (वाजसातये) अन्नलाभ के लिए (नः प्राव तु) हमारे से प्रकृष्ट प्रेम करने वाली हों। अब धातु के धातुपाठ में 19 अर्थ बनाए हैं जिन में से गति और प्रीति भी है अतः पहले अवंतु का अर्थ गत्यथेक मानकर प्रापवतु कियाहै और दूसरे प्रावंतु का प्रीत्यर्थक मानकर प्रकर्षेण प्रीतियुक्ताः भवन्तु किया जावे तो "अवस्तु" का मंत्र में दुवारा पाठ आना निरर्थक होगा।

(याः पार्थिवासः) जो पृथ्वी में विख्यात (अपि याः अपां वृते) और जो व्यापक परमात्मा के व्रत में, आराधना में, परमात्मा की आज्ञा पालन में रत हैं (ताः सुहवाः देवीः) जिनका आहवान् जिन का स्वयं स्वीकरण साधु है वह देवियें (नः शम यच्छत) हमें सुख प्रदान करें।

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः।।

इस यजुर्वेद मंत्र में परमात्मा को आपः नाम से पुकारा है। यह शब्द नित्य स्त्रीलिंग और बहुवचन है। "आप्नोतेर्ह्रस्वश्च" इस उणादि सूत्र से आ को ह्रस्व अ हो जाता है अतः जो आपः का अर्थ वही अपः का भी है। इसलिए मैंने उपरोक्त मंत्र में अपः का अर्थ व्यापक परमात्मा किया है। इस वेदमंत्र में परमात्मा ने उशतीः और सुहवाः शब्द देते हुए स्वयंवर विवाह को उपदेश दिया है। कन्या जिस को अपना पति चाहे जिस को अपना पति बनाना स्वीकार करे, और इसी प्रकार पति जिस कन्या का अपने घर में आह्वान बुलाना उत्तम समझे, जिस देवी को स्वीकार करने की अभिलाषा रक्खें उन्हीं दोनों में विवाह संबंध होना चाहिए। इस के विरुद्ध उन की इच्छाओं के प्रतिकूल न होना चाहिए। साथ ही परमात्मा ने यह भी उपदेश दिया कि जिन पति पत्नी में प्रकृष्ट, गाढ़ प्रेम होता है उन्हीं की संतान बलवान् होती है

और घर में सर्वप्रकार से संपत्ति की वृद्धि होती है।

पाठक गण ! इस से आप को प्रकरण का परिचय भली प्रकार हो गया होगा। अब असली वेदमंत्र पर विचार कीजिए। उस मंत्र में पहला शब्द उत है जिस का अर्थ अपिच या और है। यह शब्द दो बातों का संयोग करता है। पूर्व मंत्र में किस प्रकार के स्त्री पुरुषों में विवाह संबंध होना चाहिए यह बता चुके हैं। अब इस मंत्र में विवाह के पश्चात् पति पत्नी किस प्रकार सहवास करें, उनका कर्तव्य होना चाहिए इस बात का जतलाते हैं। इन्हीं विवाह से पूर्व और विवाह से पश्चात् की दोनों बातों को उत शब्द मिलाता है। ग्नाः=यह मैं पहले लिख चुका हूं कि शतपथ के अनुसार ग्ना का अर्थ छंद या वेद भी है। गमयंति ज्ञापयंति एनाः धर्मादिकम्—क्योंकि वह धर्मादिक को बताते हैं।

व्यंतु=यह क्रियाशब्द वी गति व्याप्ति प्रजन्न कान्त्य सन खादनेषु इस धातु से बना हुआ है। गत्यर्थक होने से जानन्तु यह अर्थ भी हो सकेगा।

(उत) और देवपत्नीः) विद्वानों, श्रेष्ठजनों की पत्नियों (ग्रा.) वेदों को (व्यंतु) जानें। वह विद्वानों की स्त्रियां कौनसी हैं उन को गुणानुसार पृथक्-प्रथक् जतलाते हैं। (इन्द्राणी) ऐश्वर्यशाली मनुष्य की पत्नी (अग्नायी) अग्नि के समान तेजस्वी पुरुष की पत्नी (अश्विनी राट्) प्राप्तव्य, सब प्रजा के आश्रय भूत राजा की पत्नी राणी (रोदसी) रोति उपदिशातीति रुद्रः। उपदेष्टा मनुष्य की पत्नी और (बरुणानी) वरणीय, श्रेष्ठ मनुष्य की पत्नी। यह सब ऐश्वर्यशाली, तेजस्वी, राजा, उपदेष्टा, और वरणीय महात्मा पुरुषों की पत्नियां वेदों को जाने। उन में से प्रत्येक (आशृणातु) भली प्रकार अपने धर्म को सुने और (देवीः) यह देवियां (यः जनीनाम् ऋतुः) जो स्त्रियों का ऋतु काल है उसी समय (व्य-त) मैथुन धर्म के लिए पति के पास जाएं। यत् तत् का नित्य संबंध होने से तस्मिन् उस समय इस का अध्याहार करना होगा।

यदि सायण के अनुसार ग्ना का अर्थ स्त्री और दोनों जगह व्य-तु का अर्थ भक्षयंतु किया जाए तो ग्नाः शब्द की कोई आवश्यकता नहीं रहती क्योंकि देवपत्नीः, देवताओं की पत्नियां इसी से उनका स्त्री होना स्वयं सिद्ध है। इसी प्रकार एक व्य-तु पद निरर्थक होगा, दो जगह भक्षण करें, कहने से कोई लाभ नहीं। अतः सायणदिकों का अर्थ संगत नहीं।

इस वेद मंत्र में बताया गया है कि विवाह के पश्चात् स्त्री वेंदों को भुला न दे परंतु उनको जाने, पतिव्रत धर्म को पूर्णतया सुने, और ऋतुगामिनी रहे ऋतुकाल के अतिरिक्त सदा ब्रह्मचारिणी रहे।

वाचकवृंद ! मैंने उदाहरण के तौर पर चार मंत्र उपस्थित करते हुए इस बात को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया कि वेदाध्ययन करते समय हमारा वेदार्थ करने का मूल आधार यह होना चाहिए कि हम उनके यौगिक अर्थ करें, संस्कृत साहित्य में आए अर्थों के अनुसार संकुचित अर्थ न करें।

वेदों में हीनोपमा तथा लुप्तोपमा

अब हम दूसरी बात पर आते हैं जिसको वेदार्थ करते समय ध्यान में रखना अत्यावश्यक है। यास्क उपमा के दो भेद करते हैं कि एक श्रेष्ठोपमा और दूसरी हीनोपमा। ज्यायसा वा गुणेन प्रख्याततमेन वा कनीयांसं वा अप्रख्यातं वोपमिमीते। अथापि कनीयसा ज्यायसम् नि. 3. 14 अर्थात् किसी महान् या प्रसिद्धतम गुण से छोटे या अपसिद्ध गुण को उपमा देनी। जैसेः—

सूर्यस्येव वक्षथो ज्योतिरेषां समुद्रस्येव महिमा गभीरः
वातस्येव प्रजवो नान्येव स्तोमो वसिष्ठा अन्वेतवे वः

(एषां) इन जितेन्द्रिय महात्मा पुरुषों का (ज्योतिः सूर्यस्य वक्षथः इव) तेज सूर्य के तेज की न्याई है (महिमा समुद्रस्य इव गंभीरः) इनकी महिमा समुद्र की न्याई अथाह है (प्रजवः वातस्य इव) इन की गति, मानसिकगति, वायु की न्याई सर्वत्र व्याप्त है (वसिष्ठाः) इसलिए हे जितेन्द्रिय महापुरुषो ! (वः स्तोमः) तुम्हारी स्तुति, तुम्हारे गुणवखान (अयेन अंतवेतवेन) अन्य साधारण मनुष्य से प्राप्त करने योग्य नहीं। उन के लिए उन सब गुणों का बखान करना ही बड़ा कठिन है, प्राप्त करना तो दूर रहा।

यहां एक महापुरुष की तेजस्विता गंभीरता और ज्ञान बाहुल्य को जतलाने के लिए उस से उत्कृष्ट सूर्य के तेज, समुद्र की गंभीरता और वायु की व्यापकता से उपमा दी है।

इस प्रकार की उपमाएं लोक में और संस्कृत साहित्य में अधिकतर पाई जाती हैं परंतु यहां छोटे से बड़े को उपमा दी हो, नीच से उच्च को उपमा दी हो ऐसी हीनोपमाएं संस्कृतसाहित्य में प्रयुक्त नहीं होतीं। उनका प्रयोग वेद में बहुत पाया जाता है। लौकिक व्यवहार और संस्कृत साहित्य से प्रभावित होने के कारण जब मनुष्य वेद का अध्ययन प्रारंभ करता है उसे ऐसी हीनोपमाएं बड़ी खटकती हैं। उस ने संस्कृत साहित्य में सदा पहले प्रकार की ही उपमाएं पढ़ी और सुनी होती है, उसी प्रकार की उपमाओं में वह पला हुआ होता है। उस के मन में यह बात पूर्णतया जमी हुई होती है कि उपमाएं सदा उच्च ही होनी चाहिए। इसीलिए वेदाध्ययन करते समय जब उस से विपरित हीनोपमाएं दीख पड़ती हैं तो वह असंगत मान होती हैं। उपमा का प्रयोजन यही होता है कि किसी गुण को दूसरी प्रसिद्ध वस्तु के गुण द्वारा स्पष्ट करके समझा सकें। जैसे बुद्ध भगवान् सूर्य की न्याई तेजस्वी था—इस में बुद्ध के महान् तेज को सूर्य की उपमा देकर स्पष्ट किया है। यह स्पष्टता यहां से हो सके की जा सकती है चाहे वह हीनोपमा हो चाहे श्रेष्ठोपमा। वेद के उदाहरण देने से यह बात स्पष्ट हो जावेगी।

सुगु रसत्सुहिरण्यः स्वश्वो बृहदस्मै वय इन्द्रो दधाति
यस्त्वायतं वसुना प्रातरित्वो मुक्षीजयेव पदि मुत्सिनाति

(प्रातरित्वः) हे प्रातःकाल आने वाले अतिथे। (यः) जो मनुष्य (त्वा आयतं) तुझ आए हुए को (मुक्षोजया पदिम् इव) बंधन से जानेवाले मृगपक्ष्यादि की न्याई (वसुना उत्सिनाति) धन से बांधता है वह पुरुष (मुगुः) शोभन धनों वाला-यहां गौ शब्द धनमात्र का उपलक्षण है। ऐसे उपलक्षण वेद में बहुत आते हैं उन पर भी बड़ा ध्यान देना चाहिए। (सुहिरण्यः) अच्छे यशवाला–शतपथ में यशो वै हिरण्यं, तेजो वै हिरण्यम् इन स्थलों पर हिरण्यं को यश और तेज कहा है।

(स्वश्वः) साधु वीर्यवाला–अश्व का अर्थ वीर्य पहले ब्राह्मण का प्रमाण देकर लिख आया हूं (असत्) होता है, और (अस्मै इन्द्रः) इस अतिथि सत्कार करने वाले का परमेश्वरर्यवान् परमात्मा (बृहत् वयः) बड़ी आयु (दधाति) देता है। यहां, अतिथि को धन से बांधे इस उच्च भाव को स्पष्ट करने के लिए एक नीच उपमा दी है कि जैसे पति आदि को बंधन से बांधा जाता है उस प्रकार बांधे। अर्थात् जैसे पक्षि का जाल से बंधन आकस्मिक होता है और दृढ़ होता है इसी प्रकार घर में आए अतिथि का धन से अतिथ्य सत्कार इस प्रकार किया जाए कि उस का एकदम उस से घनिष्ठ संबंध हो जावे। दाता के आतिथ्य सत्कार को देख कर अतिथि अत्यधिक प्रभावित हो और उस के लिए सदा मंगलकामनाएं रखता रहे। यहां संबंध में आकस्मिकता और दृढ़ता दिखलाने के लिए उपरोक्त हीनोपमा दी गई है।

अब वेद मंत्र का भाव बिल्कुल स्पष्ट है कि जो मनुष्य घर में आए अतिथि का आतिथ्य सत्कार बड़े प्रेम तथा दिल से करता है और उसके हृदय को उस दान से अपनी ओर भली प्रकार आकर्षित कर लेता है, वह सुधनवान्, सुर्यशस्वी, सुवीर्यवान, और दीर्घजीवी होता है। उस के धन, उसके यश, उसके वीर्य और उसकी आयु इन चारों की वृद्धि होती है।

इसी अतिथि पूजा की महिमा को प्रदर्शित करते हुए मनु महाराज ने ठीक इस मंत्र का अनुवाद अपने शब्दों में इस प्रकार किया है–

न वै स्वयं तदश्नीया दयितिं यन्न भोजयेत्
धन्यं यशस्यमायुष्यं स्वर्ग्यं वा तिथिपूजनम् 3.10

जो वस्तु किसी अतिथि को न खिला दी गई हो उसका स्वयं कभी भोजन न करे, अर्थात् अतिथि को भोजन कराए बिना गृहस्थी को स्वयं भोजन करना उचित नहीं। यह अतिथि पूजा धन को, यश को, आयु को और अत्यंत सुख को देने वाली है। इसी अतिथ्य सत्कार पर गौतमबुद्ध ने भी बड़ा बल दिया था। लंकाद्वीप के बौद्ध गृहस्थियों में अभी तक यह प्रथा जारी है कि जब तक कोई भिक्षु भिक्षा नहीं ले जाता वह भोजन नहीं करते। वैदिक धर्म में गृहस्थियों के लिए नित्यम्प्रति कर्तव्य पांचयज्ञों में एक अतिथि यज्ञ भी निहित है।

2. येनेमा विश्वा च्यवना कृतानि
यो दासं वर्णमधरं गुहा कः

श्वन्घीव यो जिगीवां लक्ष मादद्
अर्य्यः पुष्टानि स जनास इन्द्रः।

(जनासः) हे मनुष्यो (येन इमा विश्वा च्यवना कृतानि) जिसने इन सब नश्वर लोक लोकांतरों की रचना की है (यः दासं वर्ण) जिसने दर्शनीय रूप को, जीवात्मा को (गुहा अधरं अकः) हृदय में नीचे के ओर स्थापित किया है, अर्थात् जिस के नियमानुसार शरीर धारण करते समय जीवात्मा का निवास स्थान हृदय स्थल होता है। (यः अर्थः) जो सब का स्वामी (जिगीवान्) तथा जयशील (श्वध्नी इव लक्षं आदत्) कुत्ते मारने वाले की न्याई अपने लक्ष्य को ग्रहण करता है, जैसे कुत्ते मारने वाला अभ्यस्त मनुष्य अपने लक्ष्य से कभी चूकता नहीं इसी प्रकार जो अपने प्रारब्ध कर्म में कभी न चूक कर उस को तत्क्षण पूर्ण करता है (पुष्टानि) और जिस से सब नश्वर लोक लोकांतर पुष्ट है, धारित किए हुए हैं (सः इन्द्रः) वह परमेश्वर्यवान् सब का स्वामी परमात्मा है। अर्थात् परमात्मा ही सारी सृष्टि का कर्ता और धर्ता है। यह सृष्टि अविनाशी नहीं परंतु नश्वर है। जीवात्माओं को शरीर धारणा कराने वाला भी परमात्मा ही है। यह जीवात्मा हृदयाकाश में रहता है। सब का स्वामी परमात्मा जिस कार्य को करता है उस में उसे विशेष प्रयत्न नहीं करता पड़ता, वह सब कार्य सहजतया बिना चूकने के पूर्ण हो जाते है। उपरोक्त मंत्र का भाष्य करते हुए जो सायण ने "यो दासं वर्ण मधरं गुहा कः" का अर्थ यह किया है कि जो निकृष्ट दासवर्ण को, शुद्रवर्ण को गुहा में, गुप्त स्थान में, नरक में भेजता है–वह ठीक प्रतीत नहीं देता। जहां ऐसा अर्थ करने से इस का अन्य वेद मंत्रों से विरोध आता है वहां गुहा को गुफा के अर्थ में लेकर पुनः नरक की कल्पना करनी बड़ी क्लिष्ट तथा असंगत है। जो सरल तथा वैदिकभाषा के अनुसार स्पष्ट अर्थ निकलते हों वही करने चाहिए। गुहा हृदयाकाश के लिए सामान्यतः संस्कृतभाषा में भी आता है।

दास की सिद्धि उणादि कोष में "दंसेष्टनौ न ओच" इस सूत्र से की गई है। अर्थात् दर्शनार्थक दसि (दस्) धातु से ट प्रत्यय करके और नकार की जगह आत्व करके दास शब्द सिद्ध किया गया है अतः इसका अर्थ दर्शनीय होगा।

(i) निरुक्तकार ने भी दस्र का अर्थ (6.29) दर्शनीय किया है जो कि उसी धातु से बनता है केवल प्रत्यय में भेद है। दास का अर्थ उपक्षय करने वाला, नाश करने वाला भी होता है परंतु वह "दसु उपक्षये" धातु से बनता है। अतः यह आवश्यक नहीं कि सब जगह दास का अर्थ नीच या तुच्छ मनुष्य ही किया जाए।

सब उपनिषदें एक स्वर से हमें यही बताती हैं कि जीवात्मा का निवास स्थान गुहा-हृदय ही है। दृष्टांत के लिए आत्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम् कठ. 2.20, आत्मा गुहायां निहितोऽस्य जन्तोः श्वेता. 3.20, निहितं गुहायां परमे व्योमन् तैत. 2.1.1 एतद् यो वेद निहितं गुहायाम् मुण्ड. 1.10 इन उपनिषदों में जीवात्मा को हृदय में ही निहित कहा है। तब इस स्पष्ट और संगत अर्थ को छोड़कर सायण का दूसरा क्लिष्ट अर्थ करना उचित प्रतीत नहीं देता। सायण का अर्थ एक और कारण से भी संगत नहीं

है। उपरोक्त मंत्र में पहले परमात्मा को विनाशी वस्तुओं का उत्पादक कहा है। उससे संदेह होगा कि क्या शरीरधारी जीवात्माओं का कर्त्ता भी परमात्मा है ? तब इस का उत्तर अगले भाग में दिया है कि वह दर्शनीयस्वरूप जीवात्मा को हृदय में स्थापित करता है। अर्थात् वह जीवात्माओं को बनाता नहीं, वह तो अनादि हैं केवल उन्हें कर्मानुसार शरीर देते हुए हृदय स्थल में निहित करता है। यह परमात्मा का नियम है कि जब जीवात्मा किसी शरीर में आए तो वह हृदय में रहता है। वहां शूद्रों को नरक में फेंकता है यह प्रकरण कहां से आ जावेगा।

इस वेद मंत्र में हीनोपमा द्वारा सृष्टि रचना में परमात्मा की सहजता स्वाभाविकता, और न चूकने के भाव को स्पष्ट किया है।

इस प्रकार वेद में हीनोपमाओं को प्रयोग बहुत है। उसका अभिप्राय जैसे मैं पहले लिख चुका हूं किसी विशेष गुण का स्पष्ट करना है, उस से वेदों की महत्ता न्यून नहीं हो जाती परंतु बढ़ती ही है।

उपमा के यह दो भेद (श्रेष्ठोपमा, हीनोपमा) शब्दोपमा तथा लुप्तोपमा दोनों प्रकार की उपमाओं के हो सकते हैं। शब्दोपमा भी श्रेष्ठोपमा और हीनोपमा हो सकती है, तथा लुप्तोपमा भी श्रेष्ठ, हीन दोनों हो सकती है। निरुक्त ने लुप्तोपमा को अर्थोपमा के नाम से भी पुकारा है क्योंकि वहां उपमा अर्थ से ही जानी जा सकती है। यह दोनों प्रकार की उपमाएं संस्कृत साहित्य और वेद दोनों में सामान्य हैं। परंतु वेद में उपमावाची कुच्छ एक निपात ऐसे आते हैं जिनका संस्कृत में अन्य अर्थों में ही प्रयोग होता है उपमा अर्थ में नहीं, उनका वेदाध्ययन करते समय बड़ा ध्यान रखना चाहिए। उन निपातों को केवल यहां गिन देता हूं। वह यह हैं—न, चित्, आ, नु। और इव उपमा वाची बड़ा प्रसिद्ध है, परंतु यास्क के कथनानुसार यह पदपूर्ति के लिए भी आता है।

(ii) वेद में लुप्तोपमा की ओर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। इसके भुला देने से हमारे अर्थ कहीं-2 बड़े असंगत से हो जाते हैं। इस की ओर ध्यान न देने से वेदार्थ करने में बड़ी भूलें होती हैं अतः इसे कुच्द एक उदाहरणों द्वारा स्पष्ट करना आवश्यक होगा।

1. **द्यावा नः पृथ्वी इमं सिध्र मद्य दिविस्पृशम्।**
यज्ञं देवेषु यच्छताम्। ऋ. 2. 41. 20

इस का अर्थ सायण ने इस प्रकार किया है कि द्यावा पृथ्वी दोनों स्वर्गादि के साधक, देवों को जाने वाले, इस यज्ञ को आज देवों को देवें।

यह है अर्थ ! जिस में लुप्तोपमा को भुला देने से कोई भी संगति नहीं लगती, वेद मंत्र का कुच्छ भी मतलब ज्ञात नहीं होता। प्रकरण देखने से पता लगता है कि यहां संतानों की शिक्षा का विषय चल रहा है। तब इस का अर्थ यह होगा—(द्यावा पृथ्वी) द्युलोक पृथ्वीलोक के समान सब व्यवहारों को सिद्ध करने वाले पुरुष तथा स्त्री (अद्य) आज (इमं सिध्रं दिविपृस्शं यज्ञं) इस साधक, सर्वोत्तम जीवन को सिद्ध

कराने वाले, और प्रकाश से स्पर्श कराने वाले, ज्ञान रूपी प्रकाश से संयुक्त करने वाले यज्ञ को, अध्यापन यज्ञ को, शिक्षा प्रचार को (देवेषु) श्रेष्ठ गुणों वाले विद्वानों में (यच्छताम्) स्थापित करें। अर्थात् सब स्त्री पुरुषों का यह कर्तव्य है कि वह अपनी संतानों को सुशिक्षित बनाने के लिए सर्वोत्तम जीवन के साधक और ज्ञान का प्रकाश देने वाले सुशिक्षा रूपी यज्ञ का भार श्रेष्ठ विद्वानों को सौंपे।

अब विचारणीय यह है कि 'द्यावा पृथ्वीव्यौ इव स्त्रीपुरुषौ' अर्थ करते हुए द्युलोक पृथ्वीलोक को पुरुषा स्त्री क्यों कहा गया। शतपथ ब्राह्मण में गर्भाधान संस्कार का वर्णन करते हुए पुरुष को द्यलोक, और स्त्री को पृथ्वी के नाम से पुकारा है अतः इस का स्पष्टीकरण ब्राह्मण के वचनों से ही किया जाता है। उसमें लिखा है। "अमोहमस्नि सात्वं, सात्वं, सात्व मस्यमोहम्। सामाहमस्मि ऋकृत्वं, द्योरहं, पृथ्वी त्वं, तावेहि संरभविहे सह रेतो दधावहै पुंसे पुत्राय वित्तये 14.7.5. 19 हे पत्नि मैं प्राण हूं तूं वाणी है। उसी को फिर बल देने के लिए दोहराते हैं। तू वाणी है मैं प्राण हूं, मैं साम हूं तूं ऋक् हैं, मैं द्यौ हूं तूं पृथ्वी है, आओ हम दोनों उद्यम करें, पुंस्त्व पुत्र की प्राप्ति के लिए, वीर्यवान् संतान के लाभ के लिए मिल कर वीर्य धारण करें।

अम और सा का प्राण तथा वाणी अर्थ क्यों किया गया और यहां इन की पुरुषों से तुलना करने का क्या अभिप्राय है यह श. 14.3.1. 24 से ही स्पष्ट होता है। वहां प्राण के भिन्न-2 नाम देते हुए लिखा है।

"एष उ एव साम, वाम् वै सामैष, सा चामश्चेति तत्साम्नः सामत्वम्" प्राण का नाम साम भी है, सा वाणी श्रम प्राण। वाक् शब्द प्रायः करके संपूर्ण इन्द्रियों के प्रतिनिधि रूप में आया करता है अतः यहां वाक् से केवल वाणी ही नहीं लेना चाहिए परंतु यह सर्व इन्द्रियों का बोधक है। प्राण और इन्द्रियों का केवल प्राण अर्थ करते हुए उपनिषद ने यह बतलाया कि इन दोनों में पूर्ण श्रेष्ठ होने के कारण साम का अर्थ प्राण और इन्द्रियों नहीं परंतु केवल प्राण ही किया गया। जब तक प्राण है तब तक इन्द्रियां भी अपने कार्यों में लगी रहती हैं प्राण के बिना इन्द्रियां कुछ नहीं। परंतु यदि प्राण भी हों और इन्द्रियां बिल्कुल न हों तो प्राण भी निरर्थक हो जाते हैं। अतः दोनों का होना आवश्यक है जिस में प्राण मुख्य हैं। इसी प्रकार संतानोत्पत्ति के लिए पुरुष स्त्री दोनों आवश्यक हैं और उन में पुरुष मुख्य है।

आगे पुरुष स्त्री को साम और ऋक् क्यों कहा गया इस का उत्तर निरुक्त के इस वचन से मिलना है, ऋचा समं मे ने 7. 12 ऋक् के समान होने से वेद के तीसरे भाग को साम कहा जाता है। अर्थात् जिस प्रकार ऋक् साम दोनों पद्यबद्ध होने से समान हैं उसी प्रकार ऋक् साम दोनों पद्यबद्ध होने से समान हैं उसी प्रकार स्त्री पुरुष भी समान हैं, उन्हें परस्पर में समता का व्यवहार रखना चाहिए। पुरुष को द्यौ और स्त्री को पृथ्वी क्यों कहा गया इसकी पुष्टि हमें ऋग्वेद के (1. 164. 33) निम्नलिखत मंत्र से मिलती है—

द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत्र
बंधुर्मे माता पृथ्वी महीयम्।
उत्तानयो श्चम्वोर्योनि रन्तरत्रा
पिता दुहितु र्गभमाधत्

निरुक्तकार इस वेदमंत्र का अर्थ वृष्टि कर्म के पक्ष में करते हैं अतः उनके अनुसार इसका अर्थ इस प्रकार होगा–(द्यौः पिता जनिता) द्युलोक-सूर्य मेरा पालक और उत्पादक है (अत्र नाभिः) यहां सूर्य में उत्पत्ति का मूल है (इयं मही पृथ्वी में माता) यह महान् पृथ्वी मेरी माता (बंधुः) और बंधु है (उत्तानयोः) चंबोः अंतः योनिः) इन दूर तक फैले हुए सूर्य और पृथ्वी में से जो योनि है अर्थात् पृथ्वी (अत्र दुहितुः) उसमें दूरस्थित पृथ्वी के (गर्भ आघात्) गर्भ को स्थापित करता है।

सूर्य, पृथ्वी द्वारा ही संपूर्ण औषधि वनस्पतियों की उत्पत्ति होती है। और ओपधिभ्योऽन्नम् अन्नाद्रेतः रेंतसः पुरुषः के अनुसार प्राणिमात्र के उत्पादक यही दोनों हैं। सूर्य रूपी पिता भूमि रूपी माता में वर्षा और किरणों द्वारा गर्भ को स्थापित करता है उसी से वृक्षादि उत्पन्न होते, और वृछि को प्राप्त करते हैं। परंतु परिव्राजक या आत्मनित् संप्रदाय के लोग इस मंत्र को सीधा प्राणियों की उत्पत्ति की ओर लगाते हैं। उनके पक्ष में यहां लुप्तोपमा होगी। अर्थात् जिस प्रकार सूर्य पृथ्वी में गर्भ स्थापित करता है उसी प्रकार पुरुष स्त्री में गर्भ को विहित अर्थात् पुरुष स्त्री में गर्भ को विहित करता है अर्थात् पुरुष स्त्री के संबंध से ही सर्व प्राणियों की उत्पत्ति होती है। वही सबके कारण होते है।

इससे पाठकों को पता लग गया होगा कि द्यावापृथ्वी को पुरुष स्त्री क्यों कहा गया।

2. **सप्त त्वा हरितो रथे वहन्ति देव सूर्य।**
शोचिष्केशं विचक्षण। ऋक् साम् अथ. (अथ.)

यहां लुप्तोपमा न मान कर सायण ने केवल एक ही अर्थ आदित्य के पक्ष में किया है। परंतु संपूर्ण सूक्त को ध्यानपूर्वक पढ़ने से इस सारे सूक्त में श्लेषालंकार जान पड़ता है। प्रत्येक मंत्र के दो-दो अर्थ होंगे' एक आदित्य के पक्ष में और दूसरा परमात्मा विषयक। वह दोनों अर्थ कुछ मंत्रों में तो लुप्तोपमा के बिना ही सिद्ध हो जाते हैं, शेष तीन मंत्रों में लुप्तोपमा द्वारा अर्थ स्पष्ट होते हैं। जिन में से एक मंत्र मैं आप के सामने उपस्थित करता हूं। इस के दोनों अर्थ इस प्रकार होंगे–

(i) (देव विचरण सूर्य) हे स्वयंप्रकाशमान तथा सर्व-प्रकाशक सूर्य (त्वाशोचिष्केशं) तुझ प्रकाशमान रश्मियों वाले को (सप्त हरितः) सात प्रकार की हरण करने वाली, सर्व रसों को हरने वाली खींचने वाली किरणें (रथे वहन्ति) रथ में, सूर्यरूपी रथ के स्वरूप में ले जाती है, खींचती हैं।

सूर्य की सात किरणें क्रमशः जामनी, आस्मानी, नीली, हरी, पीली नारंगी और लाल होती हैं।

(ii) परमात्मा के पक्ष में लुप्तोपमा होगी। हे स्वयं प्रकाशमान ! सर्व प्रकाशक ! सर्वप्रेरक परमात्मन् ! जैसे सूर्य की सात प्रकार की रस हरण करने वाली किरणें रथ के रूप में एक स्थान से दूर स्थान पर ले जाती हैं उसी प्रकार तुम को सात छंद अर्थात् वेद हमारे तक पहुंचाते हैं। वेदों की रचना सात ही छंदों में है यह मैं पहले दिखला चुका हूं। जिस प्रकार सूर्य की सातों किरणें रस हरण करने से हरित् नाम से पुकारी गई हैं, उसी प्रकार सातों छंद, अर्थात् वेदों ने भी संपूर्ण ज्ञान को हरण किया हुआ है, वह ज्ञान के भण्डार हैं, अतः वह भी हरित् नाम से कहे जा सकते हैं। ब्रह्मज्ञान के साधन वेद ही हैं यह इस मंत्र में लुप्तोपमा द्वारा बतलाया गया है। इस प्रकार लुप्तोपमा का प्रयोग वेदों में बहुत पाया जाता है। उस का आश्रय लेने से हमारे वेदार्थ बड़े स्पष्ट हो जाते हैं।

स्वयं वेद की सहायता

किसी अति प्राचीन साहित्य ग्रंथ के अध्ययन की एक यह भी विधि है कि उसी पुस्तक की सहायता से उसकी आलोचना की जाए। उस पुस्तक में एक जगह पर आए हुए शब्द का कुछ अर्थ पता नहीं चलता परंतु दूसरी जगह अन्य स्पष्ट शब्दों के साथ प्रत्युक्त होने से उस शब्द का अर्थ ज्ञात हो जाता है। यही कारण है कि कभी-कभी अकेले शब्द का कोई अर्थ नहीं पता लगता परंतु जब किसी स्पष्ट वाक्य में वह शब्द प्रत्युक्त करके कहा जाता है तो अर्थ बड़ी सुगमता से समझ में आ जाता है। यह नियम इतना व्यापक और सर्व प्रसिद्ध है कि इसकी सिद्धि के लिए तनिक भी प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं। यह नियम स्वयं सिद्ध नियम है। यही कारण है कि आजकल के विद्वानों का यह निश्चित सिद्धांत है कि किसी भाषा को पढ़ने के लिए Direct method को ही प्रयोग में लाना चाहिए। इस विधि से किए गए मंत्रार्थ सबसे अधिक प्रमाणिक होंगे, क्योंकि उस में स्वयं वेद की साक्षि है। उस में और किसी प्रकार का संदेह नहीं उठ सकता। पाश्चात्य वेदाध्येताओं में राय महाशय इसी पक्ष के अधिकतर पोषक हैं।

(ii) वर्तमान युग के वेद में प्रामाणिक स्वामी दयानंद भी इसी सिद्धांत के परिपोषक पता लगते हैं। वह ऋग्वेदादिभष्यि भूमिका के अंतिम भाग में वेदार्थोपयोगी कुछ एक सामान्य नियमों को दर्शाते हुए सब के अंत में इस नियम की ओर से भी इशारा करते है। ''अदितिद्यौरदितिरंतरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः। विश्वेदेवा अदितिः पञ्चजना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम्'' इस ऋग्वेद के मंत्र का उल्लेख करके लिखते हैं ''अस्मिन्मंत्रे अदिति शब्दार्थाः द्यौरित्यादयः संति, तेऽपि वेदभाष्येऽदितिशब्देन ग्राहिष्यंते। नैवास्य मंत्रस्य लेखनं सर्वत्र भविष्यतीति मत्वाऽत्र लिखितम्'' अर्थात् इस मंत्र में अदिति शब्द के अर्थ द्यौ, अंतरिक्ष, माता, पिता, पुत्र, विश्वेदेव पञ्चजन, जात और जनित्व हैं। वह भी वेदभाष्य में अदिति शब्द से लिए जावेंगे। इस मंत्र का लेखन सब जगह नहीं होगा अतः यहां मंत्र लिख दिया है।

यही शैली वेदार्थ करते हुए उन्होंने ग्रहण भी की है। दृष्टांत के लिए ऋग्वेद का पहला ही मंत्र लीजिए। वहां स्वामी जी ने अग्नि शब्द का अर्थ बताने के लिए वेद के तीन मंत्र दिए है, और उन से सिद्ध किया है कि अग्नि का अर्थ परमात्मा भी होता है।

(iii) निरुक्त के पर्यालोचन से पता लगता है कि यास्काचार्य भी इस पक्ष के मानने वाले थे। उन्होंने वेदार्थ करते समय कई शब्दों की व्याख्या के लिए अन्य वेद मंत्रों का आश्रय लिया है उदाहरण के लिए कुच्छ एक यहां उद्धृत करता हूं।

(क) अस्य वामस्य...विश्पतिं सप्तपुत्रम्। इस मंत्र में सप्तपुत्र का अर्थ सातरश्मियों वाला सूर्य, या सर्पणशील किरणों वाला आदित्य करने के लिए "सप्त युञ्जन्ति रथमेक चक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा" मंत्र दिया है (4. 27)

(ख) वृत्र का अर्थ मेघ करने के लिए तथा ऐतिहासिक पक्ष के खण्डन के लिए "दासपत्नी रहिगोपा. मंत्र दिया है (2.17)

(ग) पंचजन का अर्थ पांच प्रकार के मनुष्य जतलाने के लिए "यत्पाञ्चजन्यया विशा" मंत्र उद्धत् किया है (3.8)

(घ) अद्रि शब्द का अर्थ करते हुए "ते सोमादो हरी इन्द्रस्य" मंत्र द्वारा जतलाया है कि यह शब्द अद धातु से बना हुआ है अतः अद्रि का अर्थ अत्ता (भक्षक) भी होगा (4.4)

(ङ) एकपात् सूर्य को कहते हैं यह जतलाने के लिए "एकं पादं नोखिदति,, मंत्र दिया है (12. 29)

इस प्रकार यास्क ने कई स्थानों पर वेद द्वारा ही अर्थ स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है जिस से स्पष्ट है कि वह भी इस विधि को उत्तम समझता था।

मुझे अब अन्य उदाहरण देकर इस सिद्धांत को पुष्ट करने की आवश्यकता नहीं क्योंकि मैंने पहले कुच्छ एक वेदमंत्रों का अर्थ करते समय इस विधि का भी आश्रय लिया है, पाठकगण उसी से इस विधि के मूल्य को समझ गए होंगे।

वेद में उपलक्षण

मैं पहले लिख चुका हूं कि वेद में उपलक्षण का व्यवहार भी बहुत होता है। उसकी सिद्धि के लिए मैं एक वेदमंत्र उपस्थित करता हूं। उससे यह पक्ष पूर्णतया पुष्ट हो जावेगा। ऋग्वेद 10 मण्डल 34 सूक्त में द्यूत का बड़ा भयंकर, हृदयविदारक तथा रोमाञ्चजनक वर्णन करते हुये परमात्मा ने मनुष्यों को उपदेश दिया है कि तुम कभी जूआ मत खेलो, यह महापातक है।

(i) न मा मिमेथ न जिहीळ एषा शिवा सखिभ्य उत मह्य मासीत्। अक्षस्याह मेकपरस्य हेतो रनुव्रतामपजाया मरोधम्।।

(ii) जाया तप्यते कितवस्य हीना माता पुत्रस्यै चरतः क्वस्वित्। ऋणावा विभ्यद् धन मिच्छमानो न्येषा मस्त मुपनक्तमेति।।

(iii) योवः सेनानी महतो गणस्य राजा व्रातस्य प्रथमो वभूव तस्मै कृणोमि न धना रुणध्मि दशाहं प्राचीस्तदृतं वदामि अर्थात्, इस पत्नी ने मुझे पहले कभी दुःख नहीं दिया और नाहीं कभी लज्जित किया है, सदा मेरे मित्रों और मेरे लिए सुख देने वाली रही है, परंतु मैंने एकमात्र जुये के कारण अपनी पतिव्रता स्त्री को छोड़ दिया है।

हीनावस्था को प्राप्त हुई जुआरी की स्त्री पतिवियोग से संतप्त रहती है, उसकी माता पुत्र के कहीं घर से बाहर भटकने के कारण पुत्रवियोग से तड़पती रहती है। वह ऋणी डरता-2 धन की इच्छा से रात्रि को दूसरों के घरों में चोरी के लिए जाता है।

हे अक्षो ! जो तुम्हारे महान् संघ का सेनानी है, जो तुम्हारे अक्ष समूह का मुख्य राजा है उसके लिए मैं दोनों हाथ जोड़ता हूं, आगे से धनों का नाश न करूंगा, यह मैं सच कहता हूं।

इस प्रकार आप सारा सूक्त पढ़ जावें उसमें द्यूत के कारण स्त्री के वियोग, उसकी हीनावस्था तथा धन नाश का चित्र खींचा गया है। द्यूत के इस रोमहर्षण दृश्य को दिखाकर आगे परमात्मा मनुष्यों को उपदेश देते हैं—

अक्षैर्मादीव्यः कृषिमित्कृषस्व वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः।
तत्र गावः कितव तत्र जाया तन्मे विचष्टे सवितायमर्यः।।

इसलिए हे मनुष्य (अक्षैर्मादीव्यः) पाशों से मत खेल, द्यूत क्रीड़ामत कर (कृषि इत्कृषस्व) कृषि ही कर (वित्ते रमस्ववहु मन्यमानः) कृषिजन्य धन को ही बहुत समझकर उसी में रमणकर। उसी धन में संतुष्ट रह, लालच वश होकर जूआ मत खेल (कितव) हे जुआरी ! (तत्र) उसी कृषि में (गावः) सर्व प्रकार के धन है (तत्र जाया) और वहीं स्त्री है।

यहां गो शब्द का क्या अभिप्राय है। पहले जुये से धन और स्त्री के नाश का वर्णन कर चुके हैं। उस दुर्व्यसन से छुड़ाने के लिए कृषि में उन्हीं दोनों वस्तुओं की प्राप्ति बताना आवश्यक है। स्त्री के लिए तो जाया शब्द पड़ा है। दूसरा शब्द गावः है निसंदेह वह धन के लिए आना चाहिए। इससे स्पष्ट है कि यहां गो शब्द धनमात्र का प्रतिनिधि है। गोधन सांसारिक सब धनों में श्रेष्ठ समझा जाता है अतः प्रतिनिधि रूप से उसी का उल्लेख करना उचित है। अर्थात् कृषि से कभी धन नष्ट नहीं होता परंतु उसकी वृद्धि ही होती है, और स्त्री हीनावस्था को प्राप्त नहीं होती, उसका वियोग नहीं होता, परंतु वह सदासमृद्ध होती है और घर में सुख रहता है। (तत् में अयं सविता अर्यः विचष्टे) यह आज्ञा मुझे इस सर्वप्रेरक, सर्व स्वामी परमात्मा ने दी है। यहां परमात्मा ने मंत्र के पहले तीन चरणों को अपनी ओर से रखकर, चौथे चरण को मनुष्य के मुख से कहलाया है कि यह मुझे परमात्मा ने कहा है। इस से पाठकों को स्पष्ट हो गया होगा कि वेद में उपलक्षण का भी प्रयोग है। उसी प्रकार चक्षु या वाक् शब्द इन्द्रियों के लिए आता है। अतः वेदार्थ करते समय इस

नियम का भी ध्यान रखना चाहिए। वेद में धन और शत्रु वाची शब्दों का बड़ा प्रयोग आता है। वहां सदा उनका अर्थ सुवर्ण वस्त्रादि सांसारिक धन और संसार में प्रचलित शत्रु मनुष्य ही कर दिया जाता है। परंतु यह बड़ी भूल है। यह शब्द बड़े व्यापक अर्थों में प्रयुक्त होते हैं। धन और शत्रु से सांसारिक तथा आत्मिक दोनों प्रकार के धन, शत्रु लिए जाते हैं। तपोधन, श्रद्धाधन आदि शब्द प्रसिद्ध ही हैं। मनुष्य के सुगुणों, श्रेष्ठ गुणों के लिए धन शब्द तथा दुर्गुणों के लिए शत्रु शब्द बहुधा प्रयुक्त होता है। यह लोक व्यवहार में भी इतना प्रसिद्ध है कि इस पर कुच्छ भी अधिक लिखकर लेख बढ़ाने की आवश्यकता नहीं। इस का उल्लेख यहां इसलिए कर दिया है कि वेदाध्ययन करते समय हमें इस बात को भी न भुला देना चाहिए।

अध्याहार करना

यहां वेद मंत्र में पढ़े हुये शब्दों से कोई पूरा अर्थ न निकले, वह मंत्र निराकांक्ष न हो, परंतु किन्हीं अन्य शब्दों की आकांक्षा रखता हो तो उन शब्दों का बाहर से अध्याहार कर लेना चाहिए। इस विधि का अनुसरण यास्क ने स्वयं किया है।

i **को नु मर्या अमिथितः सखा सखायमब्रवीत्**
जहा को अस्मदीषते। ऋ. 8. 45. 37

इस मंत्र का संबंध पिछले मंत्रों से है। उस संबध को बिना देखे इसका अर्थ स्पष्ट नहीं हो सकता। अतः पहले उसे देख लेना आवश्यक होगा।

मा न एकस्मिन्नागसि मा द्वयो रुत त्रिषु।
वधीर्मा शूर भूरिषु।

इस वेद मंत्र में मनुष्य परमात्मा से प्रार्थना करते हैं कि हे इन्द्र ! तुम हमें एक, दो तीन पाप करने पर नाश मत करो, और बहुत पाप किये जाने पर भी हमारा घात मत करो। इसी का उत्तर उपरोक्त मंत्र में दिया गया है। (मर्याः कः नु अमिथितः सखा सखायं अब्रवीत्) हे मनुष्यों ! कौन अहिंसित् मित्र मित्र के प्रति ऐसा कहता है कि तुम हमारा नाश मत करो, अर्थात् कोई नहीं। "जहा कः अस्मत् ईषते" इसका अर्थ यास्क ने इस प्रकार किया है "अपापकं जघान कमहं जातु। कोऽस्माद् भीतः पलायते 4.1 (जहा) किस पाप रहित मनुष्य का मैंने कभी नाश किया है और (कः अस्मत् ईषते) कौन पापरहित मनुष्य मेरे से डर कर भागता है ? कोई नहीं। अर्थात् मैं पापियों को ही दण्ड देता हूं, पुण्यात्मओं को नहीं, यदि तुम पाप रहित हो तो तुम्हें किसी प्रकार दण्ड नहीं मिल सकता। परंतु पाप करने पर तो दण्ड अवश्य भुगतना ही पड़ेगा। यहां जहां शब्द के साकांक्ष होने ने यास्क ने अपापकं कम् अहं जातु इस का अध्याहार किया है।

ii **येना पावक चक्षसा भुरण्यंत जना अनु।**
त्वं वरुण पश्यसि। ऋक्, यजु, साम, अथ.।।

(पावक वरुण) हे पावक ! हे अंधकार निवारक सूर्य ! (त्वं येन चक्षसा) तू

जिस प्रकाश से (जनान् भुरण्यंतम) जात प्राणियों को धारण या पोषण करने वाली पृथ्वी को भुरणधारण पोषणयोः (अनुपश्यसि) प्रकाशमान करता है। इतने मात्र से वाक्य समाप्त नहीं होता, अर्थ पूर्ति के लिए किन्हीं अन्य शब्दों की आवश्यकता है अतः यास्क ने " तत्तेवयंस्तुमः" 'तेन नो जनानभिविपश्यसि' (12.25) यह शेष लगाये हैं। अर्थात् उस प्रकाश की हम स्तुति करते हैं, या उस प्रकाश से हम लोगों को प्रकाश देते हो।

इन अध्याहारों और शेषों को सायण, महीधर, स्वामी दयानंद आदि सभी भाष्य-कर्ता मानते हैं। वेदार्थ करते समय यह बात भी ध्यान देने योग्य है। अतः यहां उसका निर्देश कर दिया है। परंतु इस बात को कभी नहीं भुलाना चाहिए कि आध्याहार या शेष वहीं प्रयुक्त होंगे यहां शब्द या वाक्य उतने मात्र से अर्थ पूर्ण करने में असमर्थ हों।

प्रकरणानुसार अर्थ करना

जब सब वैदिक शब्द यौगिक हैं, उन में लुप्तोमायें भी होती हैं, उपलक्षण भी माने जाते हैं, अध्याहार भी किये जाते हैं तो मंत्रार्थों का निश्चय करना बड़ा कठिन होगा। वेदाध्येता जैसा चाहेगा अर्थ कर डालेगा। उसकी इस स्वच्छंदता को रोकने वाला कौनसा नियामक नियम है जिस से यह दोष दूर हो जावे। वह नियामक नियम प्रकरण है। यास्क ने भी इसी बात पर विशेष बल दिया है कि प्रकरण के बिना मंत्रार्थ नहीं करने चाहिए। वह वैदिक शब्दों का निर्वचनप्रकार दिखाकर कहते हैं "नैकपदानि निर्ब्रूयात्" एक पदों का निर्वचन न करें, प्रकरण के बिना पृथक्-2 शब्दों का निर्वचन करके अर्थ न करे। आगे फिर 13.12 में लिखा है "नतु पृथक्त्वेन मंत्रा निर्वक्तव्याः, प्रकरणश एव तु निर्वक्तव्याः" यहीं नहीं कि प्रकरण के बिना पृथक्-2 शब्दों का ही अर्थ न करें। अपितु मंत्रों का भी पृथक्-2 अर्थ नहीं करना चाहिए परंतु प्रकरण को देख कर ही तदनुसार मंत्रों के अर्थ होने चाहिए। इस कसौटी के आधार पर जब हम मंत्रार्थों को परखेंगे तो फिर उस में भूलें नहीं होंगी। पहले मैंने जितने मंत्रों के अर्थ दिखाए हैं वह सब इस को ध्यान में रखते हुए ही लिखे हैं। अब यहां इस अत्यावश्यक नियामक नियम को भुला देने से जो भूलें हो जाती हैं। उस को स्पष्ट करने के लिए एक दो उदाहरण देता हूं।

1. **सर्वे नन्दन्ति यशसागतेन**
सभासाहेन सख्या सखायः।
किल्विषस्पृत् पितुषणिर्ह्येषा
मरं हितो भवति वाजिनाय।

यह ऋग्वेद का 10.71.10 मंत्र है। इसका जो अर्थ सायण ने किया है वह यह है कि समान ज्ञानवाले सब सभ्य मनुष्य सजा को सहन कर सकने वाले, ऋत्विज्ञों के मित्र तथा यज्ञ में आए हुए सोमरस के कारण खुश होते हैं। वह सोमरस इन मनुष्यों के शत्रुओं का नाश करता है या यज्ञ में साधु क्रियाकलाप के न करने से

जो इन को पाप लगता है उसका नाशक है। क्योंकि यजमान जो अन्न, या दक्षिणा विभक्त करता है वह इसी सोम से देता है अतः यह ऋत्विज्ञों को अन्न तथा दक्षिणा का भी देने वाला है। और पात्रों में रक्खा हुआ यह सोम वीर्य देने के लिए पार्याप्त होता है।

यह अर्थ सर्वथा प्रकरण विरुद्ध और असंगत है। इस सारे सूक्त में ज्ञानी की प्रशंसा और अज्ञानी की निंदा है। ज्ञान ही इस सूक्त का देवता या वर्णनीय विषय है। वहां सोमरस की कथा कहां से आ जावेगी। 9 मंत्र तक सायण ने स्वयं उसी विषय के अर्थ किए हैं, अतः उन मंत्रों को यहां दिखाना लाभकर न होगा।

हृदा तष्टेषु मनसो जवेषु
यद्ब्राह्मणाः संयजन्ते सखायः।
अत्राह त्वं विजहुर्वेद्याभि
रोहब्रह्माणों विचरन्त्यु त्वे।

जब विद्वान् ब्राह्मण किसी गूढ़ विषय पर विचार के लिए इकट्ठे होते हैं, वहां उस सभा में से उस मूर्ख मनुष्य को हटा देते हैं, जिस के लिए अभी बहुत कुछ वेदितय है, ज्ञातव्य है। और वह विद्वान् वहां विनिञ्च के लिए प्रवृत्त होते हैं जिन्होंने ब्रह्म का, ज्ञान का विद्याओं का ऊहापोह कर लिया है। नवम मंत्र में अज्ञानी की निंदा की है। तो अब दशम मंत्र में सभा का सहन कर सकने वाला सोमरस कहां से आ जावेगा। अष्टम मंत्र में विद्वानों की सभा में आए हुए विद्वानों और मूर्ख में से मूर्खों का पृथककरण बतलाया, नवम में मूर्खों की निंदा की, तो निःसंदेह दशम में विद्वानों की प्रशंसा होनी चाहिए। अब आप प्रकरण की कसौटी पर रख कर वेद मंत्र का अर्थ कीजिए, देखिए कैसा स्पष्ट है, और सोम शब्द भी बाहर से नहीं लगाना पड़ता।

(सर्वे सखायः) सब विद्वान् लोग (यशसा आगतेन) यश के साथ आए हुए, यशस्वी (सभासाहेन) विद्वानों की सभा का सहन कर सकने वाले (सख्या) मित्र से, विद्वान् से (नन्दन्ति) प्रसन्न होते हैं। (एषां) इन विद्वानों के मध्य में (किल्विषस्पृत्) पापनाशक (पितुषणिः) अन्नदाता और (हितः) हितकारी विद्वान् (वाणिनाय) वाणी का स्वामी होने के लिए, पाणिडत्य प्राप्ति के लिए (अरं भवति) समर्थ होता है। वाचाम् इनः वाजिनः यहां असस्मयादीनि छरदसि सूत्र से पद संज्ञा होने से जश्त्व, च को ज हो जाता है और भ संज्ञा होने से कुत्व नहीं होता। सायण ने स्वयं इसी में...नैनं हिन्वत्त्यपि वाजिनेषु...यहां इसी नियम से शब्द सिद्धि की है। अर्थात् जब यशस्वी और सभ्यतम विद्वान् विद्वत्सभा में आता है तब सब उपस्थित विद्वान् बड़े प्रसन्न होते हैं और वह पापों से दूर, अन्नों का दाता, और सब के लिए हितकारी मेधावी पुरुष अपने पाण्डित्य के लिए पूजित किया जाता है।

(ii) प्रकरण को भुलाकर इससे अगले वेद मंत्र को भी बड़े संकुचित अर्थों में लिया जाता है। याक्षिकों का यही एकमात्र मुख्य मंत्र है जिस से वह अपने यज्ञ

की रचना बताते हैं और इस मंत्र को केवल उन्हीं यज्ञों की ओर लगाया जाता है। अतः उसकी भी समालोचना करनी अपने पक्ष को स्पष्ट करने के लिए आवश्यक होगी। वह मंत्र यह है–

ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान्
गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु।
ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां
यज्ञस्य मात्रां विमिमीत उत्वः।।

इस में होता, उद्गाता, वह्मा और अध्वर्यु के जो कर्तव्य बताए गए हैं वह केवल दृष्टि, यागादि में ही मान लिए गए हैं। अर्थात् यह चार मुख्य कार्यकर्त्ता यागों में होने चाहिए जि के कर्तव्य मंत्र में बताए हैं। और यह चारों संज्ञाएं भी केवल यागों के कार्यकर्त्ताओं के लिए रूढ़ कर दी गई हैं, परंतु प्रकरण के देखने से यह मंत्रार्थ संगत प्रतीत नहीं देता। मैं पहले दिखला चुका हूं कि किस प्रकार अप्टम मंत्र में किसी विचार के लिए विद्वानों की सभा में आए हुए विद्वानों और मूर्खों का पृथक्करण बताया है। नवम में मूर्खो की निंदा, और दशम में विद्वानों की प्रशंसा की गई है। तो अब ग्यारहवें में केवल याग की चर्चा कहां से आजावेगी। अतः वह सभा जो किसी बात के विचारार्थ बैठी है उसका कार्यक्रम किस प्रकार होना चाहिए यही इस मंत्र में वर्णित है। याग करना भी एक प्रकार की सभा है अतः उस में भी यही कार्यकर्त्ता होंगे। इस भूल का मूल कारण यही है कि़ वेद में आए हुए यज्ञ शब्द को बड़े संकुचित अर्थों में ले लिया गया है।

यज्ञ शब्द यज धातु से बना है जिस के देवपूजा, संगतिकरण और दान तीन अर्थ हैं। सायण महीधरादि स्वयं वेद में आये हुए 'यजते' पद का संगच्छते अर्थ भी करते हैं। अतः यहां मनुष्य संगति करें उन सब सभा समाजो को यज्ञ कह सकते हैं। और जब पहले विद्वानों के संगमन का वर्णन भी आ चुका है तो निस्संदेह यहां यज्ञ का अर्थ सभा ही लेना उचित होगा कि नि केवल यागादि।

मंत्र का अर्थ देखिए–(त्वः) एकः (ऋचां) ऋचन्ति स्तुवन्ति यया तासां वर्णनात्मिकानां वाचाम्, ऋच्यंतेस्तूयंते याः विद्यास्तासां वा (पोषं पुपुष्वान्) पुष्टि कुर्वन् (आस्ते) तिष्ठति (स्वः) एकः (शक्वरीषु) ऋक्षु शक्यते वर्णयितुंयया तासु वाणीषु विद्यासु वा (गायत्रं) स्तोतव्यं गेयं वा (गायति) स्तौति, गायति वा (त्वः) एकः (ब्रह्मा) सभापतिः (जातविद्यां) जाते जाते वेदयित्रीं वाचम् (वदति) वक्ति (उत्वः) अपिचैकः (यज्ञस्य मात्रां) मीयते इति मात्रा कर्म ततामितिकर्तव्यताम् (विमिमीते) निर्मिमीते।

अर्थात् उस सभा में मुख्यतः चार कार्य कर्ता होते हैं। एक किसी विद्या पर व्याख्यान देता है। दूसरा उस व्याख्यान में जो उत्तम भाग होता है उस की प्रशंसा करता है, समालोचना करता है, या उस व्याख्यान के समाप्त हो जाने पर गान करता है। तीसरा सभापति समय-2 पर कोई बात उपस्थित हो जाने पर कहता है कि ऐसा करो, और ऐसा न करो। और चौथा उस सभा का संपूर्ण प्रबंध करता है। इन्हीं

के क्रमशः होता, उद्गाता, ब्रह्मा औरव अध्वर्यु नाम हैं। यास्क ने भी इस मंत्र का अर्थ किया है।

वहां यास्क ने जो होता आदि के अर्थ दिए हैं उस से भी उपरोक्त भाव ही पुष्ट होता है। होता=यह शब्द आह्वानार्थक ह्वेञ, और दानार्थक हु, इन दो धातुओं से बनाया गया है (नि. 7.15), अतः आह्वाता और दाता दो अर्थ होंगे। अर्थात् सभा को आह्वान करके, सभा को संबोधन करके बोलने वाला, या व्याख्यानदाता। उद्गाता=गै धातु धातुपाठ में गान अर्थ में और निघण्टु में स्तुत्यर्थक आती है अतः इस के अर्थ गायक या स्तोता, समालोचक दोनों होंगें।

ब्रह्मा="सर्वविद्यः, सर्वे वेदितु मर्हति। ब्रह्मा परिदृढ़ः श्रुततः" अर्थात् ब्रह्मा वह है जो सर्व विद्याओं को जानता है, सब कुच्छ जानने योग्य होता है यह ब्रह्मा शब्द वृद्धयर्थक वृह धातु से बनाया है, जो श्रुत से ज्ञान से बढ़ा हुआ हो। अर्थात् उपस्थित मनुष्यों में जो सब से अधिक विद्यावान् ज्ञानवान् हो वह ब्रह्मा या सभापति बनाया जावे।

अध्वर्यु="अध्वर्युरध्वरयुरध्वरं युनक्त्यध्वरस्य नेता अध्वरं कामयत इति वा, अपि वाधीयाने युरुपबंधः" अध्वर्यु=अध्वरयु, जो यज्ञ को युक्त करता है, अर्थात् यज्ञ का नेता अथवा जो यज्ञ करने की इच्छा रखता हो—यहां इच्छा अर्थ में यु प्रत्यय है; जैसे वसुयु (वसु कामयते) में होता है। अथवा पढ़ने अर्थ में यु प्रत्यय है, जो यज्ञ को पढ़ने वाला हो, अर्थात् जो सभा में यह उद्घोषित करे कि यह सभा कैसी है इस में क्या क्या होगा, या जो सभा की विद्या को जानता हो अर्थात् सभा का प्रबंधकर्ता।

प्रत्येक सभा में सभापति, व्याख्यानदाता, समालोचक या गायक और प्रबंधकर्ता मुख्यतः यही चार व्यक्ति सभा में भाग लेने वाले होते हैं। उन्हीं का यहां वर्णन है।

3. **ईखयंतीरपस्युव इन्द्रं जातमुपासते।**
भेजानासः सुवीर्यम्।।

यह वेदमंत्र ऋग्वेद (10.153.1) सामवेद (पू. 2) अथर्ववेद (20.93) तीनों में आता है।

इसका अर्थ प्रकरण को भुलाकर सायणाचार्य इस प्रकार करते हैं कि स्तुत्यादिकों से इन्द्र को प्राप्त होती हुई, और कर्म की इच्छा रखती हुई इन्द्र की माताएं प्रादुर्भूत इन्द्र की परिचर्या करती हैं, और पुष्टिदायक धन को उस इन्द्र से विभक्त कराती हैं, प्राप्त करती हैं। परंतु पाठकगण ! इस से अगले मंत्रों में देखिए किसका वर्णन है—

त्वमिन्द्रासि वृत्रहा व्यंतरिक्षमेतिरः।
उद्यामस्तभ्नाओजसा।।

हे इन्द्र ! तूं दुष्टों को दण्ड देने वाला है, तूने अंतरिक्ष को विस्तृत किया, और तूने अपने बल से द्युलोक को नियम में रक्खा हुआ है।

त्वमिन्द्राभिभूरसि विश्वा जातान्योजसा।
स विश्वा भुव आभवः।।

हे इन्द्र ! तूं अपने बल से संपूर्ण सृष्टियों का अभिभवकर्ता है। और वह तू सकल लोकों में व्याप्त है।

इस वर्णन से निस्संदेह इन्द्र का अर्थ परमात्मा होगा क्योंकि वही सर्वत्र व्यापक है। और सृष्टि का कर्ता धर्ता है। तो उपरोक्त मंत्र में इंद्र की माताएं कहां से आजावेंगी। क्या परमात्मा की भी माताएं हैं ? अतः इस प्रकरण को देखकर मंत्र का अर्थ यह होगा—ईङ्यन्तीः) ईखि धातु से बना है जिस का अर्थ गति अर्थात् ज्ञान, गमन, प्राप्ति हैं। अतः जानन्तयः—ज्ञानशीला (अपस्युवः) कर्मशीला और (भोजनासः) भजमानाः—भक्तिमती देखिए—भज सेवायाम् (सुवीर्य) सुपराक्रमी और (जातं) प्रसिद्ध (इन्द्रं उपासते) पत्मेश्वर्यवान् परमात्मा के समीप बैठती है।

परमात्मा के समीप पहुंचने के यही तीन साधन है। बिना ज्ञान के, बिना कर्म के, या बिना भक्ति के कोई मनुष्य ईश्वर के समीप नहीं जा सकता। इस वेद मंत्र में ज्ञान, कर्म, भक्ति यही तीन साधन जतलाकर परमात्मा नारियों या प्रजा मात्र को उपदेश देते हैं कि इन्हीं के अवलंबन से तुम लोग मेरे निकट पहुंच सकते हो। इसके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं।

इन थोड़े से उदाहरणों से पाठकों को भली प्रकार विदित हो गया होगा कि प्रकरण वेदार्थ करने में कितना अधिक सहायक है और उसको भुला देने से हमारे अर्थ कितने असंगत होते हैं।

विद्याओं का ज्ञान

वेदार्थ करने के लिए सर्व प्रकार के विद्याओं का ज्ञान होना भी आवश्यक है। जब हम संसार में प्रत्यक्ष देखते हैं कि जब तक किसी ने कोई विज्ञान सीखा न हो वह उस विज्ञान की पुस्तक को स्वमेव कभी नहीं समझ सकता तो यह कैसे संभव हो सकता है कि केवल भाषा के परिज्ञान हो जाने से वेदों में आए हुए वैज्ञानिक, दार्शनिक मंत्र भी समझ भी आ सकेंगे। कोई मनुष्य चाहे कितना ही आंगल भाषा का पंडित क्यों न हो परंतु यदि उसने ज्योतिष, वैद्यक, विज्ञान, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि विद्याओं का बिल्कुल अध्ययन नहीं किया वह कैसे स्वयंमेव उन विद्याओं की पुस्तकों को समझ सकता है। भाषा से पूर्णतया परिचित होने पर भी मनुष्यों का सारा जीवन खप जाता है। परंतु फिर भी सर्व विद्याओं की पुस्तकें स्वयं नहीं पढ़ सकते। तो क्या वेद जिनमें अनेक विद्याओं का वर्णन पाया जाता है, और वह भी विस्ताररूप से नहीं परंतु अतिसंक्षिप्त मूलरूप में वह बिना उन विद्याओं के ज्ञान के समझ में आ सकते हैं ? कभी नहीं। उन विद्याओं के न आने से मंत्रार्थ जान सकने की शक्ति हम में नहीं, परंतु कहा जाता है कि अमुक वेदमंत्र ऊटपटांग हैं। ठीक है, ऐसी अवस्था में तो वह असंगत ही दीखेंगे। हां, यदि किसी को रसायन से अपरिचित होने के

कारण एलेग्जेन्डर स्मिथ की पुस्तक स्वयमेव पढ़ने से समझ में नहीं आती और उससे वह वैज्ञानिक पुस्तक ऊटपटांग बन जाती है तो उन अर्थों में वेदमंत्र भी ऊटपटांग हैं। मनुष्य प्रायः आशंका किया करते हैं कि जो कोई वैज्ञानिक सिद्धांत पता लगाता है वही वेदों में से निकाल दिया जाता है। यदि उन में सचमुच वह विज्ञान है तो पहले ही क्यों नहीं बतलाया जाता। उनकी यह आशंका वैसी ही है जैसे कोई बिना पहले कभी गौ को देखे या सुने यह कह दे कि अमुक गौ है। यदि उसको गौ का ज्ञान हो जाने पर वह कहीं खड़ी गौ को देख कर यह कह दे कि देखो वह गौं है, वहां उसके ज्ञान से पूर्व गौ का अस्तित्व नहीं मिट जाता, तो वेद में आए हुए, उस वैज्ञानिक सिद्धांत की उपस्थिति भी हमारे अज्ञान से दूर नहीं हो जाती। जिस मनुष्य ने कभी गौ को देखा ही नहीं वह कैसे बिना किसी के समझाए उस को जान सकेगा। इसी प्रकार जब तक हम किसी विद्या को जानते ही नहीं हम कैसे स्वयंमेव उसे वेदमंत्र में समझ सकेंगे। परमात्मा ने ज्ञान दिया वह सब की समझ में आनाजाना चाहिए। यह ठीक है, परंतु बिना किसी से पढ़े कैसे ज्ञान उपलब्ध हो सकता है। पहले जब परमात्मा ने अपना वेदरूपों ज्ञान ऋपियों को दिया उन्होंने उसका वहुत प्रचार किया। उस अध्यापन से परमात्मा का ज्ञान अन्य मनुष्यों तक पहुंचा। अब जब वेद का प्रचार लुप्त हो चुका है तब कैसे वह ज्ञान उपलब्ध किया जा सकता है। किसी भी विद्या के सीखने का एक मात्र उपाय यही है कि गुरुमुख से अध्ययन किया जावे। वेद के इस समय यदि गुरुजन नहीं मिलते तो यही उपाय हो सकता है कि पहले अन्य सब विद्याओं की शिक्षा ग्रहण कर ली जावे पुनः उसके आधार पर वेदार्थ समझने का प्रयत्न किया जावे। इसके सिवाय हमारे पास अन्य कोई विधि नहीं। जो जितना अधिक ज्ञानवान् होगा उतनी ही उसे वेदार्थ करने में अधिक सुगमता होगी। इसी बात को निरुक्त ने भी दर्शाया है। वह लिखता है ''नह्येषु प्रत्यक्षमस्त्यनृषेरतपसो वा, पारावर्य वित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्योभवति 13.12, 1.16। वेदार्थों का प्रत्यक्ष ऋषि और तपस्वी के बिना किसी को नहीं होता। गुरु परंपरा से जानने वालों में तो जो अधिक विद्यावान् होगा वही प्रशस्त समझा जाता है। अर्थात् वेदार्थों का साक्षात्कार तो ऋषि और तपस्वियों को होता है इतर मनुष्यों में जो अधिक विद्याओं को जानने वाला होगा वही वेदार्थ करने में शक्त हो सकता है। इससे स्पष्ट है कि वेदार्थ करने में शक्त हो सकता है। इससे स्पष्ट है कि वेदार्थ ज्ञान के लिए अन्य विज्ञानों, विद्याओं का जानना भी आवश्यक है। हमारे सभी प्राचीन धार्मिक और वैज्ञानिक ग्रंथ यही कहते हैं कि उनका मूल वेद ही है। अतः उनके पर्यालोचन से भी कहीं-2 वेद मंत्रों के अर्थ स्पष्ट हो जाते हैं। इसके एक दो उदाहरण लिख चुका हूं। अब इस विधि की स्पष्टता के लिए कुछ वेदमंत्र और पेश करता हूं।

1. **एकं पादं नोत्खिदति सलिलाद्धंस उच्चरन्।**
   यदंग स तमुत्खिदे न्नैवाद्य न श्वः स्यात्
   न रात्री नाहः स्यान्न व्युच्छेत् कदाचन। अथ. 11.421

सलिलम् इसकी सिद्धि दो तरह से की जाती है। एक सत् और लिल दो शब्दों के योग से, और दूसरी गत्यर्थक सल धातु से औणादिक इलच् प्रत्यय करने से। ली धातु से लक्प्रत्त्यय करके लिल बनाते हैं जिसका अर्थ लीन होता है, इसीलिए मलिलम् का सभ्दावे लीनं अर्थ बहुधा किया जाता है। यहां सच्च लिलं चेति सलिलम् द्वंद्व समास होगा। हंस—हंति गच्छतीति हंसः।

(हंसः) गतिशील सूर्य (सलिलात् उच्चरन्) गतभाव से, अस्तंगत भाव से, या उस दशा से जिस में उसकी सत्ता तो विद्यामान है परंतु अस्त हो जाने के कारण उस लोक के मनुष्यों के लिए लीन है (उच्चरन्) उदित होता हुआ (एकं पदं) अपने एक पैर को (न उत्खिदति) नहीं उठाता। (अंग) हे मनुष्यों ! (यत् सः) यदि वह सूर्य (तं उत्खिदेत्) उस एक पैर को उठाले तो (नैव अद्य न श्वः स्यात्) न आज हो, न कल (न रात्रिः न अहः स्यात्) न रात्रि हो न दिन हो (न व्युच्छेत् कदाचन व्युच्छनम् उषसः प्रादुर्भावः। और नाहीं कभी उषःकाल हो।

तै. ब्रा. में सूर्य को अजः और एकपाद्र कहा है। तं सूर्येदेवमजमेकपादं 3. 1. 29। सूर्य के नाम अज एकपाद्र की व्याख्या करते हुए यास्क ने लिखा है 'अजनः एकः पादः' यहां अज का अर्थ अजन्मा नहीं, परंतु गतिमान् है। अर्थात् सूर्य गति करने वाला है और इस का एक ही पैर है। जो अर्थ निरुक्त ने अज का किया है वहीं उपरोक्त मंत्र में हंस शब्द से जतलाया गया है। अब मंत्र का आशय बिल्कुल स्पष्ट है कि सूर्य गति तो करता है परंतु अपने पैर को उठाकर दूसरी जगह नहीं जाता, अर्थात् अपनी परिधि में ही घूमता रहता है। यदि ऐसा न हो तो आजकल, दिन रात, उषा आदि कोई काल विभाग नहीं हो सकता। इस प्रकार इस वेदमंत्र में चार बातों का ज्ञान दिया गया है। सूर्य उदय, अस्त होता है। उस के अस्त होने से उसकी सत्ता में किसी प्रकार का भेद नहीं पड़ता, वह केवल उस लोक के मनुष्यों की दृष्टि में लीन होता है। ii गति करने वाला है। iii परंतु यह गति अपनी परिधि में ही होती है। iv इसी गति के कारण दिन रात, उषा आदि काल बनते हैं।

अब यदि हमें सूर्य अपनी परिधि में घूमता है इस बात का पहले परिज्ञान न हो तो इस मंत्र का समझना सर्वथा दुष्कर होगा।

2. इषिरेण ते मनसा सुतस्य भक्षीमहि पित्र्यस्येवरायः।
सोम राजन् प्रण आयूंषि तारी रहा नीव सूर्यो वासरणि।।

(ऋ. 8. 48. 7) (सोम) हे सकलजगदुत्पादक परमैश्वर्यवान् परमात्मन् ! षु प्राणिप्रसवैश्वर्ययोः के अनुसार षुधातु दोनों अर्थों में आती है। (इषिरेण मनसा) तेरे में लगे हुए मन से—यास्क ने इषिरेण का अर्थ ईषणेन करते हुए गत्यर्थक ईष धातु से भी बनाया है अतः गतवा प्राप्तवता मनसा यह अर्थ किया है। (ते सुतस्य) तुझ से उत्पन्न पदार्थों का (पितयस्य रायः इव) अपने पिता के धन की न्याई (भक्षीमहि) उपभोग करें। अर्थात् जिस प्रकार पिता के धन सुपुत्र अपने भोग के लिए स्वेच्छा वर्त सकता है उसी प्रकार हे प्रभो हम भी तुम्हारे धन को तुम्हारे में मन लगाते हुए,

तुम्हारे सुपुत्र कहलाते हुए ही वर्ते। (राजन्) हे सब के स्वामिन् प्रभो ! (सूर्यः वासरानि अहानि इव जैसे सूर्य बड़े दिनों में बढ़ाता है वैसे नः आयू षि प्रतारीः) हमारी आयुओं को बढ़ाओ। यास्क ने वासर का अर्थ गमनानि करते हुए। (4.7) विधि पूर्वक सृ धातु से इस की सिद्धि जतलाई है। अर्थात् जो दिन विसृत हों, विस्तृत हों वह बड़े दिन। यहां आयु वृद्धि के लिए बड़े दिनों की उपमा देनी सभी समझ में आ सकती हैं यदि हमें सूर्य के चारों तरफ पृथ्वी के घूमने पर आदित्य किस प्रकार वासरों को बनाता है इस बात का भली प्रकार परिज्ञान हो।

3. साकं यक्ष्म प्रपत चाषेण किकिदीविना।
साकं वातस्य ध्राज्या साकं नश्य निहाकया।।

यह वेदमंत्र यजुर्वेद (12. 97) ऋग्वेद (10.97.13) दोनों में पाया जाता है। ऋग्वेद के इस सूक्त में सारे 23 मंत्र हैं। यही युजर्वेद में 12.75—101 तक है, और चार मंत्र 97 से 100 तक ऋग्वेद से अधिक हैं।

(यक्ष्म) हे यक्ष्म रोग ! त्वं (चाषेण साकं) चषवधे, चषति व्याकुलं कृत्वा हंतीती चाषस्तेन पित्तरोमेन सह (प्रपत) गच्छ (किकिदीविना) कफावरुद्धकण्ठोस्थ ध्वनेरनुकरणार्थः किकिशब्दः किकिना तेन ध्वनिविशेषण दीव्यति व्यवहरतीति किकिदीविस्तेन कफरोगेण सह गच्छ (वातस्य ध्राज्या) वातस्य गत्या वातरोगेण सह (नश्य) नष्टो भव। ध्रजगतौ (निहाकया) निहतोऽस्मि हा कष्टमिति कायति, अथवा नितरां हाहा इति कायति शब्दंकरोति यया रुजा सा सिहाका तथा सन्निपातरोगेण सह नष्टो भव। निहापूर्वकात् शब्दार्थकात् कै धातोः क्विप् प्रत्ययः। अर्थात् हे रोगाधिराज क्षयरोग ! तू व्याकुल करके मारने वाले पित्तरोग, कफ से रुके हुए कष्ट की ध्वनि से युक्त कफ रोग, वातरोग तथा जिस रोग से पीड़ित होने पर रोगी "मर गया, कहा बड़ा कष्ट है ऐसा चिल्लाता है। या बारंबार हाहाकार करता है उस सन्निपातरोग के साथ मेरे शरीर से निकल जावो, नष्ट हो जावो।

क्षयरोग रोगों की खानि है। वैद्यक में सब रोगों को वात, पित, कफ और सन्निपात इन चार विभागों में विभक्त किया हुआ है। उन्हीं चार प्रकार के रोगों को यहां गिन दिया है। अतएव इन चारों रोगों के साथ क्षयरोग से छुटकारा पाने की प्रार्थना की गई है।

स्वामी जी ने इस मंत्र का अर्थ दूसरी तरह से किया है। उन के अनुसार अर्थ करने से पूर्व शब्दों की सिद्धि दे देनी आवश्यक होगी। चाष=चष भक्षणे, भक्षणार्थक चष धातु से यह शब्द सिद्ध किया गया है। किकिदीवि=कि ज्ञाने, ज्ञानार्थक यङ्लुगंत कि धातु से क्विप्। यङ् होने से कि कि द्वित्व हो जावेगा। किकिना अत्यर्थ ज्ञानेन दीव्यते व्यवह्रियते दीयते इति किकिदीविः। किकि पूर्वक दिव् धातु से औणादिक क्विन् प्रत्यय। निहाका नितरां जहाति त्यजति रोगादिकं यया सा निहाका, अर्थात् व्यायाम। ओहाक् त्यागे, नि पूर्वक हा धातु से औणादिक कन् प्रत्यय।

(यक्ष्म) हे क्षयरोग तू (किकिदीविना चाषेण सह) सोच समझ कर ज्ञान पूर्वक

दिए हुए भक्षण से, औषधि सेवन से (प्रपत) दूर हो (वातस्य ध्राज्या साकं) वायु की गति से अर्थात् प्राणायाम से दूर हो (निहाकया साकं नश्य) और रोगों को दूर करने वाले व्यायाम से नष्ट हो। अर्थात् रोग से मुक्त होने के तीन साधन हैं–ज्ञानपूर्वक औषध सेवन, प्राणायाम, और व्यायाम। व्यायाम के बारे में भाव प्रकाश (1, 4.57, 73) में लिखा है। व्यायामदृढ़गात्रस्य व्याधिर्नास्ति कदाचन। अर्थात् व्यायाम से संगठित शरीर वाले को कभी रोग नहीं होता। ii व्यायाम क्षुण्ण वपुषं पद्रभ्यां संपर्दितं तथा व्याधयो नोपसपन्ति वैनतेय मिवोरगः।। व्यायाम से संगठित शरीर वाले, और पावों में तेल की मालिश करने वाले मनुष्य के पास रोग ऐसे ही नहीं आते जैसे गरुड़ के समीप सर्प।

4. **त्वां गंधर्वा अखनं स्त्वामिन्द्रस्त्वां वृहस्पतिः।**
त्वामोषधे सोमो राजा विद्वान् यक्ष्मादमुच्यत।।

इस यजुर्वेद के मंत्र का अर्थ सायण, महीधर उवट ने यही किया है कि हे ओषधे ! तुझे गंधर्व, इंद्र बृहस्पति और सोम यह देवता विशेष खोदते हैं। परंतु यदि हमें वैद्यक से परिचय हो तो इसका अर्थ बड़ा स्पष्ट है।

(ओषधे) हे ओषधे ! तुम्हें (गंधर्वाः) गां आयुर्वेदवाचं धारयंतीति गंधर्वाः, वाणी को आयुर्वेद वाणी को धारण करने वाले, वैद्यक को भलीप्रकार जानने वाले वैद्य (अखनन् खोदते हैं। त्वां इन्द्रः) तुझ को रोगों के निदानादि को देखने वाला, जानने वाला, इदं दर्शनात् व्युत्पत्ति से यह अर्थ होगा (त्वां वृहस्पतिः) तुझ को वेदवेत्ता, या बृहतः महतो पि रोगा त्पाता वा पालयिता वा, बड़े से बड़े रोग से भी रक्षा करने वाला (त्वां राजा सोमः विद्वान्) और तुझ को औषधियों का राजा तथा शांत स्वभाव वैद्य जानता हुआ, किस-2 समय कहां से और कैसे औषधियां खोदकर लानी चाहिए इस बात को जानता हुआ खोदता है। और फिर उन दी हुई ओषधियों से रोगी पुरुष (यक्ष्मान् असुच्यत) क्षयरोग से मुक्त हो जाता है। धन्वंतरीय निघण्टु में वैद्य का लक्षण करते हुए कहा है।

वैद्यः श्रेष्ठोगदंकारी रोगहारी भिषग्विधः।
रोगज्ञो जीवनो विद्वानायुर्वेदी चिकित्सकः।।

यह श्लोक बिल्कुल उपरोक्त मंत्र का अनुवाद है। गंधर्व=आयुर्वेदी, इन्द्र=रोगज्ञ, वृहस्पति=अगदकारी (रोगरहित करने वाला) रोगहारी, जीवन (जीवन दाता) सोम=श्रेष्ठ, राजा=भिषग्विध, विद्वान्=विद्वान्।

औषधि खनन के बारे में भी उसी निघण्टु में लिखा है–

यथावदुत्खाय शुचिप्रदेशजाः
द्विजेन कालादिकतत्ववेदिना।
यथायथं चौषधयो प्रयोजिताः
प्रत्याहरंते यमगोचरादपि।।

अर्थात् कालादिक को जानने वाले ब्रह्मण से नियमपूर्वक शुद्ध स्थान में उत्पन्न

औषधियां खोद कर, विधि पूर्वक रोगी को दी हुई उसे मृत्यु के मुख से भी छुड़ा देती है। कामनानुसार औषिधियां उखाड़ कर रोगी को दी हुई लाभ कर होती हैं इस की साक्षि हमें बौद्ध इतिहास से भी मिलती है। गौतमबुद्ध के समकालीन अतिमवीण और प्रसिद्धतम वैद्यशिरोमणि जवक को कौन नहीं जानता। उज्जयिनि के राजा प्रद्योत का असाध्य पाण्डुरांग दूर करते समय उसने राजद दण्ड से बचने के निमित्त औषध देते ही भाग जाने के लिए बहाना ढूढ़ कर राजा को कहा 'मयं खो देव ! वेज्जा नाम ताद्दिसेन मुहुत्तेन मूलानि उद्धराम, भेजज्जानि सहराम...महावग्ग 8.1 हे देव। हम व वैद्यलोग मुहूर्तानुसार मूलों और भैषज्यों को उखाड़ते हैं, अतः आप कर्मचारियों को आज्ञा देवें कि मैं जिस सवारी से, जिस द्वार से और जिस समय बाहर जाना चाहूं जाने दें। इस से स्पष्ट है कि औषधियां प्रत्येक स्थल से या प्रत्येक समय में उखाड़ी हुई गुणकारी नहीं होतीं। उन के लिए विशेष विद्या की आवश्यकता है। पूर्ण वैद्य ही उससे अभिज्ञ होने के कारण स्वयं औषधियां उखाड़ कर प्रयोग में लाते हैं, और उस [illegible] लाभ होता है। यही बात उपरोक्त मंत्र में वर्णित है।

5. अन्या वो अन्यामवत्वन्या न्यस्या उपावत
ताः सर्वाः संविदाना इदं में प्रावता वचः।

(वः) हे ओषधिओं ? तुम्हारे मध्य में (अन्या) एक ओषधि (अन्यां अस्तु) दूसरी ओषधि में प्रविष्ट हो या उस की रक्षा करे--अब धातु और प्रवेश दोनों अर्थों में आती है। (अन्या) वह अन्य औषधि, दूसरी औषधि (अन्यस्याः) उपावत) तीसरी के प्रभाव को समीप जाकर रक्षा करे—यहां उपवत पुरुष और वचनव्यत्यय है, उपावत की जगह मध्यम पुरुष का बहुवचन है (ताः सर्वाः) वह सब औषधियां (संविदानाः) संगच्छ मानाः, परस्पर मिली हुई (मे इदं वचः) मेरे इस वचन को जो अगले मंत्र मे रोग से मुक्त होने की प्रार्थना की गई है उसको (प्रावत) रक्षित करो। अर्थात् तुम सब मिली हुई रोगी के रोग को दूर करो। इस मंत्र में दर्शाया गया है कि कई भिन्न-2 ओषधियां मिलकर भी अपना प्रभाव डालती हैं ii और एक औषधि दूसरी में मिली हुई उसके गुण को तो रहने देती हैं, और दोष को दूर कर देती है।

इसी सूक्त के एक मंत्र में भिषक् का लक्षण बड़े सुंदर शब्दों में इस प्रकार किया है।

6. यत्रौषधी समग्मत राजानः समिताविव।
विप्रः स उच्यते भिषग् रक्षोहाऽमीवचातमः।।

(समितौ राजानः इव) जिस प्रकार राजा या क्षत्रिय लोग संग्राम में इकट्ठे होते हैं, उस प्रकार (ओषधीः) हे ओषधियों तुम (यत्र) जिस पुरुष में (समग्मत) इकट्ठी होती हो (सः) वह (रक्षोहा) रक्षसां हंता, रोग पैदा करनेवाले क्रिमियों का नाशक (अमीवचातनः) अमीवानां चातनः, और रोगों का विनाशक (विषः) मेधावी ब्राह्मण (भिषक्उच्यते) भिषक् कहलाता है। रोग उत्पन्न करने वाले क्रिमियों के लिए भी रक्षस् शब्द वेद में बहुत्र प्रयुक्त होता है। यास्क ने इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार की

है—रहो रक्षितव्यम् अस्मात्, रहसि क्षणोतीति वा 4.18 इन क्रिमियों से अपने आप को सदा बचाना आवश्यक है नहीं तो बड़े हानिकर होते हैं, और यह गुप्त तौर पर प्राणि का हनन करते हैं। इन दोनों कारणों से इनका रक्षस् नाम है।

ब्रह्मणाग्निः संविदानो रक्षोहा बाधतामितः।
अमीवा यस्ते गर्भं दुर्णामा योनिमाशये।।

यह वेदमंत्र ऋग्वेद (10.162.1) अथर्ववेद (20. 96.11) दोनों में पाया जाता है। इस में गर्भस्राव से सुरक्षा की प्रार्थना की गई है। 'यस्ते गर्भममीवा दुर्णामा योनिमाशये' इस मंत्र की व्याख्या करते हुए यास्क ने दुर्णामा क्रिमिभवंति पापनामा (6.12) कहकर दुर्णामा को कृमि विशेष का नाम बताया है। अतः रक्षोहा का अर्थ रक्षसों का, क्रिमियों का नाश करने वाला ही होगा। जिससे स्पष्ट है कि रक्षस् का अर्थ क्रिमि भी होता है। अमोवा रोग, तथा रोग उत्पन्न करने वाले क्रिमि इन दोनों अर्थों में आता हैं, अतः उपरोक्त मंत्र में अमीवचातनः का अर्थ रोगों का विनाशक किया गया है क्योंकि क्रिमिनाशाक तो रक्षोहा से ही कह दिया गया है। संपूर्ण रोगों को वैद्यकविज्ञान ने दो विभागों में विभक्त किया हुआ है। एक क्रिमियों (jerms) के कारण उत्पन्न होने वाले रोग, और दूसरे बिना क्रिमियों के। यहां दो विभाग वेद ने किए हैं। उपरोक्त वेद मंत्र का ठीक-2 आशय बिना वैद्यक जाने नहीं आ सकता। उसे मैं वैद्यक पुस्तकों से ही स्पष्ट करूंगा। "समितौ राजानः इव" इस उपमा की व्याख्या राजनिघण्टु 20 वर्ग 50 श्लोक में इस प्रकार की है—

राजानो विजिगीषया निजभुजप्रकान्तमोजोदयात्
शौर्यं संगररंगसद्मनि यथा संविभ्रते संगताः।
यस्मिनौषधयस्तथा समुदिताः सिध्यंति वीर्याधिकाः
विप्रोसौ भिषगुच्यते स्वयमिति श्रुत्यापि सत्यापितम्।।

अर्थात् जिस प्रकार राजा लोग विजय कामना से संग्राम रूपी रंग स्थली में एकत्रित हुए। उत्साहादि ओज के अविर्भूत होने पर निज भुजवल से उत्पन्न शौर्य को धारण करते हैं उस प्रकार जिस पुरुष में उसी तरह इकट्ठी हुई ओषधियां अधिक वीर्य वाली सिद्ध होती हैं वह विप्रभिषक् कहलाता है इसे स्वयं वेद ने भी प्रमाणित किया है।

इस वेदमंत्र को चरक के सूत्रस्थान 1 म अध्याय में इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—

1. **ओषधीर्नामरूपाभ्यां जानते ह्यजपा वने।**
   अविपाश्चैव गोपाश्च ये चान्ये वनवासिनः।।
2. **न नामज्ञानमात्रेण रूपज्ञानेन वा पुनः।**
   ओषधीनां परां प्राप्तिं कश्चिद्वेदितुमर्हति।।
3. **योगविन्नामरूपज्ञ स्तासांतत्वविदुच्यते।**
   किं पुनः यो विजानीयादोषधीः सर्वथा भिषक्।।

4. योगमासांतु यो विद्याद् देशकालोपपादितम्।
पुरुषं पुरुषं वीक्ष्य स विज्ञेयो भिषत्क्रमः।।
5. स चैव भिषजां श्रेष्ठो रोगेभ्यो यः प्रमोचेत्।

गड़रिये, चरवाहे, ग्वाले—तथा अन्य सब वनों में रहने वाले लोग औषधियों के नाम, रूप को अच्छी तरह जानते हैं। परंतु केवल नाम के जानने से अथवा औषधियों की सूरत पहचानने से औषधियों की परम प्राप्ति को नहीं जान सकता। जो मनुष्य औषधियों के प्रयोग, नाम और रूपों को जानता है वही औषधतत्ववित् कहलाता है। और जो संपूर्ण प्रकार से औषधियों को जानता है उस का तो कहना ही क्या है। जो मनुष्य देश काल और रोगी पुरुष को देख कर औषधियों का प्रयोग जानता है वह भिषक्तम अर्थात् उत्तम वैद्य है। वही वैद्यों में श्रेष्ठ वैद्य है जो रोगी को रोगों से मुक्त कर दे।

इस प्रकार राजनिघन्टु ने तो मंत्र की उपमा को स्पष्ट किया, और चरक ने उपमा को छोड़ कर शेष मंत्र के गूढ़ भाव को खोलकर दिखाया। उसने मंत्र के प्रथम भाग की चार श्लोकों में व्याख्या करके पंचम में द्वितीय भाग का अर्थ कर दिया है।

पाठक गण ! यह थोड़े से वेद मंत्र मैंने अपने पक्ष की पुष्टि के लिए आप के सामने उपस्थित किए हैं। इस से आप स्वयं परिणाम निकाल सकते हैं कि जो मनुष्य इन विद्याओं को जानता है वही ऐसे वेद मंत्रों को स्वयं समझ सकेगा दूसरा नहीं। बिना तत्तद् विद्याओं को जाने वेदाध्ययन बड़ा दुष्कर होगा। मुझे स्वयं इन का अर्थ करने के लिए पहले वैद्यकादि की पुस्तकें देखनी पड़ी हैं। और संभव है कि जो भली प्रकार वैद्यक, ज्योतिष को जानता हो, उसे मंत्रों का महत्त्व और अधिक दृष्टिगोचर हो।

पालि भाषा की सहायता

वेदार्थ करने के लिए पालिभाषा भी बड़ी सहायक है। शायद यह विचार पाठकों को पहले-पहल बड़ा विचित्र प्रतीत देगा, परंतु पालि के अध्ययन से हमें यही पता लगता है कि यह भाषा लौकिक संस्कृत की अपेक्षा वैदिक भाषा से बहुत मिलती है। मैंने जो पहले पालि के कुच्छ एक उद्धरण दिए हैं उससे आपको यह तो स्पष्ट हो ही गया होगा कि पालि की संस्कृत से कितनी अधिक समानता है। यह सच है कि पालि के बहुत से शब्द अपभ्रंश के रूप में हैं और संस्कृत के शुद्ध शब्द पाए जाते हैं परंतु वैदिकभाषा की तरह पालि व्याकरण के नियम भी बड़े व्यापक हैं। उसके नियमों में संस्कृत की अपेक्षा वैदिकभाषा से बहुत कुच्छ एकता पाई जाती है जिस से मेरे विचार में वैदिकभाषा से ही पालि, और संस्कृत दोनों भाषाएं निकली प्रतीत देती है। भेद केवल इतना है कि संस्कृत में जितने वैदिक शब्द हैं वह सब वैसे के वैसे शुद्ध रूप में तो हैं, परंतु उस में वह सब शब्द प्रयुक्त नहीं होते जो वेद में

पाए जाते हैं। और पालि में यद्यपि बहुत जगह वैदिक शब्द अपभ्रंश के रूप में प्रयुक्त होते हैं, परंतु संस्कृत की अपेक्षा शब्द अधिक पाए जाते हैं। अब मैं आपके सामने अतिसंक्षेप से पालि व्याकरण के थोड़े से नियम पेश करता हूं उस से मेरे उपरोक्त विचार की पुष्टि हो जावेगी।

1. ळ अक्षर का प्रयोग संस्कृत में बिल्कुल नहीं। क्योंकि शिक्षा या व्याकरण में नाहीं यह कोई भिन्न अक्षर माना गया है और नाहीं किसी व्याकरण सूत्र से इसका आदेश बताया गया है परंतु पालि और वेद दोनों में साधारणतः पाया जाता है। इसका नियम ऋक्प्रातिशाख्य के 1 पटल 10, 11 सूत्रों में इस प्रकार दिया है। ''द्वयो श्चास्य स्वरयोर्मध्यमेत्य संपद्यते स ढकारो ळकारः'' ''ळलकारतामेति स एव चास्य ढकारः सन्नूष्मणा संप्रयुक्तः इळा साळ्हा चात्र निदर्शनानि विड्वंग इत्येतदवग्रहेण'' अर्थात् इस देवमित्र आचार्य के मतानुसार दो स्वरों के मध्य में आया हुआ डळ हो जाता है. और ऊष्म डकार अर्थात् ढ ळ्ह हो जाता है, जैसे इळा (इडा) यहां पर इ और आ दो स्वरों के मध्य का डळ हो गया, और साळ्हा (साढा) यहां पर दो आकारों के मध्य का ढळ्ह हो गया, तथा विड्वंग यहां पर दो स्वरों के मध्य में ड न होने से ळ नहीं हुआ।

यह नियम वेद में से कई उदाहरण लेकर देखा जा सकता है। जैसे ईळे, मृळ तळितः, क्रीळन्तौ, मीळ्हुषे, हळ्हा, षोळ्हा, अषाळ्हः इत्यादि स्थलों में ड,ढ को ळ, ळ्ह हो गए, परंतु ईड्यः, मर्डितारम्, आण्डा यहां ळ नहीं हुआ। पालि में यद्यपि ळ अक्षर पृथक् ही माना गया है, परंतु नियम ठीक यही लगता है। लगुळ, विळंग, बीळित, सीळ्ह, मूळ्ह, आसाळ्ह आळ्हक, यहां दो स्वरों के मध्य में हाने से ळ, ळ्ह होता है, कमण्डलु, खिड्डा यहां नहीं होता ii पालि में दो स्वरों के मध्यवर्ती द की जगह भी ळ का प्रयोग उळार (उदार) वेळुरिय (वैदूय) आळाहन (आदाहन) आदि थोड़े से शब्दों में पाया जाता है। उसी प्रकार पता लगता है कि यह नियम वेद में भी प्रयुक्त होता है क्योंकि यास्क ने 6.31 में करूळती का कृत्तदती अवगत शब्द देते हुए द की जगह ळ बताया है।

2. जैसे वेद में 'शेश्छंदसि बहुलम्'' सूत्र करके शि का लोप विकल्प करके हो जाता है और नपुंसक लिंग शब्दों की प्रथमा विभक्ति के बहुवचन में या, यानि, ता, तानि, धना, धनानि, वना, वनानि, स्पार्हा स्पार्हाणि, हिरणया, हिरणयानि आदि दोनों प्रयोग आते हैं उसी प्रकार पालि में भी ऐसे दोनों रूप बनते हैं। परंतु संस्कृत में केवल यानि, तानि आदि रूप ही होते हैं। इस नियम में एक बात पालि के अध्ययन से सूझती है। पालि में 'अतो निश्चं' इस कात्यायन सूत्र 2.4.8) से अकारांत नपुंसक लिंग शब्दों के प्रथमा, द्वितीया विभक्ति के बहुवचन वो को नि होकर यानि, तानि रूप बनते हैं। और ''सब्ब योनीनं आए 2.1.56 इससे उस नि को प्रथमा में आ और द्वितीया में ए विकल्प करके हो जाता है। इससे प्रथमा बहुवचन में तो या, यानि आदि रूप बनेंगे, और द्वितीया में यानि से आदि। वेद में शेश्छंदसि बहुलं यद्यपि द्वितीया

विभक्ति में भी या आदि रूप बन सकते हैं परंतु मैंने पालि के उपरोक्त नियम को ध्यान में रखकर जब वेदमंत्रों का अध्ययन किया तो वहां भी यही नियम पाया गया। मुझे अभी तक एक भी ऐसा उदाहरण नहीं मिला यहां द्वितीया विभक्ति में भी शि का लोप होकर या, ता, बना आदि शब्द आए हों। वेद में भी प्रथमा विभक्ति के बहुवचन में तो या, यानि, 'ता, तानि आदि का ही प्रयोग पाया गया है या, ता का नहीं। विज्योतिषा...शिशीते शृंगे रक्षसे विनिक्षे ऋ. 5, 2, 9 यहां तुमर्थवाची विनिक्षे के साथ रक्षसे का संबंध होने से यह द्वितीया विभक्ति का रूप होना चाहिए। इसलिए सायण ने भी इसका अर्थ इस प्रकार किया है। ''शिशीते तीव्यणीकरोति शृंगे शृंगाणि शृङ्गसदृशीः हिंसिकाः वा ज्वाला किमर्थम् रक्षसे विनिक्षे रक्षसों नाशाय'' इस अग्नि देवता वाले मंत्र का अर्थ सायण ने आग की ओर लगाया है परंतु स्वामी जी के कथनानुसार विद्वान पक्ष में ठीक जंचता है। (अग्निः) ज्ञानी विद्वान् (रक्षसे) रक्षांसि दुर्गुणान् (विनिक्षे) विनाशयितृं (शृंग्ङे) शृग्ङाणि तेजांसि (शिशीते) तीक्ष्णीकरोति। अर्थात् विद्वान् पुरुष दुर्गुणों के विनाश के लिए अपने तेजों को बढ़ाता है।

(ii) उत स्वानासो...तिग्मायुधाः रक्षसे हंतवा उ। ऋ. 5, 2, 10 यहां इंतवै की जगह संधि करके हंतवा उ पाठ है। इंतवै हन् धातु से तुमुन् अर्थ में तवै प्रत्यय करने से बनता है। अतः रक्षसे हंतवै का अर्थ रक्षांसि हंतुम् होगा।

इस प्रकार इन दो मंत्रों से मैंने आप को बताया कि शृग्ङे और रक्षसे नपुसंकलिंग शृग्ङ रक्षस् शब्दों के द्वितीया बहुवयन के रूप है, वेद में यह एत्व का नियम हमें पालि से स्पष्ट होता है उसे ध्यान में रखना चाहिए।

(ख) त्वया वयं सुवृधा...वसु मनुष्या. (ऋ. 2. 23.9) आजघ्ङन्ति सान्वेषां (य. 29. 50.) इन मंत्रों की व्याख्या करते हुए यास्क, सायणादि ने वसु, सानु के अर्थ वसूनि, सानूनि किए हैं। अर्थात् वेद में द्वितीया विभक्ति के बहुवचन में वसु, वसूनि आदि दोनों रूप बनते हैं। इसी प्रकार पालि में भी उकारांत नपुंसकलिंग शब्दों के ऐसे ही दो रूप होते हैं। परंतु संस्कृत में केवल सानूनि, वमूनि आदि होंगे।

3. संस्कृत में अकारांत शब्दों के तृतीया विभक्ति बहुवचन में सदा मिस् को ऐस् होकर देवैः, भद्रैः, पूवैः आदि ही रूप बनते हैं। परंतु वेद में बहुलं छंदसि (7. 1.10) करके कहीं-2 ऐस् न होकर देवेभिः आदि भी रूप होते हैं। यही नियम पालि में है। भेद केवल इतना है कि वहां कभी भी ऐस् नहीं होता, अतः देवेभि, भद्रेभि, पुब्बेभि रूप ही प्रयुक्त होंगे। यदि आलोचना की जावे तो यही ज्ञात होता है कि वैदिक भाषा में भी आधिक्य मिस् का ही है ऐस् का नहीं। इस की पुष्टि के लिए कुछ शब्द आपके सामने उपस्थित करता हूं। चारों वेदों में विश्वेभिः 36 बार विश्वैः 11 बार, विप्रभिः 12 बार विप्रैः 3 बार आये हैं। और केवल शतमेभिः, भद्रेभिः, अनृनेभिः, सौभगेभिः का ही प्रयोग आया है शनमैः आदि का नहीं।

4. वा छंदसि (6.1.106) से ईकारांत शब्दों के प्रथमा बहुवचन में मारूतीः, मानुषीः पिण्डीः आदि रूप भी होते हैं। परंतु संस्कृत में केवल मारुत्यः, मानुष्यः, पिण्डयः

ही होंगे। इसी प्रकार पालि में मानुसी पिण्डी आदि होते हैं।

5. या सुरथा रथीतमोभा देवा दिविस्पृशा। अश्विना ता हवामहे, अश्विना पुरुदंससा नरा., दस्रा युवाकवः सुता नासत्या. आदि वेद मंत्रों में सुपां सुलुक् सूत्र से औ की जगह आ मानकर यौ, सुरथौ, रथीतमौ, उभौ, देवौ, दिविस्पृशौ, अश्विनौ, तौ, पुरुदंससौ, नरौ, दस्रौ, सुतौ, नासत्यौ अर्थ किए जाते हैं। पालि में एकवचन बहुवचन ही होते हैं द्विवचन नहीं होता। अतः दो के लिए भी बहुवचन का प्रयोग होगा। और पालि के उस बहुवचन में या, सुरथा, रथीतमा आदि ही रूप होते हैं।

(ii) इसी प्रकार "वाछंदसि" वार्तिक से आत्यौं, द्यावापृथिव्यौ, उशत्यौ आदि की जगह वेद में आर्त्नी, द्यावापृथ्वी, उशती आदि शब्द भी प्रयुक्त किए गए हैं। वह भी पालि में ईकारांत शब्दों के बहुवचनान्त जैसे हैं। अतः द्विवचन का अर्थ हो जावेगा।

(iii) यस्येमाः प्रदिशो यस्य वाहू. ऋ. 10.121.4 मंत्र में सायण ने द्विवचनान्त वाहु का अर्थ बहुवचनान्त बाहवः, किया है। पालि में उकारांत शब्दों के प्रथमा बहुवचन में बाहू, बाहवो आदि दोनों रूप बनते हैं।

6. चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि (2.3.62) सूत्र से वेद में षष्ठी विभक्ति चतुर्थी के अर्थ में भी आती है। और उसी सूत्र पर पढ़े हुए "षष्ठयर्थे चतुर्थी" वार्तिक से चतुर्थी षष्ठी के अर्थ में आती है। अर्थात् संस्कृत में जो चतुर्थी, षष्ठी के भिन्न भिन्न रूप बनते हैं वह सब वेद में दोनों विभक्तियों में सामान हैं। यही बात पालि में पाई जाती है। वहां भी अग्गिनो अग्गिस्स, अग्गीनं; मनसो मनस्स, मनानं आदि रूप दोनों विभक्तियों में एक जैसे बनेंगे।

7. वेद में सर्वत्र नंपुसक लिंग इतर शब्द के प्रथमा, द्वितीया विभक्ति के एकवचन में नेतराच्छंदसि (7.1.26) से अद्रड् न होकर इतरम् ही रूप पाया जाता है, इतरत् नहीं। परंतु संस्कृत में इतरत् होता है। इसी प्रकार पालि में भी इतरं ही बनता है।

8. गोः पादांते (7.1.57) से ऋक् पादांत "विद्याहित्वा सत्पति शूर गोनाम्" इत्यादि स्थलों में गवाम् की जगह गोनाम् प्रयोग आता है। इसी प्रकार पालि भी गो शब्द के षष्ठी बहुवचन में गवं, गोनं, दोनों रूप बनते हैं।

9. "बहुवचनस्य वस्नसौ" सूत्र से वः, नः संस्कृत में युष्मद् शब्दों के षष्ठी, चतुर्थी, द्वितीया विभक्तियों के बहुवचनों में प्रयुक्त होते हैं। परंतु वेद में प्र वो महे. यजु. 33. 23. ऋक्, विश्वेदेवाः शास्तन वो वहानि ऋ. 10.52. 1, प्र वो वायुं ऋ 10. 64. 7 इत्यादि स्थानों पर यास्क (11.9) उबट, सायण ने वः का अर्थ प्रथमा बहुवचन यूयम् किया है। और अभीस्वयंः...तानो विश्वानि. ऋ. 10.59.3 में सायण ने नः का अर्थ तृतीया बहुवचन अस्माभिः किया है। इसी प्रकार पालि में भी वो, नो प्रथमा, द्वितीया, तृतीया, चतुर्थी, षष्ठी विभक्तियों के बहुवचनों में आते हैं।

10. वेद में "सुपां सुपो भवंति" से विभक्ति, वचन व्यत्यय बहुत अधिक पाए जाते हैं। उनके व्यत्यय का कोई विशेष नियम हमें परिज्ञात नहीं। यह व्यत्यय क्यों किए जावें ? इसका सतोषप्रद उत्तर हमें नहीं मिलता। परमात्मा पूर्ण है, यदि वेद

परमात्मा के ही दिए हुए हैं तो उसकी भाषा में यह अपूर्णता का महान् दोष नहीं होना चाहिए। यदि व्यत्यय ही किया जाना था तो परमात्मा ने असली शब्द ही क्यों नहीं प्रयुक्त कर दिए जिससे यह दोष न रहता। यह आशंका हमें बहुत डगमगाती है। वैदिकभाषा में इतनी भारी त्रुटि का होना बड़ा खटकता है। पर इसका उत्तर हमें पालि से मिलता है। यदि हम सूक्ष्म दृष्टि से पालि और वैदिकभाषा का अध्ययन करें तो इस संदेह की निवृत्ति हो जावेगी। पालि में भिन्न-2 विभक्तियों और वचनों के रूप समान होते हैं। जैसे (i) सब शब्दों में तृतीया पंचमी के बहुवचन, तथा चतुर्थी षष्ठी विभक्तियों के रूप समान होते हैं। (ii) बुद्ध, धन, गुणवंत (गुणवत्) गच्छन्त (गच्छत्) आदि अकारांत शब्दों में द्वितीया बहुवचन तथा सप्तमी एक वचन (iii) अत्त (आत्मन्) राज (राजन्) आदि शब्दों में द्वितीया एक वचन तथा चतुर्थी षष्ठी बहुवचन, (iv) व्याधि, केतु, पितु (पितृ) आदि पुलिग्ङ शब्दों में तृतीया, पंचमी विभक्तियों के एक वचन (v) मेधा, मति, नदी धेनु, जम्बू आदि स्त्रीलिग्ङ शब्दों में तृतीया, चतुर्थी, पंचमी, षष्ठी, सप्तमी विभक्तियों के एक वचन समान होते हैं। (vi) पालि में एकवचन और बहुवचन ही होते हैं द्विवचन नहीं, अतः द्विवचन, बहुवचन के रूप समान होगे। पालि में भी यदि कोई संस्कृत की दृष्टि से व्यत्यय कहना चाहे तो कह सकता है। परंतु वास्तव में यह व्यत्यय नहीं, उन-2 विभक्तिओं और वचनों के अपने ही रूप हैं। इसी प्रकार वेद में व्यत्यय संस्कृत भाषा की दृष्टि से किए जाते हैं। संभव है वहां भी पालि भाषा की तरह उन-उन विभक्तियों और वचनों में वह रूप भी होते हों। अतः उसे व्यत्यय नहीं कह सकते। वेदों में यहां भाष्यकारों ने संगति के अनुसार व्यत्यय किए हों, उन्हें यदि उपरोक्त पालि के नियम को दृष्टि में रखते हुए एकत्रित करें तो हमें एक नियम का पता लग सकता है।

11. इसी प्रकार वेद में परस्मैपद की जगह आत्मनेपद, और आत्मनेपद की जगह परस्मैपद भी पाया जाता है। जैसे इच्छते पर्यपश्यत, अनुपश्यते, पृच्छते आदि में आत्मनेपद और युध्यति, यतति, दधति आदि में परस्मैपद है। इस अनयिमता की आशंका का उत्तर भी पालि से मिलता है। पालि में सामान्यतः प्रत्येक धातु से कर्त्ता, कर्म में परस्मैपद, आत्मनेपद दोनों विहित हैं। परंतु उनका नियामक प्रयोग है। इसी प्रकार वेद में भी हो सकता है कि प्रत्येक धातु उभयपदी हो। वहां व्यत्यय संस्कृत की दृष्टि से होगा। इस को भी यदि ध्यान से देखा जावे तो संभवतः वेद में भी संस्कृत की दृष्टि से वही व्यत्यय मिलें जो पालि में पाये जाते हैं।

12. संस्कृत में सदा "सामसे ऽनञ्पूर्वेक्त्वो ल्यप् से समास में कृतवा को ल्यप् होता है। जिससे परिधाप्य निवाय आदि प्रयोग होते हैं, और समास रहित में कभी ल्यप् नहीं होता। परंतु वेद में "वत्वापि छंदसि" से इन दोनों नियमों का विपर्यय पाया जाता है। परिधापयित्वा, यहां समास में भी ल्यप् नहीं हुआ, और अर्च्य यहां असमास में भी हो गया। इसी प्रकार पालि में भी समास का कोई ध्यान न देकर सर्वत्र सब्बेहि तूनादीनं यो (7.4.8) कात्यायन सूत्र से त्वा को य विकल्प करके हो

जाता है। अतः परिधापयित्वा, अच्चिय दोनों प्रयुक्त हो सकेंगें।

(ii) पालि में क्तवा अर्थ में त्वान प्रत्यय होकर करवाने जित्वान (कृत्वा, जित्वा) आदि शब्द बनते हैं। वेद में 'इष्ट्वीन मिति च' सूत्रानुसार इष्ट्वीन पीत्वीन (इष्ट्वा, पीत्वा) आदि प्रयोग पाए जाते हैं।

13. वेद में तुमुन् अर्थ में तवै, तवेङ, तवेन्, प्रत्यय होकर दातवै, सूतवे, कर्तवे आदि शब्द भी प्रयुक्त होते हैं। परंतु संस्कृत में केवल दातुम्, सोतुम, कर्तुम् ही होंगे। इसी प्रकार पालि में ''इच्छात्थेसु समानकत्तुकेसु तवे तुंवा (7.2.12) से दातवे दातु', सोतवे, सोतुं कातवे, कातुं आदि दोनों प्रयोग होते हैं।

14. संस्कृत में कितनी दूर अर्थ में कियत् शब्द आता है। परंतु वेद में उद्वृह रक्षः...आकीवतः ऋ. 3. 30. 17 यहां पर कियतः की जगह कीवतः पञ्चम्य त प्रयुक्त है। इसी प्रकार पालि में भी कीव आता है। क्योंकि इसमें तकारांत शब्द नहीं होते अतः कीवत् का कीव रह गया है। ii संस्कृत में केवल गुरु शब्द है गरु नहीं। परंतु यास्क 7.18. में गरुत्मान् का गुर्वात्मा अर्थ करते हुए वेद में गरु शब्द का भी निर्देश करते हैं। पालि में भी गरु, गुरु दोनों आते हैं। iii ''वाह च छंदसि'' सूत्र से वेद में कुह कहां के लिए प्रयुक्त होता है संस्कृत में नहीं। वहां केवल क, कुत्र का ही प्रयोग है। इसी प्रकार पालि में कुहं आता है। iv यास्क ने वैदिक शब्द कीकट (6. 32) का संस्कृत मे किंकृत परिवर्तन करते हुए जतलाया है कि उसी के अक्षर बदलने से कीकट बना है। ठीक यही परिवर्तन पालि में भी होगा। कृत के स्थान पर पालि में कट प्रयुक्त होता है। इसी प्रकार कण्टक शब्द को कृतक (9.33) की जगह बताते हुए कृत के स्थान पर कट को रक्खा है।

(v) पालि में ''विदन्तेऊ (7.5.10) से विदू शब्द वेत्ता या विद्वान् अर्थ में आता है। वेद में मानो अग्ने...विदुष्कविः सन्. (ऋ. 1.71. 10) राजेब हि...विदुष्कविः सन. (ऋ. 7. 18. 2) त्वमग्ने...विदुष्टरः (ऋ. 1.31.14) इत्यादि अनेक स्थलों में बिदुस् आता है। इसकी सिद्धि सायण इस प्रकार करता है–विद ज्ञाने बहुलमन्यत्रापि भवतीति उसि-प्रत्ययः, अतएव बहुलवचनाद्गुणाभावः vi पालि में अका अकरोत् अर्थ में आता है। वेद में ''उरुं हि...जा...अकः . (ऋ. 1. 24.8) इत्यादि स्थलों में अकः का प्रयोग बहुत पाया जाता है। VII पालि में इमस्स अस्य के अर्थ में आता है। वेद में भी ''यदि मे सख्यमावर इमस्य. (ऋ 8.13.21) इस स्थान पर इमस्य शब्द आता है VIII पालि में निण्णं त्रयाणाम् के अर्थ में आता है। महि त्रीणा मवोस्तु. (ऋ. य. सा.) इस तीनों वेदों में आए हुए मंत्र में त्रीणाम् पाया जाता है। IX. तति शब्द वेद (ऋ. 6. 24. 4) पालि दोनों में आता है। संस्कृत में तति होगा। X. पालि में माहेवं अवचा, मा एवं अकत्थ इत्यादि स्थलों में माङ् के योग में भी अट् का आगम पाया जाता है। और न जहासी (अहासीत्) ससेनाय पलायि सो' आदि में सर्वत्र लुङ् के प्रथम पुरुष एकवचन में अडागम विकल्प करके होने से यहां माङ् का योग नहीं वहां भी अट् नहीं होता। इसी प्रकार वेद में ''बहुलं छन्दस्यामाङ्योगेपि (6.4.74.) सूत्र के

अनुसार जनिष्ठाः ऊनयीत्, मर्दयीत् आदि में भी अट नहीं परंतु मा अभीत्याः, मा आवः, स्थानों में पाया जाता है।

15. वेद की सन्धियें भी पालि के साथ बहुत कुछ मिलती हैं। यास्क ने गरु आत्मन् से गरुत्मान् सिद्ध करते हुए जतलाया कि उसे परे आ का लोप या पूर्वरूप हो गया है। पालि में भी यही संधि होगी। वहां "वा परो असख्या" (1.2.2) से असमान स्वर से परवर्ती स्वर का लोप विकल्प करके हो जाता है। ii यास्क विश्वानर की सिद्धि करते हुए लिखते हैं विश्वानरः प्रत्यृतः सर्वाणि भूतानि 7,22। सर्वाणि विश्वानि का पर्याय वाची शब्द है। तब विश्वानर की सिद्धि इस प्रकार होगी। विश्वानि प्रति अर्ति गच्छतीति विश्वानरः, विश्वानि अरः—विश्वारः यहां इ का लोप या पररूप कर दिया है। इसी प्रकार पालि में "सरासरे लोपं" से स्वर परे होने पर पूर्ववर्ती स्वर का लोप होता है। iii प्रकृत्यांतः पादमव्यपरे (6.1.115) से "अवपथासि च" तक सात सूत्रों से वेद में एक ओ से परे अ होने पर प्रकृतिभाव किया है। अर्थात् "एङः पदान्तादति से जी अका पूर्वरूप प्राप्त था उसका निषेध किया है। तेस्मिन्, सो... नः अग्ङेग्ङे, आदि की जगह तेअस्मिन् तेअग्रे, शिरोअपश्यम् नो अव्यात् शतधारो अयं, आपो अस्मात्, प्राणो अग्ङे अग्ङे अदीध्यत्, सो अग्निः, सो अध्वरः आदि प्रयुक्त होते हैं। यही नियम पालि में भी है। वहां "वापरो असरूपा" में विकल्प, तथा "यं एदंतस्सादेसो "वं ओदुदन्तानं" इन सूत्रों में क्वचित् होने से परस्पर आकार का लोप तथा ए, ओ को, व नहीं होते। iv "ईषा अक्षादीनां छंदसि प्रकृति भावः" वार्तिक से ईषा अक्षः, पथा अगमन्, पूषा अविष्ट, का ईमारे, ज्या इयम् इत्यादि स्थलों में प्रकृतिभाव करते हुए दीर्घ एकादेश तथा गुण का निषेध किया है, अन्यथा ईषाक्षः, ज्येयम् आदि रूप बनते। यही बात पालि में है। वहां भी "धनसन्निचयं कत्वाअहो मय्हं पितादयो" "याच जाया इमस्स तु" इत्यादि स्थलों में संधि नहीं होती।

पालि, वैदिक भाषा की समानता के थोड़े से उदाहरण मैंने आपके सामने रक्खे। इससे आप स्वयं परिणाम निकाल सकते हैं कि वेदार्थ करने में पालि भाषा कितनी सहायक है।

पाठक गण ! शब्दों की यौगिकता, हीनोपमा या लुप्तोपमा, स्वयं वेद की सहायता, उपलक्षण, अध्याहार या शेष, प्रकरण, विद्याओं का ज्ञान, पालिभाषा की सहायता, यह आठ बातें वेदार्थ करते समय ध्यान रखने योग्य हैं। यह दर्शाकर अंत में लेख को इस वेदमंत्र के साथ समाप्त करता हूं।

उतत्वः पश्यन्नददर्शवाचमुतत्वः शृण्वन्नशृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मैतन्वंविस स्रेजायेव पत्यउशतीसुवासाः।।

चतुर्थ अध्याय

उपनिषदों की भूमिका



पहला-परिच्छेद
विचार-शृंखला

वैसे तो सब देशों के विषय में यह बात कही जा सकती हैं, किंतु भारतवर्ष के विषय में तो निःसंदेह है कि यहां के सब विचाररूपी स्रोतों का उद्‌भवस्थान 'वेद' हैं। वेदों की प्रचीनता को कोई स्वीकार करे या न करे, उनके ईश्वरोक्त होने में कोई हजार शंकाएं उठावे, किंतु यह सब मानते हैं, और इन्हें मानना पड़ता है कि 'संसार के पुस्तकालय में सब से पुरानी पुस्तक वेद है'। भारतवर्ष में वेदों से पुराना ज्ञान कोई नहीं, इसमें तो आज तक किसी ने संदेह ही नहीं किया। भारतवर्ष के अंदर अधिकार रखने वाले सब विचारों की, भाषा की और सभ्यता की शृंखलाओं की प्रथम कड़ी वेद है। इन सब नदियों का हिमालय, इन सब शाखाओं का तना, और इन सब पत्तियों की गांठ वेद ही है। यदि भारतवर्ष के विचार का ऐतिहासिकमूल पता लगाना हो तो प्रारंभ वेदों से होना चाहिए। यदि भारत तथा अन्यत्र भी विद्यमान आर्य्यन्‌-भाषाओं को इतिहास जानना हो तो वेदभाषा का प्रथमानुशीलन आवश्यक है। भारत के सभ्यतारूपी भवन में उजियाला डालकर उसे समझाने वाली बत्ती भी वेद ही है। वेद ही भारत की सभ्यता के मूल तथा प्रारंभ की व्याख्या कर सकते हैं।

भारतवर्ष के किसी भी वर्तमान मत का, भाषा का या सभ्यता के अंग का इतिहास वेदों की उपेक्षा करने पर पता नहीं लग सकता। जो-जो चेष्टाएं अभी तक इस विषय में की गई हैं, उन से हमारा उपर्युक्त कथन स्पष्ट प्रतीत होता है। भारतवर्ष के किसी इतिहास को देख जाइये, वर्तमान आर्यन्‌-भाषाओं के किसी पुरावृत्त का अनुशीलन कीजिए, भारत की सभ्यता के किसी भाग के कथानक पर दृष्टि दीजिए, आप को वेदों से प्रारंभ करना आवश्यक और अपरिहार्य प्रतीत होगा। भारतवर्ष के प्राचीन विभाग में काम करने वाले के लिए, वेदों का अनुशीलन अत्यंत आवश्यक है। इस समय हमारे इतिहास के प्रत्येक भाग में अपूर्णता है, हम उसे टूटी हुई शृंखला की न्याई अधूरा पाते हैं, बड़े-बड़े पश्चिमीय और पूर्वीय विद्वान्‌ उस पर यत्न कर चुके, वह पूरा क्यों न हुआ। उस के पूरा न होने का कारण यह भी है कि वेदों के अनुशीलन में पूरा-पूरा यत्न नहीं किया गया। वे ही आर्यविचारों, आर्य-भाषाओं

और आर्यसभ्यता के मूल हैं, इस बात को भुला दिया गया। जब नींव ही पक्की नहीं तो भवन किस के आश्रय स्थिर रह सकता हैं हमारे इतिहास की भींत खड़ी कैसे हो, जब वेदों के अनुशीलन पर ही ध्यान नहीं दिया जाता।

इस समय हमारा संपूर्ण भारतीय विचारों तथा भाषाओं से विशेष संबंध नहीं। सभ्यता के इतिहास को तो हम यहां पर छू तक नहीं सकते। हमारा संबंध, इस समय, वेदों के विचारों और उसकी भाषा से वहीं तक है, जहां तक उनका उपनिषदों के विचार तथा भाषा के साथ संबंध है। उपनिषदों के विचारों का तथा भाषा का विकास देखना हो, तो 'अथ ब्रह्मणे नमः' वेदों से ही करना चाहिए। इसका प्रथम कारण हम ऊपर कह आए हैं। उपनिषदें भी भारतीय विचार संसार में एक विशेष स्थान रखती हैं। उनकी पूर्व शृंखला भी बिना वेदों से प्रारंभ किए पता नहीं लग सकती, इसका दूसरा कारण एक्र और भी है। वेदों के साथ उपनिषदों का विशेष संबंध है। उपनिषदों के विचार वेदों से उस प्रकार परंपरागत नहीं है, जैसे इंजील या कुरान के हैं। इंजील तथा कुरान के विचारों का स्रोत भी वेदों से ही प्रवाहित होता है, परंतु उसमें कई यमुनाएं और कई बरसाती नाले मिले हुए हैं। उपनिषदो का वेदों से अति गाढ़ा संबंध है। उपनिषद् अपना आधार ही वेदों को मानती हैं। उनमें कई स्थानों पर यह पुकार-पुकार कर कहा गया है कि उपनिषदें वेदोक्त तत्त्व का ही कथन करती हैं। इस विषय विस्तारपूर्वक सिद्ध करने के लिए हमने एक पृथक् परिच्छेद (पांचवां) रखा है, इसलिए यहां पर इस के बढ़ाने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। परंतु यह स्पष्टतया जान लेना चाहिए कि उपनिषदें वेदों को ही अपना आधार मानती हैं। ऐसी अवस्था में, उपनिषदों के विषय में एक भी पंक्ति लिखने से पूर्व, वेदों के विषय में, उनके विचारों के विषय में और उनकी भाषा के विषय में कुछ लिखना अपरिहेय हो जाता है।

इस प्रथम परिच्छेद में, हम, विचारशृंखला के विषय में कुछ कहेंगे। उपनिषदों की भाषा का वैदिक भाषा के साथ जो संबंध है, उसके विषय में दूसरे परिच्छेद में लिखेंगे।

प्राचीन काल से आचार्य लोग वेदों के विषय को तीन भागों में विभक्त करते चले आए हैं। अब भी कोई कारण नहीं दीखता कि क्यों न उसी विषयविभाग को स्वीकार किया जाए। वह विषय-विभाग व्यापक और शुद्ध है। उस विभाग के अनुसार वेदों में तीन प्रकार से आध्यात्मिक तत्त्व का वर्णन है। वेद आध्यात्मिक तत्त्व का वर्णन करते हैं, इसे सभी स्वीकार करेंगे। वेदों में परमात्मा तथा जीवात्मा का तत्वज्ञान तीन प्रकार से विहित हैं। वे तीन प्रकार ज्ञान, कर्म और उपासना हैं।

ये तीनों विभाग या प्रकार या जो कुछ भी कहिए वेदों के तीन काण्ड कहलाते हैं। वेद में तीन काण्ड हैं, प्रथम ज्ञान-काण्ड, दूसरा कर्म कांड और तीसरा उपासना काण्ड। ज्ञान-काण्ड में परमात्मा जीवात्मा तथा अन्य भौतिक पदार्थों के वास्तविक

स्वरूप का वर्णन है; कर्मकाण्ड में ज्ञान संबंधी, समाज संबंधी और यज्ञ संबंधी क्रियाओं का विधान है और तीसरे उपासना काण्ड में परमात्मा की उपासना की रीति तथा नीति का विधान है। वैदिक परिभाषा में ज्ञानकाण्ड को कर्म-काण्ड तथा उपासना काण्ड से पूर्व इसलिए रखा गया है कि ज्ञान के बिना न कर्म संभव है और न उपासना। किस प्रकार का कर्म किया जाए, या किस की उपासना की जाय ? कर्म क्या है, ? किस उद्देश्य से किया जाता है ? जिस की उपासना की जाती है वह क्या वस्तु है ? इन सब प्रश्नों का उत्तर ज्ञानकाण्ड ही दे सकता है, इसलिए ज्ञान-काण्ड प्रथम है। मनुष्य जब कर्म करके थक जाता है, तब वह उपासना में प्रवृत्ति करता है, इसलिए उपासना काण्ड अंतिम है।

यद्यपि यह विभाग बहुत कुछ कृत्रिम है, और पिछले व्याख्याकारों ने अपनी सुलभता के लिए किया है, तथापि हमारे प्रयोजन के लिए यह उपयोगी हो सकता है। हमारा कार्य इस विभाग से बहुत ठीक चल जाएगा। वेदों के विषय को तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं। उन तीनों भागों को वेदों में भिन्न-भिन्न स्थानों में, बंद पाना कठिन है, ये तीनों विषय खूब एक दूसरे के अंदर मिश्रित हैं, और उनका खोज निकालना चतुर परखय्या का काम है। अपने अभिप्राय के स्पष्ट करने के लिए हमे कुछ वेदमंत्र देते हैं, जिनमें ज्ञान, कर्म तथा उपासना की झलक पृथक्-पृथक् स्पष्टतया पाई जाएगी।

1. ज्ञानकाण्ड

सपर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरंशुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूःस्वयंभूर्यायातथ्यतोऽर्थान्व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः।
यजु.। 40।

इस वेदमंत्र में परमात्मा के अनेक गुणों का ज्ञान कराया गया है। (स पर्यगात्) वह चारों ओर व्यापक है। उस का स्वरूप क्या है ? (शुक्रम्) वह तेजस्वी (अकायम्) शरीर रहित (अव्रणम्) व्रणरहित (अस्नाविर) स्नायुरहित (शुद्धम्) शुद्ध (अपापविद्धं) पापरहित (कविः) जानने और ज्ञान को प्रकाशित करने हारा (मनीषी) ज्ञानी (परिभूः) सब ओर व्यापक साक्षी (स्वयंभूः)[1] उत्पत्ति रहित (याथातथ्यतोऽर्थान्व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः) वह सर्वदा के लिए ठीक-ठीक पदार्थों का और पदार्थों के ज्ञान का संपादयिता है। सब पदार्थ और पदार्थों का ज्ञान उसी के आश्रय है।

इस मंत्र में वस्तु स्वरूप का वर्णन है, इसलिए इसे ज्ञान काण्ड कहते हैं।

---

1. स्वयंभू का अर्थ है, अपने से पैदा होने वाला। कोई वस्तु अपने पैदा नहीं हो सकती, क्योंकि कार्य तथा कारण एक नहीं हो सकते। इससे वह जन्मरहित हुआ।

2. कर्मकाण्ड

समानी प्रपा सहवो ऽन्नभागः
सामने योक्त्रेसहवो युनज्मि।
सम्यञ्चोअग्निं सपर्यत
आरा नाभिमिवाभितः। अथर्व. 3। 6। 31।।

यहां पर कर्म का उपदेश है। यह उपेदश ईश्वर की ओर से मनुष्य सृष्टि को समझना चाहिए।

'हे मनुष्यो ! तुम्हारी पानी पीने की जगह एक समान हो, तुम्हारा भोजन एक साथ हो। मैं तुम्हें समान प्रकार से, समान अवस्थाओं में इस संसार में डालता हूं। सब मिलकर तुम परमात्मा की प्रार्थना करो, जैसे एक चक्र की नाभि में धुरियां लगी रहती हैं, इसी प्रकार तुम एक साथ जुड़े रहो।'

यमाय घृतवत्पयो राज्ञे हविर्जुहोतन।
स नो जीवेष्वायमेद् दीर्घमायुः प्रजीवसे।

अथर्व. ।18। 2। 3।।

'हे मनुष्यो ! (यमायराज्ञे) राजा यम के लिए, (घृतवत्पयः) घी वाले दूध की, ऐसे दूध की जिस की छाछ बनाकर घी न निकाल लिया गया हो (जुहोतन) आहुति दो (सनःजीवेषु आयमेत्) वह हम लोगों का नियमन करे अर्थात् हमें नियम में रखे (दीर्घमायुः प्रजीवसे) वह आहुति इसलिए डाली जाए कि उस यमराज की आयु दीर्घ हो।

इस मंत्र में नियमों के रखने वाले राजा के लिए आहुतियों का डालना विहित है। यह भी कर्म काण्ड है।

3–उपासनाकाण्ड

प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे।
यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन्त्सर्वम्प्रतिष्ठितम्।

अथर्व. /11/4/1

"उस जीवन के देने हारे परमात्मा के लिए नमस्कार हो, जिस के वश में यह सारा संसारचक्र चल रहा है। वही आत्मा सब का स्वामी है, और उसी में यह सब कुछ स्थित है।"

इस मंत्र में परमात्मा की उपासना की रीति बताई गई है। यह उपासनाकाण्ड का एक उदाहरण है।

हम ऊपर कह आए हैं कि इन तीनों काण्डों का वेदों में पृथक्-पृथक् समावेश नहीं है। ये सब परस्पर मिले जुले पाए जाते हैं। इस से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वेदों का जिस समय इस देश में प्रचार होगा, या (दूसरे शब्दों में) वैदिक सभ्यता के समय, लोग धर्म के इन तीनों अंगों को पृथक्-पृथक् न मानते होंगे। वे यह न

मानते होंगे कि केवल ज्ञान, केवल कर्म या केवल उपासना हमारा उद्धार कर सकते हैं। उस समय उन के धर्म में इन तीनों अंगों का एक साथ समावेश होगा।

वैदिक समय में ज्ञान, कर्म, उपासना ये तीनों ही मिल कर धर्म के शरीर को बनाते थे, अथवा बहुत संभव है, उस समय ये भेद हों ही नहीं। इन तीनों अंगों में उस समय पृथक्त्व समझा ही न जाता हो। मैं ऊपर लिख आया हूं कि यह तीनों भेद कृत्रिम हैं और आधुनिक हैं। समयभेद से भारतीय धर्मशास्त्र तीन भागों में विभक्त हो गया। एक ही धर्म पथ के प्रवृत्ति विशेष से तीन रास्ते हो गए। वह कैसे, यह भी सुन लीजिए।

जो लोग कर्म की निष्फलता को देख कर विरक्त हो जाते हैं और यह समझ लेते हैं कि ये यज्ञादिकर्म या तो कोई फल लाते ही नहीं, यदि लाते भी हैं तो वह फल क्षणिक या अस्थायी होता है, वे लोग कर्म से विमुख हो जाते हैं। लौकिक और सांसारिक धधों से उपराम होने के साथ ही वे श्रुतिविहित अग्निष्टोमादि कर्मों को भी क्षणिक या अस्थायी फल देने वाला समझकर उन से किनारा कर लेते हैं। इन विरक्त व्यक्तियों में भी दो प्रकार के मनुष्य होते हैं। एक वे मनुष्य, जिन के मनों में प्रेम भक्ति आदि रसात्मक गुणों की जान्हवी बहती है, और दूसरे वे जिन के अंदर मस्तिष्क के और विचारशक्ति के कठोर गुण विद्यमान हैं। पहले प्रकार की प्रकृति के लोग, भक्तिमार्ग का और उपासनामार्ग का अवलंबन करते हैं, और दूसरी प्रकार के मनुष्य ज्ञानपथ के पथिक हो जाते हैं। शेष रहे वे लोग जिन्हें वैराग्य नहीं हुआ या जिन की वृत्ति ही परंपरा से यज्ञादि द्वारा होती चली आई है। वे कर्मकाण्ड का आसरा लिये रहते हैं। इस प्रकार, कुछ ही समय में, एक धर्मशास्त्र तीन भागों में विभक्त हो जाता है।

समयभेद से जब धर्म में भक्ति, ज्ञान और कर्म के तीन रास्ते निकल आए, तब धर्मग्रंथ पर नोंच-घसोट शुरू होती है। प्रत्येक राह का राहगीर धर्मशास्त्र को अपने राह के अनुसार लगाना चाहता है। धर्मशास्त्र तो सबका सहमत है; हर एक संप्रदाय वाला चाहता है, कि धर्मशास्त्र मेरे ही मत के अनुकूल लग जाए। तब धर्मशास्त्र के विविध भाष्यों का प्रारंभ होता है। यदि फिर धर्मग्रंथ एक प्रकार से पुराना हो जाए, तब तो कहना ही क्या है ? तब तो नए भाष्यकारों को सुखस्वप्न पूरा करने का खुला अवसर मिल जाता है। शब्दों के अर्थों में परिवर्तन, नए-नए धातुओं का ढकोसला और नई-नई व्याख्यानपद्धतियां साधरणप्रजा को भूलभुलय्यां में फंसा देती हैं। साथ ही उस समय हर एक पंथ के नवीन-नवीन ग्रंथ तैयार होते हैं जो अपने आप को मूल धर्मशास्त्रों के आधार पर स्थिर मानते हैं। वे नए ग्रंथ अपने विचारों के लिए परमसाक्षी उसी मूल धर्मग्रंथ को मानने लगते हैं।

इस गड़बड़ को देखकर, कभी-कभी ऐसे सुधारकों का भी प्रादुर्भाव होता है जो भक्ति या ज्ञान के सिंधु में बहकर धर्मशास्त्र को हाथ जोड़ देते हैं। बढ़ा हुआ

वेदांत कभी-कभी ऐसी अवस्था को पहुंच जाता है। विचारक और दार्शनिक लोग तो सभी देशों में नास्तिक और कुपथगामी के नाम को पाते रहे हैं। उन में से बहुत से, प्रायः, समय आने पर, धर्म-शास्त्र को तिलाञ्जलि दे देते हैं।

यह मैंने इतिहासपरंपरा का एक बहुत ही फीका सा चित्र आप के सन्मुख रखा है। पाठकगण ! आप यहां पर यह आग्रह न कीजिए कि मैं इस इतिहास परंपरा के अनेक प्रकार के उदाहरण दे कर आप को संतुष्ट कर दूं। कारण यह कि यहां पर इस कार्य के लिए मेरे पास स्थान नहीं है। इस इतिहासपरंपरा को अनेक दृष्टांतों से सिद्ध करने का कार्य फिर किसी समय के लिए छोड़ कर, यहां पर मैं केवल भारत की धार्मिक विचारशृंखला को इस इतिहास परंपरा के ढांचे में पूरा-पूरा ढाल कर दिखाने का यत्न करूंगा। शायद आप समझें कि मेरा यह सारा यत्न निष्फल हैं, मैं केवल ग्रंथ को दीर्घ बनाने के लिए इस असंबद्ध वाग्विलास को स्थान दे रहा हूं। किंतु ऐसा नहीं है। इसी इतिहासपरंपरा के ढांचे में भारतीय धार्मिक विचारों को ढालते हुए, मैं आप को यह बतलाने का यत्न करूंगा कि उपनिषदों का स्थान इस परंपरा में कौन सा है ?

वेद भारतवर्ष के सब से पुराने निश्चित धर्मशास्त्र हैं। उस समय कोई भिन्न-भिन्न पथ न थे। प्रत्येक प्रकार के विचार वैदिक समय में घुले मिले थे। समय के साथ-साथ उनमें कुछ परिवर्तन प्रारंभ हुआ। उस परिवर्तन के सब से प्रथम फल ब्राह्मणग्रंथों के पुरातन भाग हैं। यद्यपि ब्राह्मणग्रंथों के देखने से यह प्रतीत होता है कि उनसे पूर्व कोई सूत्रग्रंथ भी रहे होंगे, किंतु इस समय उन की टोह लगाना कठिन सा प्रतीत होता है। इस समय प्राप्य अन्य ग्रंथों में से ब्राह्मणों के पुरातन भाग हीसब से पहले दीखते हैं। उन ब्राह्मणग्रंथों से पाया जाता है कि वे वेदों को कर्मकाण्ड के लिए ही उपयोगी समझते थे। ब्राह्मणों के आरण्यक भागों को जाने दीजिए, क्योंकि वे मूल ब्राह्मणों से सर्वथा जुड़ी रचनाएं हैं। उनका ढंग, उन की प्रणाली और उनका विषय विवेचन बता रहा है कि उन के संग्रहकर्त्ता तथा संपादयिता वे न थे, जो ब्राह्मणग्रंथों के संग्रहीता थे। ब्राह्मणग्रंथ यज्ञों तथा वृष्टियाग आदि कर्मों में वेदों का विनियोग बताते हैं। वे वेदमंत्रों में आध्यात्मिक सचाइयों की सत्ता बहुत अधिक नहीं पाते। जिन्हें हम ज्ञान और भक्ति के नाम से पुकार सकते हैं, उनकी ब्राह्मणग्रंथों में सर्वथा उपेक्षा है। हम नहीं कहते कि ब्राह्मणग्रंथों ने ज्ञान तथा भक्तिमार्ग का खण्डन किया है, किंतु कहीं-कहीं उपेक्षा की पुकार सीधे प्रतिषेध से बहुत ऊंची होती है। ब्राह्मणग्रंथों ने भी ज्ञान तथा भक्तिमार्ग की बहुत प्रबल उपेक्षा की है। ब्राह्मणों में विशेष-विशेष यागों की प्रक्रिया का विधान करते हुए, वेदमंत्रों के खण्ड किए हैं; कहीं-कहीं सूक्तों के सूक्त दिए हैं; फिर उन की व्याख्या है। जहां कहीं व्याख्या पाई जाती है, वहां कर्मकाण्ड प्रधान है। ज्ञान तथा उपासना की गंध भी शायद कहीं न पाई जाती हो।

यह हुई कर्मकाण्ड की व्याख्या। इस व्याख्या के अनुगामियों ने बहुत भारी

साहित्य उत्पन्न किया है। ब्राह्मण ग्रंथ, अनेक सूत्रग्रंथ, मीमांसा दर्शन और उसके विषय का भूमण्डल समान साहित्य, यह सब कुछ कर्मकाण्ड की महिमा है। कर्मकाण्ड का अथाह साहित्यसागर यहीं समाप्त नहीं होता। नवीन समय के पद्धतिग्रंथों को गिनिये तो उनकी संख्या बरसाती जंतुओं की न्याईं बहुत लंबी है।'

अब हम आप को ज्ञानकाण्ड संबंधी साहित्य की सैर कराते हैं। ब्राह्मणग्रंथों के साथ लगे हुए, और शायद उन से कुछ थोड़ा सा समय पीछे बने हुए उपनिषद्ग्रंथ इस भाग की प्रथम रचनाएं हैं। ये ग्रंथ ब्राह्मणग्रंथों की भांति वेदमंत्रों की व्याख्या पर अधिक बल नहीं देते, किंतु साथ ही बड़े उच्च तथा गंभीर स्वर से पुकार-पुकार कर कहते हैं, कि हम वेदों से निकले हैं, हम वेदों के आश्रित हैं, हम वेदों के सार हैं। ब्राह्मणों में केवल ज्ञान तथा भक्ति की उपेक्षा की गई है, किंतु उपनिषदों में स्पष्टतया कर्म का आंशिक उपहास किया गया है। उपनिषद् का निम्नलिखित वाक्य उस वाक्यमंजरी का एक कुसुम हैं जिस द्वारा कर्म की सापेक्षक निष्फलता और कर्म फल की अस्थिरता दिखाई गई है—

प्लवा ह्येते अदृढ़ा यज्ञरूपा—अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढाजरामृत्युंते पुनरेवापियन्ति। मुण्डकोपनिषद्

'यह यज्ञरूपी किश्ती बहुत ही कच्ची है। यह कदापि इस संसार सागर से पार नहीं उतार सकती। जो मूर्ख लोग इसी किश्ती में बैठ कर पार जाने की अभिलाषा रखते हैं, वे बुढ़ापा और मृत्युरूपीभंवरों मे फिर-फिर आकर गिरते हैं।'

यह है इस वाक्य का भावार्थ अब बतलाइए, क्या इससे बढ़कर भी कर्मकाण्ड की निर्बलता को कोई दिखला सकता है ? इस निर्बलता के दिखाने वाले हैं उपनिषद्ग्रंथ। ब्राह्मणग्रंथों में ज्ञान या उपासना की निष्फलता नहीं दिखाई गई, किंतु उपनिषदों में कर्मकाण्ड के साथ कठोरता का व्यवहार किया गया है, इसका कारण केवल यह है कि उपनिषद्ग्रंथों की रचना के समय, कर्मकाण्ड अपना यौवन पा चुका था। उसकी निर्बलता दिखलाने के लिए निर्बल शब्द पर्याप्त न होते। चाकू से कभी खैर का वृक्ष नहीं काटा जा सकता, उसके लिए तीखे कुल्हाड़े की आवश्यकता रहती है। उपनिषदों ने इस प्रकार कर्मकाण्ड के निषेध में 'अथ ब्रह्मणे नमः' किया।

उपनिषदों में कहीं याज्ञिक प्रक्रिया का विधान है ही नहीं, यह कहना कठिन है। कहीं-कहीं विधिशेष पाया जाता है सही, पर उसके दो कारण हैं। एक तो यह कि पुराने संस्कार एकदम घुल नहीं सकते, और गड़े हुए यागसंबंधी निश्चय एक बार ही उखड़ नहीं सकते। दूसरा कारण इसका यह है कि सब उपनिषद् एक ही व्यक्ति के लिखे हुए नहीं है न ही वे एक साल में, या एक ही शताब्दी में लिख गए हैं। उनके लिखने वाले अनेक, उनका समय भिन्न, फिर हरएक बात में सहमति असंभव है। तथापि यदि सारे उपनिषदों के पाठ से जो सम्मिलित प्रभावप मन पर उत्पन्न होता है, उसे आगे रखें, तो वह कुछ इस प्रकार का होगा—

'ज्ञान से ही मुक्ति होती है। ज्ञान से ही ब्रह्मस्वरूप का ज्ञान होता है। कर्मों से जो सुख मिलता है, वह क्षणिक है। वह शाश्वत या नित्य नहीं हो सकता।' इत्यादि।

वेदों के ज्ञानविषयक मंत्रों की उपनिषदों में व्याख्या है। युजर्वेद के चालीसवें अध्याय के आश्रय पर ही सारे उपनिषदों की रचना हुई है। यह मैं आगे चलकर सिद्ध करने का यत्न करूंगा कि सब उपनिषदें ईशावास्योपनिषद् को ही आधार मानकर चली हैं। इसके अतिरिक्त भी उपनिषदों में बीसों स्थानों पर कहा गया है कि उपनिषद् वेदाश्रित हैं। वेदों कें मंत्र भी उद्धृत किए गए हैं। अतः स्पष्ट है कि उपनिषदों में वेदों के ज्ञानविषयक मंत्रों का विस्ताररूप से वर्णन है।

ज्ञानकाण्ड यहीं पर समाप्त नहीं हो जाता। उसका विस्तार न्याय वैशेषिक साङ्ख्य योग और वेदांत में भिन्न-भिन्न रीतियों पर पाया जाता है। यदि मैं यहां पर दर्शन-ग्रंथों के सूत्र उद्धृत करके अपने कथन की पुष्टि करने लगूं, तो शायद इसी परिच्छेद में पुस्तक समाप्त हो जाए। इसलिए इस असंभव कार्य को छोड़कर मैं अपने अभिप्राय की ओर आता हूं। इस ज्ञानकाण्ड का कितना विस्तार है, इस बात का अनुमान वे लोग बहुत अच्छी तरह लगा सकते हैं, जिन्होंने कभी संस्कृत पुस्तकालय में दर्शन-ग्रंथों की आलमारी पर दृष्टि डाली हो।

उपासनाकाण्ड या भक्तिमार्ग इन दोनों से नया है। वैसे तो उपनिषदों में उपासना का अनेकशः विधान है, दर्शन-ग्रंथों में भी कई स्थानों पर उस के फलों की ओर निर्देश किया गया है, और तो और, ब्राह्मणों में तथा मीमांसा में भी बहुत जगह उपासनामार्ग की ओर अंगुलिनिर्देश किया गया है, किंतु उस को प्राधान्य देना अर्वाचीन है। अर्वाचीन से कोई दो चार सौ वर्ष का न समझ ले, इसलिए हम कह देते हैं कि भक्तिमार्ग का प्रारंभ महाभारत तथा रामायण से हुआ। महाभारत और रामायण ने व्यक्तियों में भक्तिभाव का रास्ता दिखलाकर, हृदय के भक्तिपाट खोल दिए। भक्तिरस प्रवाहित हो पड़ा, और वह व्यक्तियों को अपने अंदर लेता हुआ एक सिद्धांतरूप में परिणत हो गया। वह भक्ति का सिद्धांत ही भक्तिमार्ग है। उसी को आप उपासना-काण्ड कह सकते हैं।

ये तीनों भिन्न-भिन्न मार्ग हैं, जो एक ही धर्म-शास्त्र से अपना उद्भव मानते हैं। वेद को अपना उत्पत्तिस्थान मानकर ही गंगा जान्हवी और भागीरथी प्रवाहित हुई हैं। इन्हीं में से मध्यम प्रवाह के मुख्य ग्रंथ उपनिषदें हैं। उपनिषदें ज्ञान को प्रधान मानती हुई ब्रह्म के स्वरूप का निर्देश करती हैं। ये तीनों प्रवाह वेद से चलते हैं, इसीलिए वेद आर्य्य-संतान-मात्र के शिरोधार्य हैं। कोई किसी पथ का अनुगामी हो, वेद ही उसके लिए अंतिम साक्षी माना गया है। वेद के पीछे, यदि कोई ऐसा ग्रंथ है जो किसी पथ विशेष को नहीं मानता और कर्म ज्ञान और भक्ति के भेदभाव को दूर करके उन्हें भाई बहिन की न्याईं मिलाता है; हां यदि कोई ऐसा ग्रंथ है जो एकदेशी न होकर सर्वदेशी है तो वह 'भगवद्गीता के महत्व का भी वही हेतु है जो

वेदों के महत्व का है। वेदों से जो नदियां पृथक् फूटी थीं, भगवद्गीता ने उन्हें एक ही सिंधुनद में फिर मिलाने का यत्न किया। उसने कर्म ज्ञान और भक्ति इन तीनों की सापेक्षक उपयोगिता बताकर, तीनों पर से निष्फलतारूपी कलंक का टीका मिटा दिया। उसने बिछुड़ी हुई आत्माओं के मिलाने का यत्न किया, इसीलिए आर्य्य जाति के दिल में उसके लिए अतुलनीय भक्तिभाव है। इसीलिए, आर्यों में वेदों के दूसरे दर्जे पर यदि कोई पूरा जापात्र ज्ञान समझा जाता है, तो वह भगवद्गीता का ही है। भगवद्गीता आर्य्यसंतान के एक बड़े भाग के लिए, इस समय दूसरा वेद हो रही है।

दूसरा परिच्छेद

भाषा-शृंखला

भारतवर्ष की विचारशृंखला में उपनिषदों का जो स्थान है उसके विषय में कहकर अब भाषाशृंखला के विषय में कुछ कहना आवश्यक है। भाषा की खोज करने वाले सब विद्वानों ने बहुत परिश्रम के साथ, गवेषणा करने के अनंतर यही परिणाम निकाला है कि जितनी आर्यन् भाषाएं भारतवर्ष में प्रचलित हैं उनका उद्भतिस्थान वैदिकभाषा या वेदवाणी ही है। वैदिक भाषा से ही नवीन संस्कृत, उसी से पाली आदि मध्यकालीन भाषाएं, और उन से बंगाली, गुजराती, मराठी आदि आर्यन्-भाषाओं की उत्पत्ति है। इन सब भाषारूपी शाखाओं का मूल वेदों की भाषा है। उसी से इन सबका प्रादुर्भाव हुआ है।

इस समय, वैदिक भाषा से क्रमशः परंपरा से निकली हुई अन्य भाषाओं को छोड़कर, संस्कृत भाषा के विषय में ही कुछ कहेंगे। संस्कृत भाषा की उन्नति और विकास किस प्रकार हुए ? किस अवधि पर आकर उपनिषदों की उस भाषा में रचना हुई ? उपनिषदों की भाषा का इस संस्कृत भाषा में कौनसा स्थान है ? ये सब प्रश्न हैं, जिन का उत्तर इस स्थान पर मिलना चाहिए। वैसे तो इन प्रश्नों का उत्तर संपूर्णता के लिए स्वयं एक ग्रंथ की उपेक्षा करता है, तथापि यहां हम अपने काम लायक बातों को बहुत थोड़े में कह देंगे।

संस्कृत भाषा के इतिहास को हम चार भागों में विभक्त कर सकते हैं। वे चारों भाग निम्नलिखित प्रकार से हैं–

(1) वैदिक।
(2) पुरातन।
(3) मध्यकालीन संस्कृत भाग। और
(4) नवीन।

संस्कृतभाषा जिन अवस्थाओं में से गुज़री है, उन्हें इन चार मुख्य भागों में विभक्त किया सकता है। इनके मध्य अंतरों को पूरा करने के लिए शायद और भी भाग घड़े जा सकें, तथापि मुख्य-मुख्य अवस्थायें ये ही हैं, जिन में से होती हुई संस्कृत भाषा वर्तमान दशा तक पहुंची है।

सबसे प्राचीन और सबका उत्पत्ति स्थान वैदिक भाषा है वेदों में, जिन शब्दों, और जिन क्रियाओं का प्रयोग है, वे ही वेदों में, जिन शब्दों और जिन क्रियाओं का प्रयोग है, वे ही उत्तर काल में प्रचलित शब्दों तथा क्रियाओं के बीज रूप हैं। बहुत से ऐसे भी शब्द और ऐसी भी क्रियायें हैं, जो वेदों से अन्यत्र और कहीं भी प्राप्य नहीं हैं। उनका अंत वेदों के साथ ही हो गया। उत्तरकालीन भाषा में, कई कारणों से, कई शब्द निर्वासित किए गए थे। दूसरी ओर ऐसे सैंकड़ों शब्द हैं, जो वेदों से पीछे प्रविष्ट किए गए हैं। जहां कुछ एक शब्दों के निकल जाने से भाषा रंक हुई, वहां दूसरी ओर उसे नए-नए शब्दों के खुले खजाने मिले। प्रतिदिन संस्कृत भाषा थोड़ा छोड़ती और अधिक संग्रह करती हुई बढ़ने लगी।

वैदिक भाषा में एक और विशेषता थी। वेद के कई प्रधान आचार्यों की सम्मति है कि वेदों के शब्द यौगिक हैं, उनके निश्चित रूढ़ अर्थ नहीं हैं। धात्वर्थ से जो-जो अर्थ उनके आ सकते हैं, उन-उन का यथाचित ग्रहण किया जाना चाहिए। दृष्टांत के लिए इंद्र शब्द को लीजिए। 'इदि' धातु से इंद्र शब्द की उत्पत्ति है। 'इदि' के धात्वर्थ है 'परमैश्वर्य' परमऐश्वर्य जहां कहीं भी पाया जाता हो, यौगिक पक्ष के मानने वाले उसे गुणानुकूल 'इन्द्र' कह देंगे, और उस के धात्वर्थ के अनुकूल अर्थ कर देंगे। इन्द्र शब्द के ईश्वर, आत्मा, ज्ञानी, सूर्य, अग्नि, वायु, विद्युत्, राजा, आदि विविध अर्थ हो सकते हैं। इस प्रकार से यह शब्द अनेकार्थवाची हो सकता है, या यूं कहिए कि इस सिद्धांत के अनुसार शब्द पदार्थ विशेष की अपेक्षा न करके गुण की या धर्म की अपेक्षा करता है। इस वाद को गुणवाद कह सकते हैं।

दूसरी ओर ऐसे विद्वान् हैं जो इस सिद्धांत को नाम से मानने को तैयार न होंगे। पश्चिमी विद्वानों ने वेदों के विषय में बड़ी गहरी खोज की है। उन्होंने बड़े बीहड़ मामलों को हल करने का यत्न किया है। वे वेदों को भारतीय सभ्यता के प्रारंभ का नमूना समझते हैं और वेदों की भाषा के विषय में उन की सम्मति और भी अचंभे में डालने वाली है। वे कहते हैं कि भाषा विज्ञान के अनुसार हर एक भाषा, प्रारंभ में अनिश्चित हुआ करती है। पहले पहल उसके नियम वैसे दृढ़ नहीं होते, जैसे पीछे से हो जाते हैं। व्याकरण या रूढ़ि की सांकल उस के पांव में अभी नहीं पड़ती। भाषा स्वच्छंद रहती है और शब्द तथा क्रियाएं भी ढीले प्रकार से अर्थों को कहते हैं। ये सब इस बात को मुक्तकण्ठ से स्वीकार करते हैं कि संस्कृत भाषा के शब्दार्थों में अधिक कठोरता और अधिक निश्चयात्मकता, वैदिक समय से बहुत पीछे आई। इसे हम अनिश्चित शब्दवाद कहेंगे।

क्या हम अशुद्धि करेंगे, यदि कहें कि गुणवाद और अनिश्चित शब्दवाद, दो रास्तों से एक ही अभिप्राय पर पहुंचते हैं। यह सभी को मानना पड़ता है कि वेदों में रूढ़ि शब्दों का सर्वथा अभाव सा है। कई ऐसे भी सज्जन हैं जो वेदों में योग-रूढ़ि शब्दों का होना भी नहीं मानते, किंतु उनके मत की संभवता और उपहास्यता ऐसी स्पष्ट है कि उस पर ध्यान देना भी व्यर्थ प्रतीत होता है। ब्राह्मणों से लेकर ऋषि दयानंद तक जितने वेदों के भाष्यकार हुए हैं, सब ने योगरूढ़ि शब्दों को अपने कार्य द्वारा स्वीकार किया है।

यहां पर इस सारे विस्तीर्ण प्रपञ्च का केवल यह अभिप्राय है कि संस्कृत भाषा का प्रथम रूप स्थिर सांकलों से बंधा हुआ न था, किंतु खुला था। व्याकरण ने अभी उस पर कड़ा पहरा नहीं बिठाया था। उस में हिलने-जुलने, बढ़ने-घटने और फैलने की शक्ति पूरी तरह से विद्यमान थी। प्रातिशाख्यों की रचना ब्राह्मणों की रचना से भी बहुत नई मानी गई है, फिर पाणिनीय व्याकरण का तो अभी किसी को सपने में भी ध्यान न था। पाणिनीय व्याकरण का समय ईसा से 500 वर्ष पूर्व माना गया है।

वैदिक समय का अंत विक्रम से 1200 वर्ष पूर्व मानना चाहिए। इस सिद्धांत के लिए अनेक प्रमाणों की यहां आवश्यकता नहीं केवल एक ही प्रमाण पर्याप्त है। ब्राह्मणकाल में ब्राह्मणों के रचनाकाल से लेकर उपनिषदों तथा सांख्य दर्शन के अंत तक का समय लिया जाता है। यह एक स्पष्ट बात है कि जितना मतपरिवर्तन और सिद्धांतविकास इस समय के अंदर पाया जाता है, उस के लिए एक सहस्रवर्ष से कम समय की आवश्यकता नहीं है। आप जरा धर्म-संबंधी और अध्यात्म-विद्या संबंधी विचारों के विकास पर दृष्टि डालिए। आपको स्पष्टतया प्रतीत होगा कि सहस्र मे कम वर्षों में वह असंभव है। मैं इस कथन को कुछ दृष्टांतों से स्पष्ट करता हूं।

समय पर विवाद करने वाले पश्चिमी विद्वान् ही हैं। हमारे पूर्वीय विद्वान् तो सब संस्कृत पुस्तकों को अनंत समय का बना हुआ मानते हैं। यदि किसी का समय निश्चित करना भी हुआ तो त्रेता या द्वापर कह कर बस कर देते हैं। उन से हमारा विवाद नहीं है। विवाद है; पश्चिमी विद्वानों से। उनकी समीक्षा के लिए उन्हीं की युक्ति का अवलंबन करना चाहिए। 'जैन को वेदप्रमाण क्या ? की कहावत यदि ठीक है, तो पश्चिमीय विद्वानों के कथन की समीक्षा के लिए उन्हीं की राह के राही होना चाहिए। पश्चिमी विद्वान् ब्राह्मणों का समय ईसा से 800 वर्ष पूर्व से लेकर 500 वर्ष पूर्व तक मानते हैं। 500 वर्ष पूर्व तो बुद्धदेव के धर्म प्रचार की अवधि होने के कारण रखा गया है। बुद्धदेव का जन्म 480 वर्ष ईसा से पूर्व हुआ माना जाता है। वही ब्राह्मण-काल की इतिश्री समझी जाती है। जिस समय बौद्ध-धर्म का प्रचार हुआ, उस समय सारी उपनिषदों की रचना हो चुकी थी, और साथ ही यह भी मानी हुई बात है कि उस समय सारे दर्शनों की नहीं तो मुख्य-मुख्य दर्शनों की रचना अवश्य हो चुकी थी। पश्चिमी विद्वान् विचारविकास को स्वीकार करते हैं। प्रश्न यह है कि

क्या 300 वर्षों में भारतवर्ष ब्राह्मणग्रंथों के विचारों से प्रारंभ करके, उपनिषदों और दर्शनग्रंथों तक पहुंच सकता था ? यह हम पश्चिमी विद्वानों से पूछते हैं कि क्या इतने थोड़े समय में कभी इतना सम्मतिपरिवर्तन और इतना धार्मिक दृष्टि में उलट फेर हो सकता है ? कहां ब्राह्मणों की याज्ञिक प्रक्रिया और कहां उपनिषदों का कर्मकाण्ड से सर्वथा विरोध। कहां ब्राह्मणों की श्रोत्रियों वाली बातें और कहां दर्शनशास्त्रों का तर्कवाद, और संसारक्रम का जिज्ञासु दृष्टि से निरीक्षण। यह परिवर्तन छोटा नहीं है। यह इतना बड़ा परिवर्तन है, जिस के सामने इंग्लैण्ड के धार्मिक विचारों का गत छह सात सौ वर्षों का परिवर्तन कुछ भी नहीं है। इतना बड़ा परिवर्तन एक सहस्र वर्षों के बिना असंभव है। राष्ट्रीय विचारों और राष्ट्रीय धर्मों की गति बहुत धीमी होती है। वह रुक-रुक कर बढ़ती है और मंजिल पार करने में बड़ा दीर्घ समय लेती है। वेदों के कर्मकाण्ड विषयक विचारों को गौण मानने और फिर उन के ज्ञान को प्राधान्य देने में कम से कम दसे शताब्दियों का अंतर पड़ा होगा ब्राह्मणों में आई हुई ज्योतिष की बातों से यहां तक प्रतीत होता है कि ब्राह्मणों के कई भाग 12000 वर्ष पुराने हैं, किंतु साधारण तौर पर, शेष भागों के लिए, ब्राह्मणकाल की ऊपर ली अवधि 1500 वर्ष विक्रम से पूर्व माननी पड़ेगी।

विक्रम से कम से कम 15 शताब्दियां पूर्व से ब्राह्मणों का समय प्रारंभ होता है। ब्राह्मणों की भाषा वेदों की भाषा की प्रथम पुत्री हें किंतु एक बड़ा भारी भेद है। वेद कविता में हैं, और छंदोबद्ध हैं। इसीलिए उन का प्रकाश करने वाला कवि के नाम से पुकारा गया है। किंतु ब्राह्मण गद्य में हैं। ब्राह्मणों में स्थान-स्थान पर पद्यों का प्रयोग है, किंतु बहुत गौण रीति से। प्राधान्य गद्य का ही है। जहां कहीं कविता या पद्य का प्रयोग है, वहां छन्दो का मेल वैदिक छन्दों से ही अधिक है। इस विषय में एक यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि पद्यों का प्रयोग शतपथ ब्राह्मण की अपेक्षा ऐतरेय ब्राह्मण में अधिक है। दो एक पद्यों के उदाहरण हम यहां पर देते हैं—

'यन्निमं पुत्रमिच्छन्ति ये विजानन्ति ये च न।
किंचितुत्रेण विन्दन्ते तन्म आचक्ष्व नारद।।
ऋणमस्मिन्त्सन्नयत्यमृतत्वञ्च गच्छति।
पितापुत्रस्य जातस्य पश्येच्चेज्जीवतो मुखम्।।
यावन्तः पृथिव्यां भोगाः यावन्तो जातवेदसि।
यावन्तो आसु प्राणिनां भूयान्पुत्रे पितुस्ततः।
एष पन्था उरुगायः सुशेवो,
यं पुत्रिण आक्रमन्ते विशोकाः।
तं पश्यन्ति पशवो वयांसि च
तस्मात्ते मात्रापि मिथुन भवन्ति।।'

ऐतरेय ब्राह्मण। 7। 3। 1

जो श्लोक हमने ऊपर दिए हैं, इन में से पहले दो, प्रचलित अनुष्टुप् से कुछ भी भिन्न नहीं हैं। वे बहुत अच्छी तरह कालिदास या क्षेमेन्द्र की कविता में आ सकते हैं। किंतु पिछले दो के विषय में इतना कहना कठिन है। तीसरे में नवीन दृष्टि से बड़ा भारी छंदोभंग है। फिर चौथा तो न प्रचलित इन्द्रवज्रा, न उपेन्द्रवज्रा, न उपजाति और न वंशस्थ वृत्त है। यह छन्द सब की खिचड़ी है। यही इन सब का प्राचीन वैदिक रूप है। इसी, और इसके साथ के और कई मिश्रित वैदिक छन्दों के परिवर्तन तथा पृथक्करण से नवीन इन्द्रवज्रादि छंदों की उत्पत्ति हुई। वैदिक छंदों से इनमें केवल इतना भेद है कि इन में से कोई-कोई नवीन नियमों की ओर अधिक झुकते हैं, वे वेदों के पिंगलशास्त्र और लौकिक पिंगल शास्त्र के मध्य में हैं। शेष सब ब्राह्मण गद्य में ही कहे गए हैं।

अब कुछ ब्राह्मणों के गद्य के विषय में भी कहना चाहिए। ब्राह्मणों का गद्य विशेष प्रकार का गद्य है। पहले तो वह सारे गद्य रूपी किरणों का विकास बिंदु है। वहीं से गद्य के इतिहास का प्रारंभ होता है। यजुर्वेद तथा अथर्ववेद में भी कहीं-कहीं गद्य भाग हैं, इसलिए ब्राह्मणों के गद्य को ही प्रथम गद्य नहीं कह सकते, तथापि नियत गद्य में लिखी हुई प्रथम पुस्तक ब्राह्मण ग्रंथ है, इस में संदेह नहीं। गद्य की प्रारंभिक दशा में जो-जो विशेषताएं होनी चाहिए, वे सब ब्राह्मणों की भाषा में पाई जाती हैं। साथ ही जिस समय ब्राह्मणों की रचना हुई, उस समय की प्रचलित बोल-चाल की भाषा भी अवश्य ब्राह्मण ग्रंथों की भाषा से बहुत मिलती जुलती होगी। ब्राह्मणों के गद्य की रचना हुई ही बोलचाल की भाषा में है। प्रथम गद्य की उत्पत्ति अन्य किसी प्रकार से हो ही नहीं सकती। गद्य का भाव ही बोल चाल से पैदा होता है इसलिए यह कल्पना दूर तक खेंची हुई नहीं कही जा सकती कि ब्राह्मण ग्रंथों में पाचनवे फीसदी शब्द बोलचाल की भाषा से निकले पचानवें हुए होंगे।

एक तो गद्य की प्रारंभिक दशा होने से और दूसरे लौकिक व्यवहार की भाषा से अत्यधिक संबद्ध होने के कारण, ब्राह्मणों की भाषा में कई एक विशेषताएं आ गई हैं। ब्राह्मण का एक गद्य वाक्य उद्धत करके मैं नीचे उनकी कुछ विशेषताएं कहने का यत्न करूंगा।

> **'तदाहुर्यस्याग्निमनुद्धृतमादित्योऽभ्युदि-**
> **याद्वाभ्यस्तमियाद्वा प्रणीतो वा प्राग्घोमादुपशामेत् का तत्र प्रायश्चित्तिरिति ?**
> **हिरण्यं पुरस्कृत्यसायमुद्धरेज्ज्योतिर्वैशुक्रं।**
> **हिरण्यंज्योतिः, शुक्रमसौ तदेव, तज्ज्योतिः।**
> **शुक्रंपश्यन्नुद्धरति। ऐतरेय।**

इस भाषा में मुख्य-मुख्य विशेषताएं ये हैं (1) क्रियाओं की बहुत न्यूनता है। (2) वाक्यों के परस्पर मिलाने के लिए, प्रारंभिक या अंतिम शब्दों की आवश्यकता नहीं समझी जाती। 'इस लिए' 'उस लिए' इत्यादि की उपेक्षा ही की जाती है।

(3) गद्य में 'हि' 'वै' आदि निपात शब्दों का प्रयोग भी खूब किया जाता है। यह निपातों वाली विशेषता उद्धृत वाक्य में इतनी स्पष्ट नहीं, किंतु अन्यत्र वह बहुत स्पष्ट है। यदि ध्यानपूर्वक विचार किया जाए, तो स्पष्टतया प्रतीत हो जाता है कि ये तीनों विशेषताए ब्राह्मण ग्रंथों के गद्य में इस कारण से है कि उसका बोल चाल की भाषा से बहुत पास का संबंध है।

ब्राह्मण समय के साथ साथ ब्राह्मण गद्य की भाषा में भी थोड़ा बहुत परिवर्तन आता रहा। भाषा कुछ अधिक सरस होती गई, वाक्य के पारम्पर्य की रक्षा के लिए मध्यवाक्यों का प्रयोग बढ़ता गया, और साथ ही भाषा में कविता का प्रयोग फिर बढ़ने लगा। क्रियाप्रधान कर्मकाण्ड के ह्रास के साथ-साथ, कर्मकाण्ड द्वारा सम्मत लेख प्रणाली का भी कुछ-कुछ ह्रास होने लगा। तथापि जो गद्य बन चुका था उसका लोप असंभव था। गद्य बना रहा किंतु उसमें थोड़ी-थोड़ी अभ्युन्नति होती रही। इस समय वैदिक भाषा के व्याकरण बनने प्रारंभ हो गए थे, इसलिए भाषा की तीव्रगति रुक चुकी थी। ब्राह्मण ग्रंथों की रचना होते न होते उपनिषदों की रचना प्रारंभ हो गई। ब्राह्मण ग्रंथों के उत्तर भाग आरण्यक कहे जाते हैं वे अरणयवासी वानप्रस्थों ने कहे थे, इसलिए उन का नाम आरण्यक पड़ा; या उन का वानप्रस्थों के लिए पढ़ना आवश्यक था, इसलिए उन्हें आरण्यक कहने लगे, इसका निश्चय करना कठिन है। तथापि इन दो में से ही कोई कारण इस नाम की प्रवृत्ति का होगा, यह निःसंदेह है। ब्राह्मणों के इन्हीं आरण्यकों के भाग उपनिषद् हैं। इन की रचना ब्राह्मणों के समकालीन नहीं किंतु उनके ऐन पीछे की है, यह हम विचारशृंखला में दिखला आए हैं। इस समय-भेद का प्रथम प्रमाण विचारों का वैचित्र्य है, जैसा ऊपर दिखाया जा चुका है। इस परिच्छेद में यह भी स्पष्टतया प्रतीत हो गया होगा कि भाषा प्रणाली में तथा पद्य प्रयोग में ब्राह्मण ग्रंथों से उपनिषद्ग्रंथों की भिन्नता है। यह भी इन की रंचन के समयों में पौर्वापर्व को दिखलाता है।

ब्राह्मण समय के साथ ही लगा हुआ किंतु उनके पीछे रहने वाला उपनिषदों का समय है। यहां पर उपनिषदों की भाषा के दृष्टांत देने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि इस निबंध में उस के अनेक उदाहरण आएंगे। इसलिए हम अब उपनिषदों के समय को छोड़कर आगे चलते हैं।

पश्चिमी विद्वान् सूत्रग्रंथों के रचनाकाल को ब्राह्मणों के रचनाकाल से पीछे का बतलाते हैं। किंतु इस में कोई प्रमाण नहीं है। उनकी इस पृथक्कालीन कल्पना में कोई भी सार प्रतीत नहीं होता। यह मानना अधिक युक्ति सिद्ध प्रतीत होता है कि ब्राह्मण ग्रंथों के साथ ही साथ, श्रौतसूत्र और गृह्य सूत्रों की रचना होती गई। यह हो सकता है कि आधा ब्राह्मण समय बीत जाने पर सूत्र ग्रंथों की रचना शुरू हुई हो। जब कर्मकाण्ड का साहित्य बढ़ने लगा तब उसके ध्यान स्थित करने और सुलभता से याद रखने के लिए सूत्रप्रणाली का आविष्कार हुआ। श्रौतसूत्रों में ब्राह्मणों द्वारा

करणीय विशेष यज्ञों का, और गृहसूत्रों में गृहस्थों के विविध कर्त्तव्यों का संग्रह किया गया। कह नहीं सकते कि प्रातिशाख्य सूत्र, जिन्हें वेदों के व्याकरण कह सकते हैं, किस समय बनने प्रारंभ हुए, तथापि इस में संदेह नहीं कि उनकी रचना भी श्रौतसूत्रों तथा गृहसूत्रों के साथ ही साथ या कुछ ही पीछे हुई। क्योंकि मुण्डकोपनिषद् में जहां अपराविद्या का वर्णन आता है वहां व्याकरण का भी स्मरण है। और यह असंदिग्ध बात है कि प्रापिशाख्य सूत्रों से प्राचीन किसी भी व्याकरण का पता नहीं चलता। उपनिषद् का यह वाक्य, मेरी इस कल्पना का बड़ा भारी पोषक है कि सूत्रग्रंथों की रचना ब्राह्मणकाल की समाप्ति से बहुत पूर्व प्रारंभ हो गई थी।

उपनिषदों के काल के समाप्त होने से पूर्व ही सूत्रग्रंथों की रचना प्रारंभ हो गई। ब्राह्मणों ने कर्मकाण्ड विधान किया, फल यह हुआ कि श्रौतसूत्र तथा गृह्यसूत्रों का निर्माण हुआ। इधर उपनिषदों के ऋषियों ने ज्ञानकाण्ड का चंद्रमा प्रकाशित किया। विचार सागर में हलचल मच गई, ज्ञान के चांदने की ओर लोगों की दृष्टियां दौड़ गईं, विचारकों के दिलों में जिज्ञासा पैदा हुई, जिज्ञासा के साथ-साथ ज्ञान का अंकुर फूट पड़ा। उपनिषदों द्वारा वेदों के ज्ञान काण्ड की व्याख्या होने लगी। तब तो सार्वदेशिक ज्ञानचर्चा फैल गई। उस समय आस्तिक दर्शनों की रचना प्रारंभ हुई। क्रम से वैशेषिक न्याय, वेदांत, सांख्य और योग की रचना हुई। संभव है इस क्रम में कुछ भेद हो, तथापि देखने से प्रतीत होता है कि दर्शनों को क्रम उपनिषदों की रचना के साथ-साथ पीछे इसी प्रकार चला। इन दार्शनिक सूत्रों की रचना और इन द्वारा प्रकाशित विचारों के विकास ने ही कई शताब्दियां ली होंगी।

किंतु ज्ञान की लहर पहले की सी प्रबलता के साथ देर तक न चल सकी। धीरे-धीरे वह शिथिल होने लगी। याज्ञिकों के दिलों में गड़ा हुआ यज्ञप्रेम फिर जागने लगा। लोगों की आंखें फिर कई शताब्दियों के पीछे ब्राह्मणों की ओर उठने लगीं। जैमिनि मुनि ने, इसी समय, अपने मीमांसा दर्शन की रचना करके, इस उत्पन्न हुई लहर को और भी प्रबल किया। सोई हुई प्रवृत्तियां फिर जाग पड़ीं। ज्ञान काण्ड के प्रतिपक्ष में फिर प्रतिक्रिया उत्पन्न होने लगी। कह नहीं सकते कि यह प्रतिक्रिया एक शताब्दि रही या इस से कम रही। क्योंकि इस से थोड़ी ही देर पीछे, भारतवर्ष में एक नए धर्मादित्य का प्रादुर्भाव हुआ, एक नए ज्ञानी जीव ने जन्म ग्रहण किया। इस समय बुद्धदेव ने संसार में प्रवेश किया, और फिर से उपजी हुई कर्मकाण्डिक प्रवृत्ति की धज्जियां उड़ाने के साथ-साथ एक नए धर्म को जन्म दिया। वह धर्म, जो उसने प्रकाशित किया, चाहे कितना ही पुराना था, बुद्धदेव ने चाहे उस नए धर्म के नाम से नहीं पुकारा, तथापि वह नया धर्म कहलाया और बढ़ता-बढ़ता यहां तक बढ़ा कि न केवल भारतवर्ष को, अपितु एशिया खण्ड के एक बड़े भाग को उस ने व्याप्त कर लिया। यहां तक ही उसकी चेष्टओं की बस नहीं हुई; समय पाकर उस धर्म ने एक नए धर्म को उत्पन्न किया, जिसका नाम ईसाई धर्म पड़ा, और

जो अपने मानने वालों के उद्यम और पुरुषार्थ से आज संसार के सब से बड़े धर्मों में से एक माना जाता है।

इस प्रकार से हमने देखा कि उपनिषदों का समय ब्राह्मण ग्रंथों के रचना काल से पीछे और आस्तिक दर्शनों के रचनाकाल से पूर्व का है। दर्शनकाल बुद्धदेव से कोई एक शताब्दि पूर्व तक आ पहुंचता है। मीमांसा दर्शन की रचना पर भी ध्यान दिया जाए तो कहना पड़ता है कि दर्शनकाल बुद्धदेव के ऐन साथ आ मिलता है। ब्राह्मणग्रंथों के रचनाकाल से बुद्धदेव के उदयकाल तक मैंने कम से कम दस शताब्दियों का समय दिया है। तीन शताब्दियां दर्शनकाल के लिए देकर और चार शताब्दियां ब्राह्मण काल के लिए देकर, हम उपनिषदों के रचना काल को विक्रम से ग्यारह शताब्दियां पूर्व से लेकर आठ शताब्दियां पूर्व तक का समय दे सकते हैं। संभव है मेरी यह अटकल सर्वथा अशुद्ध हो, तथापि मुझे इस के पक्ष में प्रबल प्रमाण दिखाई देते हैं और इस अटकल के मानने से अनेक कठिनाइयां दूर हो जाती हैं।

तीसरा परिच्छेद
उपनिषदों का गौरव

ब्राह्मणों से प्रारंभ करके सूत्र ग्रंथों के अंत तक का समय संस्कृत साहित्य का पुरातन भाग कहा है। इस के आगे मध्यकालीन समय प्रारंभ होता है। पुरातन साहित्य में ही क्या, मध्यकालीन तथा नवीन साहित्य में भी उपनिषदों का अनूठा ही गौरव है। जो गौरव संस्कृत काव्य में कालिदास के ग्रंथों को है, वही स्थान धार्मिक साहित्य में वेदों को है। मणियों में कोहेनूर और नदियों में गंगा की जो अद्भुत महिमा है, संस्कृत के धार्मिक साहित्य में उपनिषदों की वही महिमा है। आर्यजाति के एक बड़े भाग के लिए उपनिषदें दूसरे वेद हो चुकी हैं। जो वीतराग हो जाते हैं, या होने का दम भरने लगते हैं, उन दोनों प्रकार के सज्जनों के लिए उपनिषदें गले की माला हो जाती हैं। आरण्यकों के तो वे सर्वस्व समझे जाते हैं। विद्वान् लोगों की कल्पनाहंसी भी बड़े आनंद से, उपनिषत्सरोवर में डुपकियां लगाती, अठखेलियां करती और कोमल मृणालसदृश ज्ञान रत्न पाती है।

उपनिषदों की महिमा और उसके गौरव की साक्षी इस से बड़ी क्या होगी, कि व्यास मुनि को उसके वाक्यों के समन्वय के लिए एक संपूर्ण दर्शन लिखना पड़ा। ब्राह्मणग्रंथों के समन्वय के लिए मीमांसादर्शन बनाया गया, यह ठीक है किंतु वेदांत दर्शन की जो प्रतिष्ठा, जो प्रमाणिकता आर्य संतान के दिल में घर किए हुए है मीमांसादर्शन की मान-प्रतिष्ठा उसका शतांश भी नहीं है।

वेदांतदर्शन के सूत्रों में किसी पुरातन ग्रंथ के वाक्यों का समन्वय है, यह तो

सूत्रों की रचनाशैली से ऐसा अभिव्यक्त है, जैसे अमावस की अंधियारी में नक्षत्र गण। उन सूत्रों की रचना ही बतला रही है कि उनका उद्देश्य किन्हीं विशेष अध्यत्मिविद्याविषयक वाक्यों का सारांश प्रकाशित करना है। उपनिषदों में ब्रह्म के विषय में जो-जो परिज्ञान दिए हैं, या जो जो सूचनाएं गुप्त रीति से दी हैं, उन सब को प्रकाशित कर देना ही वेदांतदर्शन का कार्य है। समय ने शायद उपनिषदों के सरल ज्ञानसूत्र में कहीं-कहीं गांठें भी दे दी थीं और कई नई-नई उलझने भी डाल दी थीं। गांठों को खोलना और उलझनों को सुलझाना भी वेदांत दर्शन का ही कार्य था। जिन मधुमय उपदेश और ज्ञान से भरे हुए वाक्यों के अभिप्राय को प्रकट करने के लिए एक मुनि को दर्शन लिखना पड़ा, क्या उनकी महानता तथा गौरव का कोई परिमाण हो सकता है ?

आर्यजाति के दिलों में उपनिषदों के लिए कितना संभ्रम था, यह इससे और भी अधिक झलकने लगता है कि श्री शंकराचार्य ने अपने नवीनवेदांत का अनूठा भवन खड़ा करने के लिए नींव उन ही मोक्ष के पहरेदारों को बनाया। क्या उपनिषदों का भाष्य करके और क्या वेदांत पर अद्भुत शारीरिक लिख कर, आपने स्पष्टतया प्रकाशित कर दिया कि वेदांतदर्शन के मुख्य आधार उपनिषदें हैं। भारतीय आचार्यों के सिरमौर श्री शंकराचार्य जी के पीछे, जिन आचार्यों ने उन के शुद्धाद्वैदरूपी चक्रव्यूह के सामने, विशिष्टाद्वैतादिरूपी सैन्य स्थापित किए, उनको भी वेदांतभाष्यों द्वारा उपनिषद्वाक्यों की संगति अपने पक्ष में लगाने का यत्न करना पड़ा। यहां पर श्री शंकराचार्य के शुद्धाद्वैत को हमने चक्रव्यूह लिखा है, शायद इससे कोई संदेहशील पाठक हम पर चिढ़कर कहें, "...वाह जी ! तुम तो वेदांती हो गए, नहीं तो तुम श्री शंकराचार्य और शुद्धाद्वैत के लिए प्रतिष्ठा के शब्दों का प्रयोग क्यों करते ?" ऐसे संदेहशील जोशीले महानुभावों की सेवा में हम यह निवेदन करेंगे कि 'महाशय ! श्री शंकर को आचार्य कहना, उनको प्रतिष्ठासूचक शब्दों से विशेषित करना, एक सच्चाई को स्वीकार करना है। जिस शुद्धाद्वैत को न मानने वालों के अनथक यत्नों और सहस्रों छल-बलों पर भी उसका बाल बांका होता दिखाई नहीं देता, उसे चक्रव्यूह के साथ उपमा देना ही युक्तियुक्त है। किसी की शक्ति का मानना—चाहे फिर वह शत्रु ही क्यों न हो—बुरा नहीं। उसकी शक्ति से आंख मूंद कर हम कभी उसे शक्तिहीन नहीं बना सकते। शक्ति को मानना और बात है, और उसकी सत्यता पर विश्वास करना और बात हैं। अतएव महाशय ! हम शुद्धाद्वैत में विश्वास न रखते हुए भी उस के संस्थापक की महानता और उस की युक्तियों की प्रबलता को स्वीकार करने में कोई हानि नहीं समझने।"

इन सब से बढ़कर आदर उपनिषदों को यह मिलता है कि प्रत्येक आर्य, जो संसार के मार्ग को छोड़कर धर्म के पथ पर चलने के लिए उद्यत होता है, सब से पहले उपनिषदों को हाथ में लेता है। उपनिषदों की इतनी महिमा को सुन तथा देख

कर ही दिल्ली के मुगल राजा शाहजहां के योग्य किंतु अभागे पुत्र दारा शिकोह ने उनका फारसी में उल्था करवाया था। उसी उल्थे को जर्मनी के प्रसिद्ध दार्शनिक शौपनहार ने पढ़ा और पढ़ते ही उन की महिमा ने उसके हृदय-मंदिर में निवास कर लिया। शौपनहार जर्मनी के बहुत प्रसिद्ध दार्शनिकों में से समझा जाता था। वह विचारशैली में बहुत ही गहरी गति रखता था। जर्मनी के प्रसिद्ध दार्शनिक काण्ट के ग्रंथों से उसने इस दृश्यमान जगत् के पीछे तिरोहित एक वास्तविक सत्ता का विश्वास प्राप्त किया था। इस विश्वास के विषय में वह काण्ट का चेला था। इसके साथ ही जिन्हें दृश्यमान जगत् कहना चाहिए, और जिन्हें विज्ञान-अवकाश, समय, और कारणता के नाम से पुकारता है, उनके विषय में भी वह दार्शनिक काण्ट के साथ सहमति रखता था। किंतु इस के आगे उस की मथुरा न्यारी थी। वास्तविक सत्ता के विषय में दार्शनिक शिरोमणि काण्ट से वह आगे बढ़ गया था। उसका सिद्धांत था कि वह वास्तविक सत्ता, जो दृश्यमान जगत् की ओट में विद्यमान है, विज्ञान से अगम्य है। उसे केवल हमारी इच्छाशक्ति ही मिल सकती है, क्योंकि इच्छा शक्ति (will) या प्राणशक्ति और वास्तविक सत्ता एक ही बात हैं।

शौपनहार की सम्मति में सहानुभूति ही आचार का मूल है और उसके सिद्धांत का अंतिम परिणाम यह है कि मनुष्य इस सांसारिक आवर्त्त में फंसा हुआ कभी सुखी नहीं हो सकता, सुख उसी मनुष्य को हो सकता है जो सर्वथा स्वार्थरहित ध्यान में अपने समय तथा चित्त को लगाता है। मनुष्य का सांसारिक जीवन सुखमय नहीं हो सकता। शौपनहार के सिद्धांत का तर्कसिद्ध परिणाम यह है कि इस जीवन के धारण की कोई आवश्यकता नहीं। कभी कभी शौपनहार को आत्महत्या ठीक मानने वाला कहा जाता है, उसका यही कारण है। उसने चाहे स्पष्ट शब्दों में आत्महत्या का प्रतिपादन न किया हो तथापि जब वह इस जीवन को सुखमय नहीं समझता, तब उसे आत्महत्या का पक्षसमर्थक समझ लेना कठिन या असंभव नहीं है।

इन सिद्धांतों का मानने वाला शौपनहार था, जिसने उपनिषदों को अपने हृदयपट पर अंकित कर लिया था। शौपनहार के सिद्धांत क्या प्रकाशित करते हैं ? उसके सिद्धांत पश्चिम के गुरु काण्ट के सिद्धांतों को आधार मानकर आगे उन्नति करते हैं। उन्नति करते-करते वे एक ऐसी अवधि तक पहुंच जाते हैं जिस अवधि से हम खूब परिचित हैं। क्योंकि वह अवधि ही उपनिषदों के तत्त्वज्ञान की पहली सीढ़ी है।

शौपनहार की उपनिषदों के विषय में जो सम्मति है, वह भी सुनने योग्य है। आप अपने 'Welt als Wille und Vorslellung' नामक पुस्तक की भूमिका में लिखते हैं—'In the whole World there is no study, except that of the originals, so beneficial and so elevating as that of the Upnekhat. It has been the solace of my life. It will be the solace of my death.'

'मूल वेदों को छोड़कर उपनिषदों का अनुशीलन संसार के सभी ग्रंथों के

अनुशीलन से अधिक लाभदायक और उच्च बनाने वाला है। उपनिषद् मेरे जीवनरूपी सरोवर में अमृत सींचने वाले रहे हैं और वे मेरी मृत्यु में भी अमृत का ही काम देंगे।'

पाल डायसन

जर्मनी में आज कल दार्शनिक संसार के शिरोमणि पाल डायसन हैं। आप का लिखा अध्यात्मशास्त्र आज प्रायः सब देशों में पढ़ाया जाता है। आप संस्कृत भाषा के बड़े प्रेमी हैं और एक बार भारतवर्ष की सैर भी कर गए हैं। आपने 'उपनिषदों के दार्शनिक सिद्धांत' नाम की एक पुस्तक लिखी है। वैसे तो पुस्तक का एक एक शब्द उपनिषदों में आप की भक्ति को प्रकाशित कर रहा है, तथापि अपनी भूमिका के प्रारंभ में आपने जो वाक्य लिखा है, वह आप के बिखरे हुए भक्तिभाव को इकट्ठा करके दिखाने के लिए पर्याप्त है। आप भूमिका का प्रारंभ करते हुए लिखते हैं–

"The Present work forms the Second part of my General Histoy of philosophy. It is however complete in itself: and has for its' subject the Philosophy of Upanishad, the culminating point of the Indian doctrine of the Universe. This Point has been already reached in the Vedic, pre-Buddhist times, and in Philosophic significance has been surpassed by none of later developments of thought up to the present day...To every Indian Brahman today the Upanishads are what the the New Testement is to the Christion."

"यह पुस्तक दर्शनिक विचारों के साधारण इतिहास का दूसरा भाग है। तथापि यह अपने आप में परिपूर्ण है। इसका विषय उपनिषदों के दार्शनिक विचार हैं, जो भारत के सृष्टि विषयक विचारों के अंतिम और सब से उन्नत सिद्धांत समझने चाहिएं। ये वैदिक सिद्धांत बुद्धदेव से पूर्व के समय में ही इस कोटि तक पहुंच गए थे और आज तक के किसी भी पीछे के विचार ने उनके दार्शनिक महत्त्व को मात नहीं किया।. ..आज भारतवर्ष के ब्राह्मणों के लिए उपनिषदें दूसरी अञ्जील हो रही हैं"

यह एक ऐसे विद्वान् की सम्मति है जो आज के विचार संसार में बहुत बड़ा अधिकार रखता है। सचमुच उपनिषदों के दार्शनिक विचार, उनकी ज्ञानकोटि बहुत ही उच्च और बहुत ही गंभीर है। साथ ही पाल डायसन की यह सम्मति भी ध्यान देने योग्य है कि उपनिषदों में ऋषियों ने जो दार्शनिक विचार प्रकाशित किए हैं, वे वैदिक समय से ही मौरूसी जायदाद में प्राप्त हुए थे। इस से हमारा यह सिद्धांत और भी पुष्ट होता है कि उपनिषदें वेदों के ज्ञानकाण्ड की व्याख्या के लिए प्रकाशित की गई थीं। उपनिषदों ने वेदों के आगे दौड़ नहीं लगाई, प्रत्युत उसमें से ज्ञानरत्नों को चुन-चुनकर और उसके साथ सोने के मणके मिला-मिलाकर एक माला तैयार

कर दी, जो आज जीर्णाङ्ग और बूढ़े भारतवर्ष के गले में अनूपम छवि दिखला रही है। जर्मनी के विद्वान् की इस उक्ति पर भी विशेष ध्यान देना चाहिए कि पिछले किन्हीं भी विचारों ने उपनिषदों के दार्शनिक महत्त्व का अतिक्रमण नहीं किया।

इसके अतिरिक्त भारतवर्ष के तथा बाहर के वर्तमान तथा नवीन विचारकों ने उपनिषदों के अनूठे अध्यात्मज्ञान का सिक्का माना है। यहां तक कि प्रोफेसर मैक्डोनल ने भी (यद्यपि वे अंग्रेज़ हैं और अंग्रेज अध्यात्मविद्या या आदर्श प्रधान दर्शन शास्त्रों पर नाक भौं ही चढ़ाया करते हैं) लिखा है कि उपनिषदों का दार्शनिक ज्ञान बहुत ऊंचा था, और वह प्लेटो और काण्ट से शताब्दियां पूर्व होता हुआ भी, उन के दार्शनिक विचारों के अनुरूप था। भारतवर्ष के वर्तमान विचारकों ने तो फिर एकस्वर होकर, मुक्तकण्ठ से वेदों की महिमा का गान किया है। ब्राह्मसमाज के संस्थापक राजा राममोहन राय ने, सनातन सिद्धांतों के पोषक अन्य प्राचीन ग्रंथों को तिलांजलि देते हुए भी, उपनिषदों को अपने लिए सदा माननीय समझा और ईश केन आदि उपनिषदों का अनुवाद अपने हाथ से करके छपवाया। उनके पीछे ब्राह्मसमाज के नेता महर्षि देवेन्द्र नाथ ठाकुर हुए। उन्होंने उपनिषदों के महत्त्व को बहुत ही बढ़ाया। उनके तो उपनिषदें प्राप्त थीं। तब से आज तक ब्राह्म समाज उपनिषदों की पूज्यता को स्वीकार करता है, और उसे अपने धर्म पुस्तक के समान समझता है।

चौथा परिच्छेद
वेदों पर आश्रय (1)

तीसरे परिच्छेद में हम दिखा आए हैं कि उपनिषत्समुद्र में, पूर्वीय और पश्चिमीय विद्वानों की सम्मतिरूपी नदियां एक हो जाती हैं। दोनों ओर के विद्वान् एकवाक्य होकर स्वीकार करते और आघोषित करते हैं कि उपनिषद् अध्यात्मदर्शन की खानी हैं, वे ज्ञानकाण्ड की पराकाष्ठा हैं। इन आगामी तीन परिच्छेदों में हम उन विशेष कारणों को दिखाएंगे जिनसे उपनिषदों की इतनी भारी प्रतिष्ठा बनी हुई है। उपनिषदों पर सब सम्मतियों के पुरुष मोहित हैं, आखिर इसका कोई ताक कारण होना चाहिए। अद्वैतवादी, द्वैतवादी, विशिष्टाद्वैतवादी, ब्राह्म, वैदिक, सुधारक और पश्चिमीय विद्वान् भी उपनिषदों के महत्त्व का सिक्का मानते हैं। श्री भगवान् कृष्ण की सर्वगुण स्फीता गीता के भक्त भी देखिए क्या कहते हैं—

'सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः'।
पार्थो वत्सः सुधीभोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्।।

सारी उपनिषदों को गौ मानकर, गीता को उसका अमृतमय दुग्ध माना है। जिन उपनिषदों की ऐसी सर्वसम्मत प्रतिष्ठा है, उनमें ऐसी क्या विशेषता है जिसके

कारण वे सम्मानित हैं ? जो रत्न सबके सिर पर धरा जाता है उसमें क्या दिव्य गुण है जो उसे इस योग्य बनाता है ? यह प्रश्न है, जिसका उत्तर हम इन आगामी तीन परिच्छेदों में देंगे।

सबसे पहले हम उस कारण को लिखेंगे जो पूर्वीय विद्वानों के मण्डल में उपनिषदों की प्रतिष्ठा का हेतु है। उसके अगले परिच्छेदों में हम उस निमित्त का वर्णन करेंगे जो पूर्वीय और पश्चिमीय दोनों प्रकार के विद्वानों की दृष्टि में मूल्यवान् है। साथ ही हम यह भी दिखलाएंगे कि सर्वसाधारण के लिए उपनिषद क्यों प्रिय हैं ? उपनिषदों की सर्वसाधारण साधु संतों में तथा जनसाधारण में भी इतनी गति और प्रवृत्ति क्यों है ? इसका उत्तर बहुत कठिन नहीं, तथापि वह ध्यान देने योग्य और मनोरंजक है। जो उपनिषदें एक ओर अध्यात्मदर्शन का भण्डार कही जाती हैं, वही दूसरी ओर सर्व साधारण को प्रिय हो, यह एक अद्‍भुत बात है, इसी अद्‍भुत बात का उत्तर हम छठे परिच्छेद में देंगे।

इस परिच्छेद में हम यह दिखाएंगे कि उपनिषदें वेदों पर आश्रित हैं। वेदों को ही आधार मानकर उपनिषदों की गति है। जैसे हमने अपने पहले परिच्छेद में कहा था, वेदों के ज्ञान विषयक मंत्रों की उपनिषदों में व्याख्या और परिवृद्धि है। पहले परिच्छेद में हम ने केवल यह कथन कर दिया था, इसके लिए प्रमाण नहीं दिए थे। यहां पर मैं अनेक साधनों से सिद्ध करने का यत्न करूंगा कि उपनिषदों के मूलभूत वेद हैं। साधारणतया इस कथन से जो अभिप्राय निकलता है, वह शायद इस योग्य न हो कि उसके लिए इतने प्रमाणों को संग्रह किया जाए। किंतु उपनिषदों का मूलाधार तथा प्राण सब कुछ वेद हैं, यह कथन कदाचित् सबके लिए बिना विशेष प्रमाणों के संग्राह्य न होगा।

यदि मैं यह दिखाने में कृतकार्य हो जाऊं कि उपनिषदों के आधार वेद हैं, तो इस से हमारे तीन प्रयोजन सिद्ध होंगे। उन तीनों प्रयोजनों को यदि ध्यान में रख लिया जाए, तो जो खोज हम करने लगे हैं, उसका मूल्य हमारी समझ में आ जाए। उन तीनों प्रयोजनों को हम क्रमशः यहां पर लिखते हैं–

(1) उपनिषदों मे पूर्वीय आस्तिक विद्वानों का जो आदर भाव रहा है, उसका एक बड़ा कारण यह है कि उपनिषदों का आश्रय वेदों पर है। वेदों को भारतीय आस्तिक लोग, प्रायः सर्वोपरि प्रमाण और निरपेक्ष प्रमाण मानते आए हैं। वेदों के एक भाग की ग्रन्थ व्याख्या करें, उनका आदृत होना स्वाभाविक ही है।

(2) यदि यह स्पष्टतया दिखला दिया जाए कि उपनिषद पदों का आधार वेद ही हैं, तब एक और विलक्षण परिणाम दिखाई पड़ेगा। ऐसे लोगों की कमी नहीं है जो श्रुति और वेद शब्द को एंकार्थवाची मानते हैं। वे लोग यह आघोषित करते हैं, कि संहिताभाग तथा ब्राह्मणग्रन्थ, सदा से समानतया प्रमाण और स्वतः प्रमाण माने जाते रहे हैं। उन लोगों के इस कथन का ऐतिहासिक दृष्टि से अशुद्ध होना बहुत

ही स्पष्टता से प्रतीत होने लगेगा, जब हम देख लेंगे कि उपनिषदें स्वयं स्वीकार करती हैं कि "हम वेदाश्रित हैं—हमारा आधार वेद हैं" उपनिषदों के इस वाक्य का अभिप्राय क्या यह नहीं है कि उपनिषदें वेदों पर आश्रित पृथक् ग्रन्थ हैं, वेद नहीं। उपनिषद् और ब्राह्मण श्रुति हो सकते हैं, वेद नहीं हो सकते। श्रुति और वेद में बड़ा भारी भेद है। इन दोनों शब्दों के क्षेत्र की एक ही अवधि मान लेना जबर्दस्ती है। श्रुति उसे कहते हैं जो सुना जाए और वेद ज्ञान का नाम है। दोनों के अर्थ ही जब भिन्न हैं, तब उनके क्षेत्र एक ही क्यों माने जाएं ? सारांश यह कि जो खोज हम इस परिच्छेद में करेंगे, वह इस बात पर भी प्रकाश डाल सकती है कि उपनिषद् वेदों से भिन्न हैं, या नहीं। क्योंकि अगर उपनिषदों का आश्रय वेद हैं, तो आश्रय और आश्रयी एक नहीं हो सकते।

(३) इसी खोज का एक और भी परिणाम होगा। उपनिषदों के सिद्धांतों के विषय में बड़ा भारी मतभेद हो रहा है। द्वैत विशिष्टाद्वैत, अद्वैत आदि अनेक प्रकार के सिद्धांत उपनिषदों के गले मढ़े जाते हैं। यह ज्ञात नहीं होता कि उपनिषदों का असली विषय क्या है ? उनके वास्तविक सिद्धांत क्या हैं ? यदि यह निर्भ्रान्त रीति से ज्ञात हो जाए कि उपनिषद् वेदों को अपने लिए पथप्रदर्शक मानते हैं, वेद ही उनके सिद्धांतों के संचालक हैं, तो इस प्रश्न के हल करने में बड़ी सहायता मिलेगी। उपनिषदों के सिद्धांतों की खोज के लिए हम वेदों की पड़ताल करेंगे। यदि वेदों में द्वैत है, तो उपनिषदों में भी द्वैत ही मानना पड़ेगा, और यदि वेदों में विशिष्टाद्वैत या अद्वैत का विधान है, तो उपनिषदों में भी उन्हीं सिद्धांतों का प्राध्यान्य स्वीकार करना पड़ेगा। ऐसी अवस्था में जहां उपनिषदें वेदों के भावार्थ समझाने में सहायक होंगी, वहां वेद उपनिषदों के सिद्धांतों के लिए प्रमाणीभूत होंगे।

उपनिषदों और वेदों के परस्पर संबंध-निर्णय से हमें उपर्युक्त प्रश्नों का उत्तर देने में साहाय्य मिल सकता है। साथ ही इससे कई नवीन विचारकों के इस कथन का भी उत्तर मिल जाता है कि उपनिषदों तथा वेदों में परस्पर मतभेद हैं, और उपनिषदें वेद को निचली कोटि में, और अपने आप को उच्च कोटि में पहुंचा हुआ स्वीकार करती हैं।

इस विषय में कुछ लिखते हुए यह देखना प्रथम कर्त्तव्य है कि उपनिषदों की वेदों के विषय में क्या सम्मति है ? उपनिषदें वेदों को ईश्वरीय ज्ञान मानती हैं या उन्हें केवल आंशिक ज्ञानी ऋषियों की कृति मानती हैं। पहली अवस्था में यह असंभव है कि वे वेदों से एक पग भी इधर-उधर आवें और उनके मार्ग का अवलंबन न करें। दूसरी अवस्था में ऐसा हो सकता है कि वे वेदों को आधार या प्रमाण न मानें।

मुण्डकोपनिषद् में सर्वभूतान्तरात्मा जगदीश्वर के स्वरूप का वर्णन करते हुए निम्नलिखित वाक्य कहे गए हैं—

(1) **'अग्निमूर्द्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्ये दिशः श्रोत्रे**

वाग्विवृताश्च वेदाः। वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य
पद्भ्यां पृथ्वी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा'

2,1,4।।

इस श्रुति में परमात्मा की रूपकल्पना की गई है। अग्नि को परमात्मा का मुख, चन्द्र और सूर्य को उस दिव्य स्वरूप की चक्षु, दिशाओं को उस सर्वज्ञ के कान, और स्पष्ट तथा विस्तृत वेदों को उसकी वाणी कहा गया है। वायु को उस सर्वप्राणाधार जगदीश्वर के प्राण स्थानीय, सारे जगत् को हृदय और पृथ्वी को उस जगदाधार के चरण माना गया है। इस श्रुति में दी गई सारी उपमा के साथ कोई संबंध न रखते हुए हम केवल 'वाग्विवृताश्चवेदाः' पर ध्यान देते हैं।
इसके आगे फिर कहा है–

(2) **'तस्मादृचः सामयजूंषि शिक्षा यज्ञाश्च सर्वेक्रतवो**
दक्षिणाश्च' 'संवत्सरं च यजमानश्च लोकः
सोमो यत्र पवते यत्र सूर्यः।'

उसी सर्व भूतांतरात्मा से ऋक्, साम तथा, यजु. की उत्पति हुई। शिक्षा ऋतु दक्षिणा आदि कर्म धर्म भी उसी से प्रादुर्भूत हुए।

इन वाक्यों से बहुत स्पष्ट है कि उपनिषदें वेदों का प्रकाश ईश्वर से ही मानती हैं। वेदों को ऐसा स्वीकार कर के देखिए आगे उपनिषद् क्या कहती है–

(1) **ते वा एते रसानां रसा, वेदा हि रसास्तेषा**
मेते रसाः,। 'तानि वा एतान्यमृतानाममृतानि,
वेदाह्यमृतास्तेषामेतान्यमृतानि'।। छान्दोग्य 3।5।4

ये उपनिषद् रसों के भी रस हैं। वेद रस हैं, और उपनिषद् उन के रस हैं। ये उपनिषद् अमृतों के भी अमृत हैं। वेद अमृत हैं, ये उनके भी अमृत हैं।

(2) **''उपनिषदं भो ब्रूहीत्युक्तास्ते उपनिषद्ब्राह्मीं**
वावत उपनिषदम ब्रूमेति। 32। तस्यै तपोदमः
कर्मेति प्रतिष्ठा, वेदाः संर्वांगानि, सत्यमायतनम्। 33।'' तलवकार।

4 7। 8।

ऋषि कहते हैं कि 'तुम ने हम से पूछा कि उपनिषद् क्या हैं ? पूछे जाकर हमने बतला दिया कि ईश्वरविषयक उपनिषद् यह हैं। जप दम और कर्म ये उपनिषद् के आधार हैं। और 'वेद ही उपनिषदों का सब शरीर हैं', और सत्य उनका घर है।

इस श्रुति में 'वेद ही उनका सब शरीर है, यह ध्यान देने योग्य है।

(3) काठकोपनिषद् में गाथाभाग को छोड़कर, शेष भाग में 'ओम्' पद की ही व्याख्या है। अपने विषय को प्रारंभ करते हुए ही उपनिषद् के वक्ता कहते हैं–

'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च
यद्वदन्ति।' 'यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते
पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्।' कठ. । 1 । 2 । 15

सारे वेद जिस का मनन करते हैं, सारे तप जिस का कथन करते हैं, जिस की चाहना से लोग ब्रह्मचर्य चरते हैं, उसी 'ओम्' पद की व्याख्या मैं सुनाऊंगा।

स्पष्ट है कि कठोपनिषद् वेदोक्त ज्ञान का ही व्याख्याकार होना स्वयं स्वीकार करता है।

इस प्रकार के अनेक वाक्य उपनिषदों में विस्तृत रीति से पाए जाते हैं जिन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि उपनिषदें वेदों को ही अपनी सत्ता का आधार मानती हैं। केवल एक वाक्य है जो प्रायः भ्रम डाला करता है वह वाक्य यह है—

शौनको ह वै महासालोऽङ्गिरसं विधिवदुपसन्नः
पप्रच्छ। कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं
विज्ञातं भवति इति। 3। तस्मै होवाच द्वेविद्ये
वेदितव्ये इति हस्म ब्रह्मविदो वदन्ति। परा चैवापरा च। 4।
तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो ऽथर्ववेदः
शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति।
अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते। 5।'

मुण्डक। 1 । 1 । 5

शौनक ने आंगिरस महाशाल से विधिवत् जाकर पूछा कि हे ऋषे ! किस के जान लेने से यह सब कुछ ज्ञात हो जाता है। 3 । ऋषि ने उत्तर दिया कि दो विद्याओं के जानने की आवश्यकता है। उनमें से एक का नाम परा है और दूसरी का नाम अपरा है। 4 । अपना विद्या में ऋग्वेद यजुर्वेद सामवेद और अथर्ववेद, शिक्षा कल्प व्याकरण निरुक्त छन्द और ज्योतिष आ जाते हैं, और परा विद्या वह कहाती है, जिस द्वारा उस अक्षर परमात्मा का ज्ञान होता है। 5।

यहां पर वेदों को अपरा विद्या के अन्तर्गत माना गया है, और परा विद्या उससे भी ऊपर मानी गई है। इससे प्रायः कई लोग संदेह किया करते हैं कि उपनिषदों ने अपने आप को परा विद्या और वेद को अपरा विद्या कहा है। किंतु यह अप्रामाणिक है। उपनिषदों ने अपने आप को परा विद्या के अंतर्गत नहीं माना। यहां पर विद्या से एक और ही विद्या का ग्रहण है जिस का उपनिषद् में अन्यत्र निम्नलिखित प्रकार से वर्णन हैं।

'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा वृणुते तनूं स्वाम्।'

यह आत्मा शास्त्रों के पढ़ने से नहीं पाया जाता है, बुद्धि से या गुरुमुख से बहुत कुछ श्रवण करके भी यह नहीं मिल सकता है। जिसको यह स्वयं वरता है उस द्वारा ही यह प्राप्त होता है, उसका आत्मा ही इसको स्वयं वर लेता है। जिस विद्या के होने से ब्रह्म जीवात्मा को वर लेता है, वही विद्या परा है। वह विद्या वेद में नहीं है, शास्त्र में नहीं है, उपनिषद् में नहीं है, वह जीवात्मा के अंतःस्थान में वास करती है, उसको पाने के लिए अन्यत्र जाने और भागाभागी करने का प्रयोजन नहीं है। वह विद्या कहीं प्रेम के नाम से, कहीं भक्ति के नाम से और कहीं समाधि के नाम से पुकारी जाति हैं। वही विद्या—वही आत्मगत विद्या—सब और विद्याओं से परे है, इसलिए वह परा विद्या है। किसी से कम या अपूर्ण होने से कोई विद्या अपरा नहीं कहाती, किंतु आत्मगत ज्ञान की अपेक्षा करके वह अपरा कहाती है। 'अपरा' से अभिप्रेत बाह्य है, न्यून नहीं। इसलिए जो यह समझते हैं कि उपनिषदों की सम्मत्ति में वेद किसी अन्य शास्त्र की अपेक्षा न्यून है, उनके अर्थ समझने में थोड़ी सी भूल हो गई है।

किंतु यहीं तक बस नहीं। यदि उपनिषदों का सामान्य दृष्टि से भी अनुशीलन किया जाए तो इन सामान्य वर्णनों से बढ़कर भी प्रमाण पाया जाता है जो सिद्ध करता है कि उपनिषदें वेदाश्रित हैं। सब उपनिषदों में प्रथम 'ईशोपनिषद्' है। ईशोपनिषद् वस्तुतः कोई पृथक् रचना नहीं है। यजुर्वेद का अंतिम अध्याय ही उपनिषद् नाम से प्रसिद्ध किया गया है। थोड़े से परिवर्तन उसमें हुए हैं, यह ठीक हैं किंतु यह बहुत संदिग्ध है कि वे पीछे से भाष्यकारों ने किए, या प्रचीन उपनिषत्कार ऋषियों ने ही कर दिए थे। बहुत से विचारकों का विचार है कि भाष्यकारों ने ही ये सब परिवर्तन किए हैं। किन्तु परिवर्तन चाहे किसी ने किए हों, और चाहे कितने ही किए हों, यह निर्विवाद है कि यह उपनिषद् यजुर्वेद का ही एक अंग है।

साथ ही एक और बात भी विशेषता ध्यान देने योग्य है। यजुर्वेद कर्मकाण्ड प्रधान वेद कहा जात। है, है भी वह यज्ञ में प्रयोग करने योग्य मंत्रों का सप्रयोजन संग्रह ही। कर्मकाण्ड के आगे उपासनाकाण्ड का प्रारंभ होता है। उपनिषदें भी उपासना काण्ड प्रधान हैं, इस में जरा सा भी सन्देह नहीं। कर्मकाण्ड की समाप्ति पर उपासना काण्ड का प्रारंभ होता है। यह स्वाभाविक ही है। क्रर्म अर्थात् क्रिया द्वारा ही अपने प्यारे के समीप जाना हो सकता है। ऐसी अवस्था में यजुर्वेद के अंतिम अध्याय से उपासनाकाण्ड का प्रारंभ सर्वथा प्रामाणिक और तर्कानुकूल है। ईशोपनिषद् से उपनिषदों का प्रारंभ है। न केवल प्रारंभ है, अपितु यदि जरा गूढ़ दृष्टि से देखा जाए तो प्रतीत होगा कि सारे के सारे प्रामाणिक उपनिषद् ईशोपनिषद् पर ही अवलंबित हैं। यह कथन यद्यपि साहसिक प्रतीत होगा, तथापि एक भी गहरी दृष्टि इसे सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है। आइए पाठकगण ! अगले परिच्छेद में हम गहरी दृष्टि के प्रयोग का प्रयत्न करें।

पांचवां परिच्छेद
वेदों पर आश्रय (2)

पहले परिच्छेद में हमने इस परिच्छेद के उद्देश्य का थोड़ा सा वर्णन लिख दिया है। सब उपनिषद् ईशोपनिषद् के ही व्याख्यारूप हैं, उसी के मंत्रों का आश्रय लेकर इनकी रचना की गई है, और उसके सिद्धांतो से प्रतिकूल कोई बात इनमें नहीं पाई जाती, यह दिखाना ही इस परिच्छेद का उद्देश्य है।

केनोनिषद्

सबसे प्रथम सामवेदीय तवलकारोपनिषद् के ऊपर दृष्टिपात कीजिए। तवलकार (या केन) उपनिषद् का प्रारंभ निम्नलिखत श्रुति से होता है–

'केनेषितं पतति प्रेषितं मनः केन प्राणः प्रथमः
प्रैति युक्तः' 'केनेषितां वाचमिमां वदन्ति चक्षुः
श्रोत्र क उ देवो युनक्ति'।।

वह कौन है, जिस की इच्छा के अनुकूल तथा जिसकी प्रेरणा से मन, प्राण, वाणी, चक्षु और श्रोत्र ये सबके सब चलायमान होते हैं।

इसका उत्तर उपनिषद् में यह दिया है–

'श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाचं स
उ प्राणस्य प्राणश्चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्यधीराः
प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति।'

वह श्रोत्र का श्रोत्र, मन का मन, वाणी की भी वाणी, प्राण का भी प्राण और चक्षु का भी चक्षु है। इस दुःखमय लोक से मुक्त होकर धीर लोग आनन्दमय हो जाते हैं।

इसके आगे उपनिषद् उस ब्रह्म की सूक्ष्मता का वर्णन करते हुए कहता है–

'न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो नविद्मो
न विजानीमो यथैतदनुशिष्यादित्यादि-'

न उस ब्रह्म तक चक्षु पहुंचती है, न वह वाणी का विषय है, न मन की वहां तक दौड़ है, न उसे हम जानते हैं और न उसके उपदेश की रीति ही हमें ज्ञात है।

ये इस उपनिषद् के प्रारंभिक वाक्य हैं। सारा तवलकार इन्हीं तीनों की व्याख्या है। ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता और सूक्ष्मता के विचारों का ही सारे उपनिषदों में विस्तार किया गया है। तृतीय और चतुर्थ खण्ड की गाथा भी ब्रह्म की सूक्ष्मता के दर्शाने के लिए ही कही गई है। अब देखिए ईश में इस विचार का मूल कहां विद्यमान है।

ईश का चतुर्थ मंत्र यह है—

'अनेजदेकम्मनसोजवीयो नैनद्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्षत्।'

'तद्धावतो ऽन्यानत्येतितिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति।'

वह चलायमान नहीं होता, वह एक है, और मन से भी अधिक वेगवान है। सब इन्द्रिय इस अग्रगामी को पाने में असमर्थ हैं। वह स्थिर है तथापि चलायमान इन्द्रियों से अप्राप्य है। विस्तारशाली वायु भी जलकणों की धारणा इसी से कराता है। यह उसकी व्यापकता का चिह्न है।

इस मंत्र में ईश्वर की इन्द्रियों द्वारा अगम्यता तथा सूक्ष्मता का वर्णन है। केवल इतना ही नहीं, साथ ही इस में उस ब्रह्म की अनंत शक्तियों की भी व्याख्या है। सारी केनोपनिषद् इसी मंत्र की व्याख्या है।

कठोपनिषद्

केन के आगे यजुर्वेदीय काठकोपनिषद् की गणना की जाती है। कठोपनिषद् का प्रारंभ एक कथानक से होता है जो बहुत प्रसिद्ध है। वाजश्रवस नाम के एक ऋषि ने सर्वमेध का विचार किया। अपनी सब संपत्ति ब्राह्मणों को तथा पात्रों को दान कर दी। उसका नचिकेता नाम का एक पुत्र था। पिता को सर्वत्याग क़रते देखकर पुत्र ने विचार किया कि मेरे पिता इन सब भुक्त पदार्थों का दान कर रहे हैं किंतु इनके दान से पुण्य क्या है ? यदि वे मुझे दान कर दें तब तो कोई पुण्य हो। इसी विचार में मग्न होकर उसने अपने पिता से कहा कि 'हे पिता ! तुम मुझे किस के पास दान दोगे ?' पिता ने दो बार पूछने से तो कोई उत्तर न दिया, किंतु तीसरी बार हठपूर्वक पूछने पर कहा कि मैं तुझे मृत्यु के हाथों में दान दूंगा। मृत्यु कौन है, यम कौन है और वैवस्वत किस का नाम है, इन प्रश्नों का उत्तर तो हम भूमिका के दूसरे भाग में देंगे, यहां केवल इतना जान लेना पर्याप्त है कि यह उपनिषद् की गाथा भाव जतलाने के लिए गढ़ी गई है, इसमें कही हुई कथा, कोई ऐतिहासिक घटना नहीं। यह एक विलक्षण प्रवृत्ति हमारे अन्दर देखी जाती है कि हम भावसूचक कथाओं को सत्य समझकर या तो उन्हें मानने लगते हैं और या उनका खण्डन करने लगते हैं। संस्कृत में एक न्याय है जिसका अभिप्राय यह है कि 'एक शब्द का जो प्रयोजन हो, वही उसका अर्थ समझना चाहिए।' जहां केवल एक विशेष भाव अभीष्ट है और हम कथा को ऐतिहासिक सत्य मान लेते हैं वहां यदि हम अशुद्धि नहीं कर रहे तो कौन कर रहा है। अस्तु।

नचिकेता मृत्यु के पास गया। मृत्यु वहां पर न था। तीन रोज़ तक उसे निराहार ही काटना पड़ा। तब मृत्यु महाराज आए और उन्होंने ने तीन वर नचिकेता को दिए। उन वरों में से पूर्व दो वर गौण हैं, उनका यहां प्रयोजन नहीं, हमें तीसरे से प्रयोजन है, क्योंकि वही कठोपनिषद् का मुख्य उद्देश्य है। तीसरा प्रश्न यह है—

'येयम्प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये ऽस्तीत्येके नायमस्तीतिचैके।'
'एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं वराणामेष वरस्तृतीयः।'

जब मनुष्य का शरीर मर जाता है, तब एक नित्य पदार्थ शेष रह जाता है, यह कइयों का मत है। किंतु अन्यों का विचार है कि शरीर के अतिरिक्त इस पिण्ड में कुछ नहीं है। इसके विषय में सत्य क्या है, यह तुम मुझे बतलाओ, यह मेरा तीसरा वर है।

इस प्रश्न के उत्तर में आत्मा और परमात्मा के स्वरूप का वर्णन करना ही उपनिषद् का प्रयोजन है। किंतु पहले मृत्यु उत्तर नहीं देता, और नचिकेता के सांसारिक प्रलोभनों में फंसाकर ठीक़ रास्ते से डिगाना चाहता है। किंतु नचिकेता अपनी शंका पर डटा रहता है। यह भाग ईशोपनिषद् के इस प्रसिद्ध मंत्र की व्याख्या मात्र है।

'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्'।
'तत्त्वम्पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये'।।

सत्य रूपी घड़े का मुंह सोने के ढकने से ढका हुआ है। हेपूषन् ! उस ढकने को तुम खोल दो ताकि मैं सच्चे धर्म का स्वरूप पहचान सकूं। क्या इसमें संदेह है कि यम और पूजा एक ही उपेदश देने वाली देवता के नाम है ? एक सच्चा जिज्ञासु उस ज्ञानी पूषा या यम के पास जाकर आत्मा तथा परमात्मा के स्वरूप की जिज्ञासा करता है। उसे प्राकृतिक लोभ अपनी चमक दिखलाते हैं, उसकी बुद्धि को सत्य की ओर से मोड़ना चाहते हैं, किंतु वह नहीं हटता और सत्य घट के मुख पर हिरण्यमय ढकने को उठाने के लिए यत्नवान होता है।

आगे यम ब्रह्मस्वरूप का वर्णन करते हैं। सारे वर्णन का उपस्थित करना यहां पर असंभव है। तथापि यदि विचारक लोग ध्यान से विचारेंगे तो उन्हें प्रतीत होगा कि–

'स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्ध-'
मपापविद्धम्। कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथा-
तथ्यतोर्थान्व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः

ईश। 8।

वह तेजस्वी, शरीर रहित, फोड़े फुंसी से पृथक्, नाड़ी नस के बंधन से बचा हुआ, शुद्ध, पाप शून्य, वेदवक्ता, बुद्धि का भण्डार, मनुष्य मात्र के कर्मों का साक्षी, अनादि, अनंत परमात्मा सदा से, अनादि काल से, इन संसार के पदार्थों को नियमानुसार बनाता आया है। इसी मंत्र में वरणे हुए ब्रह्म के गुणों का वर्णन कथा प्रसंग से कठोपनिषद् में किया गया है। ईश्वर के जितने गुण इस मंत्र में कहे गए हैं उनमें से प्रत्येक के विषय में वाक्यों को उद्धृत करना कठिन है, तथापि कुछ नमूने देना आवश्यक प्रतीत होता है।

अशरीर ब्रह्म-अशरीरं शरीरेषु...
अनादिअनंत-न जायते म्रियते वा विपश्चित्

बंधन रहित–

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न
लिप्यते चाक्षुषैर्वाह्यदोषैः।
एकस्तथासर्वभूतांतरात्मा
नलिप्यते दुःखयोगेन वाह्यः।।

इसी प्रकार सब वर्णित गुणों का व्याख्यान इस उपनिषद् में है।

प्रश्नोपनिषद्

कठ के आगे प्रश्न का स्थान है। प्रश्नोपनिषद् में प्रश्न तो छह हैं, किंतु सब का परिणाम भूत तथा मुख्य प्रश्न अंतिम प्रश्न है। अंतिम प्रश्न इस प्रकार का है–

'अथहैनं सुकेशा भारद्वाजः पप्रच्छ। भगवन्
हिरण्यनाभः कौसल्यो राजपुत्रो मामुपेत्यैतं
प्रश्नमपृच्छत्। षोडशकलंह भारद्वाज पुरुषं वेत्थ तमहं
कुमारमब्रवं नाहमिमं वेद, यद्यहमिमं
वेदिषं कथंते नावदिष्यमिति। समूलो वा एषपरिशुष्यति
योऽनृतमभि बदति, तस्मान्नार्हाम्यह
मनृतं वक्तुं। सतूष्णीं रथमारुह्य प्रवब्राज।
तत्वां पृच्छामि क्वसौ पुरुष इति। तस्मै सहोवाच,
इहैवान्तः शरीरे सोम्य स पुरुषः, यस्मिन्नेत्रैताः
षोडशकलाः प्रभवंतीति।'

फिर इस ऋषि के पास आकर भरद्वाज की संतान में से सुकेशा ने पूछा कि 'हे भगवान् ! हिरण्यनाभ ! कौसल्य राजपुत्र ने मेरे पास आकर पूछा कि हे भारद्वाज क्या तुम षोडश कलाओं वाले पुरुष को जानते हो !' मैंने उत्तर दिया कि 'हे राजपुत्र ! यदि मैं जानता तो तुम्हें क्यों न बतलाता। जो मनुष्य झूठ बोलता है वह जड़ मूल के साथ सूख जाता है। इसलिए मैं नहीं कहूंगा' राजपुत्र चुपचाप रथ पर चढ़कर चला गया। सो मैं आप से पूछता हूं कि 'वह पुरुष कहां हैं ? उस भारद्वाज ने उत्तर दिया कि 'हे सौम्य ! वह पुरुष इसी शरीर के अंदर है जिसमें वे सोलह कलाएं विराजमान हैं।'

यह प्रारंभिक सूत्र कहकर और फिर इसका कुछ वर्णन करके ऋषि कहते हैं–

'सायथैता नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रायमाणाः स-
मुद्रं प्राप्तस्तंगच्छन्ति, भिद्र्येतेतासां नामरूपे,
समुद्रइत्येवं प्रोच्यते। तथैवास्य परिद्रिष्टुरिमाः

षोडशकलाः पुरुषायमायणाः पुरुषम्प्राप्यास्तं
गच्छंति, भिद्येते तासां नामरूपे। पुरुषइत्ये
वम्प्रोच्यते, सएषोऽकलो अमृतो भवति तदेषश्लोकः–
अराइव रथनाभौ कला यस्मिन्प्रतिष्ठिताः।
तं वेद्र्यं पुरुषं वेद यथा मावो मृत्युः परिव्यथा
इति।'

इस संदर्भ का भावार्थ यह है कि जैसे नदियां समुद्र में मिलकर समुद्रमय हो जाती हैं और अपने नाम और रूप को खो बैठती है, उसी प्रकार सर्वसाक्षी परमात्मा की सोलह कलाएं परमात्मा को प्राप्त होकर उसमें लीन हो जाती हैं और सत्तारूप से वर्तमान रहती हुई भी पृथक् नाम तथा रूप से भिन्न हो जाती हैं। इस सच्चाई को जो पुरुष भली भांति समझता है, उसको मृत्यु कष्ट नहीं देती।

क्या यह संदर्भ निम्नलिखित मंत्र की व्यख्या नहीं है ?

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते।

जो मनुष्य यह देखे कि ये सब भूत, जिन्हें उपर्युक्त उपनिषदों में सोलह कलाएं कहा है, उसी परमात्मा में हैं, और परमात्मा उनमें है, अर्थात् सत्तारूपेण दोनों एक दूसरे के समान हैं, उसे किसी प्रकार के सांसारिक बंधन नहीं सताते।

इस प्रकार हम ईश के वाक्यों को प्रत्येक उपनिषदों के साथ मिलाते जाएं तो हमें ज्ञात हो जाएगा कि उपनिषदों का उद्देश्य बहुत करके ईश के वाक्यों का व्याख्यान करना तथा उसमें कहे हुए ज्ञान का प्रतिपादन करना है। ऊपर कुछ दृष्टांत दिए गए हैं, सारी उपनिषदों के विषय में कहने का यहां स्थान नहीं है। इस भूमिका के अगले भागों में यह विषय अधिक विस्तारा से लिखा जाएगा। एक-एक उपनिषद् के विषय में विस्तार से लिखते हुए उनका वैदिक मूल बतलाया जाएगा। यहां केवल दिग्दर्शन कराना अभीष्ट था। और उपनिषदों में भी इसी ढंग से खोज की जा सकती है। तैत्तिरीयोपनिषद् वस्तुतः निम्नलिखित मंत्र की व्याख्या समझी जानी चाहिए–

विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद्वेदोभय ꣳ सह।
अविद्यया मृत्युन्तीर्त्वा, विद्ययामृतमश्नुते।

इसमें संदेह नहीं कि उपनिषदों का सब विषयों पर एक मत नहीं और उपनिषदों में पूर्व तथा उत्तरकाल का गहरा भेद है, तथापि जिन उपनिषदों को हम ऐतिहासिक दृष्टि से भी प्राचीन कह सकते हैं, उनका मुख्य विषयों में प्रायः एक मत है, और वह एकमत, जो उनमें प्रतिपादित है, ईशोपनिषद् से लिया गया है।

छठा परिच्छेद
उपनिषदों की सर्वप्रियता

भारतवर्ष के पुत्रों के लिए उपनिषदें इसलिए प्रिय हो रही हैं क्योंकि उनमें वेदों में प्रतिपादित ज्ञानकाण्ड की चर्चा है। चर्चा भी सूत्ररूपेण नहीं, अपितु विस्तार से है। चाहे पीछे हमारे देश के दुर्विदग्धों ने उपनिषद् शब्द के गौरव को घटाने का कितना ही यत्न किया हो, किंतु इसमें संदेह नहीं कि पूर्व उपनिषदें ब्रह्मज्ञान की भण्डार थीं, इसीलिए आर्य संतान को वे बहुत प्रिय थीं। जैसे नन्दनवन अपने सुरभि पारिजात के लिए प्रसिद्ध हैं, इसी प्रकार हर एक जाति अपनी एक विशेषता के लिए प्रसिद्ध होती है। अंग्रेज जाति स्वभाव से शासन करने वाली है, फ्रांस कवियों का उद्‌भवस्थान है, जर्मन जाति विचारकों की खान है। इसी प्रकार भारतवर्ष ब्रह्मज्ञानियों का स्थान है। प्रथम से ही कुछ जलवायु के प्रभाव, से, कुछ जातीय एकांतवास से और कुछ ऐतिहासिक फेरफार से भारतवर्ष के अंदर ब्रह्मज्ञान का विशेष आदर होने लगा है। ईश्वर के अनुग्रह से उसे प्रारंभ में ही, अन्य सब जातियों से ...... ब्रह्मज्ञान प्राप्त भी हो गया। बस फिर क्या था ? ब्रह्मज्ञान की लहर चल निकली और ब्रह्मज्ञानी ही सबसे अधिक आदर पाने लगे। वेदों में सूत्ररूपेण कहे हुए ब्रह्मज्ञान का वर्णन करने के कारण, आर्यजाति के चित्त में उपनिषदों के लिए भी आदर भाव पैदा हो गया।

जिस विषय की प्रधानता के कारण उपनिषदों को पहले आदर मिला, आज भी वे उसी कारण से पृथ्वीतल पर के विद्वानों में प्रतिष्ठित हो रही हैं। जो लोग वेदों के प्रामाण्य हो स्वीकार नहीं करते, वे भी उपनिषदों के अद्‌भुत ज्ञान की महिमा से आकृष्ट हो रहे हैं।

शौपनहार उपनिषदों पर मोहित था। प्रो. मैक्समूलर का कहना है कि उनकी संस्कृत में प्रवृत्ति कराने वाले उपनिषद् ग्रंथ ही थे। और जिन-जिन भी विदेशी विद्वानों ने उपनिषदों के समुद्र में गोता लगाया, उन-उन ने ही अद्‌भुत रत्न पाए और आनंद में मग्न होकर सिर हिलाया। मनुष्य के लिए आध्यात्मिक ज्ञान ऐसा प्रिय है कि चाहे वह उसे निरर्थक कहे, चाहे वह उसे हानिकारक कहे, किंतु वह उसका आदर करने से नहीं हट सकता। उसके आत्मा के अंदर बैठा हुआ कोई प्रेरक है जो उस ईश्वर संबंधी ज्ञान के लिए आदर भाव पैदा करता है। नए विचारों की तरंगों मे अठखेलियां लेने वाले ऐसे नवयुवकों की कमी नहीं जो ब्रह्मज्ञान को उपहास्य पदार्थ समझते हैं। किंतु न जाने कहां से, अवसर पाते ही, स्वाभाविक आदरभाव का प्रबल पवन समय-समय पर उनके सिर को झुका ही देता है, और उन्हें कहना ही पड़ता है कि

भवसागर में तैरने के लिए जितनी नौकाएं हैं उनमें ब्रह्मज्ञान का स्थान बहुत ऊंचा है।

इसी कारण, प्रायः सब रंग ढंग के विद्वानों के चित्त में उपनिषदों के लिए आदरभाव विद्यमान है। केवल ब्रह्मज्ञान की चर्चा ही आदरभाव उत्पन्न करने के लिए पर्याप्त थी फिर जब उपनिषदों में वर्णित किए हुए ज्ञान पर दृष्टि डालते हैं तब तो कहना ही क्या है ? उपनिषदों के ब्रह्मज्ञान में एक बड़ी भारी विशेषता यह है कि वे शुद्ध हैं। सांसारिक विचारों से उनका किसी प्रकार का संबंध नहीं है। हां, मनुष्य जीवन के विषय में बड़े-बड़े उपयोगी उपदेश उपनिषदों में पाए जाते हैं, किंतु ब्रह्मज्ञान में और उनमें उचित भेद स्पष्ट कर दिया गया है ब्रह्मज्ञान की उच्चता और शुद्धता तभी स्पष्टतया प्रतीत होती है जब उसे अन्य सब प्रकार के विचारों से पृथक् करके बतला दिया जाए। पृथक्करण के बिना ब्रह्मज्ञान में कई प्रकार के भ्रममूलक विश्वास, और कई दृढ़ कुरीतियां सन्निविष्ट हो जाती हैं। पुरातन उपनिषदों के वक्ताओं ने इस सच्चाई पर खूब ध्यान रखा था। यही कारण है कि हर एक संप्रदाय के मानने वाले पुरुष उपनिषदों का आदर करते हैं। साम्प्रदायिक मतभेद ब्रह्मज्ञान के समानभाव में रुकावट नहीं डाल सकता, और इसीलिए ईसाई मुसलमान आर्य अनार्य सबके सब उपनिषदों के महत्त्व को स्वीकार करते हैं।

किंतु केवल विषय का गौरव ही उपनिषदों के गौरव का कारण नहीं है। भाषा का सौन्दर्य भी उपनिषदों की प्रियता में हेतु है। उपनिषदों की भाषा में क्या सौंदर्य है, इस का ठीक-ठीक पता लगाने के लिए तो हम पाठकों को यही सलाह देंगे कि वे उपनिषदों का पाठ करें। बिना आम चूसे आम का स्वाद नहीं जाना जा सकता। उपनिषदों के पढ़े बिना उपनिषदों की भाषा का माधुर्य चखना कठिन है। तथापि जिन्होंने उपनिषदों का पाठ अभी तक नहीं किया, या नहीं कर सकते, उनके ज्ञान के लिए इतना कह देना आवश्यक है कि जो रस भक्तिभाव से भरे हुए और ग्रंथों में पाया जाता है, वह ज्ञानरस से भरे हुए उपनिषदों में है। भाषा सरल है, पेचदार नहीं है। कहीं-कहीं पेचदार सूत्र हैं किंतु उनकी संख्या बहुत थोड़ी है। अन्य स्थानों पर भाषा की सरलता और सुंदरता ध्यान देने योग्य हैं। जो 'ह' 'वा' आदि निपात शब्द ब्राह्मणों की भाषा को एक प्रकार से बेढब बनाते हैं, वे ही उपनिषदों की भाषा को सुंदर बनाते हैं। वही पत्थर जो रास्ते में पड़े हुए पैर में ठोकर देते हैं, घर में लगकर अनुपम कृत्रिम छटा दिखलाने लगते हैं। उपनिषदों में ब्रह्मज्ञान के साथ ही कवितापूर्ण भाषा भी पाई जाती है। सरलतया मधुर भाषा का प्रयोग उपनिषदों के सौंदर्य को बहुत बढ़ा देता है। श्री भगवद्गीता की लोकप्रियता का एक भारी कारण भाषा का माधुर्य भी है, यही कारण उपनिषदों को भी कर्णप्रिय और अतएव चित्तप्रिय बनाता है।

उपनिषदों की भाषा के सौंदर्य के कई कारण हैं। एक कारण भाषा की सरलता

है। भाषा में दीर्घ, समस्त या अप्रयुक्त शब्दों का सन्निवेश न करना, यह भाषा की सरलता का मुख्य अंग है। लंबे-लंबे वाक्य न रखना और छोटे-छोटे वाक्यों में गंभीर से गंभीर और पेचदार से पेचदार विचार का कह देना, यह मधुरता का दूसरा कारण है। संदर्भ हम छोटा सा नीचे देते हैं, जिस से उपनिषदों की भाषा का माधुर्य स्पष्ट हो जाएगा—

'वायुर्यथैको भुवनम्प्रविष्टो।
रूपं रूपम्प्रतिरूपो वभूव।।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा।
रूपं रूपं प्रतिरूपो वहिश्च,।। काठक।
'उत्तिष्टत जाग्रत प्राप्य वरान्निवोधत
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया
दुर्गम्पथस्तत्कवयो वदन्ति।' काठक।।
'सहोवाच नवाअरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो
भवति, आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति।
नवा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवत्यात्मनस्तु
कामाय जायाप्रिया भवति' इत्यादि।।

देखिए, इन वाक्यों में कैसे छोटे-छोटे शब्द, कैसे असमस्त पद और कैसी मधुर रचना का सन्निवेश है। यही सारी विशेषताएं मिलकर उपनिषदों की भाषा में आकर्षण उत्पन्न करती हैं। पहले श्लोक में कैसा गूढ़ भाव है और कैसी उचित उपमा है। यदि कोई नवीन समय का कवि होता, तो वह इस में पांच-पांच शब्दों के दस समास रखता, किंतु छोटे-छोटे असमस्त पदों और वाक्यों द्वारा वक्ता का भाव ऐसी सुंदरता से स्पष्ट हो जाता है कि आश्चर्य प्रतीत होता है। इसी प्रकार दूसरे श्लोक में कैसा उच्च और साहसपूर्ण भाव है, और वह कैसे तुले हुए स्पष्ट शब्दों द्वारा प्रकाशित किया गया है। तीसरे श्लोक की तो महिमा ही विचित्र है। ऐसा उत्तम, सार-गर्भित भाव आध्यात्मिक जगत् में ऐसी सुंदरता से शायद ही कहीं मिल सके। फिर वह कैसे सुहावने और कैसे कर्णप्रिय शब्दों द्वारा उपस्थित किया गया है ? भाषा का माधुर्य इसे कहते हैं। इसी माधुर्य के कारण उपनिषदों की भाषा ऐसी अधिक जनप्रिय है।

भाषा के माधुर्य के साथ-साथ रीति में भी विलक्षणता और सुंदरता है। कहने का प्रकार सरल और संक्षिप्त है, यह तो एक साधारण बात है। किंतु दो और विशेषताएं हैं जो उपनिषदों की लेखशैली के प्रभाव को बहुत ही बढ़ा देती है। उन विशेषताओं में से प्रथम, समझाने के लिए दृष्टांतों का बहुतायत से देना है। मनुष्य बुद्धि ही ऐसी विचित्र है कि उसे दृष्टांत से समझाई गई बात बहुत ही सरलता से समझ में आ जाती है। गूढ़ से गूढ़ बात के समझाने के लिए दृष्टांत जैसी उपयोगी वस्तु कोई नहीं। जो दृश्य हमारे नैत्यिक जीवन में अनुभूत होते हैं, उनके सादृश्य से हम अतीन्द्रिय

के ज्ञान को पा सकते हैं। जो वस्तु हमारी साधारण दृष्टि से तिरोहित है उसके साक्षात् करने का एक यही उपाय है कि प्रतिदिन अनुभव में आने वाली वस्तुओं के साथ उनका सादृश्य ज्ञात हो जाए। उपनिषदों में इस रीति का बहुत ही अधिक अवलंबन किया गया है। उनकी लोकप्रियता का एक बड़ा भारी कारण यही रीति है। गहरे से गहरे ब्रह्मज्ञान को दृष्टान्तों द्वारा ऐसे विशद किया गया है जैसी विशद कोई बात की जा सकती है। हम नीचे थोड़े से दृष्टांत देकर अपने कथन को स्पष्ट करते हैं–

आत्मा मन बुद्धि और इंद्रियों के परस्पर संबंध का स्पष्ट वर्णन करते हुए काठकोपनिषद् में लिखा है–

आत्मानं रथिनं विद्धि, शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिन्तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च।
इन्द्रियाणि हयानाहु विंषयांस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनो युक्तंभोक्तेत्याहुर्मनीषिणः।

इस संसार के दुर्गम रास्ते पर हमारा शरीर रूपी रथ भागा जा रहा है। इसका मालिक आत्मा है, शरीर रूपी रथ के अंदर वह बैठा हुआ है। रथ का चलाने वाला कोचवान बुद्धि है, और उसके हाथ में घोड़ों को काबू करने के लिए मन रूपी रासें हैं। इंद्रिय रूपी घोड़े इस शरीर का लिए घूम रहे हैं और वे सांसारिक विषयों की ओर भाग रहे हैं। इस सर्वागसंपूर्ण गाड़ी को भोक्ता के नाम से पुकारा जाता है। इस दृष्टांत से आत्मा शरीर मन और बुद्धि के पेचदार संबंध को स्पष्टता के साथ समझाकर उपनिषद् देखिए आगे कैसा उचित उपदेश सुनाती है।

यस्त्वविज्ञानवाम्भवत्ययुक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः।

जिस रथ के चलाने वाला बुद्धि रूपी सारथि मन की रासों को युक्ति से नहीं थामता, उसके घोड़े काबू से इस प्रकार निकल भागते हैं जैसे शरारती घोड़े सारथी के काबू से भाग निकलते हैं। कहिए, दृष्टांत ने कैसे गहरे प्रश्न को कैसा स्पष्ट कर दिया है।

एक और उत्तम दृष्टांत लीजिए–

'त्रयोवेदा एत एव। वागेवर्ग्वेदो, मनो यजुर्वेदः
प्राणः सामवेदः।' **वृहदारण्यकोपनिषद्।**

ऋग्वेद वाणी के स्थान में है, यजुर्वेद मन के स्थान में है और सामवेद प्राणों के स्थान में है। वाणी का काम वर्णन करना है, मन का काम कर्म कराना है और प्राणों का काम शरीर तथा आत्मा का संबंध स्थिर रखना है। इसी प्रकार ऋग्वेद का कार्य स्तुति, यजुर्वेद का कार्य कर्म कराना, और सामवेद का कार्य आत्मा तथा परमात्मा का संबंध करना है। देखिए, तीनों वेदों के कार्य कैसी सुंदरता से वर्णित किए गए हैं।

एक दृष्टांत और, फिर हम दूसरी विशेषता का वर्णन करेंगे। श्वेताश्वतरोपनिषद् का एक वाक्य है—

तिलेषु तैलं दधिनीवसर्पिरापः स्रोतः स्वरणीषु चाग्निः।
एवमात्मा ऽत्मनि गृह्यतेऽसौ सत्येनैन त्तपसा
योऽनुपश्यति।

जैसे तिलों में तैल रहता है, दही में घृत रहता है, स्रोत में पानी रहता है, और आग जलाने वाली लकड़ियों में आग रहता है, इसी प्रकार जो आत्मा सत्य और तप से इस परमात्मा की प्राप्ति के साधन करता है, वह उसके अंदर निवास करने लगता है।

दृष्टि डालिए और देखिए कि कैसी उत्तमता से इस गुह्य-ज्ञान का वर्णन किया गया है ? यह उपनिषदों की प्रतिपादन—शैली की प्रथम विशेषता है। दूसरी विशेषता यह है कि जिस अर्थ को या सत्य बात को जिज्ञासु के हृदय में न्यस्त करवाना हो, उसका प्रतिपादन कथानक द्वारा किया जाए एक कल्पित कहानी में उस सच्चाई को ऐसी स्पष्टता के साथ दिखलाया जाए कि वह चित्त रूपी पट पर से फिर न धुल सके। इसके अनेक उदाहरण उपनिषदों में पाए जाते हैं। मनुष्य का मन स्वभाव से प्रत्यक्ष पूजक है। साधारणतया उसे परोक्ष बातें समझ में नहीं आती, जब तक उनका वर्णन प्रत्यक्षप्राय रीति से न किया जाए। उपनिषदों में इसी कथारीति का अवलंबन किया गया है। इससे उनके गंभीर से गंभीर स्थल भी मनोहर हो गए हैं। केन, कठ, प्रश्न, छांदोग्य, वृहदारण्यक इन सब उपनिषदों में ब्रह्मज्ञान की तीव्रौषधि कथारूपी मधु में मिलाकर पिलाई गई है।

ये सब कारण हैं जिनसे उपनिषदें इतनी सर्वप्रिय हो रही हैं। (1) उनके विषय की गंभीरता बहुत भारी है और उनमें वर्णित ब्रह्मज्ञान न केवल भारतवासियों अपितु अन्य देशवासियों के लिए भी आदरणीय वस्तु है, (2) उपनिषदों की भाषा बहुत सरल और मधुर है, (3) ब्रह्मज्ञान जैसे गंभीर विषय को समझाने के लिए लौकिक उचित दृष्टांतों और कथानकों का आश्रय लिया गया है जिससे इतना कठोर विषय भी सरल हो उठा है। ये सब कारण हैं जिन्होंने उपनिषदों की महिमा को सर्वसाधारण के गोचर कर दिया है।

सातवां परिच्छेद
उपनिषदों के भाष्य

उपनिषदों की भाषा बहुत कठिन नहीं है। हम बतला चुके हैं कि उनकी भाषा मधुर तथा सरल है। प्रथम विचार से ही प्रतीत होगा कि ऐसे सरल ग्रंथों के भाष्य अधिक

न होने चाहिए थे। किंतु वस्तुतत्व इससे सर्वथा उल्टा है। साहित्य क्षेत्र में जो ग्रंथ सरल हैं, प्रायः उन्हीं पर टीका-टिप्पणियों की अधिकता पाई जाती है। गुड़हर के फूल का रस चूसना सहज काम है, जरा देखिए कि शरदऋतु के आरंभ में गुड़हर के पेड़ों पर भ्रमरों के कैसे ठट्ठ बंधे रहते हैं। गुलाब का पुष्प उससे कई दर्जे अधिक सुगंधित है, पर उसमें सूक्ष्म कीड़ों के सिवाय औरों की गति नहीं, क्योंकि उसके अंदर का रस पीना हरएक का काम नहीं है। भगवद्गीता की भाषा उपनिषदों से भी अधिक सुंदर है, किंतु भगवद्गीता के भाष्यों की गिनती नहीं। वेदों की भाषा ज़रा टेढ़ी खीर है, आर्य लोग वेदों को अपना सर्वस्व मानते आए हैं, तथापि आज तक एक-एक वेद के कितने-कितने भाष्य बने हैं ? उपनिषदों की भाषा कड़ी नहीं, तथापि उन पर भाष्यों तथा व्याख्याओं का अच्छा बोझ पड़ गया है। विशेषतया नवीन काल में उनकी बहुत सी व्याख्याएं प्रकाशित हुई हैं। उन व्याख्याओं में से कइयों में यही गुण है कि उनका नाम 'भाष्य' है, और अतएव बड़ा है। कइयों में इससे अधिक व्याख्या का गुण पाया जाता है और वास्तविक अर्थ जानने का यत्न उनका भूषण है। व्याख्याएं अनेक हुई हैं किंतु प्रचीन भाष्यों के पाए की एक भी नहीं हुई। उन सब व्याख्याओं की एक साधारण समीक्षा कर देना ही वर्तमान परिच्छेद का प्रयोजन है।

उपनिषदों की रचना के पश्चात् चिरकाल तक उन पर किसी प्रकार की टीका-टिप्पणी आवश्यक नहीं समझी गई। सबसे प्रथम ग्रंथ, जिसने उपनिषदों की थाह को पाना चाहा, वह वेदांत दर्शन था। वेदांत दर्शन में उपनिषदों के वाक्यों की संगति लगाने का यत्न किया गया है, उपनिषदों के ब्रह्म विषयक वाक्यों की, अगले पिछले वाक्यों से संगति, और अन्य ब्रह्म विषयक वाक्यों से संगति लगाई गई है। इस समय वेदांत सूत्र स्वयं भाष्य के अभिलाषी हो गए हैं, किंतु इनका उद्देश्य उपनिषदों की संगति लगाना था।

समय बीतता गया, और ज्यों-ज्यों वेदांत सूत्रों की संगति लगाना कठिन होता गया, त्यों-त्यों उपनिषदों की गहराई भी बढ़ने लगी। सुनते हैं कि वेदांत सूत्रों पर इसी अवसर में बौधायन मुनि ने एक वृत्ति लिखी, वह वृत्ति इस समय कहीं भी प्राप्य नहीं है। जनश्रुति है कि वह ग्रंथ काशी के श्रीयुत बाल शास्त्री जी के पास था, और उनके पास से उनके किसी शिष्य के पास गया। यह भी सुनते हैं कि उस ग्रंथ में वेदांत सूत्रों की अद्वैत संप्रदाय के अनुकूल व्याख्या नहीं है। इसीलिए यद्यपि कई वेदांती पण्डितों के पास वह विद्यमान है, तथापि वे देते नहीं। यह कहना कठिन है कि इस लोकवार्ता में कितनी सच्चाई है, किंतु यदि सच है तो हम वेदांत शास्त्र के उन पक्षपातियों से, जिनके पास यह वृत्ति विद्यमान है, प्रार्थना करेंगे कि वे विद्या और सौजन्य की रक्षा के लिए इस वृत्ति को प्रकाशित कर दें। इसी में उन के आचार्य श्री शंकराचार्य का भी गौरव होगा कि उनके भाष्य ने ऐसी योग्यतापूर्ण वृत्ति के होते हुए फिर प्रतिष्ठा प्राप्त की। यदि यह वृत्ति प्रकाशित हो जाए तो निःसंदेह पाश्चात्य

तत्वज्ञान की लहर में एक बड़ा परिवर्तन आ जाए। वेदांत की एक मुनिकृत द्वैतपरक टीका से, वेदांत शास्त्र के उद्धार में वही काम हो जो कोलम्बस द्वारा अमरीका का फिर से पता लगने पर हुआ था। भारतीय विचारसागर में एक प्रकार से क्रांति उत्पन्न हो जाए। विचारशील संसार इस समय श्री शंकराचार्य के अपूर्व भाष्य से चकाचौंध हुआ मायावाद की ओर भाग रहा है, और वेदांत शास्त्र के आश्रय पर अद्वैत भवन खड़ा कर रहा है। बहुत संभव है कि इस पुरातन वृत्ति का नवीन आविष्कार सब विचारकों की मति का पलटा दे सके।

इस समय वर्तमान भाष्यों में से सबसे प्रथम भाष्य श्री शंकराचार्यकृत भाष्य है। इसमें संदेह नहीं कि श्री शंकराचार्यकृत भाष्य, एक अद्‌भुत कृति है; बुद्धि का एक अनूठा चमत्कार है। यह इस भाष्य का, और साथ ही वेदांत सूत्रों पर लिखे हुए शारीरिक भाष्य का ही प्रभाव था कि भारतवर्ष के कोने-कोने में अद्वैतवाद एकदम ऐसे फैल गया जैसे कोई दूर देश से आया हुआ संक्रामक रोग फैल जाता है। श्री शंकराचार्य के भाष्य के एक-एक पृष्ठ के अंदर से एक ज्ञानी तपस्वी तथा ब्रह्मचारी की आत्मा टपक रही है।

किंतु इस भाष्य में सब गुण ही गुण नहीं हैं। यह कहने में श्री शंकराचार्य जी की कोई भी हेठी नहीं है, क्योंकि–

''प्रायेण सामग्र विधौ गुणानां''

''पराङ्मुखी विश्वजितः प्रवृत्तिः''

विधाता को यह अभीष्ट नहीं कि सब गुण एक ही स्थान में हों। विद्या तथा साधन के भण्डार होते हुए भी आचार्य के भाष्य में एक न्यूनता आ गई है जिसका संक्षेप से कह देना यहां क्रम-विरुद्ध न होगा।

लिखने के अथवा बोलने के दो प्रकार होते हैं। उनमें से प्रथम शास्त्रीय प्रकार कहाता है और दूसरा कथा प्रकार। शास्त्रीय प्रकार न्यायाधीश का प्रकार है। न्यायाधीश एक विषय के पूर्वोत्तर पक्षों को देखता है और दोनों पक्षों की प्रबल तथा निर्बल युक्तियों पर दृष्टि डालता है। दूसरा प्रकार कथा प्रकार है। वाद, जल्प और वितण्डा ये तीनों कथा शब्द के अंतर्गत होते हैं। कथक मनुष्य एक वादी की न्याईं दो पक्षों में से किसी एक को लेकर उसके गुण ही गुण दिखलाता है, दोष नहीं। उनके दोषों पर पहले तो यह दृष्टि ही नहीं देता, अगर देता भी है तो उनकी शक्ति तथा सामर्थ्य को छुटाना चाहता है। ऐसे कथक को वकील से उपमा दे सकते हैं। वकील सदा अभियोग के एक पक्ष को लेकर उसी पर युक्तियां देता है, सत्य की खोज की विशेष लालसा उसे नहीं रहती।

श्री शंकराचार्य के भाष्य में यह न्यूनता है कि यह शास्त्रीय नहीं, कथापरक है। श्री शंकराचार्य के भाष्य में इस बात की अधिक खोज नहीं की गई कि वस्तुतः उपनिषदों के अर्थ क्या होने चाहिएं। आचार्य ने एक पक्ष पहले स्वीकार कर लिया

है, और फिर उसके मडण्न में सारी उपनिषदों को, वेदांत सूत्रों को तथा श्रीमद् भगवद्‌गीता को लगाया है। यह श्री शंकराचार्य के भाष्य की एकमात्र और बहुत बड़ी न्यूनता है। शांकर भाष्य पढ़ने वाले के चित्त पर यह बात स्वभावतः अंकित हो जाती है कि भाष्यकर्ता उसे अपने बुद्धिबल से किसी विशेष ओर को खींच रहे हैं, निष्पक्षपात रीति से उपनिषदों के अर्थों की जिज्ञासा में प्रवृत्त नहीं होते। अपने इस कथन की पुष्टि में यहां पर कुछ दृष्टांत देना भी उचित प्रतीत होता है।

ईशोपनिषद का मंत्र निम्नलिखित है–

''कुर्वन्नैवेह कर्माणि जिजीविसेच्छतः समाः

इस मंत्र का अर्थ यह है कि मनुष्य कर्म करता हुआ ही सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करे। इसी प्रकार यह हो सकता है कि मनुष्य कर्मों में लिप्त न हो। इस मंत्र द्वारा मनुष्य को स्पष्टतया मृत्यु-पर्यंत कर्म करने का उपदेश दिया गया है। अद्वैत वादियों के मत के अनुसार केवल ज्ञान से मुक्ति मानी गई है। वहां कर्मों का संन्यास ही अपेक्षित समझा गया है। ऐसी अवस्था में मंत्र के अर्थों से मायावादियों के ज्ञानवाद का विशद रीति से निराकरण हो जाता है, और यह प्रतीत होने लगता है कि केवल ज्ञान रूपी मुठ्‌ठे से कोई शत्रु नहीं मर सकता, कर्म रूपी धारा भी उसमें जुड़ी होनी चाहिए। तभी तलवार पूरी हो सकती है और युद्ध जीता जा सकता है। किंतु इस अर्थ को स्पष्टतया सामने न रखते हुए श्री शंकराचार्य लिखते हैं–

''एवमात्मविदःपुत्राद्येषणात्रयंसन्यासेनात्मज्ञाननिष्ठतया
आत्मा रक्षितव्यइत्येष वेदार्थः। अथेतरस्यानात्माज्ञतया
आत्माग्रहणायाशक्तस्येदमुपदिशतिमंत्र ! कुर्वन्नेवेति।''

श्री शंकराचार्य जी लिखते हैं कि इस प्रकार आत्मा को जानने वाले के लिए वेद ने यह विधान किया है कि वह सब लालसाओं का त्याग करके आत्मा के ज्ञान में लग जाए और आत्मा की रक्षा करें, किंतु जो आत्मज्ञानी नहीं है, और अतएव आत्मा का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते, उनके लिए यह उपदेश किया जाता कुर्वन्नेवेति। क्या खूब ! यहां 'आत्मा को न जानने वाले के लिए' कहां से आ गया। पहले मंत्र से ईश्वर की व्यापकता बतला कर दूसरे की वस्तु न चुराने का उपेदश दिया। इस मंत्र में कर्म करने का उपेदश दिया। इसमें 'अनात्मज्ञ के लिए' यह कहां से कूद आया ? किंतु शांकरभाष्य में यही तो चातुर्थ है कि अपने प्रयोजन के अर्थ जिन वाक्यों में से निकल सकें, वे सिद्धांत वाक्य और शेष सब एक देशी वाक्य। इस एक विशेषता ने जहां शांकरभाष्य को अद्वैत वादियों के लिए सर्वस्व बना दिया है, वहां केवल विद्या प्रेमियों के लिए मूल्य कम कर दिया है।

यह एक दृष्टांत दिया गया और यह प्रारंभ का ही है। ऐसे अनेक स्पष्ट उदाहरण दिए जा सकते हैं, किंतु सबके लिए इस भूमिका में स्थान नहीं है। और न ही ऐसे दृष्टांतों की सूचि तैयार करना इस परिच्छेद का प्रयोजन है। अपने अर्थ को और

स्पष्ट करने के लिए केवल .एक और दृष्टांत देकर ही हम संतोष करेंगे।

ऐतरेयोपनिषद् का प्रारंभ निम्नलिखित वाक्यों से होता है—

''आत्मावा इदमेकएवाग्रआसीत्। नान्यत्किंचनमिषत्।''

ये वाक्य परस्पर संबद्ध हैं। इनके मिलाकर अर्थ किए जाएं तो अभिप्राय यह निकलता है कि सृष्टि की रचना से पूर्व एक आत्मा ही व्यापार युक्त था, और कोई भी चलायमान वस्तु न थी। इससे स्पष्ट तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि आत्मा के सिवाय और भी कोई वस्तु स्थूलसृष्टि से प्रथम थी, किंतु वह निश्चल थी, चलायमान न थी। श्री शंकराचार्य ने इन संबद्ध वाक्यों को पृथक्-पृथक् करके, अर्थ को सर्वथा तोड़-मरोड़ दिया। पहले वाक्य से तो आपने अद्वैत सिद्ध कर दिया है और उत्तरार्द्ध को एक साधारण वाक्य माना है। दो परस्पर संबद्ध वाक्यों को एक न मानकर पृथक्-पृथक् भाग करना कैसा उचित है यह भी एक विचारणीय बात है।

इस प्रकार की खींचतान है, जो शांकर भाष्य के विशुद्ध चंद्र को कलंकित करती है। श्री शंकराचार्य एक पक्ष को लेकर प्रवृत्त हुए थे, और उसके मण्डन का उन्होंने पूरा-पूरा यत्न किया। शांकरभाष्य की प्रौढ़ता के सम्मुख ठहरने वाला भाष्यग्रंथ शायद ही कोई हो, किंतु इस एक न्यूनता के कारण वह सार्वदेशिक नहीं हो सका।

श्री शंकराचार्य के पीछे वेदांत के आचार्य तो कई हुए और उन्होंने मत भी अनेक प्रचारित किए किंतु वेदांत सूत्रों द्वारा उपनिषद्वाक्यों की संगति करने पर ही बस की। श्री रामानुजाचार्य, श्री मध्वाचार्यादि आचार्यों ने उपनिषद्वाक्यों के आधार पर ही अपने-अपने संप्रदायों को दृढ़ किया। किंतु उन्होंने उपनिषदों की संपूर्ण व्याख्या करने का यत्न किया। जितने वाक्यों की संगति वेदांतसूत्रों के प्रसंग से मिलाई गई हैं, उनके देखने से यह कह सकते हैं कि यदि वे लोग उपनिषदों के भाष्य करते तो वे भी वैसे ही होते जैसा श्री शंकराचार्य को भाष्य है। अर्थात् उनके भाष्यों के अंदर भी वैसी ही एक पक्षिता रहती जैसी शांकरभाष्य में है।

इन सब आचार्यों के भाष्यों के पीछे कोई पौराणिक भाष्यकार नहीं हुआ। ऋषि दयानंद ने जब अद्वैतवाद का प्रतिवाद किया, और उपनिषदों से द्वैतपरक प्रमाणों का उद्धार किया, तब लोगों की आंखें खुलीं, अन्य आर्षग्रंथों के साथ उपनिषदों का अनुशीलन भी प्रारंभ हुआ। उपनिषदों के लिए जोश इतना बढ़ा कि झट-पट कई उपनिषद्भाष्य प्रकाशित हो गए। पं. भीमसेन, पं. आर्यमुनि जी तथा पं. राजाराम की व्याख्याओं पर ही बस न हुई, पं. बद्रीदत्त जी शर्मा ने एक ओर उपनिषदों की टीका आरंभ की। श्री पं. शिवशंकर जी का छान्दोग्य और वृहदारण्यक का भाष्य, और पं. तुलसीराम जी का श्वेताश्वतरोनिषद् भाष्य भी इस पच्चीस वर्ष के सामाजिक जीवन में प्रकाशित हुआ है।

आर्य समाज के प्रभाव से इतनी व्याख्याएं प्रकाशित हुईं। किंतु यह कहना अनुचित न होगा, कि उनकी वास्तविक कीमत बहुत अधिक नहीं है। श्री पं. आर्यमुनि

जी का उपनिषद् भाष्य शांकर भाष्य का खण्डन मात्र है। उसमें वास्तविक अर्थों के पीछे अधिक खोज न करके, शांकरभाष्य से उलटे अर्थ दिखलाने का यत्न किया गया है। तथापि यत्न बहुत प्रशंनीय हुआ है। पं. भीमसेन के उपनिषद् भाष्य अपनी तौर से प्रथम होने के कारण प्रतिष्ठायोग्य थे। पं. राजाराम जी की व्याख्याएं भी पढ़ने वाले को कई स्थानों पर लाभ दे सकती हैं अभी तक विशेष परिश्रम से उपनिषदों की व्याख्या यदि किसी ने की है तो वह श्री पं. शिवशंकर काव्यतीर्थ जी ने। इस में संदेह नहीं हो सकता कि उनका लिखा छान्दोग्य तथा वृहदारण्यक भाष्य बहुत रत्नों से युक्त है। किंतु काव्यतीर्थ जी अपने कौशल से उन रत्नों को ऐसे छिलकों के अंदर लपेट कर रखा है कि कोई उन्हें पा न सके। दोनों उपनिषदों की व्याख्याओं को देखकर पढ़ने से डर लगता है। साहस करके पढ़ना आरंभ कर भी दें तो कोई धीर पुरुष ही बीस पृष्ठों से पार हो सकता है। तथापि कृतियां उत्तम तथा शिक्षाप्रद हैं।

इन सब भारतीय यत्नों के अतिरिक्त विदेश में भी अनेक यत्न इसके लिए हो चुके हैं। जर्मन आदि भाषाओं में उपनिषदों के पुराने अनुवाद दाराशिकोह द्वारा कराए हुए फारसी अनुवाद से हुए थे, किंतु उनके पीछे भी कई अनुवाद हो चुके हैं। प्रो. मैक्समूलर द्वारा संपादित (Sacred Books of The East) पूर्वीय धर्मग्रंथमाला में उपनिषदों के जो उल्थे छपे हैं वे प्रायेणसायण के आधार पर ही किए गए हैं। प्रयाग से आज कल मेजर वासु (Sacred Books of The Hindus) हिंदुओं के पूज्य ग्रंथों के अनुवाद प्रकाशित कर रहे हैं। इस में कुछ-कुछ स्वाधीन अर्थज्ञान का यत्न किया जाता है जो वर्तमान समय में सर्वथा सराहनीय है।

आठवां परिच्छेद
एक आवश्यक प्रश्न

पूर्व परिच्छेदों में उपनिषद्विषयक अनेक बातों का विचार किया गया है। कई एक तत्व की बातें खोजने का परिश्रम मैंने किया है। इन सब बातों पर विचार स्वयं भी सप्रयोजन है। किंतु इन सब का गौरव एक और अत्यावश्यक प्रश्न के गौरव में लीन हो जाता है। वह अत्यावश्यक प्रश्न इस समय सबसे अधिक प्रबल और शक्तिशाली है। इस छोटी सी रचना के अंतिम परिच्छेद में उस प्रश्न पर विचार करना अत्यन्तावश्यक है।

वह प्रश्न क्या है उपनिषद् वेदों का आश्रय लेकर बनाए गए हैं। उपनिषद् रूपी पुष्प वेदों की डण्डी पर ही हिंडोले ले रहा है। यह हम ऊपर दिखला आए हैं। उनके अंदर वेदों के ज्ञानकाण्ड की महिमा का वर्णन है। जब हम यह ऊपर लिखी स्थापना करते हैं, तब हम उपनिषद् शब्द से कुछ एक प्रकार की रचनाओं का ग्रहण करते हैं। उपनिषद् नाम से हम एक ही ढंग की, एक ही चाल की कुछ पुस्तकों

का संग्रह समझते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि सब उपनिषदों के देह चाहे भिन्न हों, किंतु आत्मा एक ही है। रूप चाहे पृथक् हों, प्रकृति एक ही है। जब इन रचनाओं का एक ही नाम और एक ही आश्रय है, तब भला विचारों में भेद के क्या अर्थ ? सबका तत्व ज्ञान तथा सबके सिद्धांत समान ही होने चाहिएं।

यह विचार है, जो इस भूमिका के पूर्व भागों को पढ़कर स्वभावतः उठेगा। किंतु साथ ही पाठक इससे पहले परिच्छेद को देखेंगे तो उन की समझ चक्कर खा जाएगी। हैं यह क्या ? जितने मुंह उतनी बातें। "मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना तुण्डे तण्डे सरस्वती" वाली कहावत और कहीं चरितार्थ होती हो चाहे न होती हो उपनिषदों में अवश्य स्पष्ट हो जाती है। जितने भाष्यकार उतने संप्रदाय। जितने देखने वाले, ढाल के उतने पार्श्व। अथवा यूं कहना अधिक सार्थक होगा कि उपनिषदों में से जिसने जो ढूंढ़ा सो पाया। अनेक भाष्यकारों ने सारी उपनिषदों की व्याख्या की, और अनेक व्याख्याकारों ने वेदांत सूत्रों के मिस उसका भावार्थ कहा। अनेक अर्थ हुए किंतु साथ ही संप्रदाय भी अनेक हुए। श्री शंकराचार्य ने इन ही उपनिषद्वाक्यों में से अद्वैत निकाल मारा। मध्वाचार्य ने शारीरिक सूत्रों को द्वैतपरक बतलाया और नवीन सर्व तंत्र स्वतंत्रों ने उसके अंदर से त्रैत निकाल दिया। ऋषि दयानंद द्वैतवादी नहीं किंतु त्रैतवादी थे। उनके अनुयायियों ने उपनिषदों को त्रैतवाद का घटा दिया है। स्वभावतः प्रश्न उत्पन्न होता है कि इस गड़बड़ का क्या कारण है।

केवल उपनिषदों की ही यह दशा नहीं है। अति प्राचीन जितने भी ग्रंथ संस्कृत के मिलते हैं उनके मनमाने अर्थ करने का जिसने यत्न किया है, वह सफल हुआ है। वेदों को ही ले लीजिए। यदि हम कह दें कि वेद कामधेनु हैं, और वेद मंत्रों में से जो कोई जो अर्थ चाहे निकाल सकता है तो मिथ्या ने होगा। इसका यह अभिप्राय नहीं कि हम वेदों का इसमें कोई कसूर समझते हैं। दोष इस में वेदमंत्रों का नहीं है, दोष है हमारे पुराने भाष्यकारों का। वे भाष्यकार—या कम से कम उनका एक बड़ा भाग—किसी ग्रंथ के लेखक या वक्ता के अभिप्रेत अर्थ करने का कम यत्न करता है, और सांप्रदायिक खींचतान अधिक लगाता है। वे भावना संसार में संचार करना अधिक पसंद करते थे। इस कारण वेदों तथा अन्य आर्यशास्त्रों के भी अर्थ ऐसी घनी धुंध से घिर गए हैं कि उनका निकालना कठिन प्रतीत होता है।

वास्तविक अर्थों का जानना कठिन कार्य है। भाषा द्वारा तथा विचार द्वारा वास्तविक अर्थों तक पहुंचन कष्ट साध्य कार्य है। इसके लिए जहां यत्न तथा योग्यता की आवश्यकता है, वहां हमारी शास्त्रीय परिभाषा में उसे निष्काम बनाने की भी जरूरत है। निष्पक्षपात दृष्टि से जब तक न देखा जाए, और सांप्रदायिक हित कामना को जब तक तिलाञ्जलि न दी जाए तब तक शास्त्रीय विचार ठीक-ठीक नहीं हो सकता। किसी मनुष्य के अपने विचार कैसे ही हों, किंतु उसका क्या अधिकार है कि वह उन्हें दूसरे के सिर मढ़े। मैं द्वैतवादी हूं, और द्वैतवाद से मुझे कोई छुड़ा नहीं

सकता, मेरा अधिकार है कि मैं अपनी मति के अनुसार चलूं। किंतु यह क्या आवश्यक है कि मैं सारे शास्त्रों को भी अपने समान गति रखने वाला सिद्ध कर दिखलाऊं। यदि उपनिषदें मेरी सम्मति से विरुद्ध कथन करती हैं, तो करें। उपनिषद्वक्ताओं को उनकी अपनी सम्मतियां मुबारक हों। उनकी सम्मतियों पर अपनी समझ का रंग चढ़ाने वाले हम कौन ? दूसरे के विचारों को तोड़-मरोड़ कर प्रकाशित करने का हमें क्या अधिकार है ? यह अनधिकार चर्चा प्रमाणवाद की भगिनी है। प्रायः जो लोग पुस्तकों का प्रामाण्य मानने की अभ्यासी हैं, वे चाहते हैं कि जितनी अधिक पुस्तकें उनकी ओर हों, उतनी ही प्रबलता उनके पक्ष में आती है। पुस्तकों का ढेर उनके लिए बुद्धि तर्क तथा सत्य का स्थान लेता है। ऐसे ही सज्जनों के किए पुस्तकभण्डार के अनेक चमकीले रत्न खोटे और बनावटी अर्थों के योग से कलंकित हो जाते हैं। पुस्तकों के पृष्ठ उनके लिए न्यायतुला का काम देते हैं, और उनकी अपनी पूर्व स्थित वासनाएं तोलने वाली बनती हैं, वे जिस पलड़े को चाहती हैं झुका देती हैं।

ऐसे भद्रपुरुष यह विचार नहीं करते कि वे ग्रंथकर्ता की आत्मा को कितना रुला रहे हैं, और न्यायधेनु के कोमल अंग में कैसी तीखी छुरी घोप रहे हैं। जहां संप्रदाय अनेक हो जाए वहां इस रोग का आना एक आवश्यक सी बात हो जाती है। भारतवर्ष में भी इस संप्रदायकीट ने आर्य साहित्य के प्राचीनतम पुष्पों को बहुत कुछ हानि पहुंचाई है। वेदों के अर्थ इसी झगड़े की धुंध में छुप गए, उपनिषदों की चांदनी इसी घनी मेघमाला के भीतर लुप्त हो गई, और शास्त्रों के वैद्युत प्रदीप भी इसी सांप्रदायिक कुहर की गहरी गोद में लीन हो गए। अब भी जब तक सांप्रदयिक पक्षपात को छोड़कर, केवल विद्या की उन्नति के लिए सच्ची जिज्ञासा से कोई व्यक्ति प्राचीन आर्य ग्रंथों के अर्थज्ञान में प्रवृत्त न होगा, तब तक सत्यरूपी सूर्य प्रकाशित नहीं हो सकता। गौतम मुनि की पत्नी रामचंद्र के पादरज या संसर्ग होते ही सावधान हो गई थी; प्राचीन संस्कृतसाहित्यवनिता भी सावधान नहीं हो सकती, जब तक किसी पक्षपातरहित सच्चे जिज्ञासु महात्मा के चरणरज का संसर्ग उसे न हो। उन उच्च तथा उदार ग्रंथों के अद्भुत लेखकों का चमकीला भाव प्रकट नहीं हो सकता, और सत्य के गले पर से सांप्रदायिक छुरी नहीं उठ सकती, जब तक कि हम सर्वथा निष्पक्षपात होकर ऐतिहासिक तथा साहित्य संबंधी रीतियों से साहित्य सागर की गुप्त तह की खोज न करें।

क्या वेद, क्या उपनिषद और क्या दर्शन, सब के अर्थों के छुपने का प्रधान कारण सांप्रदायिक हितचिंतन ही है। उपनिषदों के अर्थों में गड़बड़ पड़ने का एक और भी कारण है। पूर्व परिच्छेदों में हम दिखा आए हैं कि उपनिषदों की रचना एक दो या दस वर्ष में नहीं हो गई। प्रधान-प्रधान उपनिषदों की रचना में शताब्दियां लगीं। उसके पीछे भी उपनिषदों की रचना सर्वथा रुक गई हो, ऐसा नहीं। वह बराबर जारी रही। दूर की जाने दीजिए, मुग़ल राजा अकबर के समय भी एक अल्लोपनिषद् बनी

थी, और आज तक भी कर्णोपनिषद् और प्लेगोपनिषद् बनती रहती हैं। इन पीछे के परिशिष्टों को छोड़ भी दें, तो यह कदापि नहीं सिद्ध हो सकता कि सारी उपनिषदों की रचना एक ही समय में हुई। जब यह व्यवस्था है, तब सारी उपनिषदों को एक ही समय का, एकही सभ्यता का और एक ही विचार का चित्र मानना कैसा भ्रम मूलक है ? शताब्दियों में विचार का स्रोत सैकड़ों योजन गुजर जाता है। सूक्ष्म का अणु और अणु का सूक्ष्म हो जाता है। यदि विचार कर देखा जाए तो विचार की नदी जहां धीरे-धीरे अपना प्रवाह बढ़ाती और अपना रूप बदलती है, वहां दूसरी ओर वह निरंतर बदलती रहती है। एक वर्ष के प्रचलित विचार, दूसरे वर्ष में यदि पुरातन नहीं तो भी अप्रचलित अवश्य हो जाते हैं। कल का काव्य आज का पुराण कहलाता है, और आज का पुराण कल की स्मृति कहाने लगेगी। जब विचारों का परिवर्तन ऐसा निरंतर है तब शताब्दियों में बनाई गई उपनिषदों को एक से ही विचारों का चित्र मानना सबमें एक से भावों की खोज करना कहां तक उचित है, इसे पाठक महोदय ही विचार सकते हैं।

किंतु उपनिषदों के प्राचीन या नवीन भाष्यकार इस पर विशेष ध्यान नहीं देते। वे समय को कोई वस्तु ही नहीं समझते। वे कुछ उपनिषदों को अपने लिए प्रामाणिक मान लेते हैं, और फिर उनमें से हर एक से अपने विचारों को निकाल दिखाते हैं। यह बात ऐसी है कि इसका कथन ही इसका खण्डन है। समय के भेद को ध्यान में न रखने के कारण ही उपनिषदों के अर्थ करने में अधिक खींचातानी से काम लेना पड़ता है।

उपनिषदों के भिन्न-भिन्न अर्थ क्यों और कैसे किए जाते हैं ? यह आवश्यक प्रश्न है, जिसका हल हमें सोचना है। उपनिषदों को सांप्रदायिक दृष्टि से देखा जाता है और उनके अंदर समय भेद का विचार नहीं किया जाता, ये दो कारण हैं जिन से अनेक भाष्यकार अपनी कल्पना के अनुसार उपनिषदों के अर्थों को मोड़-तोड़ लेते हैं। मैं यह कहने की शठता नहीं कर सकता कि हमारे सारे के सारे भाष्यकार पक्षपाती अथवा जानबूझ कर असत्य का प्रकाश करने वाले हैं। किंतु बात यह है कि सांप्रदायिक जोश की हरी ऐनक ही ऐसी प्रबल है कि वे सब कुछ हरा ही हरा देखते हैं। उनका कोई दोष नहीं, दोष है सांप्रदायिक दृष्टि का। दोष चाहे किसी का हो इसमें संदेह नहीं कि विद्या के सत्य के और लोक के हित के लिए सब से आवश्यक बात यह है कि इन दो बातों को ध्यान में रखकर वेदों उपनिषदों तथा शास्त्रों पर विचार किया जाए। इस भूमिका का दूसरा भाग कब प्रकाशित होगा, यह मैं नहीं लिख सकता, किंतु इतना अवश्य लिख देना चाहता हूं कि उसमें उपनिषदों पर निष्पक्षपात दृष्टि से विचार करने का यत्न किया जाएगा। साथ ही विद्वान् लोगों से भी मेरी प्रार्थना है कि वे सांप्रदायिक पक्षपात से रहित होकर इस प्रश्न पर गहरा विचार करें तो उपनिषदों के सत्यार्थ प्रकाशित हो जाएं।

पंचम अध्याय

अथ देवयज्ञः

उपक्रमणिका

ब्रह्मयज्ञ की व्याख्या कर चुके हैं। उसमें हमने दिखाया कि सब यज्ञों का मूल संकल्प अर्थात् उस उद्देश्य को पूर्ण करने का दृढ़ निश्चय है जिस के लिए किसी ने अपना जीवन अर्पण किया हो। प्राचीन काल में जो उपनयन पूर्व ब्राह्मणत्वादि वर्णों का संकल्प ग्रहण किया जाता था वह इसी उद्देश्य से किया जाता था। किंतु संकल्प की सफलता अकेले मनुष्य के लिए नहीं हो सकती। उसे विष्णु शक्ति की उपासना अवश्य करनी पड़ती है। जिसकी ओर मनसा परिक्रमा मंत्रों में 'ध्रुवादिग्विष्णुरधिपतिः' इस मंत्र में निर्देश किया गया है। प्रथम तो अकेला मनुष्य भी वास्तव में अकेला नहीं। मुखबाहूरुचरणादि अंगों के संगतीकरण के कारण वह भी वास्त में यज्ञरूप है। किंतु इस पुरुषरूप यज्ञ की अग्नि इसके साथ ही बुझ जाती है। यदि वह अपनी संकल्पाग्नि को स्थिर करना चाहे तो उसे कम से कम एक स्त्री के साथ यज्ञ (संगतीकरण) करना पड़ता है। जिससे अपने संकल्प को 'ध्रुव' रखने के लिए वह सन्तानरूप में फिर प्रकट होता है। यह स्त्री पुरुष का जोड़ा ध्रुवता के निमित्त सब से छोटा यज्ञ है। किंतु इसमें भी कुछ न कुछ ध्रुवता अवश्य आ जाती है। विष्णु नाम यज्ञ का है। यह स्त्री-पुरुष के सहयोग से उत्पन्न वामनतम विष्णु भी ध्रुवता अवश्य उत्पन्न करता है। अतएव कहा 'ध्रुवादिग्विष्णुरधिपतिः।'

परंतु वह ध्रुवता भी पूरी ध्रुवता नहीं। क्योंकि हो सकता है गर्भाधान काल के किसी अपराध से, संतान की शिक्षा समाप्त होने से पूर्व व्याधि-मरणादि उपद्रवों से, पूर्व दुष्कृतजन्य किसी दैव दुर्विपाक से अथवा दुष्ट संगति के दोष से, संतान इच्छानुकूल न हो अतएव किसी बड़े विष्णु की उपासना करनी उचित है। इसी भावना से मनुष्य की संगठन-शक्ति ग्राम, नगर, जनपद, राष्ट्रादि के क्रम से संपूर्ण विश्व अथवा विराट् के संस्कार में प्रवृत्त होती है। यह आवश्यक नहीं कि अवश्य इन क्रमों में से होकर ही मनुष्य विराट् तक पहुंचते हैं। सुशिक्षा के प्रभाव से मनुष्य सीधा ही विराट् (Humanity) की उपासना करना सीख जाता है। वह विराट् ही विष्णु

है। यही यज्ञ है। और इसी का फल परम ध्रुवता है। यज्ञ का मूल तत्त्व सहयोग, संगतीकरण अथवा (Cooperation) है। ब्रह्मयज्ञ वैयक्तिक यज्ञ है। अर्थात् इस महाविष्णु के लिए पुरुष रूप यज्ञ अपने अंदर क्या तैयारी करे यह ब्रह्मयज्ञ अथवा संध्या में सिखाया गया। अब वह पुरुष रूप यज्ञ स्वयं एक महायज्ञ का अंग है। उस महायज्ञ में प्रवृत्त होने के लिए उसे कौन-कौन से गुणों का विशेष रूप से अभ्यास करना होगा यह देवयज्ञ (अग्निहोत्र) में सिखाया गया है। अर्थात् इस यज्ञ में मनुष्य में लोक-हित कर्त्तव्यों (Public Duties) के प्रति सच्चे आदर की भावना उत्पन्न की गई है। हम भारतवासियों को तो इस युग में इस यज्ञ के निरंतर अभ्यास की अपेक्षा है। हमारे देश के वे लोग भी जो लाखों रुपये के व्यवहार में सच्चे, 'मातृषत्परदारेषु' के पूरे उपासक और स्नानादि कृत्यों में पूरे नैष्ठिक हों, सभा में समय पर पहुंचने को एक अति तुच्छ बात समझते हैं। सड़क पर पेशाब करने अथवा जलाशय में कुल्ला करने में उन्हें संकोच नहीं होता। यदि मनुस्मृति आदि ग्रंथों को देखें तो उन में स्पष्ट रूप से इन धर्मों का प्रतिपादन किया गया है। परन्तु न जाने क्यों यह गुण हम में से सर्वथा लोप हो चुके हैं। बड़े सच्चे तथा वीर पुरुष ईर्ष्या के वश होकर सारे राष्ट्र का सर्वनाश करने को तैयार हो जावेंगे। उन्हें पैर के नीचे चींटी आती देखकर भय होगा। इस छोटे से किंतु प्रत्यक्ष पाप से उन्हें दिन भर चैन मिलना कठिन हो जाएगा। किंतु राष्ट्रद्रोह सरीखे कोटि-गुण किंतु अप्रत्यक्ष पाप से उनकी निद्रा में तनिक सी बाधा भी न होगी। सारे राष्ट्र को बेच कर वे तृप्त होकर भोजन करेंगे और फिर फेनधवल शय्या पर टांग पसार कर सो जाएंगे। इस प्रकार के मनुष्यों को यह बारंबार और नित्य अभ्यास कराने की आवश्यकता है कि वह कुटुम्ब के स्वार्थ को अपने स्वार्थ से, ग्राम के स्वार्थ को कुटुंब के स्वार्थ से, राष्ट्र के स्वार्थ को ग्राम के स्वार्थ से, और विराट् अथवा विश्वराष्ट्र के स्वार्थ को एक राष्ट्र के स्वार्थ से सदा बड़ा समझें। उन्हें सदा याद रहे कि अन्ततोगत्वा राष्ट्र के स्वार्थ में ही उनके कुटुंब का और उनका भी स्वार्थ है। इसी तारतम्य को न जानने के कारण मूर्ख राजपूतों ने सेना के सामने खड़ी थोड़ी-सी गौवों की रक्षा के लिए लाखों नर-नारियों और गौवों का घात करवा डाला। यदि वह श्रीकृष्ण सरीखे परम वैशणव से कुछ सीखे होते तो अन्याय के पक्ष में खड़ी गौवों की तो बात ही क्या, **''आचार्य्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः''** को भी मरवा डालते। अब भी यदि आर्य-जाति के लोग चेतें तो कल्याण हो सकता है। परंतु अभी तो यह लोग ऐसी निद्रा में लीन हैं कि हमारे अनेक विद्याओं के धुरंधर पंडित लोग भी जब इकट्ठे होकर चलें तो उनके पैर एक साथ नहीं उठते। हमारे गुरुकुलों में व्यूह रचना (Drill) की जो उपहसनीय दशा है वह इस बात का कितना अच्छा प्रमाण है कि हम कितने विष्णु-द्रोही हैं।

इस यज्ञ की, इस विष्णु की, उपासना के लिए हम आज पाश्चात्य लोगों को आदर्श मान सकते हैं। हम यहां पटना के सुविख्यात प्रोफेसर यदुनाथ सरकार के

लेख के कुछ अंश उद्धृत किए बिना नहीं रह सकते–

The self-suppression in the individual that discipline implies and the marvellous difference in effect between discipline and forthy enthusiasm can be illustrated from the history of wars between Euripean races even.

Scene of the following incident was western Spain, the time July, 1811, and the narrater William Hay, Ensign in the 52nd Light Infantry—

"As we were marching in such extremely hot weather, we rested at noon, starting again later on. One afternoon we had to witness an act of diabolical tyranny. On the road was a stream of considerable depth, up to a man's middle. Our general, considering it more cooling and refreshing for the men,...directed the first division to march through the water. The general, from his position on the bridge, observed two or three of the 95th take some water in their hands to cool their parched mouth, instantly the halt was sounded,...the whole division formed into hollow square, and these unfortunate men paraded, stripped, and flogged." *(Remicences 1808-1815 under Wellington, by W. Hay, p. 33)*

The soldiers who submitted to this iron discipline defeated every marshal of Napoleon and even Napoleon himself. I have not read of this particular British general having been shot from behind by the men of the 95th.

The same discipline resulted in the wonderful passive valour of the 93rd Highlanders—

"On the 8th of January, 1815, the infantry were ordered to advance twoards the American lines (At New Orleans) for the purpose of assaulting the works. But again the great mistake was committed of advancing in close column of regiments, in broad daylight, against a line of works one thousand yards in length, protected by a broad ditch and high breastwork from beind which, and perfectly under cover, the American riflemen were able to keep up a destructive fire.

"When the 33rd had got within eighty yards of the lines they were ordered to halt, and there, still in close column, were kept standing exposed to a withering fire, untill, out of strength of eight hundred men, 507 were killed and wounded before the regiment received an order to

retire...I believe there is no more remarkable example on record of the power of discipline and it mujst be borne in mind that the 93rd Regiment was a young one, composed entirely of firy Highlanders, a race whose blood is easily stirred into rapid motion in the moment of battle." *(Records of Service and Campaigning by Surgeon-General Munro, ii7)*

"सैनिक मर्यादा इस शब्द की तह में कितना भारी आत्म नियंत्रण छिपा हुआ है, जोश के क्षणिक उबाल और सैनिक मर्यादा के परिणामों में जो अंतर है, उसके सजीव उदाहरण हमें योरोपीय जातियों के पारस्परिक संग्रामों के इतिहास में भी मिलते हैं।"

"उल्लिख्यमान कथानक की दृश्य भूमि है पश्चिमीय स्पेन, समय है 1811 की जुलाई और आख्याता हैं 52 नम्बर पैदल पलटन के झंडा-बरदार 'विलियम हे'। घटना यों हैं"–

"क्योंकि हम अति कठोर गरमी में यात्रा कर रहे थे, हमें दोपहर के समय में विश्राम करना पड़ता था जिसके पश्चात् हम फिर प्रस्थान करते थे। एक दिन हमें एक बीभत्स नृशंसता का दृश्य देखना पड़ा। मार्ग में एक नाला पड़ा जिसकी गहराई खासी थी। कोई कमर तक होगी। हमारे सेनापति ने यह सोच कर कि नदी में से यात्रा करके पार होना सैनिकों के लिए बड़ा शीत-सुख-प्रद और आह्लादजनक होगा पहले डिवीज़न को पानी में से चल कर पार होने की आज्ञा दी। सेनापति पुल पर से खड़े सारी सेना की चाल देख रहे थे। उन्होंने पुल पर से 95 नम्बर रेजिमेण्ट के दो चार सिपाहियों को अंजलि में ठंडा जल लेकर सूखे हुए ओठों पर लगाते पा लिया। उसी समय अवहार की आज्ञा हुई। सारा डिवीजन वर्गाकार में खड़ा किया गया। बीच में थोड़ा स्थान खाली रखा गया। यह बेचारे सैनिक परेड करते वहां लाए गए। उनके कपड़े उतरवाए गए और वेंत लगाने की टिकटिकी पर कस दिए गए। जो सैनिक इस लोहमय शासन में से पार हो लेते थे उन्होंने अंत को एक-एक करके नेपोलियन के हर एक सेनापति को और अंत में साक्षात् नेपोलियन को हराया तो इस में अचम्भा क्या। फिर सब से बढ़कर अचम्भे की बात तो यह है कि इन सैनिकों में से किसी ने बिगड़ कर अपने सेनापति पर पीठ पीछे से गोली चलाई हो ऐसा कभी सुनने में नहीं आया।"

(Reminicencres 1808&1815 under Wellnglon by W-Hay)

इसी सैनिक मर्यादा का चमत्कार 93 नंबर हाईलेंडर्ज़ की प्रशान्त वीर-मुद्रा में देखा गया। घटना है–

"1815 की 8 जनवरी को न्यू औरलियन्ज़ नामक स्थान पर पैदल सेना को अमेरिकन मोरचों के विरुद्ध यात्रा की आज्ञा हुई। परंतु यहां फिर यही भूल हुई कि अमेरिकन लोगों की एक हजार गज लंबी मोर्चाबन्दी के सामने जो एक चौड़ी खाई

से और ऊंची दीवार से सुरक्षित थी और जहां से अमेरिकन बन्दूकची बड़ी दारुण बाढ़ चलती रख सकते थे, दोपहर के समय घनी पंक्तियों में आगे बढ़ने की आज्ञा दी गई।

"ज्योंही 93 नंबर मोर्चों से 80 गज दूरी के अंतर पर पहुंचे। उन्हें खड़े होने का आदेश दिया गया, और उसी घने व्यूह में उस घातक बाढ़ की मार में खड़े रखे गए। इस पर अंधेर यह कि उन्हें उत्तर देने की अनुज्ञा न थी। जब तक 800 कुल रेजिमेंट की संख्या में से 567 हत और आहत हो लिए वे वहीं उसी भांति खड़े रहे और तब कहीं उन्हें लौट आने की आज्ञा मिली। मैं समझता हूं सैनिक मर्यादा के प्रभाव का इससे बढ़कर ज्वलन्त उदाहरण कहीं उल्लिखित न मिलेगा। साथ ही याद रहे कि इस रेजिमेंट के सिपाही प्रायः नई उमर के थे और उस पर वह सबके सब उग्र हाईलैंडर लोग थे जिनका रुधिर युद्धकाल में स्वभाव से ही तीव्र गति से प्रवाहित होने लगता है।"

(Records of Service and Campigning by Surgen General Munro, अक्तूबर के 1929 Modern Review में यदुनाथ सरकार के लेख से उद्धृत)।

इससे पता लगता है कि 'संगच्छध्वम्' का पाठ पाश्चात्य लोगों ने कैसा अच्छा पढ़ा है। इस वैष्णव धर्म की परायणता का पता रुद्रकर्म अर्थात् युद्ध-काल में लगता है। इसका विशेष वर्णन हमारे लिखे 'मरुत्' नामक निबंध में देखें। किंतु यहां भी उदाहरण के लिए हम सेना शब्द को ले लेते हैं। इस शब्द का अर्थ है स+इना अर्थात् एक साथ पैर उठाकर चलने वाली। फिर इस शब्द के स्त्री-लिंग की ओर देखिये। यह स्त्री-लिंग भी कितना मार्मिक है। सेना शब्द का संबंध सेनापति शब्द के साथ है। सो तात्पर्य यह कि सुशिक्षित सैनिकों का समूह भी 'सेना' नहीं कहला सकता जब तक कि वह एक सेनापति की आज्ञा का इस प्रकार अनुवर्तन न करे जैसे एक पति-परायणा साध्वी अपने पति की आज्ञा का अनुवर्तन करती है।

अब प्रश्न यह है कि इन यज्ञ-धर्मों का अभ्यास बिना किसी आदर्श को सामने रखे नहीं हो सकता। सो अपने सामने आदर्श कौन रखे जावें। उत्तर में हर एक देश के लोग अपने-अपने देश के इतिहास से कुछ उदाहरण उपस्थित कर सकते हैं। किंतु अनादिनिधना भगवती श्रौतवाणी किस का इतिहास सुनावे। बस यहां तो ग्रीष्म, वर्षा, शरद् आदि ऋतु, सूर्य-चन्द्रादि देव जो यह संवत्सर रूप यज्ञ कर रहे हैं यही दृष्टान्त रूप से उपस्थित किया जा सकता है। और कर्तव्य पालन का दृष्टांत कोई सूर्य-चंद्रादि से अच्छा और दे भी क्या ? जो इतने नियम में चलने वाले हैं कि सैकड़ों वर्ष पहले कहा जा सकता है कि अमुक तिथि में अमुक स्थान से सूर्य इतने बजकर इतने मिनट इतने सैकंड पर अमुक स्थान पर दीखेगा, और, इतना ग्रहण इतने काल के लिए लगेगा। वही तो वैष्णव धर्म के सच्चे दृष्टांत हैं। इसी लिए शतपथ ने कहा—

स यः स विष्णुर्यज्ञः स। स यः यज्ञोऽसौ स आदित्यः।

शत. 14. 1. 6.

आदित्य का संकल्प के साथ एक और भी संबंध है। संकल्प संपूर्ण गति का जन्मदाता होने के कारण तैजस है। इधर आदित्य तो है ही इस सौ चक्र का सबसे बड़ा तेजः पुंज। इसलिए आदित्य का संकल्प से संबंध स्पष्ट है।

किंतु एक बात विचारणीय है। सूर्य तो प्रभु के अग्निकुंड की अग्नि है। मनुष्य को तो अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए अग्नि प्रज्वलित करनी पड़ती है। उसके अनेक उपचार करने पड़ते हैं। सूर्य उसके लिए आदर्श हो सकता है। परंतु वह तो असह्य तेजोमय जाज्वल्यमान शाश्वत तेजोराशि है। मनुष्य को एक संकल्प को स्फुलिंग से तीव्र ज्वाला तक पहुंचाने में जो दृढ़ अध्यवसाय, जो सतत जागरूकता दिखानी पड़ती है उसका उपदेश कैसे दिया जाए।

इसी लिए इस देवयज्ञ का मुख्य पदार्थ अग्नि है। उस अग्नि को अविश्रांत परिस्पन्द के द्वारा धीरे-धीरे सूर्य की अवस्था तक पहुंचाना यही देवयज्ञ की सफलता है। इसीलिए कहा है–

अग्निर्वै यज्ञस्यावराध्यो विष्णुः परार्ध्यः।

श. 5.2.3.6.

मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह अपने संकल्पाग्नि को इतना स्थिर करे कि प्रातःकाल उठने के साथ ही वह सूर्य बन जाए और सूर्योदय के साथ-साथ अधिकाधिक प्रतापवान् होता जाए। किंतु रात्रि के शयनकाल में भी अग्निरूप तो अवश्य रहे। तात्पर्य यह कि रात्रि के अहंकार (Subconcious self) के अंदर भी वह संकल्प जाग ही रहा हो। बुझे कभी नहीं। निद्रा में भी न बुझे।

इसी लिए सोमयाग में दीक्षित होने के समय कहता है :–

अग्ने त्व थ्वं सुजागृहि वय ॱ सुमन्दिषीमहि। रक्षा णो अप्रयुच्छन् प्रबुधे नः पुनस्कृधि।।

यजु. 4.14. । शत. 3.2.22.

"हे अग्ने हम सानन्द सोएं, पर तू जाग और अप्रमत्त होकर हमारी रक्षा कर और फिर जगा।"

क्या हमने अनेक परीक्षण करके नहीं देखा कि दृढ़ संकल्प हमें ठीक समय पर जगा देता है ?

यही कारण है कि प्रातःकाल अग्निहोत्र के मुख्य मंत्रों में **"सूर्य्यो ज्योतिः"** कहा है और सायंकाल के मंत्रों में **"अग्निः ज्योतिः"**। अग्नि और सूर्य दोनों ही तो तेज हैं। इनमें भेद क्या है। एक अवराध्र्य है दूसरा परार्ध्य। सुषुप्तावस्था की संकल्पाग्नि में जागृतावस्था की तीव्र चेष्टा-सम्मिलित हो जाती है तो वह सूर्य हो जाता है। आज-कल के संकल्पहीन लोग प्रथम तो लुप्ताग्नि हैं, और यदि अचानक कहीं अग्नि हो भी

तो भी एक केंद्र न होने के कारण मन्दाग्नि तो होते ही हैं। इसलिए आवश्यक है उन्हें अग्न्याधान, अग्निसमिन्धन, अग्निपर्युक्षणादि की शिक्षा दी जाय। जिससे उनकी अग्नि सूर्य-भाव को धारण कर सके। बस यही शिक्षा इस देवयज्ञ में दी गई है। वह किस प्रकार दी गई है यह आगे मंत्रों की व्याख्या में दिखाएंगे। किंतु पहले इस विषय के मौलिक सिद्धांतों का निरीक्षण कर लें।

उद्देश्य-प्रणिधान

यज्ञ–विष्णु–संगठन का सबसे पहला मौलिक सिद्धांत है, "हर एक यज्ञ-देवता का समान उद्देश्य के लिए अपने आपको अर्पण करना।" संगठन का अर्थ ही है परस्पर मिलना। सो यह उद्देश्य ही उनको आपस में मिलाता है। इस समान उद्देश्य के लिए अपने आपको अर्पण करने की भावना को ही हम यज्ञभावना अथवा उद्देश्य-प्रणिधान के नाम से पुकार सकते हैं।

ईर्ष्या-विजय

यज्ञ भावना का सबसे बड़ा शत्रु ईर्ष्या है। किंतु ईर्ष्या भी वास्तव में स्वार्थ का ही रूपान्तर है। यह उद्देश्य-प्रणिधान ईर्ष्या के विजय में किस प्रकार सहायक होता है यह दृष्टान्त से समझाया जा सकता है।

कहते हैं कि एक समय एक राजा के दरबार में दो स्त्रियां एक बच्चे के विषय में झगड़ा करती हुई उपस्थित हुईं। दोनों उस बच्चे को अपना कहती थीं। महाराजा कई दिन तक यत्न करने पर भी इस का निर्णय न कर सके। अंत को एक दिन उन्हें चिंतित देखकर रानी ने चिंता का कारण पूछा। महाराज ने सब वृतान्त कह सुनाया। वृतान्त सुन कर रानी मुस्करा कर बोली कि देव ! यह अभियोग स्त्री-जाति का है इसका निर्णय मैं स्वयं करूंगी।

अगले दिन महारानी स्वयं सिंहासन पर विराजमान हुई। दोनों स्त्रियां सामने लाई गईं। महारानी ने निर्णय दे दिया–आराकश को बुलाकर इस बच्चे को बीचोंबीच चीर कर आधा-आधा बांट दिया जाए।' निर्णय सुनकर दोनों में से एक बड़ी प्रसन्न हुई। बोल उठी, "क्या अच्छा निर्णय हुआ है, झगड़ा ही न रहा।" दूसरी सहम गई, बोली, "मुझे बच्चा नहीं चाहिए, मैंने अपना दावा छोड़ा, पर इसे चीरो मत।"

रानी ने कहा जाओ बच्चा उसे दे दो जो कहती है मेरा नहीं। वही सच्ची मां है जिसे बच्चे की जान अपने अधिकार से अधिक प्यारी है।

वही सच्चा सिपाही है जिसे संगठन का उद्देश्य अपनी जान, अपने यश, अपने अधिकार से भी प्यारा है। इसी का नाम है उद्देश्य-प्रणिधान। यह संगठन का मूलमंत्र है।

विश्वेदेवाः यजमानश्च

किंतु एक उद्देश्य के लिए प्रणिधान करने वाले, सब कुछ अर्पण करने वाले, देवों का समूह यज्ञ नहीं कहाता। उद्देश्य की अग्नि से आगे भी उसे किसी वस्तु की अपेक्षा है। वह है क्रम (Order)। जिस संगठन में सब के सब नेता हों, वे सब बलिदान के अवतार क्यों न हों, अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो सकते। जब तक वे एक को बड़ा बना कर उसके शासन में नहीं चलते तब तक क्रम-व्यवस्था अथवा यज्ञ-मर्यादा उन में नहीं आती। यज्ञ का यजमान अवश्य चाहिए। चारों वेदों का ज्ञाता ब्रह्मा भी वहां बैठा हो परंतु यजमान फिर भी चाहिए। ब्रह्मादि 'विश्वेदेवाः' उसके द्वारा ही यज्ञ को सफल बनाते हैं।

इन में परस्पर संबंध क्या है ? वह है देवपूजा और दान। ऋत्विक् यजमान के 'पूज्य' हैं और वे उसे यज्ञ प्रक्रिया के ज्ञान का 'दान' देते हैं। इसीलिए तो वे देव हैं।

यजमान ऋत्विजों का पूज्य है, वे उसकी सदुपदेश द्वारा पूजा करते हैं, वह उन्हें दक्षिणा देता है। इसी लिए वह देव है। (यजमान देव, देखो सायण अथर्व भाष्य 7.5.5)

यह परस्पर पूज्य-पूजक भाव ही वस्तुतः संगतीकरण है। इसीलिए कहा है–

''यज देवपूजासंगतीकरणदानेषु।''

और इसी लिए शतपथ में कहा है–

असुराः स्वेष्वेवास्येषु जुह्वतश्चेरुः अथ देवाः अन्योन्यस्मिन्नेव जुह्वतश्चेरुः।

(शत. 11.1.8.1-2)

इसी लिए अग्निहोत्र के दूसरे मंत्र में कहा गया है–

अस्मिन् सधस्थे अध्युत्तरस्मिन् विश्वे देवा यजमानश्च सीदत।

इस मिल बैठने के स्थान में 'सब देव और यजमान बैठो।' यही यजमान का अन्य देवों से पृथक्-करण संगठन के इस मौलिक रहस्य को बता रहा है कि जब तक एक शासन करने वाला पृथक् न हो, यज्ञ नहीं हो सकता।

अनासक्ति

यहां तक तो यज्ञ के आरंभ का वर्णन हुआ। किंतु बहुधा देखा जाता है कि यज्ञारंभ में उद्देश्य-प्रणिधान की भावना से कार्य कर के भी फल प्राप्ति होने पर लोग मदोन्मत्त हो जाते हैं। इसलिए आवश्यकता है कि फल प्राप्ति होने पर भी मनुष्य उस फल को अपना न समझे। यही बात यज्ञमात्र में बारंबार 'इदन्न मम' कह कर दोहराई जाती है। और फिर भी कल्प-सूत्रकार नहीं थकते। यह प्राप्त फल में आसक्त न होना यज्ञ का चौथा मौलिक सिद्धांत है।

निचुम्पुण भावना

हमारे संगठनों की निष्फलता का एक कारण फलातुरता है। हम आरम्भशूर हैं। प्रथम ही बड़े-फल की आशा से हल्ले के साथ कार्य आरंभ करते हैं। किंतु उतना शीघ्र फल न मिलने से थोड़े दिन में हताश होकर बैठ जाते हैं। वेद कहता है–

आ नो भद्राःक्रतवो यन्तु विश्वतोऽदब्धास उद्भिदः।

(ऋग्. 1. 89. 1.)

अर्थात् हमारे सब कार्य उद्भिद् हों। जिस प्रकार वृक्ष पहले बीज मात्र और फिर अंकुर शाखा प्रशाखा क्रम से ऊपर की ओर बढ़ते हैं। इसी प्रकार पहले छोटे हों और फिर धीरे-धीरे बढ़ते जावें। इससे उलटा न हो।

इसीलिए कहा है–

निचेरुरसि निचुम्पुणः

(यजु.8.27)

"हे यज्ञ को समाप्ति तक पहुंचाने वाले धीर यजमान तू इसलिए सफल हुआ है क्योंकि तू धैर्यपूर्वक चुपचाप (चुप मन्दायांगतौ, निचुम्पुणः) मन्दगति से चलता गया है। किंतु चलता अवश्य गया है। यह निचेरु और निचुम्पुण का संयोग ही तेरी सफलता का कारण हुआ है।"

अग्निहोत्र में इसी भाव को सामने रख कर हवन कुंड की रचना नीचे से छोटी और ऊपर से चौड़ी 'उद्भिद्' (Growing upwords) की गई है। इसीलिए जो हवन कुंड को उलटा करते हैं अर्थात् आरम्भशूर और परिणाम-भीरू होते हैं वे नष्ट हो जाते हैं।

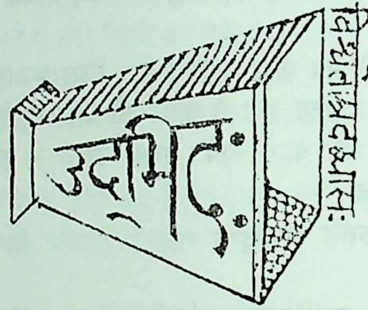
अदब्धता

यज्ञ का अगला तत्त्व अदब्धता है। अदब्धता का अर्थ है–किसी कार्य को पूरा करने के लिए जितना कम-से-कम समय लगे और जितनी कम-से-कम सामग्री व्यय हो उतना ही करना यज्ञ का धर्म है। जो ऐसा नहीं करता वह यज्ञांश की चोरी करता है। यह भाव यज्ञ में सीधी रेखा द्वारा दिखाया गया हे। यदि किसी कार्य के करने में जो कम-से-कम समय अथवा सामग्री अपेक्षित हो उसे शुल्वतन्त्र से (Graphically) दिखाना हो तो दो बिंदुओं के बीच जो सब से छोटी रेखा अर्थात् सीधी रेखा है उसी के द्वारा दिखाया जा सकता है। यही बात वेद में इस प्रकार कही गई है–

आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतो अदब्धास उद्भिदः।

(ऋ. 1. 9. 1)

अर्थात्–"हमारे यज्ञ उद्भिद हों और चारों ओर से अदब्ध (Uncrooked) हों।" इसीलिए यज्ञ कुंड वर्गाकार बनाया गया है। कुंड का चित्र देखिए–



वषट्कार और स्वाहाकार

कर्म किस प्रकार करना चाहिए ? इसका उत्तर है 'स्वाहा' अर्थात् हरएक आहुति इस प्रकार दी जानी चाहिए कि पीछे से कर्त्ता सु+आह, ठीक हो गया, ऐसा कह सके। यह स्वाहाकार ही जर्मनी का Cult of efficiency है। स्वाहाकार तक पहुंचने के दो मार्ग हैं। स्विष्टकार और वषट्कार। वषट्कार का अर्थ है Thoroughness अर्थात् अधकचरा काम कर के सन्तुष्ट न हो जाना। चाहे एक दीवार को तोड़कर दस बार बनाना पड़े, परंतु बने पूरी माप के अनुकूल। इस (Attention to detail द्वारा कार्य को पूर्णता तक पहुंचाने का नाम वषट्कार है।

वषट्कार का स्वरूप ब्राह्मणों में इस प्रकार है—

वज्रो वै वषट्कारः। श. 1. 3. 3. 14

देवपात्रं वा एष यद् वषट्कारः। श. 1. 7. 2. 13।

एते वै वषट्कारस्य प्रियतमे तनू यदोजश्च सहश्च। कौ. 3. 5।

ओजश्च वै सहश्च वषट्कारस्य प्रियतमे तन्वौ। ऐ. 3. 8।

जिसके कारण काम करने में एक मस्ती आती है, जो आराम से बैठे वीर पुरुषों को संकट को निमंत्रण देने के लिए प्रेरणा करती है, उस शक्ति का नाम ओज है। जिससे विघ्नों पर विघ्न पड़ने पर भी, संपूर्ण साथियों द्वारा छोड़े जाने पर भी, मुनष्य दांत भींचकर अकेला लगा रहता है उस शक्ति का नाम सहः है। एक भड़कीली और तीव्रगामिनी है, दूसरी अड़ियल। किसी कार्य को परिपूर्णता तक पहुंचाने के लिए इन दोनों पुणों की आवश्यकता होती है। कई मनुष्यों में सहः तो होता है परन्तु

ओज नहीं होता। अतः वे एक ही पुरानी चाल को कोल्हू के बैल की तरह ढोए लिए जाते हैं। उनका धैर्य प्रशंसनीय है। परंतु उनमें उड़ान नहीं। वे सहस्वी हैं, ओजस्वी नहीं। दूसरी ओर कई लोग नई उड़ान लेते हैं, एक बार संसार को चकित करके चौंधिया कर उल्कापात की तरह व्योम में विलीन हो जाते हैं। वे ओजस्वी हैं सहस्वी नहीं किंतु वषट्कार के लिए, सर्वाङ्ग संपन्नता के लिए, यह दोनों ही गुण अपेक्षित हैं। अतः कहा है कि—

एते वै वषट्कारस्य प्रियतमे तनू यदोजश्च सहश्च।

ओजः के कारण मनुष्य नवीनता उत्पन्न करता है। वषट्कार द्वारा परखता है, देखता है, ठीक नहीं बना तो फिर वह घबरा नहीं उठता उसे तोड़ डालता है। इसलिए कहा—"**वज्रो वै वषट्कारः।**" अब तोड़कर फिर बनाने चला। जब वह परिपूर्ण हो गया तो अब वह बनाने वाले की प्रतिभा का पात्र है। जिस देवता के लिए बनाया गया था उसके सामने कर्त्ता की प्रतिभा इस पात्र में छलकती हुई आती है। और देवता कहता है कि "**सर्वर्वै पूर्णम्।**" इसीलिए कहा—"**देवपात्रं वा एष वषट्कारः।**" अब इसके साथ ही हिवष्टकार का भी अर्थ सुनिए—

स्विष्टकार

वषट्कार के साथ ही जो दूसरी भावना लगी है वह है स्विष्टकार। वषट्कार का भाव है कि कोई अंग छूट न जावे, कार्य सर्वाङ्ग संपन्न हो। स्विष्टकार का अर्थ है कि नियत क्रम से न्यून अथवा अधिक न हो। इसे अंग्रेजी भाषा में Accuracy और Exactitude कहते हैं। दूसरी ओर वषट्कार का भाव है Thouroghness यह दोनों मिलकर स्वाहाकार (Efficncy) उत्पन्न करते हैं। स्विष्टकार का भाव स्विष्टकृत् मंत्र में स्पष्ट है—

यदस्य कर्मणोऽत्यरीरिचम् यद्वा न्यूनमिहाकरम् अग्निष्टत् स्विष्टकृद्विद्यात्।

"अग्नि स्विष्टकृत् है, मैंने यदि इस कार्य में कुछ अधिक किया अथवा न्यून किया तो उसे स्विष्टकृ अग्नि जाने।"

यहां स्विष्टकृत् स्पष्ट ही न्यून तथा अतिरिक्त का विरोधी होकर आया है। इससे स्पष्ट है कि स्विष्ट का अर्थ Exact है। कदाचित् यह Exact शब्द उत्पन्न ही स्विष्ट से हुआ हो तो आश्चर्य नहीं। खैर यह अपभ्रंश शास्त्र (Philology) के जानने वाले जानें। हमें तो यहां स्विष्ट का अर्थ बताना अभीष्ट था सो वह स्पष्ट कर दिया।

इस प्रकार संकल्पाग्नि, उद्देश्यप्रणिधान, ईर्ष्या-विजय, पूज्य-पूजक-भाव, अनासक्ति, अदब्धता, निचुम्पुण भावना, स्विष्टकार, वषट्कार तथा स्वाहाकार की व्याख्या करके यज्ञचक्र की ओर आते हैं, जिसमें दिखाया जाएगा कि छोटे यज्ञ का बड़े यज्ञ के साथ क्या सम्बन्ध है—

यज्ञ का अर्थ संगठन है। परंतु डाकुओं का संगठन भी तो अंत को संगठन ही है, तो क्या उसे भी यज्ञ कहना चाहिए ? उत्तर में हम यही कह सकते हैं कि एक अंश में वह भी यज्ञ है। जिस अंश तक हरएक डाकू अपने स्वार्थ को अपने दल के लिए बलिदान कर रहा है उस अंश तक यह भी एक छोटा-सा यज्ञ है। परंतु यह दूषित यज्ञ है। क्योंकि यह अपने से एक बड़े यज्ञ का अर्थात् राष्ट्र अथवा मानव-समाज के हित का विघात करता हे। इसी प्रकार एक राष्ट्र का दूसरे राष्ट्र पर बलपूर्वक राज्य करने के लिए जाना भी एक यज्ञ है। परंतु यह भी दूषित यज्ञ है। क्योंकि जहां तक प्रत्येक राष्ट्र का सैनिक अपने राष्ट्र के हित के लिए अपने आपको बलिदान करता है वहां तक वह यज्ञ करता है। किंतु जब वह दूसरे राष्ट्रों का विघात करता है तो वह विश्व के विशाल राष्ट्र के हित का नाश करता है इसलिए इस अंश में वह दूषित है।

अब हमें एक कसौटी प्राप्त हो गई जिससे हम किसी भी यज्ञ में कितना वास्तविक यज्ञांश है वह अच्छी प्रकार जान सकते हैं। वह कसौटी यज्ञ-चक्र की है। इस ब्रह्माण्ड में ग्रीष्म, वर्षा, शरद् आदि भिन्न-भिन्न ऋतु एक दूसरे के सहायक होकर संसार रूपी यज्ञ कर रहे हैं—अर्थात् उत्तम अनाज आदि सस्य संपत्ति तथा फल फूल आदि द्वारा इस धरती को बसा रहे हैं। यही संवत्सर शब्द का अर्थ है। 'सम्' का अर्थ है 'एक साथ मिलकर' और 'वत्सर' का अर्थ है बसनेवाला। यदि इस संसार में केवल ग्रीष्म ऋतु ही होती तो यह सार झुलस जाता, यदि केवल शरद् होती तो सब कुछ दबा का दबा रहता। परंतु अब यही तीनों ऋतु एक दूसरे की सहायता करते हैं। ग्रीष्म से संसार की सफ़ाई होती है और सड़ांद का नाश होता है, संपूर्ण दोष भस्मीभूत होते हैं और फिर उससे चारों ओर हरियाली छा जाती है, बीज से अंकुर, अंकुर से पल्लव, पल्लव से शाखा, शाखा से फल, चारों ओर वृद्धि ही वृद्धि दिखाई देती है। परंतु यह हरियाली कभी परिपाक को प्राप्त न हो, और नई उत्पादक शक्ति संचय न कर सके, यदि शरद् ऋतु कुछ काल के लिए विश्राम देने न आ जाए। शरद् का संवत्सर यज्ञ में वही स्थान है जो शरीर में निद्रा का। इस प्रकार इस ब्रह्माण्ड के अंदर जो विशाल यज्ञ हो रहा है उसमें जो सस्य संपत्ति और फल-फूल उत्पन्न हुए उनका भोजनशाला में आकर संगठन हुआ। आटा आग्नेय पदार्थ था, जल सौम्य था, घृत अग्नीषोमीय था। इनके साथ अग्नि का संयोग हुआ। सबने मिलाकर जो यज्ञ किया, उससे उत्तम भोजन उत्पन्न हुआ। उस भोजन को खाने के लिए शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों ने व्यायाम द्वारा अग्नि उत्पन्न की। नेत्र, रसना आदि ब्राह्मणों ने उसकी पड़ताल की, दांतों ने पेषण किया, जिह्वा ने पाचक रस प्रदान किया, इसी प्रकार इस सारे राष्ट्र ने मिलकर वीर्य का बिंदु उत्पन्न किया। उसे प्राण करने के

लिए किसी सवर्ण युवती ने अग्नि उत्पन्न की। उसमें आहुति होकर एक बालकर उत्पन्न हुआ। बालक ने अपने आपको राष्ट्र के लिए अर्पण किया। राष्ट्र ने अपने आपको मानव विश्व के अर्पण किया। मानव विश्व ने अपना कार्य ऐसी सुव्यवस्था से चलाया कि जिससे लता, वृक्ष, वनस्पति, पशु, पक्षी, जल, वायु, आदि में किसी का अनुचित उपघात न हुआ और दोषों का नाश हुआ। तो अब यह पुरुष जिसे ब्रह्माण्ड यज्ञ ने पैदा किया था फिर ब्रह्माण्ड यज्ञ को पूरा कर रहा है। इसका नाम यज्ञ चक्र है। इसी के विषय में भगवान् वेद ने कहा है **''यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः।''** इसी वेद के वाक्य को महर्षि वेदव्यास ने **''देवान् भावयताऽनेन ते देवा भावयन्तु वः''** इन शब्दों में दोहराया है। आगे चलकर गीता में इसी अध्याय के सोलहवें श्लोक में स्पष्ट शब्दों में **''एवं प्रवर्त्तितम् चक्रम्''** इस प्रकार इस यज्ञ-चक्र का वर्णन किया है। इस यज्ञ-चक्र की शृंखला में जो कोई ब्रह्माण्ड यज्ञ से चलकर ब्रह्माण्ड यज्ञ की ओर आते हुए, अपने से अगली विशालतर कड़ी का उपघात करता है तो उतने अंश में वह यज्ञ-चक्र का विध्वंस करता है। और इसी लिए वह अपने आप में यज्ञ होते हुए भी बड़े यज्ञ का विघातक होने से दूषित है।

कभी-कभी देखने में आता है कि सारे राष्ट्र की शक्ति एक ही व्यक्ति की रक्षा में लग रही होती है। प्रश्न हो सकता है कि क्या वह भी यज्ञ है ? उत्तर 'हां' में है। व्यक्तियों की रक्षा में राष्ट्र दो ही अवस्थाओं में लग सकता है। या तो उस व्यक्ति में कोई ऐसा गुण हो जिससे सारे राष्ट्र का उपकार होता हो या उस व्यक्ति की रक्षा के पीछे कोई ऐसा सिद्धान्त काम कर रहा हो जिसके अपमान से सारे राष्ट्र के संगठन का विध्वंस होता हो। उदाहरण के लिए राष्ट्र का एक वैज्ञानिक है जो राष्ट्र की रक्षा के लिए उपयोग में आने वाले अस्त्र-शस्त्रों का एक मात्र ज्ञाता है। अथवा राष्ट्र का एक दूत है जो किसी दूसरे राष्ट्र में बात चीत करने के लिए प्रतिनिधि होकर गया है। पहली अवस्था में उसकी विद्या राष्ट्र को उसकी रक्षा के लिए प्रेरित करती है। दूसरी अवस्था में उसका राष्ट्र का प्रतिनिधि होना है। परंतु अंततः परिणाम यह निकलता है क्योंकि इनका जीवन और आंखें मनुष्यों के लिए उपयोगी है, अतः उसकी रक्षा सहस्रों जानें व्यय करके भी की जाती है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो गया कि यज्ञ भावना का अर्थ क्या है। यज्ञ भावना का अर्थ है–**''छोटे समुदाय का बड़े समुदाय के लिए अपने आपको अर्पण करना।''** इसलिए इस भावना के सिखाने का साधन भी ऐसा होना चाहिए जिसमें परस्पर उपकारकता स्पष्ट दीखती हो। उदाहरण के लिए यदि जल का जल में हवन करें अथवा मिट्टी का मिट्टी में हवन करें तो उसमें परस्पर उपकारकता का प्रत्यक्ष अनुभव नहीं होता और ना ही वृद्धि का अनुभव होता है। हां, यदि धरती में बीज का हवन करें तो वहां जल, मिट्टी और बीज के संयोग से परस्पर उपकारकता दीखने लगती है और बीज के संयोग से परस्पर उपकारकता दीखने लगती है और बीज के बलिदान का दृश्य भी सामने आता है।

परंतु यह दृश्य अपने इस रूप को प्रकट करने के लिए बड़ा समय मांगता है। हां यदि अगिन में घृत समिधा तथा सुगन्धित पदार्थों का हवन करें तो उससे उत्पन्न होने वाली ज्वाला में निरंतर चेष्टा, तीव्रगति, उससे उत्पन्न होने वाला प्रकाश, चारों तरफ होने वाला सौरभ विस्तार, परस्पर उपकारकता तथा आहुतियों के आरम्भ और समर्पण का दृश्य यज्ञ के सर्वांग संपन्न रूप को एकदम हमारे सामने उपस्थित कर देते हैं। इसलिए अग्नि को ही कल्प सूत्रकारों ने कर्मकांड की विद्या सिखाने का मुख्य साधन माना है।

संगठन के दो मुख्य भाग हैं। एक देव और दूसरे पुजारी। अर्थात् एक आज्ञा देने वाला और दूसरा कहना मानने वाला। संसार का कोई संगठन इन दो अंगों के बिना नहीं चल सकता। जिन संगठनों में सब के सब आज्ञा देते हों वहां परस्पर कितनी भी प्रीति हो वह अपना काम नहीं चला सकते। सलाह सबकी सुनी जाय, समय समय पर जो जिस क्षेत्र का पंडित हो उसकी मानी भी जाय, परंतु मानने न मानने का काम भी तो किसी एक के अर्पण करना ही पड़ेगा। बस, इसी को यज्ञ की भाषा में 'विश्वेदेवाः' और 'यजमान' के नाम से पुकारा गया है। यजमान इंद्र है। क्षेत्र-भेद से हरएक देव अपने समय में इंद्र पदवी पा सकता है। जिस यज्ञ का वह यजमान है उसका वही इंद्र है। इसलिए कहा है–

इन्द्रो यजमानः। श. 2. 1. 2. 11।। 4. 5. 4. 8.।। 5. 1. 3. 4.।।

अब देवराज 'इंद्र' और 'विश्वेदेवा' में परस्पर संबंध क्या होना चाहिए इस पर विचार करना आवश्यक है। सबसे पहली वस्तु यज्ञ भावना है। यह तो सभी देवों में होनी चाहिए। अर्थात् समुदाय के स्वार्थ के लिए अपना स्वार्थ बलिदान करने की तत्परता। परंतु जब उनमें शिष्य और शास्ता का विधेय और विधाता का भेद उत्पन्न कर दिया तो उनके कर्तव्य में भी भेद होना चाहिए।

विधेयों का एक ही कर्तव्य है। वह है–आज्ञा पालन। दूसरी ओर विधाता इन्द्र अथवा यजमान का कर्तव्य है कि वह जो आज्ञा पालन कराना चाहता है उस पर चलने के लिए स्वयं भी तैयार हो। दूसरे वह अपने विधेयों में किसी को अपने व्यक्तिगत स्वार्थ के सिद्ध करने का साधन न बनावे। बस इन्हीं उपदेशों को अभिनय द्वारा जीवित जागृत बनाने के लिए कल्पसूत्रकारों ने जिस दिव्य पवित्र नाटक की रचना की है, उसका नाम अग्निहोत्र है।

अग्निहोत्र का मुख्य पदार्थ अग्नि है। वह इस कार्य के लिए क्यों चुना गया। इसका वर्णन हम पहले कर आये हैं। अब सबसे पहली क्रिया अग्न्याधान का वर्णन करते हैं। यजमान को जो कार्य वह दूसरों से कराना चाहता उसे करने के लिए सबसे प्रथम स्वयं तैयार होना चाहिए। इसी लिए अग्न्याधान के मंत्र में उत्तम पुरुष का प्रयोग किया जाता है। यह नहीं कहा गया कि 'अग्न्याधान करें', यह नहीं कहा गया 'तुम अग्न्याधान करो'। प्रत्युत कहा गया कि सब से पहले ''मैं अग्न्याधान करता

हूं।'' इसी लिए अग्न्याधान के प्रथम मंत्र की समाप्ति 'अग्निम् आदधे' इन शब्दों से होती है।

ब्रह्म-प्रणिधान

यह भावना अर्थात् बड़े समुदाय के लिए छोटे समुदाय को अर्पण करने की भावना ईश्वर-विश्वास के बिना भी उत्पन्न की जा सकती है। परन्तु ईश्वर-प्रणिधान अथवा ईश्वरार्पण के द्वारा उसमें जो निरभिमानता और मधुरता उत्पन्न हो जाती है वह अन्य किसी उपाय से नहीं हो सकती। एक समष्टिवादी प्रजा के हित के लिए अपने आपको अर्पण करता है। परंतु मैंने इस प्रकार बलिदान द्वारा समाज पर एक भारी अपकार किया है ऐसा अभिमान कुछ-न-कुछ मात्रा में उसके हृदय में उत्पन्न हुए बिना नहीं रह सकता। और यदि समाज उसके अपकार का बदला न दे अथवा उपकार करे तो उसका हृदय रोप-कष्मप हुए बिना नहीं रह सकता। दूसरी ओर ईश्वर-विश्वासी समाज से बदले में उपकार मांगता ही नहीं। क्योंकि वह तो कार्य ही अपने प्रभु की आराधना के लिए कर रहा है। समाज को अहसानों के बोझ से लादने के लिए नहीं। प्रथम तो अपने प्रभु की प्रसन्नता ही उसके लिए मधुरतम फल है। और यदि इसके अतिरिक्त और किसी फल की आकांक्षा भी उसे हो तो उसे विश्वास है कि वह उसे अपने प्रभु से प्राप्त हो जाएगी। इस लिए वह समाज द्वारा किए गए अपकारों से भी रुष्ट नहीं होता। अतः आवश्यक है कि इस अग्न्याधान का साक्षी उस परब्रह्म को ही बनाया जाए। इसी लिए उस प्रभु को साक्षी करके ही इस यज्ञ का आरंभ होता है। कहते हैं—ओ३म् तू भूः है, तू भुवः है, तू स्वः है। इसलिए भूः भुवः स्वः ओ३म् तुझे साक्षी करके मैं इस अग्नि को आधान करता हूं। अब इन तीनों संबोधनों में क्या विलक्षणता है इनका परस्पर क्या संबंध है और इनका यज्ञ भावना से क्या संबंध है यह आगे दिखाते हैं।

संसार में जितनी भी विचारधारा है वह ज्ञान, इच्छा और अनुभूति इन तीन भागों में बंटी हुई है। यह मनोविज्ञान का सर्वसम्मत सिद्धांत है। अतः इन तीन के परस्पर संगठन में यज्ञ का पूर्ण स्वरूप आ गया। यह तीन स्वरूप ही गायत्री मंत्र की भूः भुवः, स्वः, इन तीन महा व्याहृतियों में आ गये हैं। संसार भर की कोई भी संगठित चेष्टा इन तीन से बाहर नहीं हो सकती। 'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्' में भी इन्हीं तीन की व्याख्या है। संपूर्ण चेष्टाओं का मूल उत्पत्ति कारण होने से ज्ञान भूः कहलाता है। विस्तार के कारण भुवः इच्छा का नाम है। और स्वः अर्थात् सुख अनुभूति का उपलक्षण है। इन्हीं तीन के कारण शतपथ में सैकड़ों बार दोहराया गया है 'त्रिवृद्धि यज्ञः', अर्थात् यज्ञ तीन लड़ा है। सत् चित् आनन्द; जीव, ईश्वर, प्रकृति; सत्व, रजस्, तमस्; व्यवस्थापक सभा, कार्य-कारिणी सभा, न्याय सभा, आदि इस तीन संख्या के सैकड़ों संयोग दिखाये जा सकते हैं। परंतु वह सबके सब ज्ञान, इच्छा और अनुभूति,

इन तीन से पृथक् कहीं नहीं हो सकते। इसलिए इन तीन में संपूर्ण जगत् का समावेश होने के कारण, कोई यंत्र, कोई पुरुष, कोई राष्ट्र, कोई ग्रंथ, किम्बहुना संसार का कोई भी पदार्थ पूर्ण तब ही कहला सकता है जब वह हमारी इन तीनों प्रकार की प्यास को, ज्ञान-पिपासा, यत्न-पिपासा, सुख-पिपासा को मिटाता हो। इसीलिए इन तीन व्याहृतियों को महाव्याहृति कहा गया है। इन शब्दों का अर्थ आगे चलकर–

भूः	अग्नये	**प्राणाय**
भुवः	वायवे	**अपानाय**
स्वः	आदित्याय	**व्यानाय**

इन तीन वाक्यों में स्पष्ट होता है। चेष्टा मात्र किसी न किसी ज्ञान से प्रादुर्भूत होती हैं। उस ज्ञानावस्था का नाम अग्नि है। उसका काम है 'अग्रे+नयनम्' आगे ले जाना, Guide करना। किंतु अग्नि वायु द्वार चेष्टा करती है। स्थूल जगत् में भी जल तेल आदि जब अग्नि संयोग से वायु रूप (Gas की अवस्था) धारण कर लेते हैं तभी उनसे चेष्टा उत्पन्न होती है। किंतु उस चेष्टा से और गर्मी उत्पन्न होते-होते जब वह सुख की अवस्था तक पहुंच जाती है, उस अवस्था को ज्योतिर्मय होने के कारण 'आदित्य' कहा गया है। भूः, भुवः, स्वः यज्ञ के इन तीन अंगों की पूर्ति के लिए सबसे पहले हर एक यजमान ब्राह्मण क्षत्रियादि वर्ण संकल्प की अग्नि को अपने हृदय में स्थान देता है। प्रश्न हो सकता है कि यज्ञ-चक्र में एक अग्नि परंपरा दिखाई गई है फिर संकल्पाग्नि को मुख्यता क्यों दी गई ? इसके लिए वेद का प्रमाण है–

मुग्धा देवा उत शुना यजन्त उत गोरङ्गैः पुरुधा यजन्त, य इमं यज्ञं मनसा चिकेत प्राणो वोचस्तमिहेह ब्रवः।

अथर्व. 7/5/5/

अर्थात् "यज्ञ का मर्म न समझने वाले सैकड़ों श्रद्धालु लोग कोई कुत्ते से हवन करने लगते हैं, कोई गौ से, परंतु वे सब कार्याकार्य विवेकरहित मूढ़ लोग हैं। हे भगवान् ! हमें ऐसा गुरु दीजिए जो यज्ञ को मन के द्वारा जानता है अर्थात् मानस यज्ञ जानता है, और जब ऐसा गुरु हमें मिले तो हम उससे कहें कि हमें मानस यज्ञ का उपदेश दीजिए।"

तात्पर्य यह कि वेद कहता है–जब लोग यज्ञ के मर्म को भूल जाते हैं तो वह द्रव्य यज्ञ को मुख्य समझ बैठते हैं। वे समझने लगते हैं कि अमुक द्रव्य के हवन से कोई विशेष पारलौकिक चमत्कार उत्पन्न हो जाता है। फिर तो वे ऊटपटांग पदार्थों का हवन करते हैं। जो जानते हैं कि यज्ञ मुख्य रूप से मानस कर्म है वे द्रव्य यज्ञ करने में कभी ऐसे पदार्थ से यज्ञ नहीं कर सकते जिससे मानसिक भाव दूषित हों। क्योंकि यज्ञ का मुख्य उद्देश्य तो मानसिक भावनाओं को शुद्ध करना है।

इस प्रकार हमने दिखा दिया कि यहां अग्नि से मुख्य तात्पर्य मानस संकल्प रूप अग्नि से है। जिसकी व्याख्या हम ब्रह्मयज्ञ में कर चुके हैं। हममें से हर एक

मनुष्य उस अग्नि का ईंधन है। यज्ञ के ईंधन कृमि दोषादि से रहित, परिपक्व होने चाहिए। इसलिए आमता को दूर करने तथा यज्ञ योग्य बनाने के लिए ब्रह्मयज्ञ किया जाता है। ब्रह्मयज्ञ द्वारा पवित्र किया हुआ व्यक्ति रूपी यज्ञकाष्ठ अब उस संकल्पाग्नि को प्रज्वलित करके अपने आपको उसमें आहुति करने की भावना हृदय में दृढ़ करता है। इसी का नाम अग्न्याधान है। जिस दिन भूमंडल के समस्त राष्ट्रों के पुरुष यह अग्न्याधान कर लेंगे इस भूमि का भार दूर हो जाएगा।

अथ देवयज्ञः
मन्त्रों की व्याख्या

अब अग्निहोत्र (देवयज्ञ) के मंत्रों की व्याख्या क्रम से सुनिए। सबसे प्रथम अग्न्याधान का मंत्र लीजिए। मंत्र इस प्रकार है–

ओ३म् भूर्भुवः स्वः। ओ३म् भूर्भुवः स्वर्द्यौरिव भूम्ना पृथिवीव वरिम्णा। तस्यास्ते पृथिवि देवयजनि पृष्ठे अग्निमन्नाद मन्नाद्यायादधे।।

वह ओ३म् भूः भी है, भुवः भी है, स्वः भी है। हे भूः, भुवः, स्वः ओ३म् जिस प्रकार यह द्यौः सूर्य चंद्र तारकादि की भूमा से (बहुतायता से) सुशोभित है इसी प्रकार यह पृथिवी भी वरिमा अर्थात् सौंदर्य से भरपूर हो जाए। यह तब ही हो सकता है जब अन्नाद अग्नि को उसका अन्न मिल जाए। इसलिए हे देवताओं के यज्ञक्षेत्र धरती माता मैं उस तेरे पृष्ठ पर जहां मैं सौंदर्य उत्पन्न करना चाहता हूं अन्नाद अग्नि का स्थापन करता हूं।

अन्नाद अग्नि से भिन्न क्रव्याद् और आमात् दो अग्नि वेद में कहे हैं। जब कोई पदार्थ जिस निमित्त बनाया गया हो उसके कार्य के योग्य न रहे तब उसे क्रव्य कहते हैं। जब कोई पदार्थ तैयारी की अवस्था में हो, कच्चा हो उसे आम कहते हैं। वेद कहता है यज्ञ में इन दो प्रकार के पदार्थों को मत डालो। क्रव्य की अंत्येष्टि करो। आम का परिपाक करो। जब वह अन्न हो जाए उसे उपयोग में लाओ। संसार में एक ही पदार्थ है जो सदा पक्व है। वह परमात्मा है। इसीलिए उपनिषद् में भगवान् ने कहा है–**अहमन्नम् अहमन्नादः** "यह सारा संसार मेरा अन्न है और मैं अन्नों का अन्न हूं।" मैं आम वा क्रव्य नहीं होता। इसलिए इस सारी अन्नाद्य क्रिया की समाप्ति तो परमान्न के भोजन में ही होती है परंतु आरंभ अग्नयाधान से होता है।

शब्दार्थ–ओ३म् (भूः) जन्मभूमि (भुवः) विस्तार करने वाली (स्वः) सुख स्वरूप है। हे ओ३म् (भूः) जन्मदाता (भुवः) विस्तार करने वाले (स्वः) सुख स्वरूप (द्यौः) आकाश (इव) जिस प्रकार (भूम्ना) बहुतायत से सुशोभित है इसी प्रकार (पृथिवी) भूमि (व) भी (वरिम्णा) सौंदर्य से भरपूर हो जाए इस निमित्त मैं (तस्याः) उस (ते)

तेरे (पृथिवि) हे पृथिवी ! (देवयजनिं) देवताओं के यज्ञ क्षेत्र (पृष्ठे) पृष्ठ पर (अग्निम्) अग्नि को (अन्नादम्) परिपक्कावस्था तक पहुंचे हुए पदार्थों का उपयोग लेने वाले (अन्नाद्याय) परिपक्कावस्था तक पहुंचे हुए पदार्थों का उपयोग लेने के लिए (आदधे) स्थापन करता हूं।

यज्ञ का मूल तत्व सहयोग है। अग्नि तो जलाने चले हो परंतु मत भूलो कि कम से कम जब तक एक मनुष्य और तुम्हारे साथ न मिले तब तक यज्ञ का मुख्य घटक संगतिकरण उसमें नहीं आया। किंतु साथ ही यह भी याद रहे कि उन दो में से एक मुख्य न हो तब तक भी यज्ञ नहीं चल सकता। यज्ञ के लिए न्यूनतम अंग दो हैं। अकेला पदार्थ कभी यज्ञ नहीं कहला सकता। यही बात अगले मंत्र में दिखाई है–

ओ३म् उद्बुध्यस्वाग्ने प्रतिजागृहि त्वभिष्टापूर्ते संसृजेथामयञ्च। अस्मिन् सधस्थे अध्युत्तरस्मिन् विश्वेदेवा यजमानश्च सीदत।।

हे यजमान के हृदय में प्रसुप्त संकल्पाग्ने ! तू उद्बुद्ध हो। और फिर ऐसा उद्बुद्ध हो कि कभी न सोवे। सदा जागता रहे। तू और यह यजमान मिलकर इष्ट अर्थात् सत्संग ईश्वराराधनादि साधन धर्म, और आपूर्त जिसके बिना साधन धर्म निरर्थक हैं, अपूर्ण हैं, जिसमें सारे धर्म की पूर्ति है, वह सदाचरण रूपी धर्म, इन दोनों को इकट्ठे मिल कर सिरजो। आज जो यह सहोद्योग के लिए इकट्ठे बैठना हुआ है इसमें और आगामी सधस्थों में भी यजमान और उसके सहायक संपूर्ण देव इकट्ठे मिल कर बैठें। यहां ऋषि दयानन्द ने तू और यह का अर्थ स्त्री और पुरुष किया है। सो अग्निहोत्र के गृहस्थाश्रम प्रकरण में इन दो की मुख्यता होने से यह अति सुसंगत है। परंतु ऋषि का यह अर्थ उन सब जोड़ों का उपलक्षण मात्र है जिनमें एक मुख्य और एक सहायक हो। जैसे गुरु शिष्य, राजा मंत्री, सेनापति सैनिक इत्यादि। 'त्वम्' का संबोधन गौण की ओर और 'अयम्' शब्द मुख्य की ओर निर्देश करता है। गुरु शिष्य में 'त्वम्' का अर्थ शिष्य, 'अयम्' का अर्थ गुरु होगा। इसी प्रकार समस्त संगठनों में जान लेना।

शब्दार्थ–(उदबुद्ध्यस्व) उठ पड़ (अग्ने) अग्ने (प्रति-जागृहि) सदा जागता रह (त्वम्) तू गौण (इष्टापूर्ते) सत्संगादि इष्ट और सदाचरणादि आपूर्त धर्मों को (संसृजेथाम्) मिलकर सिरजो (अयञ्च) और यह अर्थात् मुख्य यजमान (अस्मिन्) इस (सधस्थे) मिलकर सहोद्योग करने की बैठक में (उत्तरस्मिन्) और आगामी सहयोगों में (विश्वेदेवाः) संपूर्ण सहायक देव अर्थात् दिव्य शक्ति युक्त लोग (यजमानः) यजमान (च) भी (अधिसीदत) बैठें।

अब आगे यजमान और उसके सहायक देव अर्थात् यज्ञ में संगत होने वाले हर एक व्यक्ति में यज्ञ के प्रति क्या भावना होनी चाहिए यह अगले मंत्र में दिखाते हैं। मंत्र इस प्रकार है–

ओ३म् अयन्त इध्म आत्मा जातवेदस्तेनेद्ध्यस्व वर्धस्व चेद्ध वर्धय चास्मान् प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेनान्नाद्येन समेधय स्वाहा। इदमग्नये जातवेदसे इदन्न मम।।

हे जातवेद ! यह ईंधन, अर्थात् मैं, तेरा आत्मा है। तुझे सदा जीवित रखने वाला है। तू इससे प्रदीप्त हो और बढ़। और जब तू प्रदीप्त हो जाय तो हमें बढ़ा भी। प्रजा से, पशुओं से, ब्रह्मवर्चस से, अग्न भोग से, सभी से हमें बढ़ा। बस, वही संगठन संसार में सफल होता है जिसमें हर एक व्यक्ति दूसरे से नहीं कहता कि तू अग्नि का ईंधन है, किन्तु अपने आपको अग्नि का ईंधन बना देता है, जहां हर एक संकट में दूसरे को आगे बढ़ने के लिए कहने के स्थान में सबसे पहले अपनी आहुति करने को तैयार हैं।

परंतु यह भावना की पराकाष्ठा तो अगले छोटे से वाक्य में है। यज्ञ में आहुति का मुख्य भाग अग्नि में डाल दिया जाता है। किंतु एक छोटा-सा बूंद यह वाक्य बोल कर जल में डाल दिया जाता है। यह इस बात का सूचक है कि हर एक यजमान को अपने ऐश्वर्य का बड़ा भाग तो समाज की सेवा में ही देना चाहिए। किंतु जो थोड़ा-सा अंश वह अपने लिए निकालता है वह भी वस्तुतः महान् संकल्पाग्नि के लिए अर्पण है। वह कहता है कि वह जो अंश मैंने अपने लिए निकाला है यह भी इसलिए कि मैं यज्ञ की सेवा कर सकूं। उदाहरण के लिए एक व्यक्ति को भोजन करना आवश्यक है। और भोजन में आनंद लेना भी आवश्यक है। जिससे स्वस्थ शरीर से वह और कार्य कर सके। इसलिए यह स्पष्ट हुआ कि सांसारिक सुख भी इसलिए भोगता है कि उसकी शक्ति से अधिक परोपकार कर सके। एक शब्द में सार यह हुआ–

सच्चा यजमान यज्ञ इसलिए नहीं करता कि उससे सुख मिले, उलटा सुख इसलिए और वहीं तक भोगता है जिससे वह कार्य पहले की अपेक्षा दुगने उत्साह से कर सके। मर्म यह कि साधारण मनुष्यों के जीवन में यज्ञ साधन और सुख साध्य है, किंतु सच्ची यज्ञ भावना वालों में सुख साधन और यज्ञ साध्य है। इसीलिए वह कहता है कि यह जो एक बिंदु मात्र भाग मैंने अपने लिए निकाला है यह भी मेरा नहीं है। यह भी वस्तुतः जातवेदः के अर्पण है। कार्य इस लिए नहीं करता कि वह सुख की नींद सो सके। किंतु नींद इसलिए लेता है कि कार्य कर सके। जिस समय यह साध्य-साधन का विपर्यास अपनी पूर्णता तक पहुंच जाता है बस तब तो जानो कि यज्ञ भावना पूर्णता तक पहुंच गई।

कई विद्वानों का मत है कि 'इदन्न मम' कहकर जल में घृत बिंदु त्याग केवल गर्भाधान संस्कार में किया जाना चाहिए। किंतु हमारी सम्मति में तो गर्भाधान में ऋषि ने उसका विशेष उल्लेख इस लिए कर दिया क्योंकि वहां इसका अभ्यंग किया जाता है। किंतु अन्यत्र भी यह क्रिया होनी चाहिए। क्योंकि यदि सारा ही भाग यज्ञ में डाल दिया जाए तो 'इदन्न मम' यह शब्द प्रयोग करने की आवश्यकता ही नहीं

रहती। इसका सौंदर्य तो इसी में है कि यजमान जो भाग अपने लिए निकालता है। वह भी वस्तुतः उसका नहीं है।

इसके साथ ही एक बात और ध्यान देने योग्य है। यदि संपूर्ण घृत जो ठीक परिणाम से लिया जाता है अग्नि में ही डाल दिया जाए तो संस्कार विधि के सामान्य प्रकरण में जो ऋषि ने लिखा है कि 'ओं सर्व वै पूर्ण ७ स्वाहा' इस मंत्र से एक आहुति देवें, ऐसे दूसरी और तीसरी आहुति दे, जिसको दक्षिणा देनी हो दें, व जिसको जिमाना हो जिमाके, दक्षिणा दे, सबको विदा कर स्त्री-पुरुष हुतशेष घृत, भात व मोहनभोग को प्रथम जीम के पश्चात् रुचिपूर्वक उत्तमान्न का भोजन करें।'' यह हुतशेष घृत क्या है ? इससे हमारी सम्मति में 'इदन्न मम' यह वाक्य बोल कर घृत बिंदु त्याग सब यज्ञों में करना उचित है। गर्भाधान में उसका उल्लेख ब्राह्मण्ध-वशिष्ट-न्यायेन अति विशेषता के लिए किया गया है।

शब्दार्थ–(अयम्) यह (ते) तेरा (इध्मः) ईंधन (आत्मा) सदा गतियुक्त रखने का साधन है। (जातवेदः) पदार्थ मात्र का सहयोग प्राप्त करने वाले अग्ने (तेन) उससे (इध्यस्व) प्रदीप्त हो (वर्धस्व) बढ़ (च) भी (वर्धय च) और बढ़ा भी (अस्मान्) हमें (प्रजया) प्रजा से (पशुभिः) पशुओं से (ब्रह्मवर्चसेन) ब्रह्म तेज से (अन्नाद्येन) अन्नादि से (समेधय) बढ़ा (स्वाहा) यहां तक बढ़ा कि सब सु+आह अच्छा ही अच्छा कहें। (इदम्) यह अपने लिए लिया हुआ भाग (अग्नये) अग्नि के लिए (जातवेदसे) जो हर एक पैदा होने वाले पदार्थ को प्राप्त होता है उसके लिए है (इदम्) यह (न) नहीं है (मम) मेरा।

यह भावना नित्य के अभ्यास से ही दृढ़ हो सकती है, इस लिए अगले मंत्र में विधिवाक्य द्वारा भगवान् इस संकल्पाग्नि की अनवरत सेवा की आज्ञा देते हैं–

ओ३म् समिधाऽग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम्। आऽस्मिन् हव्या जुहोतन।।

अग्नि को समिधा से बढ़ाओ। घृताहुतियों से इस अतिथि को प्रबुद्ध करते रहो, और इसमें सदा हव्य डालते रहो। यहां समिध्, धृत और हव्य यह तीन शब्द ध्यान देने योग्य हैं। किसी भी संगठन में समिध् वह अंग हैं जो सब से पहले प्रज्वलित होकर कार्य का आरंभ करते हैं। उसके पश्चात् घृत वे हैं जो स्वयं जलने का आधार नहीं बनते, किंतु ज्वाला को भड़काने में सब अधिक भाग लेते हैं। हव्य वह पदार्थ हैं जिनके निमित्त यज्ञ किया जाता है। उदाहरण के लिए भोजन में अग्नि-वर्धक खांड आदि पदार्थ समिध् हैं। रुचिवर्धक पदार्थ घृत हैं। तथा अस्थि-मांसवीर्य मस्तिष्क आदि बनाने वाले हव्य हैं। रुचि वर्धक पदार्थों को घृत सुनकर सब चौंकेंगे। किन्तु घृत शब्द 'घृ क्षरणदीप्त्योः' से बना है। अतएव जिस प्रकार यह घृत अग्नि की ज्वाला को बढ़ाने से घृत कहलाता है ऐसे ही शरीर प्रकरण में जठराग्निवर्धक पदार्थ घृत कहलाएंगे, क्योंकि उनसे जिह्वा का क्षरण होता है। राज्य में आरंभ में नया विचार देनेवाले समिध् हैं। उन विचारों को लोकप्रिय बनाने वाले घृत हैं और जो उस विचार

के लोक समस्त होने पर उसे क्रियात्मक रूप देने के लिए बुलाए जाते हैं। वह बुलाए जाने के योग्य होने के कारण हव्य हैं। इसी प्रकार यन्त्र में अग्नि का आरंभ करनेवाले समिधू, जलीय अंश देनेवाले पैट्रोल आदि घृत, तथा अन्य पुर्जे हव्य हैं। इस प्रकार यह यज्ञ-विद्या सम्स्त विद्याओं में ओत-प्रोत हैं।

शब्दार्थ—(समिधा) समिधा से (अग्निं) अग्नि को (दुवस्यत) बढ़ाओ (घृतैः) उद्दीपक पदार्थों से (बोधयत) प्रबुद्ध करो (अतिथिम्) इस अतिथि तुल्य अग्नि को (आ) अच्छी प्रकार (अस्मिन्) इसमें (हव्या) बुलाने योग्य पदार्थों को (जुहोतन) हवन करो।

अब घृत की अर्थात् रुचिवर्धकों की विशेष महत्ता बताने के लिए एक और मंत्र में उसका गौरव कहते हैं—

ओ३म् सुसमिद्धाय शोचिषे घृतन्तीव्रं जुहोतन। अग्नये जातवेदसे स्वाहा।। इदमग्नये जातवेदसे इदन्न मम।।

जब यह जन्मधारी मात्र में पाया जाने वाला जातवेदा अग्नि अच्छी प्रकार प्रदीप्त हो जाय, जगमगाने लगे, उस सयम तीव्र घृत की आहुति दो।

इससे पता लगता है कि राज्य में किसी कार्य को लोकप्रिय बनाने वाला भाग अत्यावश्यक है। क्योंकि किसी राज्य का शासन जितना भी दंड के बल पर कम चले उतना अच्छा है।

शब्दार्थ—(सुसमिद्धाय) अच्छी प्रकार प्रदीप्त हुए (शोचिषे) जगमगाते हुए (घृतम्) घृत को (तीव्रम्) तीव्र (जुहोतन) हवन करो (अग्नये) अग्नि के लिए अर्थात् अग्नि में (जातवेदसे) जो जन्मधारी पदार्थ मात्र में विद्यमान है।

अब तक यज्ञ के आरंभ में यजमान को विशेष स्थान देने के लिए अग्न्याधान में 'आदधे' या एकवचन दिया गया था। अब अगले मंत्र में यजमान और 'विश्वेदेवाः' अर्थात् उसके सब सहायक मिलकर भगवान् से प्रार्थना करते हैं। अतएव यहां 'वर्धयामसि' यह उत्तम पुरुष का वचन है—

ओ३म् तन्त्वा समिद्भिरङ्गिरो घृतेन वर्धयामसि। बृहच्छोचा यविष्ठ्य।। इदमग्नये अङ्गिरसे इदन्न मम।

हे बुरे पदार्थों को दूर करने तथा उत्तम पदार्थों के निश्चय में वरिष्ठ अग्ने ! तुम्हारी महिमा जानकर हमने तुम्हें अपने हृदय में इसी प्रकार दीप्त किया है जिस प्रकार वेदि में स्थूल अग्नि को। सो दे देदीप्यमान, अंगों के रस-भूत अग्ने ! हम तुम्हें समिध् और घृत से सदा बढ़ाते रहें। तुम खूब चमको।

शब्दार्थ—(यविष्ठ्य) हे बुरी बातों को छुड़ाने तथा अच्छी बातों को मिलाने वाले (अंगिरः) अंगों के रसभूत अग्ने (तं) उस महान् (त्वा) आपको (समिद्भिः) समिधाओं से तथा (घृतेन) घृत से (वर्धयामसि) बढ़ाते हैं (बृहत्) खूब (शोच) चमक।

इसके पश्चात् **'अयन्त इध्म'** इस गृह्य-मंत्र की पांच बार आहुति हैं, जो इस

बात की सूचक है कि पांचभौतिक संसार का पञ्चविध ज्ञान दिलाने वाली पांचों ही इंद्रियें मेरी इस संकल्पाग्नि के अर्पण हैं। इसी को गीता में इस प्रकार कहा गया है–

सर्वाणीन्द्रियकर्म्माणि प्राणकर्म्माणि चापर।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते।।

गीता 4/27।

इस पंच संख्या की विशेष व्याख्या हमारी बनाई "स्वर्ग' नामक पुस्तक में पंचौदन प्रकरण में पृ. 60 से 64 तक देख लें।

अग्नयाधान, अग्निदीपन, यज्ञस्वरूप निदर्शन यह तीन अंग हो चुके। अब सोम अंश का स्वरूप यज्ञ में दिखाते हैं। अतः यहां स्त्रीलिंग शब्द आरंभ हो गए। परिवार में स्त्री, राज्य में न्याय विभाग तथा ललित कलाओं का विभाग तथा चिकित्सा विभाग सोमांश हैं। यंत्र-शास्त्र में जल, तेल आदि द्रव पदार्थ हैं। शरीर में कफ है। और पूर्ण पुरुष में अग्नि और सोम दोनों अंग एक में इकट्ठे हो जाते हैं। यह पूर्ण यज्ञ रूपता तो केवल परमात्मा में है। किंतु उसके भक्तों में भी निरंतर अभ्यास से यह अवस्था आ जाती है। अतएव कहा है–

वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि।
लोकोत्तराणां चेतांसि को हि विज्ञातुमर्हति।।

यह पूर्ण पुरुषों का स्वरूप है। इस स्वरूप का पूर्ण विकास उस परम पुरुष में ही हुआ है जिसके लिए कहा है–"तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे।" अब यजमान कहता है कि मेरी अग्नि मर्यादा को पार करके लोक को भस्म न कर दे, इसलिए–

ओ३म् अदितेऽनुमन्यस्व

"अदिते ! तू भी अनुमति दे",

ओ३म् अनुमतेऽनुमन्यस्व

"अनुमते ! तू भी अनुमति दे",

ओ३म् सरस्वत्यनुमन्यस्व

"हे सरस्वति ! तू भी अनुमति दे",

अदिति का विचार अनन्त है। परमात्मा अग्नि है। प्रकृति अदिति है। वह रूप बदल ले परंतु खंडित नहीं होती। इसलिए जो खंडित हो वद दिति (दो अब खंडने), जो खंडित न हो वह अदिति है। द्यौः अग्नि है, पृथिवी अदिति है। पुरुष अग्नि है, पत्नी अदिति है। इसीलिए स्त्रियां धार्मिक विश्वासों में स्वभाव से दृढ़ होती हैं। राष्ट्र में कार्यकर्ता (Executive) अग्नि है, (Judiciary) न्यायाधीश अदिति हैं, क्योंकि वह अटल हैं। क्योंकि अग्निहोत्र में हमने पति-पत्नी के संबंध के अर्थ मुख्य रूप से दिखाए हैं। अतः इन तीनों मंत्रों का भाव इस प्रकार हुआ कि पति को चाहिए कि (1)

पत्नी से अनुमति लिए बिना कार्य न करे, फिर (2) अनुमति अर्थात् वृद्धजनों की सलाह बिना कार्य न करे, फिर (3) सरस्वती अर्थात् शास्त्र-वाणी की सलाह बिना कार्य न करे। पुरुष की अग्नि पर यह तीन नियंत्रण हैं। फिर सबसे अंत में हर एक कार्य के करने से पहले अपने आपको प्रभु के अर्पण करे। और जब भक्त बिलकुल निःस्वार्थ होकर उसके सामने झुकते हैं तो उन्हें अनेक बातें सूझती हैं। इसी को दैवी प्रेरणा कहते हैं। अंधे जोश में काम करने वाले आग्नेय पुरुषों को नहीं सूझती। उस अवस्था के अभ्यास के लिए कहा—

देव सवितः प्रसुव यज्ञम् प्रसुव यज्ञपतिम्। भगाय दिव्यो गंधर्व्वः केतपूः केतन्नः पुनातु वाचस्पतिर्वाचं नः स्वदतु।

यजु. 11/7।

हे प्रभो ! जिस प्रकार आपका भेजा यह दिव्य गंधर्व (सूर्य) मेरे घर में अपनी मीठी रागिणी गाकर हमारा घर पवित्र कर जाता है, इसी प्रकार हे गंधर्वों के गंधर्व हमारे अंतःकरणों में आकर एक बार ऐसा गा कि हमारी वाणी स्वादु हो जाए और तुझे भी मीठी लगे। आ और हमारे यज्ञ पर, हमारे यज्ञ पति पर, अपनी यह मीठी मेहर कर जा। उसका कल्याण कर।

भारतीय संगीत शास्त्र के जानने वाले जानते हैं कि भारतीय संगीत की रागिणियां सूर्य के प्रकाश पर अवलम्बित हैं। ज्यों-ज्यों सूर्य का प्रकाश बढ़ता जाता है रागिणियों का स्वरूप बदलता जाता है। रात्रि में उस प्रकाश के अभाव का जो प्रभाव होता है। उसका भी राग पर प्रभाव होता है। फिर तंतुओं के अनुसार वसन्त, वर्षादि के प्रभाव पर राग बदलते हैं। इसीलिए सूर्य को दिव्य गंधर्व कहा है। उसी के स्वर में स्वर मिलाकर पृथिवी लोक के गंधर्व गाते हैं। किंतु वह भूल जाते हैं कि यह सूर्य भी तो सविता के स्वर में स्वर मिलाकर गा रहा है। उसी को क्यों न कहें कि 'प्रसुव यज्ञम्'—हमारे वृन्दगीत को स्वर में चला (Orchestra को Lead कर) !

शब्दार्थ—(सवितः) सर्व प्रेरक (देव) देव (भगाय) परमैश्वर्य के लिए (यज्ञं) हमारे यज्ञों को, संघटित समारोहों को (प्रसुव) सुमार्ग में प्रेरित कर (यज्ञपतिं) यज्ञकर्ता को (प्रसुव) सुमार्ग में प्रेरित कर (केतपूः) ज्ञान को पवित्र करने वाला (दिव्य) दिव्य (गंधर्वः) गंधर्व (नः) हमारे (केतं) ज्ञान को (पुनातु) पवित्र करे (वाचस्पतिः) वाणी का पति वह (नः) हमारी (वाचं) वाणी को (स्वदतु) मीठी करे।

यह चारों मंत्र यज्ञ के सोमांग को बताते हैं। अतः इनके द्वारा अग्नि कुंड के चारों ओर जल छिड़का जाता है।

इस प्रकार अग्नि को प्रदीप्त करके आगे यज्ञ के अंगों का निरूपण करते हैं। यजमान को इंद्र बनाना है। इन्द्र बनने से पहले उसे तीन कोटियों में से जाना है। यह तीन कोटि हैं—अग्नि, सोम और प्रजापति। इन में से भी प्रथम दो मुख्य हैं। केवल अग्नि से यज्ञ कभी पूर्ण नहीं होता है। यज्ञ के दो अंग आवश्यक हैं—अग्नि

और सोम। इसीलिए शतपथ में कहा है–

"अग्नीपोमयोर्हैतावती विभूतिः प्रजातिः।"

शत. 16/2/2/3/

यह जितनी विभूति है वह अग्निसोम की है। परिवार ही ले लीजिए। यहां पति अग्नि और पत्नी सोम है। जब तक यह दोनों न मिलें यजमान प्रजापति नहीं बन सकता। और जब तक अग्नि, सोम और प्रजा तीनों न मिलें तब तक यजमान इन्द्र नहीं बन सकता। अतएव सब संगठनों का एक नियम बताते हैं कि संगठन तब पूरा होता है जब उसमें गत्युत्पादक, गतिनिरोधक और शक्ति आगे भी चलती रहे इसके लिए आवश्यक उसका कोप, यह तीन भाग नहीं हो जाते। यह तीन जब इकट्ठे हों तब ऐश्वर्य उत्पन्न होता है। अब यही विभाग आगे मंत्रों में है–

ओ३म् अग्नये स्वाहा। इदमग्नये इदन्न मम।

"यज्ञ में अग्नि के लिए भाग निकालो तब ही ठीक है (स्वाहा)। यह अग्नि के लिए है मेरा नहीं।"

ओ३म् सोमाय स्वाहा। इदं सोमायेदन्न मम।

"सोम के लिए भाग निकालो तब ही ठीक है। यह सोम के लिए है मेरा नहीं।"

ओ३म् प्रजापतये स्वाहा। इदं प्रजापतये इदन्न मम।

"दोनों मिलकर आगे सन्तति को स्थिर रखें, इसके लिए भी भाग निकालो। यह प्रजापति के लिए है मेरा नहीं है।"

ओ३म् इन्द्राय स्वाहा। इदमिन्द्रायेदन्न मम।

"जब परम इंद्र परमात्मा का स्वरूप मुझ में आ जाए तब ही ठीक है। यह इन्द्रत्व के लिए है मेरा नहीं।"

परिवार में पुरुष अग्नि है। अग्नित्व का आदर्श सूर्य है। संकल्पाग्नि को चमकाते-चमकाते सूर्य की अवस्था तक पहुंचा देना है। जिस परिवार के पुरुष सूर्य बनते हैं वहां स्त्रियां भी अपनी अग्नि को सूर्य की अवस्था तक पहुंचा देती हैं। इस संकल्पाग्नि को नष्ट करने वाले काम का नाम भी संकल्पयोनि है। अतः संकल्पाग्नि के प्रकरण में ही वीर्य्य की महिमा कही गई है। सूर्य को तथा अग्नि को शतपथ ब्राह्मण में वीर्य का देवता कहा गया है। अतः यह ज्ञानाग्नि को पराकाष्ठा तक पहुंचाने वाली, सूर्यावस्था तक ले जाने वाली आहुतियां ही देवयज्ञ की मुख्य आहुतियां कही गई हैं। पुरुष प्रातःकाल उठ कर अपने कार्य में लगता है। उधर सूर्य उदय हुआ इधर यह संकल्प का सूर्य उदय हुआ और कार्य रूप में देदीप्यमान हुआ। जिसने अपनी सारी शक्ति लगा दी उसका सूर्य पूर्णरूप से उदय हुआ। उसका वीर्य कदापि नष्ट नहीं हो सकता। क्योंकि रात्रि को निद्रा में भी उसका सूर्य नष्ट नहीं हुआ, लोकान्तर में चला गया है। जाग्रत् से सुषुप्त व स्वप्न में चला गया है। प्रबुद्ध चेतना (Concious self) से अप्रबुद्ध चेतना (Subconcious self) में चला गया है। किंतु जो वृत्र अर्थात्

भोग के अधीन हो जाते हैं उनका सूर्य मन्द हो जाता है। इसी वीर्य द्वारा संकल्प और संकल्प द्वारा वीर्य को दीप्त करने वाली आहुतियों को अग्निहोत्र की मुख्य आहुतियां कहा गया है। यहां शतपथ के कुछ वाक्य उद्धृत करना आवश्यक है।

सूर्य्यो ह वा अग्निहोत्रम्। शत. 2/3/1/1।।

"अर्थात्—सूर्य अग्निहोत्र है।"

अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहेति तदुभयतो ज्योति रेतोदेवतया परिगृह्णति।

शत. 2/3/1/32।।

अर्थात्—" 'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः' यह जो कहता है ज्योति को दोनों ओर से वीर्य की देवता से घेरता है।"

सूर्य्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्य्यः स्वाहेति तदुभयतो ज्योतीरेतोदेवतया परिगृह्णाति।

श. 2/3/1/33।।

अर्थात्—" 'सूर्य्यो ज्योतिर्ज्योतिः स्वाहा' यह जो कहता है ज्योति को दोनों ओर से वीर्य की देवता से घेरता है।"

ओ३म् सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा।

इस मंत्र में ज्योति शब्द से वीर्य की ज्ञान-वर्धक शक्ति का वर्णन किया। अब शरीर को किस प्रकार दीप्ति युक्त करता है इसका वर्णन करते हैं—

ओ३म् सूर्य्यो वर्च्चो ज्योतिर्वर्च्चः स्वाहा।

"वीर्य शरीर में वर्चः अर्थात् दीप्ति के रूप के प्रकट होता है (वर्चदीप्तौ)।" जिसका वीर्य स्थिर होता है उसका मन ज्योतिष्मान् और शरीर दीप्तिमान् होता है। जहां मन में संकल्प स्थिर होता है वहां शरीर कांतिमान् होता है।

फिर मानसिक शक्ति का वीर्य रक्षा के साथ गहरा संबंध दिखाने के लिए उसे फिर दोहराते हैं—

ओ३म् ज्योतिः सूर्य्यः सूर्य्यो ज्योतिः स्वाहा।

"निर्मल ज्ञान शक्ति ही वीर्य है और वीर्य ही निर्मल ज्ञान शक्ति है।"

अगले मंत्र में इन्द्र और उषा के जोड़े का वर्णन है। ब्रह्मचारी के पक्ष में वह मंत्र गुरु और गुरुपत्नी की ओर निर्देश करता है। गृहस्थ लोगों के संबंध में पति-पत्नी के जोड़े की ओर। और यदि किसी का गुरु नैष्ठिक ब्रह्मचारी हो तो उस गुरु के हृदय में विद्यमान उग्र ज्ञान और कोमल शिष्य-वत्सलता के जोड़े की ओर निर्देश करता है। प्रातः काल का समय हुआ है, गृहस्थ अपने कार्य की ओर चला है, शिष्य अपनी पाठशाला को। पति-पत्नी का जोड़ा कहता है कि संपूर्ण जगत् के प्रेरणा करने वाले देव सविता के साथ मिला हुआ उसकी सेवा में तत्पर यह सूर्य-प्रकाश और उषा का जोड़ा प्रातःकाल हमारे घर में दर्शन दे और हमें उपदेश कर जावे। पत्नी का धर्म है प्रातःकाल प्रफुल्ल हृदय से हँसती हुई पति को कार्य पर भेजे। उसका चेहरा उषा की भांति खिल रहा हो और उसके कार्य में बाधक न हो। उसे घर-घुसना न बनने

दे। प्रातःकाल वह थोड़े समय के लिए सूर्य के प्रकाश और उषा की भांति इकट्ठे होते हैं। जहां पति का संकल्प जाग कर सूर्य बना कि उषा विदा हुई। सो वह उसे उत्साह भरने के लिए हँसती हुई एक बार दर्शन देती है। फिर सूर्य ही सूर्य दीखता है।

ब्रह्मचारी अपने गुरु के विषय में प्रार्थना करता है कि मेरे गुरु और मेरी गुरुपत्नी का जोड़ा सूर्य-प्रकाश और उषा के जोड़े की भांति मुझ पर सदा आशीर्वादमयी छाया बनाए रखे। यदि गुरु नैष्ठिक ब्रह्मचारी हो तो शिष्य की प्रार्थना का भाव इस प्रकार होगा कि देदीप्यमान ज्ञान और सुकुमार शिष्य-वत्सलता का जोड़ा उषा और सूर्य-प्रकाश के जोड़े की भांति सदा मेरे गुरु के हृदय में विराजे और उसके द्वारा मेरी कुटी में भी पधारे।

ओ३म् सजूर्देवेन सवित्रा सजूरुषसेन्द्रवत्या जुषाणः सूर्यो वेतु स्वाहा।

मंत्र का शब्दार्थ इस प्रकार हुआ–

(देवेन) देव (सवित्रा) सविता के साथ (सजूः) सेवा युक्त अर्थात् देव सविता की आज्ञा में तत्पर तथा (इन्द्रवत्या उषसा) सूर्य प्रकाशवती उषा के साथ (सजूः) प्रीतियुक्त अर्थात् प्रकाशवती उषा के प्रति प्रीतिमान् (सूर्यः) सूर्य (वेतु) मेरे घर में प्राप्त हो।

सविता के लिए शतपथ 1/1/2/17 में लिखा है–

सविता वै देवानाम् प्रसविता।
देव सवितः प्र सुव यज्ञम्।।
विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव।।

इत्यादि मंत्रों से भी सविता परमात्मा का वह रूप है जो राज्य में नियम निर्माता (Lagislator) के रूप में प्रकट होता है (इसकी विशेष व्याख्या शतपथ-भाष्य पृ. 26 तथा पृ. 127 पर देख लें)। इससे यह ध्वनि निकलती है कि राजा को इस बात का ध्यान सदा रखना चाहिए कि उसके राज्य में कोई मनुष्य निष्कारण (अर्थात् रोगी आदि विवशता के कारणों को छोड़ कर) घर में न पड़ा रहे। जो लोग केवल सूद पर जीवन बिताते हैं उन्हें इसी लिए शतपथ में असुर कहा है। (शत. 13/4/3/11)

जो प्रजाजन सविता देव के साथ सजूः होगा अर्थात् परमात्मा और तदनुवर्त्ती उत्तम राज्य नियम बनाने वाले उत्तम राजा के साथ सजूः होगा वह घर में घुस कर नहीं बैठ सकता। वह अवश्य प्रातःकाल अपने काम पर चला जाएगा। और तभी उसका गृहस्थाश्रम वास्तव में सुखी रह सकता है। जो स्त्री-पुरुष सदा एक दूसरे के पास बैठने की इच्छा करते हैं वे थोड़े ही समय में एक दूसरे से तंग आ जाते हैं। परंतु जो पुरुष अपने पवित्र संकल्प की तत्परता से सूर्यवत् देदीप्यमान रहता है उसकी पत्नी का चेहरा भी उषा के समान खिला रहता है और प्रातःकाल उसे अपने निश्चित कार्य पर भेजती हुई वह 'लालो लाल' हो जाती है। क्योंकि उसे अभिमान होता है

कि मेरा पति निठल्ला नहीं है, एक महत्वपूर्ण व्रत पर लगा हुआ है।

अब सायंकाल के मंत्रों की व्याख्या करते हैं–

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यादि जो संकल्पाग्नि पुरुष ने हृदय में धारण की है वह दिन के समय चमक कर सूर्य का रूप धारण कर लेती है। परंतु रात को भी वह बुझती नहीं। उस समय भी वह सच्चे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों के हृदय में जागती रहती है। उन्हें स्वप्न भी आते हैं तो अपने संकल्प के। इसीलिए सायंकाल के मंत्रों में उन संकल्पों को अग्नि कहा है। इसी अग्नि के विषय में सोमयाग-दीक्षा में सोते समय दीक्षित कहता है–

अग्ने त्वं सुजागृहि वयं सुमन्दिषीमहि रक्षा णो अप्रयुच्छन्। ।। यजु. 4/14 ।।

"हे संकल्पाग्ने हम मस्त हो कर सोएं परंतु उस समय भी तू जाग और अप्रमत्त हो कर हमारी रखवाली कर।"

अब इस अग्नि की महिमा इस प्रकार है–

ओ३म् अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा।

"जहां संकल्पाग्नि जल रहा है वहीं ज्ञान की ज्योति है, जहां ज्ञान की ज्योति है वहीं संकल्पाग्नि है, क्या ठीक कहा (स्वाहा)।"

ओ३म् अग्निर्वर्च्चो ज्योतिर्वचः स्वाहा।

"संकल्पाग्नि ही शरीर को दीप्तिमान् बनाता है और ज्ञान ज्योति ही शरीर को दीप्तिमान् बनाती है।"

अब तीसरी आहुति–

ओ३म् अग्नि ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा। इस मंत्र से दी जाती है। किंतु यह आहुति मौन हो कर दी जाती है। इस का कारण यह कि सायंकाल हो गया, अब सारे जगत् के कार्यों का अवसान हो रहा है। सब धीरे-धीरे मौन हो जावेंगे। इस समय अपने संकल्प में ऐसा ध्यान गड़ाओ कि प्रगाढ़ निद्रा में भी वही संस्कार तुम्हारे साथ रहे। और यदि किसी रात्रि में गर्भाधान करो तब भी वह अग्नि तुम्हारे साथ हो जिससे उसी के प्रबल संस्कार लेकर बालक जन्मे। अग्नि का विस्तार अक्षय रहे जिससे वह बच्चा सच्चे अर्थों में संतान कहलाए (सम्+तन्+घञ्, तनुविस्तारे)। इसी लिए मनुष्य के जीवन संकल्प के आदरार्थ, उसमें अत्यन्त अभिनिवेशार्थ, यह आहुति मौन की गई है। और इसी लिए इसका नाम प्राजापत्याहुति है, क्योंकि इस का संबंध प्रजा अर्थात् संतान के प्रति जगदीश्वर से विशेष है। प्रजापति, बृहस्पति दोनों ही परमात्मा के नाम हैं परंतु इन का सूक्ष्म भेद इस प्रकार पता लगता है कि–

मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तमनुचित्तं ते अस्तु।
मम वाचमेकमना जुषस्व बृहस्पतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम्।।

यह मंत्र उपनयन संस्कार का है। किंतु केवल एक शब्द के भेद से यह विवाह संस्कार में भी आया है। वहां केवल इतना भेद है कि बृहस्पति के स्थान में प्रजापति

शब्द आया है। इससे स्पष्ट है कि यद्यपि बृहस्पति तथा प्रजापति दोनों नाम परमात्मा के हैं किंतु तो भी गृह्यसूत्रकार की सम्मति में ब्रह्मचर्य के प्रकरण में, गुरुशिष्य के संबंध में, बृहस्पति नाम अधिक उपयुक्त है। और विवाह के प्रकरण में प्रजापति नाम अधिक उपयुक्त है। अतः जहां-वहां प्राजापत्य आहुति आए उसे मुख्य संकल्प संबंधी आहुति समझना चाहिए। अगली आहुति का मंत्र यों है–

ओ३म् सजूर्देवेन सवित्रा सजू रात्र्येन्द्रवत्या जुषाणो अग्निर्वेतु स्वाहा।

अब यदि रात्रि को भी दिन बनाने का सामर्थ्य यदि किसी में है तो विद्युत् में। घनघोर बादलों में भी जब वह चमक उठती है तो जगत् चमक उठता है। और विद्वान् जब उसे विज्ञान से वश में कर लेते हैं तो रात को दिन बना लेते हैं। इसलिए इस मंत्र में पति-पत्नी इस प्रकार कहते हैं कि–

(देवेन) देव (सवित्रा) सविता के साथ (सजूः) सेवायुक्त अर्थात् देव सविता की आज्ञा में तत्पर तथा (इन्द्रवत्या रात्र्या) विद्युन्मयी रात्रि के साथ (सजूः) प्रीतियुक्त (अग्निः) अग्नि (वेतु) मेरे घर में प्राप्त हो।

जिस प्रकार मेघवती रात्रि में बिजली रात्रि में मिली रहती है इसी प्रकार रात्रि में पति-पत्नी के हृदय मिले रहें और जब चमके तो प्रकाश ही हो अर्थात् संकल्पाग्नि ही चमके।

तात्पर्य यह है कि पत्नी को चाहिए कि रात्रि को सोने से पूर्व बातचीत इस प्रकार की करें जिससे उनका जीवन संकल्प दृढ़ हो।

शिष्य, गुरु और गुरुपत्नी के लिए प्रार्थना करें कि उनकी कृपा से हमारे चित्त रात्रि में भी शिवसंकल्प में लीन हों। और यदि गुरु नैष्ठिक ब्रह्मचारी हो तो ज्ञानाग्नि और विश्रांति दायिनी शिष्य-वत्सलता का जोड़ा निद्रा में पड़े हमारी रक्षा करे, इस प्रकार अर्थ करना। अब यज्ञ के उपसंहार के लिए जिस भूर्भुवः स्वः से इसका आरंभ हुआ था उस की ओर आते हैं–

ओ३म् भूरग्नये प्राणाय स्वाहा।

वह परमात्मा भूः है अर्थात् ब्रह्मांड में होने वाली संपूर्ण गति का आदि कारण है। जिस प्रकार अग्नि जल, तैल आदि को वायु रूप बनाकर उनके द्वारा गति करवाती है उसी प्रकार परमात्मा इस ब्रह्मांड की गतियों का भूः है। जिस प्रकार शरीर प्राण के आधार पर खड़ा है इसी प्रकार ब्रह्मांड उसके सहारे जीता है। अतः वह भूः है। शब्दार्थ है–

(भूः) भूः इस नाम वाले (अग्नये) सब ब्रह्मांड यात्रा के अग्रणी (प्राणाय) प्राणों के प्राण उस परमात्मा के निमित्त की इस सब चेष्टा करते हैं।

अग्नि उस अवस्था का नाम है जो चेष्टा का मूल कारण है, जिसे मानव भाषा में ज्ञान कहते हैं। परमात्मा के ज्ञान के अनुकूल ही सब चेष्टा होती है। परंतु वह चेष्टा जहां परमात्मा के ज्ञान के अनुकूल हो रही है उसे ब्रह्म के संबंध में भुवः कहते

हैं। स्थूल जगत् में भी चेष्टा वायु द्वारा होती है यह हम पहले कह आए हैं। इसी लिए कहा—

ओ३म् भुवर्वायवेऽपानाय स्वाहा।

जिस प्रकार वायु को अंदर लेना प्राण और बाहर फेंकना अप+अन्=अपान है इसी प्रकार ज्ञान जब चेष्टा रूप में आता है तो उसका अपानन अर्थात् बाहर प्रक्षेप होता है। इसलिए कहा है कि—

"हम भुवः अर्थात् सर्वत्र गति करते हुए दुःखों के अपनयन करने वाले भगवान् के निमित्त ही सब व्यवहार करते हैं।"

उत्तम चेष्टा का परिणाम सुख है। वह भगवान् ही संपूर्ण सुखों का निधान है। उसका वह एक-रस आनन्दमय रूप सच्ची चेष्टा वालों को मिलता है। उस समय चेष्टा बंद हो जाती है और उस अपूर्व रस का आस्वादन होता है। जिस प्रकार सूर्य अपने प्रकाश से हम तक पहुंचता है स्वयं चलकर नहीं आता। इसी प्रकार वह भगवान् का ज्योति श्रेय रूप है। अतएव कहा—

ओ३म् स्वरादित्याय व्यानाय स्वाहा।

अर्थात् "जिस प्रकार इस स्थूल जगत् में आदित्य है इसी प्रकार वह स्वः अर्थात् सुख स्वरूप भगवान् ब्रह्मांड में व्यान=व्यापक है उसके निमित्त ही संपूर्ण यज्ञ हैं।"

भगवान् के ये तीन गुण जिस प्रकार उसमें पूर्ण रूप से विकसित हुए फिर भी एक साथ विद्यमान हैं इसी प्रकार हमारे अंदर भी ये गुण हों तब ही इन तीनों गुणों के संगतिकरण के हमारा यज्ञ पूरा होगा। इसलिए कहा—

ओ३म् भूर्भुवः स्वरग्निवाय्वादित्येभ्यः प्राणापान व्यानेभ्यः स्वाहा।

"भूर्भुवः स्वः इन तीनों के वाच्य अग्नि, वायु, आदित्य के समान जो भगवान् के प्राणापान व्यान रूप तीन गुण हैं उनको अपने अंदर धारण करने के लिए ही हम यज्ञ करते हैं।"

अब संपूर्ण यज्ञ-क्रिया का उपसंहार एक वाक्य में करते हैं—

"आपः और ज्योतिः" अर्थात् सोम और अग्नि यह दोनों जहां ठीक भाव से मिलें वहीं सच्चा रस है। वह रस ही सच्चा अमृत है। वह अमृत परब्रह्म है। उसके स्वरूप को ही 'भूर्भुवः स्वः' इन तीन महाव्याहृतियों में कहा है। और यह महाव्याहृति ही ओ३म् है। इस ओ३म् के अ उ म् तीन महाव्याहृतियों के सूचक हैं। जिस प्रकार ओ३म् में सब घुल मिल गए हैं वैसे ही तुम भी अपने अंदर भगवान् के गुणों का पूर्ण संगतीकरण करो। यही यज्ञ क्रिया का सार है। इसलिए कहा—

ओ३म् आपो ज्योती रसोऽमृतम् ब्रह्म भूर्भुवः स्वरोम् स्वाहा।

अब तक यहां अग्नि के आधान, उद्दीपन आदि का वर्णन होता रहा। अब अंत में तीन ईश्वर प्रार्थना के मंत्र देकर इस यज्ञ को समाप्त करते हैं। हम लाख संगठन करें किंतु जब तक उनमें ईश्वर प्रणिधान नहीं मिलता तब तक उनमें पूर्णता

नहीं आती।

यों तो **'अग्नये जातवेदसे इदन्न मम'** कहकर सारे यज्ञ को ही परमाग्नि परब्रह्म के अर्पण किया जाता है। किंतु यह तीन मंत्र तो स्पष्ट ही प्रार्थना के मंत्र हैं और इतने स्पष्ट हैं कि उनका सीधा अर्थ दे देना ही पर्याप्त है।

ओ३म् यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते। तया मामद्य मेधयाऽग्ने मेधाविनङ्कुरु स्वाहा।।

"हे परमाग्ने परमेश्वर जिस पवित्र बुद्धि के लिए देवगण और पितर लोग तेरे द्वारे आते हैं वह मेधा देकर मुझे भी मेधावी बना।"

ओ३म् विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव। यद् भद्रं तन्न आसुव।।

"हे सकल जगत् के प्रेरक देव सब बुराइयों को हम से दूर हटाइए और समस्त उत्तम गुणों को हम में स्थापित कीजिए।"

ओ३म् अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्। युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठान्ते नम उक्तिं विधेम।।

"हे अग्ने आप सब मार्गों के जानने हारे हैं। हम धन प्राप्ति के लिए लोभवश सत्यमार्ग से भटक जाते हैं, अतः आप हमें सदा सुपथ से ले जाइए। इस अर्थ प्राप्ति के मार्ग में कुटिलगामी पाप जब हमें अब दबाए तो आप उसे हमसे परे हटा दीजिए। हम यही बार-बार नमः कह कर आप से मांगते हैं।"

अंत में वाक्य है–

"ओ३म् सर्व्वं 'वै पूर्णं' स्वाहा।"

इसका अर्थ यह है कि कोई कार्य ठीक हुआ तब जानो जब वह पूर्ण हो जावे, जब तक कार्य पूर्णता तक न पहुंच जावे क्षणिक सफलता से संतोष न होना चाहिए।

षष्ठम अध्याय

वैदिक कर्तव्य-शास्त्र

प्रथम परिच्छेद

वैदिक कर्तव्य शास्त्र के 12 मूल सिद्धांतों की व्याख्या

कर्तव्य शास्त्र वह शास्त्र है, जो मानवीय जीवन के उद्देश्य और लक्ष्य पर विचार करते हुए, एक व्यक्ति के अपने, अपने समान, अपने से हीन और उच्च स्थिति के लोगों के प्रति क्या कर्तव्य है तथा इन कर्तव्यों का ज्ञान किस प्रकार हो सकता है, इस विषय का स्पष्ट रूप से प्रतिपादन करता है। भारतीय प्राचीन संस्कृत साहित्य में कर्तव्य शास्त्र (वा Ethics) पर कोई स्वतंत्र ग्रंथ नहीं पाया जाता; क्योंकि यह विषय धर्म का एक अत्यावश्यक अंग होने के कारण धर्म शास्त्र में सर्वत्र निरूपित है। बौद्ध-धर्म तथा ईसाई मत के बाइबल इत्यादि ग्रन्थों में आचारशास्त्र संबंधी कई अत्युत्तम उपदेश पाए जाते हैं। निष्पक्षपात दृष्टि से मनुस्मृति, वाल्मीकिरामायण, महाभारत इत्यादि प्राचीन संस्कृत ग्रंथों का अध्ययन किया जाए, तो निश्चय हो जाएगा कि इन ग्रंथों में दी हुई आचार शास्त्र विषयक शिक्षाएं किसी अंश में भी बौद्ध तथा ईसाई मत की शिक्षाओं से कम नहीं। मानवीय पुस्तकालय में सबसे प्राचीन ग्रंथ ऋग्वेद है, इस बात को मैक्समूलर आदि प्रायः सभी प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वानों ने स्वीकार किया है। विकासवाद को स्वीकार करते हुए उनमें से कइयों ने यह कल्पना की है कि "वेद के अंदर आचार शास्त्र विषयक उत्तम शिक्षाएं नहीं पाई जातीं। कर्म काण्ड अथवा यज्ञयाग की फजूल बातों से ही वेद का अधिक अंश भरा हुआ है," इत्यादि। इस विचार की हम आगे चलकर समालोचना करेंगे। यहां वैदिक कर्तव्य शास्त्र के आधारभूत मूल सिद्धांतों का केवल निर्देश करते हुए, उनमें से प्रत्येक पर वेद मंत्रों के प्रमाण द्वारा संक्षिप्त विचार करेंगे। वे मूलभूत सिद्धांत निम्नलिखित हैं—

मूल सिद्धांत

1. "परमेश्वर सब प्राणियों का एक ही पिता है।"

अतः हम सबको परस्पर भ्रातृभाव तथा मित्रता दृष्टि धारण करनी चाहिए। अपने स्वार्थ को सिद्ध करने के लिए प्राणियों की हिंसा करना अनुचित है। द्वेष भाव को दूर करके प्रेम भाव की वृद्धि करनी चाहिए।

2. "परमेश्वर सर्वव्यापक और सर्वज्ञ है।"

उसकी अध्यक्षता में सार्वभौम अटल नियम कार्य कर रहे हैं। इनके पालन

करने से ही मनुंष्य मात्र का कल्याण हो सकता है। इनका उल्लंघन करना अपने को आपत्तियों के मुंह में डालना है।

3. "मनुष्य जीवन का उद्देश्य दिव्य शक्ति, दिव्य शांति, दिव्य ज्योति, दिव्य आनंद अथवा मोक्ष प्राप्त करना है।"

उस उद्देश्य की पूर्ति के लिए परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना, और उपासना तथा निष्काम शुभ कर्मों का अनुष्ठान (यज्ञ) करना, मुख्य साधन है।

4. "आत्मा दिव्यशक्तिसंपन्न, अमर और शरीर, मन, बुद्धि का अधिष्ठाता है।"

सब प्राणियों में आत्मौपम्य दृष्टि को धारण करते हुए, व्यवहार करना चाहिए। आत्मा के अंदर काम क्रोधादि शत्रुओं को वश में करने की पूर्ण शक्ति विद्यमान है; उसको ईश्वर भक्ति, आत्मविश्वासादि द्वारा विकसित करते हुए, पवित्र जीवन बनाना चाहिए।

5. "कर्म–नियम संसार में कार्य कर रहा है।"

किए हुए कर्म के फल से कोई अपने को बचा नहीं सकता। परमेश्वर कर्म फल दाता है। प्रार्थनादि का उद्देश्य भावी पाप से अपने को मुक्त करना है।

6. "प्रत्येक व्यक्ति को सदा अंधकार से प्रकाश, मृत्यु से अमृत, और पाप से पुण्य मार्ग की ओर का यत्न करना चाहिए।"

इसके लिए दृढ़ निश्चय अत्यावश्यक है।

7. "शारीरिक, मानसिक और आत्मिक शक्तियों का समविकास होना चाहिए।"

इनमें से किसी एक शक्ति का विकास होना पर्याप्त नहीं। समविकास की उन्नतिका मूलमंत्र है।

8. "व्यक्ति समाज तथा राष्ट्र में लगभग एक ही अटल व्यापक नियम कार्य कर रहे हैं।"

व्यक्ति और समाज का अटूट संबंध समझते हुए, व्यक्ति को अपनी शक्तियां समाज की सेवा में लगा देनी चाहिएं।

9. "बाह्य और आंतरिक स्वाधीनता अथवा स्वराज्य को प्राप्त करने से ही सुख प्राप्त हो सकता है।"

स्वतंत्रता में ही आनंद है, तथा परतंत्रता में दुःख है। अतः स्वतंत्रता का संरक्षण करना प्रत्येक व्यक्ति का तथा समाज का 'मुख्य धर्म' है।

10. "कर्तव्य का निर्णय ईश्वरीय ज्ञान, वेद तथा पवित्र अंतःकरण के साक्षी से हो सकता है।"

सदाचारादि भी उसमें सहायक हैं।

11. "सत्य ही के कारण इस पृथ्वी का धारण हो रहा है।"

सत्य, यश और श्री इन तीनों को उत्कृष्ट समझते हुए सत्य रक्षा के लिए सर्वस्व

तक अर्पण करने को उद्यत रहना चाहिए।

12. परमेश्वर को सदा अपना समझते हुए प्रत्येक व्यक्ति का अपने अंदर निर्भयता पूर्णरूप से धारण करनी चाहिए।

इन सिद्धांतों पर अब क्रमशः विचार करेंगे।

प्रथम सिद्धांत

भ्रातृभाव तथा मित्रदृष्टि

परमेश्वर को पिता तथा मनुष्यमात्र को भाई मानने का जो उच्च सिद्धांत है, उसको सबसे पहले बाइबिल में ही प्रकाशित किया गया है, अन्य किसी प्राचीन ग्रंथ में इस उच्च भाव की कल्पना न थी, यह ईसाई मत का दावा है। किंतु निष्पक्षपात दृष्टि से वेद के निम्नलिखित मंत्रों पर क्षण भर भी विचार किया जाए, तो वेद के अंदर परमेश्वर की न केवल पितृरूपेण किंतु साथ ही मातृरूपेण कल्पना की गई है, यह अत्यंत स्पष्ट हो जाएगा। उदाहणार्थ–

1. 'यो नः पिता जनिता यो विधाता।' ऋ. 10/82/3
2. 'स नो बंधुर्जनिता स विधाता।' यजु. 32/10
3. 'त्वमग्ने प्रमतिस्त्वं पितासि नः।' ऋ. 1/31/10
4. 'स नः पितेव सूनवे अग्ने सूपायनो भव।' ऋ. 1/1/9
5. 'त्वं त्राता तरणे चेत्यो भूः पिता माता सदमिन्मानुषाणम्।' ऋ. 6/1/5

इन मंत्रखण्डों का अर्थ है–

1. (यः) जो परमेश्वर (नः) हमारा (पिता) पिता– पालनकर्ता (जनिता) उत्पादक और (यः) जो (विधाता) कर्मफलदाता है।

2. (सः) वह परमेश्वर (नः) हमारा (बंधुः) बंधु (जनिता) उत्पादक (सविधाता) वही विशेष रूप से धारक है।

3. (अग्ने) हे ज्ञान स्वरूप ! (त्वम्) तू (प्रमतिः) सर्वज्ञ है (त्वम्) तू (नः) हमारा (पिता असि) पिता है।

4. (अग्ने) हे ज्ञान स्वरूप (सः) वह तू (सूनवे पिता इव) पिता के लिए पुत्र की तरह (नः) हमारे लिए (सु उपायनः भव) सुगमता से प्राप्तव्य हो (नः) हमें (स्वस्तये) कल्याण के लिए।

5. (त्वम्) तू (त्राता) रक्षक (तरणे) संसार सागर से तरने के लिए (चेत्यः भूः) जानने योग्य है (मानुषाणाम्) सब मनुष्यों का तू (सदम् इत्) सदैव (पिता माता) पिता और माता है।

इत्यादि स्थलों में परमेश्वर के लिए पिता शब्द का प्रयोग अत्यंत स्पष्ट है। सचस्वा नः स्वस्तये।। परमेश्वर सबका समान रूप से एक ही पिता है इस बात को स्पष्ट करने के लिए यजुर्वेद में—

''शृण्वंतु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः।

य. 11/5।।

यह मंत्र आया है, जिसमें सब प्राणियों को एक ही अमृत स्वरूप परमेश्वर का पुत्र बताया गया है। ऋग्वेद तथा सामवेद में आए हुए—

''त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ।

अधा ते सुम्नमीमहे।।' ऋ. 8/98/11।।

इस मंत्र में तो स्पष्टतया परमेश्वर को पिता, माता बताते हुए उससे सुख की प्रार्थना की गई है। परमेश्वर को पिता मानते हुए सब मनुष्यों और प्राणियों का भ्रातृत्व स्वयं सिद्ध हो जाता है; तथापि यदि स्पष्ट वेदमंत्र की अपेक्षा समझी जाए, तो ऋग्वेद का निम्नलिखत मंत्र उपस्थित किया जा सकता है—

अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते,

संभ्रातरो वावृधुः सौभागायः।।' ऋ. : 5।60।5।।

इस मंत्र का देवता मरुत है, मनुष्यवाचो होना यद् यूयं पृश्निमातरो मर्तासः स्यातन। ऋ. 1।38।4।। नरा अमृता ऋतज्ञाः सत्यश्रुतः कवयो युवानः। ऋ. 5।57।8।। परा वीरास एतन मर्यासो भद्रजानयः। ऋ. 5।61।4।। इत्यादि से जहां नर, मर्य, मर्त आदि मनुष्यवाचक शब्दों तथा ऋतज्ञ (वेद के ज्ञाता) सत्यश्रुतः (सत्य के कारण प्रसिद्ध या सत्य का श्रवण करने वाले) कवयः (विद्वान् कवि) युवानः (युवक) भद्रजानयः (जिनकी अच्छी स्त्रियां हैं इत्यादि विशेषणों से स्पष्ट है तथा श्री सायणाचार्य ने भी, 'मनुष्यरूपा वा मरुतः।' इत्यादि वाक्यों द्वारा स्पष्ट स्वीकार किया है। मंत्र का अर्थ है कि—(एते) ये सब मनुष्य (भ्रातरः) भाई हैं (अज्येष्ठासः) इनमें से कोई जन्म से बड़ा नहीं (अकनिष्ठासः) कोई छोटा नहीं, इस समानता के भाव को धारण करते हुए सब (सौभाग्य) ऐश्वर्य वा उन्नति के लिए (सं वावृधुः) मिलकर प्रयत्न करते और आगे बढ़ते हैं।

युवा पिता स्वपा रुद्र एषां सुदुधा पृश्निः सुदिना मरुद्भ्यः।।

(एषाम्) इन सब मनुष्यों की (युवा) नित्य युवा अथवा संसार को बनाने वाले (स्वपाः) उत्तम कर्मो वाला (रुद्रः) दुष्टों को दंड देकर हिलाने वाला परमेश्वर (पिता) पिता है और इन (मरुद्भ्यः) वीर मनुष्यों के लिए (पृश्नि) प्रकृति माता गाय के समान (सुप्रधा) अच्छे अन्नादि देने वाली तथा (सुदिना) कल्याणकारिणी होती है। सार्वजनिक भ्रातृत्व वा यूनिवर्सल ब्रदरहुड के उच्च सिद्धांत का इस मंत्र मे जितनी उत्तमता से प्रतिपादन है उतना बहुत ही कम दूसरे ग्रंथों में पाया जाता है। परमेश्वर को पिता और प्राणिमात्र को परस्पर भाई मानने का स्वाभाविक परिणाम सब प्राणियों को मित्र

दृष्टि से देखना है। इसीलिए वेद में प्रार्थना की गई है—

''मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे।। य. 36।18।।

अर्थात्। सब प्राणी मुझे मित्र दृष्टि से देखें, मैं सब प्राणियों को मित्र दृष्टि से देखूं, हम सब परस्पर मित्र दृष्टि से देखें। इससे बढ़कर मित्र दृष्टि की शिक्षा देने वाला उपेदश और क्या हो सकता है ? इसी प्रसंग में 'अनमित्रं' नः पश्चादनमित्रं' न उत्तरात्।' (अथर्व. 6।40।3) यह वेद मंत्र द्रष्टव्य है, जिसमें सब दिशाओं में रहने वाले प्राणी हमारे मित्र बनें, शत्रुता का सर्वथा नाश हो जाए, यह प्रार्थना की गई है। द्वेषभाव उपर्युक्त सार्वजनिक भ्रातृत्व अथवा विश्व प्रेम के सर्वथा विरुद्ध है। इसलिए वेद में स्थान स्थान पर द्वेषभाव को दूर करने के उपदेश और प्रार्थनाएं पाई जाती हैं। उदाहरणार्थ—

1. विश्वा द्वेषांसि प्रभुमुग्ध्यस्मत्। यजु. 21।3।

अर्थात् हमारे से सब प्रकार के द्वेष भाव को दूर कर दो।

2. यजु. 12।46 'युयोध्यस्मद् द्वेषांसि।' यह प्रार्थना है जिस का अर्थ हमारे से सब द्वेष युक्त भावों को दूर कर दो ऐसा है।

3. 'आरे द्वेषांसि सनुतर्दधाम।' ऋ. 5।45।5

यह प्रार्थना है, जिस का भाव यह है कि हम (सनुतः) सदा (द्वेषांसि) द्वेषभावों को (आरे दधाम) दूर रखें।

4. 'अद्वेषे द्यावापृथिवी हुवेम।' यजु. 12।29 अर्थात् हम सब द्वेष रहित द्युलोक और पृथ्वी लोक को स्वीकार करते हैं, अथवा ये दोनों लोक द्वेष रहित हों। द्वेष का इन लोकों से समूल नाश हो जाए, यह भाव यहां अभिप्रेत है।

5. 'स सुत्रामा स्ववां इन्द्रो अस्मदारच्चिद् द्वेषः सनुतर्युयोतु।'
अथर्व. 20।125।7

अर्थात् सब की रक्षा करने वाला परमेश्वर द्वेष के भाव को हम से सदा दूर रखे।

6. 'इन्द्रः सुत्रामा स्ववां अवोभिः सुमृडीको भवतु विश्व वेदाः। बाधतां द्वेषो अभय नःकृणोतु सुवीर्यस्य पतयः स्याम।।' अथर्व. 20।125।6

अर्थात् सर्वरक्षक सर्वज्ञ परमेश्वर हमारे लिए सदा सुखदायक हो। वह हमारे द्वेष भाव को दूर करके हमें निर्भय बनाए, ताकि हमं उत्तम वीर्य के रक्षक स्वामी होवें।

इस प्रकार के हजारों मंत्र वेदों से उद्‌धृत किए जा सकते हैं, किंतु विस्तार के भय से हम इस विषय में अन्य प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं समझते। द्वेष भाव को दूर करने की प्रार्थना वेद में कितने साफ शब्दों में पाई जाती है, इस बात

को दिखाने के लिए इतने ही प्रमाण पर्याप्त हैं। द्वेष भाव को देर करके परस्पर व्यवहार करना चाहिए, इसके अंदर ही यद्यपि प्रेम भाव की वृद्धि का उपदेश पर्यायरूपेण आ जाता है, तथापि स्पष्टतया इस भाव के द्योतक दो तीन वेद मंत्रों को उद्धृत करना यहां अनुचित न होगा–

1. 'समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।

समानस्तु वो मनो यथा वः सु सहासति।' ऋ. 10।19।1।4 इस का अर्थ निम्न प्रकार है–

(वः) तुम सब मनुष्यों का (आकूतिः) संकल्प (समानी) समान हो, वः (हृदयानि समाना) तुम सब के हृदय समान हों, (वः) तुम्हारा (मनः) मन (समान अस्तु) समान होवे, (यथा) जिस से (वः) तुम्हारा (सु सह असतिः) मिलकर अभ्युदय हो सके। इस पर टीका टिप्पणी करने की आवश्यकता नहीं।

'यथा नः सर्व इज्जनोऽहमीवः सङ्गमे सुमना असत्।'

यजु. 33।86

अर्थात् हमारा व्यवहार इस तरह का हो, जिससे (सर्व इत् जनः) सब के सब मनुष्य (नः संगमे) हमारे संग में (अनमीवः) नीरोग तथा (सुमनाः) उत्तम मन वाले अर्थात् प्रीतियुक्त (असत्) हो जाएं।

3. अथर्ववेद तृतीय काण्ड के 30वें सूक्त में इसी बात को बहुत ही साफ शब्दों में बताया गया है, जिसमें से दो मंत्रों को यहां उद्धृत किया जाता है–

'सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभिहर्यत वत्सं जात मिवाध्न्या।।'

परमेश्वर सब मनुष्यों को उपदेश करता है कि मैं (वः) तुम्हारे अंदर (सहृदयम्) समान हृदय और (सांमनस्यं) समान प्रीतियुक्त मन तथा (अ-वि-द्वेषं) द्वेष का सर्वथा अभाव (कृणोमि) स्थापित करता हूं, (अघ्न्या) गाय (जातं वत्सं इव) जैसे नए बछड़े को प्यार करती है, वैसे तुम (अन्यो अन्यम्) एक दूसरे के साथ (अभि हर्यत) प्रेम करो।

4. अथर्व के उसी सूक्त का 4 र्थ मंत्र इस प्रकार है–

''येन देवा न वियंति नो च विद्विषते मिथः।
तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः।।''

अर्थात् (येन) जिस ज्ञान को प्राप्त करके (देवाः) विद्वान् लोग (न वियंति) विरोध को नहीं प्राप्त होते, (नो च मिथः विद्विषते) और न परस्पर द्वेष करते हैं, (वः) तुम्हारे (गृहे) घर में (पुरुषेभ्यः) सब पुरुषों के लिए (तत् ब्रह्म संज्ञानं) वह बड़ा विस्तृत ज्ञान (कृण्मः) देते हैं। यहां वैदिक ज्ञान से अभिप्राय है, जो संपूर्ण विरोध भाव को हटाकर परस्पर प्रीति के भाव को निरंतर बढ़ाने वाला है।

"विश्वा उत त्वया वयं धारा उदन्या इव।
अति गाहे महि द्विषः।।" ऋ. 2।7।3।।

ऋग्वेद का यह मंत्र इस प्रकरण में विशेष उल्लेख करने योग्य है। इसका अर्थ यह है कि, हे परमेश्वर ! (उदन्या धारा इव) जिस प्रकार जल की धाराएं एक स्थान को छोड़ दूसरे स्थान पर जाती हैं, उस प्रकार (वयम्) हम (त्वया) तेरे आश्रय से (विश्वा उत द्विषः) सब के सब द्वेष युक्त भावों से (अति गाहे महि) पार चले जाएं। परमेश्वर का आश्रय लेते हुए, संपूर्ण द्वेषभाव का नाश करके सब मनुष्यों को परस्पर मित्रभाव की वृद्धि करनी चाहिए, यह मंत्र का स्पष्ट अभिप्राय है।

3. ऋग्वेद 3।20।1 का निम्न लिखित मंत्र विद्वान् लोग केवल अहिंसायुक्त व्यवहार को ही पसंद करते हैं, इस बात को स्पष्ट प्रकट करता है, जो इस प्रकार है–

"सुज्योतिषो नः शृण्वंतु देवाः
सजोषसो अध्वरं वावशानाः।।"

अर्थात् (सुज्योतिषः) उत्तम विद्या प्रकाश युक्त (सजोषसः) परस्पर समान प्रतियुक्त (अध्वरं वावशानाः) अहिंसामय व्यवहार की कामना करने वाले वा उसे पसंद करने वाले (देवाः) विद्वान् लोग (नः शृण्वंतु) हमारी प्रार्थना को सुनें। 'अध्वर' शब्द की निरुक्ति यास्क मुनि ने "ध्वरतिर्हिंसा कर्मा तत्प्रतिषेधः," ऐसी बताई हैं, जिससे अध्वर शब्द का अहिंसामय व्यवहार ही मुख्य अर्थ है, यह स्पष्ट प्रमाणित होता है।

इस प्रकार अहिंसा धर्म के मुख्य मुख्य तत्त्वों का मूल वेद में किस प्रकार उत्तम रीति से पाया हैं, यह देखा जा सकता है। इस विषय के आक्षेपों तथा शंकाओं का आगे विचार किया जाएगा।

द्वितीय सिद्धांत
सार्वभौम नियम

परमेश्वर की सर्वज्ञता का सिद्धांत इतना स्पष्ट है कि, इस विषय में वेदमंत्रों का प्रमाण देने की कुछ भी विशेष आवश्यकता नहीं। तथापि तीन चार मंत्र यहां उद्धृत किए जाते हैं, जिससे इसके बारे में संदेह न रहे।

'ऋग्वेद का प्रमाण।'

1. ऋ. 10।82।3।। जिस का आधा अंश पहले भी उद्धृत किया जा चुका है, ईश्वर की सर्वज्ञता का स्पष्टतया प्रतिपादन करता है, यथा–

"यो नः पिता जनिता यो विधाता
धामानि वेद भुवनानि विश्वा।।" ऋ. 10।82।3।।

यो देवानां नामधा एक एव तं संप्रश्नं
भुवानाय न्त्यन्य।।

अर्थात् जो ईश्वर हम सबका पिता, उत्पादक और (विधाता) कर्मफल देने वाला है, वही (विश्वा) सब (धामानि) कर्म तथा (भुवनानि) लोकों को (वेद) जानता है (यः) जो (एक एव) एक ही (देवानां नामधा) देवों के अग्नि मित्र वरुण सब नामों के प्रधान स्वरूप से धारण करने वाला है। (तं सं प्रश्नम्) उस जानने योग्य परमेश्वर को (अन्या भुवना) अन्य सब लोक (संयन्ति) प्राप्त होते हैं—सब उसी के वश में हैं। इसी का पाठान्तर यजुर्वेद में—

'यजुर्वेद का प्रमाण।'

'स नो बंधुर्जनिता सविधाता
धामानि वेद भुवनानि विश्वा।।' यजु. 32। 10।।

इस रूप में पाया जाता है, जिसके अंदर ऊपर दिया हुआ भाव समान ही है।

'अथर्ववेद का प्रमाण।'

2. अथर्ववेद चतुर्थ काण्ड के 16वें सूक्त के अंदर ईश्वर की सर्वज्ञता का अत्यंत उत्तम काव्यमय वर्णन है। उसमें से निम्नलिखित दो तीन मंत्र विशेष द्रष्टव्य है। इस सूक्त का दूसरा मंत्र इस प्रकार है—

'यस्तिष्ठति चरिति यश्च वञ्चति यो निलायं चरति यः प्रतङ्कम्।
द्वौ संनिषद्य यन्त्रमंत्रयेते राजा तद्वेद वरुणस्तृतीयः।।'

अर्थात (यः तिष्ठति) जो खड़ा होता है (चरति) चलता है; (यश्च वञ्चति) जो धोखा देता है, (यो निलायं चरति) जो अपने को छुपाकर घूमता है, (यः प्रतङ्कम्) जो दूसरे का कष्ट देकर इधर उधर जाता है, (द्वौ संनिषद्य) दो मित्र शांति से बैठकर (यत् मंत्रयेते) जो गुप्त सलाह करते हैं, (तत्) उस सबको (तृतीयः वरुणः) तीसरा सर्वश्रेष्ठ (राजा) ईश्वर (वेद) जानता है। अभिप्राय यह है कि उस सर्वज्ञ सर्वव्यापक से जिसके विषय में अगले ही मंत्र में कहा है कि ''उतास्मिन्नल्प उदके निलीनः' वह समुद्रों के अंदर और इस थोड़े से जल के अंदर भी वही छिपा हुआ है। कोई भी अपने को गुप्त रख नहीं सकता। परमेश्वर को सर्वज्ञ सर्व व्यापक समझने से ही मनुष्य अपने को सब पाप व्यवहारों से दूर रख सकता है।

'सर्व तद्राजा वरुणो विचष्टे यदंतरा रोदसी यत्परस्तात्।।'

अथर्व. 4।13।5।।

अर्थात् (यत्) जो कुछ (रोदसी अंतरा) पृथ्वी और द्युलोक के अंदर है, और (यत् परस्तात्) जो कुछ इन लोकों से परे है, (राजा वरुणः) सर्वोत्तम परमेश्वर (तत् सर्व विचष्टे) उस सबको जानता है। इस विषय में अधिक प्रमाण देना अनावश्यक समझ कर अब सर्वज्ञ ईश्वर की अध्यक्षता में जो अटल नियम कार्य कर रहे हैं, उनका थोड़ा सा विचार किया जाता है। इन अटल नियमों को वेद में प्रायः 'ऋत

और सत्य' के नाम से कहा गया है। प्राकृतिक जगत् के अंदर कार्य करने वाले अटल व्यापक नियम 'ऋत' और अध्यात्मिक जगत् के अंदर काम करने वाले नियमों को प्रायः 'सत्य' नाम से बताया गया है। इस विषय में ऋग्वेद का प्रसिद्ध मंत्र–

'ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसो अध्यजायत।' ऋ. 10 ।190 ।1

विशेष विचारणीय है, जिसका अभिप्राय यह है कि (ऋतं च सत्यं च) भौतिक तथा आध्यात्मिक जगत् में काम करने वाले नियम (अभीद्धात्) सब ओर से प्रकाशमान (तपसः) सर्वज्ञ परमेश्वर से (अध्यजायत) उत्पन्न हुए। तप के इस अर्थ के लिए–

'यस्य ज्ञानमयं तपः'

यह मुण्डकोपनिषत् 'यः सर्वज्ञः सर्व विद्' 1 ।1 ।9 का प्रमाण है। इस प्रकार सर्वज्ञ परमेश्वर की अध्यक्षता में अटल नियम संसार में कार्य कर रहे हैं, यह वेद मंत्र का स्पष्ट भाव प्रतीत होता है।

इन अटल नियमों का पालन करने से ही मनुष्य को सच्चा कल्याण प्राप्त हो सकता है, यह बात वेद में–

'सुगः पंथा अनृक्षर आदित्यास ऋतंयते।
नात्रावखादो अस्ति वः।' ऋग्वेद 1 ।41 ।4

इत्यादि मंत्रों द्वारा स्पष्ट की गई है, जिसका अभिप्राय यह है कि (ऋतंयते) परमेश्वर के बनाए हुए अटल नियम के अनुसार चलने वाले के लिए (सुगः) सुगम (अनृक्षरः पंथाः) निष्कण्टक मार्ग हो जाता है (आदित्यासः) हे आदित्य ब्रह्मचारियो ! (वः) तुम्हारे इस शुभ मार्ग में (अवखादः) भय (न) नहीं है, अर्थात् जो लोग परमेश्वरीय अटल नियमों के अनुसार चलते हैं, वे ही सुखी होते हैं। इसी भाव को समझने के लिए निम्नलिखित मंत्र देखना चाहिए–

'प्र स मित्र मर्तो अस्तु प्रयस्वान् यस्त आदित्य शिक्षति व्रतेन।
न हन्यते न जीयते त्वोतो नैनमंहो अश्नोत्यंतितो न दूरात्।।'
ऋ. 3 ।59 ।2

अर्थात् हे (मित्र) सबके हित करने वाले (आदित्य) सूर्य के समान प्रकाशक परमेश्वर (यः) जो पुरुष (तव व्रतेन शिक्षति) तेरे अटल नियम से शिक्षा ग्रहण करता है, अथवा उसके अनुसार चलता है (समर्तः) वह मनुष्य (प्रयस्वान् अस्तु) कांति व ऐश्वर्य युक्त बनता है। (त्वोतः) तेरे से रक्षित होता हुआ, वह (न हन्यतेः) न मारा जाता है, (उत) और (न जीयते) न नीच शत्रुओं से जीता जाता है। (एनम्) इस पुरुष को (अंतितः) समीप से अथवा (दूरात) दूर से (अंहः) पाप का भय (न अश्नोति) नहीं प्राप्त होता। भावार्थ यह है कि परमेश्वरीय अटल नियमों के अनुसार चलने में मनुष्य पाप और भय से मुक्त होकर ऐश्वर्यशाली होता है।

3. ऋग्वेद 1 । 91 । 7 का मंत्र इस विषय में और भी स्पष्ट है। अतः यहां उसका उल्लेख करना अनुचित न होगा–

'त्वं सोम महे भगं त्वं यून ऋतायते दक्षं दधाधि जीवसे । ।' ऋ.1 ।91 ।7

इस मंत्र का मत्र ग्रिफिथ इस प्रकार अनुवाद करते हैं–

'To him who keeps the law whether old or young, Thou givest happiness and energy that he may live well.

अर्थात् जो ईश्वरीय नियमों का पालन करता है, वह चाहे युवक हो व वृद्ध, परमेश्वर उसको सुख और शक्ति देता है, जिससे वह अपने जीवन को अच्छी प्रकार व्यतीत कर सके। परमेश्वर की अध्यक्षता में जो अटल नियम कार्य कर रहे हैं, जिनके अनुसार कोई भी अपने बुरे कर्मों के कटु फल से बचा नहीं सकता, चाहे वह कर्म कितना भी छिपकर किया गया हो। यही सुख प्राप्त करने का सर्वोत्तम साधन है। देवों अथवा ज्ञानियों का महत्व इसी में है कि वे उन अटल नियमों का पूर्ण रीति से ज्ञान प्राप्त करते हुए, सदा उनके अनुकूल अपने जीवन को बनाने का यत्न करते हैं। कभी वे उन अटल नियमों के प्रतिकूल नहीं चलते। देखिए वेद का कथन इस विषय में कितना स्पष्ट है–

'ऋतावान ऋतजाता ऋतावृधो घोरासो अनृतद्विषः ।
तेषां वः सुम्ने सुच्छर्दिष्टमे नरः स्याम ये च सूरयः । ।'

ऋ. 7 ।66 ।13

अर्थात् हे (ऋतावानः) सत्य युक्त (ऋतजाताः) सत्य से उत्पन्न हुए (ऋतावृधः) सत्य की सदा वृद्धि करने वाले (घोरासः अनृतद्विषः) असत्य के भयंकर विरोधी देव लोगो ! हम (नरः) साधारण पुरुष (ये च सूरयः) और जो विद्वान् हैं, वे सब (वः) तुम्हारे (सुच्छर्दिष्टमे) अत्यंत सुरक्षित (सुम्ने) आश्रय में (स्याम) रहें।

तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार देव लोग सदा सत्य के व्रत का पालन करने अथवा ईश्वरीय नियमों के अनुसार अपना जीवन व्यतीत करने के कारण सुखी तथा निर्भय होकर विचरण करते हैं, वैसे हम सब भी करें।

दूसरे सिद्धांत के विषय में इतना ही लेख पर्याप्त है। इन व्यापक नियमों को जानकर प्रत्येक पुरुष कोा अपना जीवन पवित्र और सुखमय बनाना चाहिए। जो पुरुष अपने स्वार्थ को सिद्ध करने के लिए दूसरों को धोखा देता है, अथवा असत्य व्यवहार करता है वह कुछ समय के लिए भले ही उन्नत होता हुआ दिखाई दे, किंतु सच्चा सुख उसे कभी नहीं प्राप्त हो सकता। ईश्वरीय नियमों के विरुद्ध जाने का कडुआ फल उसको एक न एक दिन अवश्य ही चखना पड़ता है।

तृतीय सिद्धांत
जीवन का अंतिम उद्देश्य

कर्तव्य शास्त्र जिन समस्याओं और गूढ़ प्रश्नों का उत्तर देने के लिए प्रवृत्त हुआ है, उनमें से सबसे मुख्य प्रश्न यह है कि मनुष्य जीवन का अंतिम ध्येय, लक्ष्य व उद्देश्य क्या है ? इस प्रश्न के विचारकों ने भिन्न-भिन्न उत्तर दिए हैं। कई नास्तिक विचारकों ने केवल भोग करने को ही जीवन का उद्देश्य माना है, जैसे चार्वाकादि; कइयों ने ब्रह्म के अंदर लीन हो जाना, इसको मनुष्य जीवन का अंतिम उद्देश्य स्वीकार किया है, जैसे अद्वैतवादी; और कई विचारकों ने दुःख से छूट कर निर्वाण प्राप्त कर लेना, यही अंतिम ध्येय है, ऐसा बताया है, जैसे बुद्ध आदि। यहां इस विषय पर विवाद न करते हुए वैदिक भाव मनुष्य जीवन के ध्येय के विषय में क्या है, इस बात का संक्षेप से विचार करना है। इस विषय में निम्नलिखित कुछ मंत्रों पर विचार करना आवश्यक है।

'यत्र ज्योतिरजस्रं यस्मनॢ्लोके स्वर्हितम्।
तस्मिन् मां धेहि पवमानामृते लोके अक्षित इन्द्रायेन्दो परिस्रव।।'

9 । 113 । 7

इस मंत्र का अर्थ यह है कि हे (इंदो) सर्व प्रकाशक ज्ञानमय परमेश्वर (यत्र अजस्रं ज्योतिः) जहां निरंतर ज्योति है (यस्मिन् लोके) जिस स्थान अथवा अवस्था में (स्वः) सुख (हितम्) रखा हुआ (तस्मिन्) उस (अमृते लोके) अविनाशी लोक में अथवा दशा में उस (अक्षिते) क्षय रहित अवस्था में, हे (पवमान) सबको पवित्र करने वाले प्रभो (मां धेहि) मुझे धारण करो (इंद्राय परिस्रव) मुझ पर सब प्रकार के ऐश्वर्य की वृष्टि करो। ऋग्वेद के इस मंत्र में निरंतर ज्योति और सुख युक्त अविनाशी लोक में रहना ही मनुष्य जीवन का ध्येय बताया है। इस भाव को और अच्छी प्रकार समझने के लिए। इसी सूक्त का अंतिम मंत्र देखना चाहिए—

'यत्रानंदाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुद आसते।
कामस्य यत्राप्ताः कामास्तत्र माममृतं कृधीन्द्रायेन्दो परिस्रव।।'

ऋ. 9 । 133 । 11

अर्थात् हे (इंदो) सबको चंद्र के समान आह्लाद देने वाले प्रभो ! (यत्र आनंदाश्च मोदाश्च) जहां हर्ष और प्रसन्नता है, (यत्र मुदः प्रमुदः आसते) जहां हर्ष और बहुत ही अधिक हर्ष है (कामस्य) कामना करने वाले जीव की (कामाः) सब कामनाएं (यत्र आप्ताः) जहां सिद्ध हो जाती हैं (तत्र) उस अवस्था में (माम्) मुझे (अमृतं कृधि) अमर बनाओ (इंद्राय) सब प्रकार के ऐश्वर्य की (परिस्रव) मेरे ऊपर वृष्टि करो।

भावार्थ यह है कि दिव्य आनंद को प्राप्त करना, जहां स्थिर आनंद हो, उसके साथ दुःख का मिश्रण न हो और जिस प्रकार लौकिक विषय एक के बाद दूसरी,

दूसरी के बाद तीसरी, कामना को उत्पन्न करके पुरुष को अशांत बना देते है, वैसी अवस्था न होकर, जहां जीव के सब मनोरथ सफल हो जाएं उस अलौकिक आनंद और शांति की अवस्था तक पहुंचना वेद के अनुसार मनुष्य जीवन का ध्येय है।

3. इस प्रसंग में ऋग्वेद 10 मण्डल का 36वां सूक्त विशेष द्रष्टव्य है। उसमें से एक नीचे उद्धृत किया जाता है।

'विश्वस्मान्नो अदितिः अदितिः पात्वंहसो माता मित्रस्य
वरुणस्य रेवतः। स्वर्वज्ज्योतिरवृकं नशीमहि तद्देवानामवो अद्यावृणीमहे।।'

ऋ. 10। 36। 3

अर्थात् (मित्रस्य) सब के साथ प्रेम करने वाले और (रेवतः वरुणस्य) ऐश्वर्यशाली श्रेष्ठ पुरुष की (माता अदितिः) अदीन स्वतंत्रता प्रिय माता (नः) हमें (विश्व स्मात् अंहसः) सब प्रकार के पाप से (पातु) बचावे, जिस से हम (अवृकम्) पापरहित (स्वर्वत्) सुख युक्त (ज्योतिः) प्रकाश (नशीमहि) प्राप्त करें (तत्) उसी ज्योति और सुख को प्राप्त करने के लिए (देवानाम्) ज्ञानियों की (अवः) रक्षा को (अद्य) आज हम (आवृणीमहे) सब ओर से स्वीकार करते और चाहते हैं।

अदिति शब्द का अर्थ बंधन रहित परमेश्वर भी हो सकता है, उस दशा में मित्र वरुण शब्दों से सूर्य, चंद्र का ग्रहण किया जा सकता है। तात्पर्य यह है कि सब प्रकार के पाप से निवृत्त होकर दिव्य सुख और दिव्य ज्योति को प्राप्त करना मनुष्य जीवन का ध्येय है। उस आदर्श तक पहुंचने के लिए शारीरिक, मानसिक, आत्मिक शक्तियों के समविकास की आवश्यकता है, इस भाव को निम्नलिखित वेद मंत्र में स्पष्ट तौर पर प्रकट किया गया है—

'विश्वाहा त्वा सुमनसः सुचक्षसः प्रजावंतो अनमीवा अनागसः।
उद्यन्तं त्वा मित्रमहो दिवे दिवे ज्योग् जीवाः प्रति पश्येम सूर्यम्।।'

ऋ 10। 37। 7

इस मंत्र में सूर्य पद से न केवल भौतिक सूर्य का किंतु सर्व प्रकाशक परमेश्वर का भी ग्रहण है, यह सारे सूक्त को देखने से स्पष्ट विदित होता है। हे (मित्रमहः) मित्रों द्वारा पूजनीय परमेश्वर ! हम सब (जीवाः) जीव (विश्वाहा) सदा (सुमनसः) उत्तम मन वाले (सुचक्षसः) उत्तम दृष्टि वाले (प्रजावंतः) उत्तम संतान युक्त (अनमीवाः) सब रोगों से रहित (अनागसः) सब पापों व अपराधों से रहित होकर (दिवे दिवे) प्रतिदिन (उद्यन्तं त्वा) हृदय में प्रकाशित होने वाले तुझ (सूर्यम्) सर्व प्रकाशक प्रभु को (ज्योग्) चिर काल तक अथवा दीर्घ आयु तक (प्रति पश्येम) देखते रहें।

अभिप्राय यह है कि उत्तम मन, इंद्रिय, प्रजा आदि को धारण करते हुए और सब पापों से रहित पवित्र जीवन बनाते हुए सर्व प्रकाशक भगवान् की हृदय में प्रकाशित होने वाली ज्योति के दर्शन करना, यही मनुष्य जीवन का एक मुख्य लक्ष्य होना चाहिए। इस मंत्र से जीव ईश्वर का भेद भी स्पष्ट रीति से सूचित होता है। इस दिव्य ज्योति

की प्राप्ति परमेश्वर की दया से ही हो सकती है, इस अभिप्राय को वेद में स्थान स्थान पर स्पष्ट किया गया है, उदाहरणार्थ अथर्ववेद 0। 79। 1 के निम्न मंत्र को देखिए–

'इंद्र क्रतुंन आभर पिता पुत्रेभ्यो यथा।
शिक्षाणो अस्मिन् पुरुहूत यामनि जीवा ज्योतिरशीमहि।।'

अ. 20। 79। 1

जिसका अर्थ यह है कि हे (इंद्र) ऐश्वर्य युक्त प्रभो ! (पिता पुत्रेभ्यो यथा) जिस प्रकार पिता पुत्र को ज्ञान देता है इस प्रकार तू (नः) हमें (क्रतुम् आभर) उत्तम ज्ञान प्रदान कर। हे (पुरुहूत) अनेक विद्वानों द्वारा स्तुति किए गए परमेश्वर ! (अस्मिन् यामनि) इस समय (नः शिक्ष) हमें तू शिक्षा दे, ताकि हम (जीवाः) जीव (ज्योतिः अशीमहि) ज्योति को प्राप्त करें। तात्पर्य यह है कि परमेश्वर ही पिता माता के समान हमारे सब मनोरथों को पूर्ण करने वाला और ज्ञान देने वाला है, उसी की कृपा से हम दिव्य ज्योति को प्राप्त कर सकते हैं।

इस समय तक जो ऊपर मंत्र उदधृत किए गए हैं, उन से दिव्य आनंद तथा ज्योति को प्राप्त करना मनुष्य जीवन का ध्येय है, यह स्पष्ट प्रतीत होता है; अब दिव्य शांति प्राप्त करने के विषय में एक दो वेद मंत्र देकर इस विषय का उपसंहार किया जाएगा।

अथर्व. 19वें काण्ड का नवम सूक्त संपूर्ण इस विषय में द्रष्टव्य है, केवल दो मंत्र यहां उद्धृत करना पर्याप्त है–

'शांतानि पूर्वरूपाणि शान्तं नो अस्तु कृताकृतम्।
शान्तं भूतं च भव्यं च सर्वमेव शमस्तु नः।।'

मं. 2।।

अर्थात् (पूर्व रूपाणि) भावी परिवर्तन के पूर्व दिखाई देने वाले रूप (शांतानि संतु) शांति देने वाले हों, (नः कृताकृतम्) हमारे किए हुए और न किए हुए सब कर्म (शांतम् अस्तु) शांतिदायक हों (भूतं भव्यं च) भूत और और भविष्य (शांतम्) शांतियुक्त हो (सर्वम् एव) सभी कुछ (नः शम् अस्तु) हमारे लिए शांतिदायक होवे। ऐसी अवस्था प्राप्त करनी चाहिए, जिससे भूत भविष्य वर्तमान में होने वाली कोई भी घटना व पदार्थ हमारी शांति को भंग करने वाला न हो सके, यह इस वेद मंत्र का स्पष्ट अभिप्राय है। इसी सूक्त को अंतिम मंत्र इस प्रकार है–

ओ३म् पृथ्वी शांतिरापः शांतिरोषधयः शांर्तिवनस्पतयः शांतिर्विश्वे मे देवाः सर्वे मे देवाः शांतिः ताभिः शांतिः शांतिः

ता शांतिभिः सर्वशांतिभिः शमयामोऽहं यदिह घोरं यदिह क्रूर. यदिह पापं तच्छिवं तच्छांतं सर्वमेव शमस्तु नः।।

अ. 19। 9। 14।।

इसका अर्थ यह है कि उन पृथ्वी, जल, वायु आदि की शांतिओं से, उन सब प्रकार की शांतिओं से, (शमयामः) हम सब कुछ शांत बनाते हैं अथवा (मोहं शमयामः) मोह को दूर करते हैं (यदिह घारम्) जो कुछ इस संसार में भयंकर है (यत् इह क्रूरम्) जो कुछ यहां क्रूर है, (यत् इह पापम्) जो कुछ यहां पाप है वह सब (शांतम्) शांत हो जाए। (तत् शिवम्) वह सब अपनी भयङ्करतादि छोड़कर शांतिदायक हो जावे। (सर्वमूएव) सब कुछ (नः शम् अस्तु) हमारे लिए शांतिदाय हो जावे। ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना, उपासना के अतिरिक्त शुभ कर्मों का अनुष्ठान अथवा यज्ञ इस ध्येय तक पहुंचने का मुख्य साधन है। इस बात को दिखाने के लिए चारों वेदों में पाए जाने वाले पुरुष सूक्त के निम्नलिखित प्रसिद्ध वेदमंत्र का उल्लेख करना पर्याप्त है–

यज्ञेन यज्ञमयजंत देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।।
तेह नाकं महिमानः सचंत यत्र पूर्वे साध्याः संति देवाः।।

ऋ. 10। 89। 16; यजु. 31। 16 अथर्व. का. 7।5।1

इस मंत्र का सरल अर्थ यह है कि (देवाः) ज्ञानी लोगों ने (यज्ञेन) देव पूजा, संगति करण और दान के द्वारा (यज्ञम्) पूजनीय परमेश्वर की (अजयंत) पूजा की (तानि) प्रथमानि धर्माणि आसन्) वही यज्ञ पद वाच्य देव पूजा अर्थात् विद्वानों व ईश्वर का सत्कार, संगतिकरण और दान सबसे मुख्य धर्म हैं (महिमानः) महत्व युक्त (ते) वे देव (यत्र) जहां (पूर्वे साध्याः) पूर्व सिद्ध ज्ञानी जाते रहे हैं उसी (नाकं) दुःख रहित मोक्ष स्थान को (सचंत) प्राप्त करते हैं।

यह शब्द, 'यजू-देव पूजा सङ्गति-करण-दानेषु' इस अर्थ वाली यज् धातु से बना है, अतः उसके उपर्युक्त अर्थ के विषय में कोई विप्रतिपत्ति नहीं हो सकती। मुख्यतः यज्ञ विधायक यजुर्वेद के 1 म अध्याय के प्रथम मंत्र के देवो वः प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे' ये शब्द यज्ञ का मुख्य अर्थ श्रेष्ठतम कर्म है इस बात की स्पष्ट सूचना दे रहे हैं। इस प्रकार वेद मंत्रों के आधार पर विचार करने पर दिव्य शांति, दिव्य ज्योति और दिव्य आनंद अथवा मोक्ष को प्राप्त करना ही मनुष्य जीवन का अंतिम ध्येय होना चाहिए, यह बात स्पष्ट विदित होती है। इन तीनों शब्दों की थोड़ी सी व्याख्या कर देना आवश्यक है, ताकि वैदिक भाव स्पष्ट समझ में आ जाए। दिव्य शांति से अभिप्राय उस मानसिक व आत्मिक शांति से है, जिसकी प्राप्ति पर सुख दुःख, हानि लाभ, जय पराजय, शोक हर्ष, निंदा स्तुति, मान अपमान इत्यादि सब द्वंद्वों में मन समान रूप अथवा क्षोभ रहित रहता है। दिव्य ज्योति का तात्पर्य सर्व व्याप्त भगवान् की सत्ता को संसार के प्रत्येक पदार्थ और घटना में अनुभव करने का है और दिव्य आनंद का आशय–

आनंदाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते आनन्देन
जातानि जीवन्ति, आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति।

तैत्तिरीय उपनिषद् 3। 6 इस वचन के अनुसार आनंदमय भगवान् की अध्यक्षता

में इस जगत् का सारा व्यवहार चल रहा है, यह समझते हुए सर्वदा आनंदित रहने का है। दिव्य शक्ति की प्राप्ति भी जीवन का ध्येय है, जिसके विषय में विचार किया जाएगा। इस तृतीय सिद्धांत के बारे में इतना ही पर्याप्त है।

चतुर्थ सिद्धांत

आत्मौपम्य दृष्टि

आत्मा की अमरता के विषय में यहां विस्तार से विचार करने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि यह अत्यंत प्रसिद्ध सिद्धांत है। वेद में अग्नि, इन्द्र इत्यादि नामों से अनेक स्थानों पर जीवात्मा का वर्णन आया है। ऋ. मं. 1। 164 के निम्नलिखित दो मंत्र स्पष्ट जीवात्मा की शरीर से पृथक् सत्ता और अमरता का प्रतिपादन करने वाले हैं।

जीवो मृतस्य चरति स्वधाभिरमर्त्यो मर्त्येना स योनिः।

ऋ. 2। 164। 30

अर्थात् (जीवः) जीव (अमर्त्यः) अमर किंतु (मर्त्येन) मरणशील नश्वर शरीर के (सयोनिः) साथ रहने वाला है, वह (मर्तस्य स्वधाभिः) मृत पुरुषादि प्राणियों की शक्तियों के साथ (चरति) विचरण करता है। आत्मा यद्यपि स्वयं अमर है, तथापि शरीर के अंदर प्रवेश करना ही उसका जन्म कहा जाता है। इस शरीर के छूट जाने पर भी जीवात्मा नष्ट नहीं होता, किंतु प्राणियों की शक्तियों और अच्छे बुरे कर्मों के साथ विचरण करता है। स्वधा शब्द का अर्थ स्वकीय धारणा शक्ति यह प्रसिद्ध ही है; यहां अभिप्राय कर्म से मालूम होता है। अगला मंत्र जीवात्मा का और भी स्पष्ट वर्णन करता है, यथा–

'अपश्यं गोपामनिपद्यमानमा च परा च पथिभिश्चरन्तम्।
स सध्रीचीः स विषूचीर्वसान आ वरीवर्ति भुवनेष्वन्तः।।'

ऋ. 1। 164। 31।।

ज्ञानी पुरुष के मुख से इस मंत्र का उपदेश कराया गया है। (अनिपद्यमानम्) नष्ट न होने वाले अर्थात् अमर (आ च परा च) इधर उधर (पथिभिः चरंतम्) अनेक मार्गों से भ्रमण करने वाले (गोपाम्) इंद्रियों के रक्षक व राजा इस जीव को (अपश्यम्) मैंने देख लिया है। इस जीवात्मा का साक्षात्कार कर लिया है। (सः) वह जीवात्मा का (सध्रीचीः) अनुकूल अथवा सुखदायक (सः) वही (विषूचीः) प्रतिकूल योनियों को (वसानः) धारणा करता हुआ (भुवनेषु अंतः) लोकों के अंदर (आवरीवर्ति) बार बार चक्कर लगाता है। भावार्थ यह है कि जीवात्मा अमर और इंद्रियादि का अधिष्ठाता है वही अपने कर्मों के अनुसार भिन्न भिन्न योनियों में प्रवेश करता है। इस प्रकार शरीर के नष्ट होने पर भी जीवात्मा का नाश नहीं होता इस सिद्धांत को समझ लेने

से मनुष्य का जीवन कितना उच्च हो सकता है इसकी कल्पना, सुकरात; वीर हकीकत, ऋषि दयानंद, स्वामी श्रद्धानंद जी, महात्मा गांधी, आदि धर्मवीरों के चरित्र पढ़ने से की जा सकती है।

यह इंद्र (जीव) ही शरीर रूपी जगत् का एकमात्र अधिष्ठाता है और इसके अंदर काम क्रोधादि सब शत्रुओं को वश में करने की पूर्ण शक्ति विद्यमान है, इस बात को प्रमाणित करने के लिए निम्नलिखित मंत्र उद्धृत किए जाते हैं–

''अहमस्मि सपत्नहा इन्द्र इवारिष्टो अक्षतः।
अधः सपत्ना मे पदोरिमे सर्वे अभिष्ठाताः।।''

ऋ. 10। 166। 2

यह मंत्र अधिभौतिक अर्थ में समाज विघातक शत्रुओं और आध्यात्मिक अर्थ में आत्मा की शक्ति को क्षीण करने वाले काम क्रोधादि शत्रुओं को पूर्ण रूप से वश में करने की शक्ति आत्मा के अंदर है इस भाव को सूचित करता है। शब्दार्थ इस प्रकार है–(अहम्) मैं आत्मा (सपत्न-हा) शत्रुओं का नाश करने वाला (अस्मि) हूं, (इंद्र इव) सर्वैश्वर्य युक्त परमेश्वर की तरह मैं भी (अरिष्टः) अमंगल रहित और (अक्षतः) रोगादि बाधा रहित हूं। (इमे सपतनाः) ये सब काम क्रोधादि शत्रु (मे पदोः अधः) मेरे पैरों के नीचे (अभिष्ठिताः) खड़े हुए हैं, अर्थात् इन आंतरिक और बाह्य शत्रुओं की कोई शक्ति नहीं कि वे मुझ आत्मा को अपनी अधीनता में रख सकें। क्षत्रिय बाह्य शत्रुओं का सामना करने के लिए अपने अंदर इस प्रकार का साहस और आत्मविश्वास उत्पन्न करे जिससे शत्रु उसका कुछ न बिगाड़ सकें, इस प्रकार के वेद मंत्रों में मैं समझता हूं कि आध्यात्मिक और आधिभौतिक दोनों ही भाव अभिप्रेत हैं।

2. इस इंद्र (जीव) की शक्ति के विषय में ऋ. 10। 48। 5 का निम्नलिखित मंत्र देखने योग्य है–

''अहमिंद्रो न परा जिग्य इद्धनं न मृत्यवे अवतस्थे कदाचन।।''

यहां इंद्र पद से ईश्वर और जब दोमों का ग्रहण है। जीव पक्ष में मंत्र का अर्थ यह होगा कि, (अहम्) मैं (इंद्र) ऐश्वर्य युक्त शक्तिशाली आत्मा हूं, मैं यह शरीर नहीं हूं, (धनं न परा जिग्ये) मैं अपने सामर्थ्य रूपी अमूल्य धन को नहीं खोऊंगा। मैं (मृत्यवे) मृत्यु के लिए (कदाचन) कभी (न अवस्थे) नहीं खड़ा होता, अर्थात् मुझ आत्मा की कभी मृत्यु नहीं हो सकती। इस प्रकार यहां आत्मा की अमरता तथा शरीर से पृथक् सत्ता का स्पष्ट प्रतिपादन किया गया है। अपने को शरीर से पृथक् समझते हुए अपनी दिव्य शक्ति की वृद्धि के लिए प्रत्येक व्यक्ति को सदा यत्न करना चाहिए यह इस मंत्र का भावार्थ है।

3. इंद्र (जीव) का इस गुप्त शक्ति को बढ़ाने के लिए आत्म विश्वास की बड़ी भारी आवश्यश्कता है, अतः वेद मंत्रों में बार बार आत्मविश्वास वर्धक भावनाओं

का निर्देश किया गया है; उदाहरणार्थ अथर्व. 19। 51 में इस भावना को धारण करने का उपेदश है–

अयुतोऽहमयुतो म आत्मायुतं मे चक्षुरयुतं मे श्रोत्रमयुतो।
मे प्राणोऽयुतो मे ऽपानोऽयुतामे व्यानोऽयुतोऽहं सर्व।।'

जिसका अर्थ यह है कि (अहम्) मैं (अयुतः) सर्वथा अपराजित हूं, मुझे कोई दबा नहीं सकता, (मे आत्मा अयुतः) मेरी आत्मा विजयी स्वाधीन व पराक्रमी है, किसी से दबने वाला नहीं है, (मे चक्षुः, श्रोत्र, प्राणः, अपानः, व्यानः अयुताः) मेरे सब इंद्रिय तथा प्राण शक्तिशाली हैं, (अयुतः अहं सर्वः) मैं सारे का सारा अयुत अर्थात् पराक्रमी, अदृश्य हूं, संसार की कोई शक्ति नहीं कि जो इस आत्मा को दबाकर रख सके, इस प्रकार की भावना धारण करने से ही आत्मिक दिव्य शक्ति का प्रकाश होता है। अपने को दीन हीन दुर्बल मानने और दिन रात निर्बलता के विचार रखने से आत्मा की शक्ति क्रमशः क्षीण हो जाती है, अतः वैसे अवैदिक भावों को धारण करना सर्वथा अनुचित है। वेद में परमेश्वर को 'आत्मदा' और 'बलदा' (ऋ. 10। 121। 2) अर्थात् आत्मिक शक्ति और शारीरिक बल को देने वाला बताया गया है, और 'बलमसि बलं मयि धेहि' इत्यादि मन्त्रों द्वारा उसी से बल की प्रार्थना की गई हे क्योंकि सम्पूर्ण शक्ति का स्रोत वही है। इस प्रकार वेद की दृष्टि में ईश्वर भक्ति और आत्मविश्वास से गुप्त आत्मिक दिव्य शक्ति की वृद्धि होती है, यह बात स्पष्ट हो जाती है।

अब सब प्राणियों में सुख दुख अनुभव करने वाले आत्मा की सत्ता को मानते हुए अपने समान उनके साथ व्यवहार करना चाहिए, इस सिद्धांत की पुष्टि में एक दो वेद मंत्र उद्धृत करके अगले विषय को लेंगे। इस विषय में यजु. अ. 40 के ये दो मंत्र विचारणीय हैं–

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति।
सर्व-भूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति।।

यजु. 47। 6

अर्थात् (यः तु) जो तो (सर्वाणि भूतानि) सब भूतों को (आत्मन् एव) आत्मा-परमात्मा में ही (अनुपश्यति) देखता है, (सर्वभूतेषु च) और सब प्राणियों में (आत्मानम् अनुपश्यति) विद्यमान आत्मा को देखता है, (ततः) उस ज्ञान हाने के पश्चात् (न विचिकित्सति) वह आत्मा की सत्ता में कभी संदेह नहीं करता, अथवा 'विजुगुप्सतो' इस काण्व संहिता के पाठ को मानने पर वह सर्वभूतों में व्यापक एक परमात्मा को मानने वाला और सब प्राणियों में अपने ही समान सुख दुःख का अनुभव करने वाला आत्मा विद्यमान है। इस बात को मानने वाला ज्ञानी कभी किसी से घृणा नहीं करता, यह वेद मंत्र का स्पष्ट अभिप्राय है। अपने पेट को भरने के लिए निरपराध प्राणियों के गले पर छुरी चलाना तथा किसी को अस्पृश्यादि वेद की आज्ञा के स्पष्ट विरुद्ध

है, यह इसी से ज्ञात हो सकता है।

दूसरा मंत्र इस प्रकार है–

यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्‌ विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।।

यजु. 40। 7।।

इस मंत्र के अर्थ के विषय में विचारकों के अंदर मतभेद है, तथापि हमारे विचार में इस का अर्थ यह है कि (यस्मिन्) जिस अवस्था विशेष में (विजानतः) ज्ञानी पुरुष की दृष्टि में (सर्वाणि भूतानि) सब प्राणी (आत्मा एव अभूत्) अपने आत्मा के ही समान हो जाते हैं, अर्थात् जब पुरुष अपनी आत्मा के समान सब के अंदर समान रूप से आत्मा को जानते हुए सब के साथ प्रेम करने लगता है, (तत्र) उस अवस्था विशेष में (एकत्वम् अनुपश्यतः) सब प्राणियों में आत्म-दृष्टि से एकता को अनुभव करने वाले ज्ञानी के लिए (कः मोहः) मोह क्या और (कः शोकः) शोक क्या रह सकता है ?

आत्मवत्सर्वभूतानि यः पश्यति स पण्डितः।

इस प्रसिद्ध उक्ति के अंदर पाए जाने वाले तत्व का ही गुप्त रूप से इस वेद मंत्र के अंदर उपदेश किया गया है। इस विषय में और कुछ लिखने की विशेष आवश्यकता नहीं। कर्तव्य शास्त्र अथवा जीवन की पवित्रता संपादन करने के साथ इस आत्मा की अमरता-आत्मौपम्य दृष्टि आदि विषयक सिद्धांत का कितना घनिष्ठ संबंध है यह बात थोड़ी गंभीरता से विचार करने पर स्पष्ट ज्ञात हो सकती है।

पंचम सिद्धांत
कर्म नियम

सर्वज्ञ परमेश्वर की अध्यक्षता में संसार के अंदर जो अटल नियम कार्य कर रहे हैं, यह कर्म नियम उन्हीं में से एक है। परमेश्वर कर्म फलदाता है और जीव को अच्छे बुरे कर्मों का फल अवश्य ही भोगना पड़ता है; इस बात का प्रतिपादन करने वाले वेद में सैकड़ों मंत्र पाए जाते हैं जिनमें से केवल दो तीन का निर्देश करना यहां पर्याप्त है। इनमें से प्रथम ऋग्वेद मं. 1 सूक्त 164 का 20वां मंत्र है जिसमें जीव ईश्वर की दो पक्षियों के रूप में कल्पना करते हुए यह कहा है कि–

द्वः सुपर्णा सयुजा सखाया, समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति।।

अर्थात् (समाने वृक्षे) अनादि होने से समान प्रकृति रूपी वृक्ष पर (सयुज) एक दूसरे से योग करने वाले [क्योंकि जीवा ईश्वर का संबंध व्याप्य व्यापक, उपासक

उपास्य, पुत्र पित आदि का है] (सखायौ) परस्पर मित्ररूप (द्वा सुपर्णा) दो पक्षी (परिषस्वजाते) मिलकर बैठते एक दूसरे का आलिङ्गन करते हैं। (तयोः अन्यः) उन दोनों में से एक पक्षी (जीवात्मारूपी) (स्वादु पिप्पलम् अत्ति) स्वादु फल का भोग करता है, (अन्यः) दूसरा ईश्वररूपी पक्षी (अनश्नन्) स्वयं भोग न करते हुए केवल (अभि चाकशीती) साक्षी बनके देखता रहता है। स्वादु फल यह यहां उपलक्षण मात्र है, बुरे कर्म का फल बुरा ही भोगना पड़ता है। मं. 22 'मध्वदः' यह जीवों का विशेषण और 'तस्येदाहुः पिप्पलं स्वाद्वग्रे' इन शब्दों द्वारा जीवों के कर्म के अनुसार स्वादु मधुर और कटु फल चखने का साफ तौर पर निर्देश किया गया है। अथर्व. का. 4। 16 के कुछ मंत्र पहले उद्धृत किए जा चुके हैं। दो एक और मंत्र इस विषय में अत्यंत उपयोगी होने के कारण यहां उद्धृत किए जाते हैं–

''उत यो द्यामतिसर्पात्परस्तान्न स मुच्यातै वरुणस्य राज्ञः।
दिवस्पशः प्रचरंतीदमस्य सहस्राक्षा अति पश्यंति भूमिम्।।''

अ. 4। 16 ।4

इस मंत्र में आलङ्कारिक रूप में अटल कर्म नियम का वर्णन किया गया है। शब्दार्थ इस प्रकार है–

(उत यः द्याम् परस्तात् अति सर्पात्) जो द्युलोक के भी पार चला जाए वह भी (वरुणस्य राज्ञः) सर्वोत्तम ईश्वर के पाश व राज्य से (न मुच्यातै) नहीं छूट सकता। (अस्य) इस परमेश्वर के (दिवस्पशः) दिव्य गुप्तचर (इन प्रचरन्ति) इस सारे लोक में विचरण करते हैं, (सहस्राक्षाः) सहस्र नेत्र रखने वाले के समान वे दिव्य गुप्तचर अथवा अटल कर्मादि विषयक नियम (भूमिम् अति पश्यन्ति) पृथ्वी का अच्छी प्रकार निरीक्षण करते हैं। वेद सर्वज्ञ भगवान् का काव्य है, अतः उसके वर्णन प्रायः कविता की दृष्टि से ही मानकर तात्पर्य समझना चाहिए, अन्यथा केवल शब्दार्थ समझने से कुछ काम नहीं चल सकता। यह बात स्पष्ट है कि ऊपर के मंत्र में वरुण के गुप्तचरों से तात्पर्य किन्हीं फरिश्तों व भूतों का नहीं अपितु विश्व व्यापक स्थिर कर्मादि नियमों का है। ये नियम समान रूप से सर्वत्र भूलोक अंतरिक्ष और द्युलोक में कार्य कर रहे हैं, अभिप्राय यह है कि मनुष्य पहाड़ की चोटी पर हो, गुफा के अंदर हो अथवा समुद्र के बीच में हो कहीं भी अपने किए हुए अच्छे या बुरे कर्मों के फल से वह छुटकारा पा नहीं सकता। वरुण के पाशों से भी वेद प्रायः इसी अटल नियम का वर्णन करता है, यथा इसी सूक्त के मं. 7 में–

''शतेन पाशैरभिधेहि वरुणैनं मा ते मोच्यनृतवाङ् नृचक्षः''

ये जो शब्द आए हैं इनका स्पष्टीकरण कर्म नियम के आधार पर ही किया जा सकता है। मंत्र का अर्थ उसके अनुसार यह होगा कि, हे (नृचक्षः वरुण) मनुष्यों के कार्यों का निरीक्षण करने वाले सर्वोत्तम परमेश्वर ! (एनं) इस पापी को (शतेन पाशैः) सैकड़ों पाशों से (अभिधेहि) धारण करो अथवा बांध दो। (अनृत-वाक्) असत्य

भाषण करने वाला पुरुष (ते) तेरे बंधनों से (मा मोचि) न छूटे। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वेद में अनेक स्थानों पर स्पष्ट व आलङ्कारिक रीति से कर्म नियम का स्वीकार किया गया है। परमेश्वर के लिए 'विधाता' शब्द का प्रयोग प्रायः वेद में पाया जाता है, जिस का मुख्य अर्थ ही कर्म फल दाता है। जीव के कर्मों के अनुसार अच्छी बुरी योनियों में जाने का पहले वर्णन किया जा चुका है।

किंतु इस विषय में एक संशय प्रायः उत्पन्न होता है। यदि सचमुच वेद के अनुसार किए हुए कर्म नाश किसी भी अवस्था में नहीं हो सकता तो प्रार्थना करने की आवश्यकता क्या है ? इसके उत्तर में निवेदन यह है कि प्रार्थना का उद्देश्य अपने अंदर निरभिमानता तथा परमेश्वर को सहायक जानते हुए उत्साह पैदा करना है, न कि किए हुए पाप से छुटकारा पाना। जहां पाप से छुड़ाने की प्रार्थनाएं पाई जाती हैं, वहां भावी पाप से मुक्त कराने अथवा किए हुए पाप को फिर न करने का ही तात्पर्य समझना चाहिए उदाहरणार्थ—

यद् ग्रामे यदरण्ये यत्सभायां यदिन्द्रिये।
यदेनश्चकृमा वयमिदं तदवयजामहे स्वाहा।।

यह यजुर्वेद के तृतीय अध्याय का 45वां मंत्र है। इसके अंदर ग्राम, अरण्य, सभा, इंद्रिय आदि में (वयं यत् एनः चकृम) हमने जो पाप किया है (तत् इदं) उस इस सारे पाप को (अवयजामहे) हम दूर करते हैं, अर्थात् भविष्य में न करने का निश्चय करते हैं ऐसा कहा है जो भावी पाप से निवृत्ति का निर्देश करता है।

कृतं चिदेनः प्रमुमुग्ध्यस्मत्।
राजन्नेनांसी शिश्रथः कृतानि।। ऋ. 1। 24

इत्यादि मंत्रों में यद्यपि ऊपर से किए गए कर्मों के फल से छुड़ाने का भाव प्रतीत होता है, पर गंभीरता से थोड़ा विचार किया जाए तो उनके अंदर भूत काल में अज्ञान से किए हुए पापों को फिर न करने का भाव ही प्रधान मालूम देने लगता है। इस प्रकार गोस्वामी तुलसीदास ने 'कर्म प्रधान विश्वरचि राखा, जो जस करहि तो तस फल चाखा' इन सुंदर शब्दों में जिस कर्म नियम का प्रतिपादन किया है वह वेद के अंदर किस तरह पाया जाता है, यह संक्षेम से दिखाने के अनंतर अब हम वैदिक कर्तव्य शास्त्र के छठे आधार भूत सिद्धांत पर प्रकाश डालने का यत्न करेंगे।

षष्ठ सिद्धांत
पाप निवृत्ति के लिए निश्चय

दिव्य ज्योति को प्राप्त करना वेद के अनुसार मनुष्य जीवन का एक मुख्य ध्येय है, यह तृतीय सिद्धांत की व्याख्या में दिखाया जा चुका है। इस विषय में अन्य प्रमाण

उद्धृत करने की आवश्यकता नहीं, तथापि अंधकार से ज्योति की ओर जाने का प्रयत्न करना व्यक्ति का मुख्य कर्तव्य है, इस भावना को स्पष्ट करने के लिए ऋ. प्रथम मण्डल के 50वें सूक्त के सुप्रसिद्ध दसवें मंत्र का उल्लेख करना यहां अनुचित न होगा जो इस प्रकार है–

उद्वयं तमसस्परि ज्योतिष्पश्यंत उत्तरम्।
देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्।

अर्थात् (वयं) हम सब (तमसः परि) अंधकार से परे (उत्तर ज्योतिः) श्रेष्ठ आत्मिक ज्योति को (उत् पश्यंतः) भली प्रकार देखते हुए (देवं देवत्रा) सूर्यादि देवों के भी प्रकाशक (सूर्यम) अंधकार निवारक (उत्तमं ज्योतिः) सर्वोत्कृष्ट परमेश्वर की ज्योति को (अगन्म) प्राप्त करें। प्रकृति अचेतन होने के कारण अंधकारमय अवस्था में है, उसके अंदर दिन रात मग्न रहना अर्थात् लौकिक विषयों का हर समय चिंतन करते रहना, अपने को आध्यात्मिक अंधेरे के अंदर रखना है। आत्मा चेतन होने के कारण एक विशेष ज्योति रखता है, अतः प्रकृति और उसके तत्वों से बने हुए इस शरीर के विचार से उठकर आत्म तत्व का चिंतन करना चाहिए और फिर सब ज्योतियों के आदिस्रोत संपूर्ण आत्मिक अंधकार को दूर करने वाले भगवान् का चिंतन करना उचित है; जिसकी ज्योति से सूर्य चंद्रादि सब देव प्रकाशित हो रहे हैं–

तमेव भांतमनु भाति सर्व
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति। कठ. 2। 5। 15

इन्ही शब्दों में उपनिषद् ऊपर कहे हुए भाव को प्रकाशित करती है। वह ब्रह्म की ही ज्योति है जिसके विषय में उपनिषदों में लिखा है कि–

भिद्यते हृदयग्रंथिश्छिद्यंते सर्वसंशयाः।
क्षीयंते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे।।

मुण्डक. 2। 2। 9

अर्थात् उस ब्रह्म के दर्शन करने पर हृदय की ग्रंथि अथवा काम वासना और अविद्या सब नष्ट हो जाती है, सब संदेह एकदम काफूर हो जाते हैं और बंधन में डालने वाले सब कर्मों का क्षय हो जाता है। उस सर्वोत्कृष्ट ज्योति को प्राप्त करने का प्रत्येक व्यक्ति को अवश्य यत्न करना चाहिए।

'अमृत्व की प्राप्ति' मनुष्य जीवन के ध्येयों में से एक मुख्य ध्येय है, इस विषय कें प्रमाणों को भी तृतीय सिद्धांत की व्याख्या करते हुए उद्धृत किया जा चुका है, तथापि इस विषय में यजुर्वेद के तृतीय अध्याय का 60वां मंत्र द्रष्टव्य है जो निम्न प्रकार है–

त्र्यम्बकं यजामहे सुगंधिं पुष्टिवर्धनम्।
उर्वारुकमिव बंधनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्।।

इस मंत्र का अर्थ यह है कि हम सब (सुगंधिम्) उत्तम सुगंधित पुष्पादि जिसने

बनाए हैं, ऐसे (पुष्टिवर्धनम्) पुष्टि की वृद्धि करने वाले पोषक (त्र्यम्बकम्) ज्ञान कर्म उपासना विधायक वेद जिसके नेत्र के समान दर्शन कराने का साधन है, अथवा तीनों लोकों के पिता और सर्वज्ञ परमेश्वर की (यजामहे) पूजा करते हैं। (उर्वारुकम्) फल विशेष (बंधनात् इव) जैसे अपनी डारी से अलग होता है, वैसे मैं (मृत्योः मुक्षीय) मृत्यु से मुक्त होऊं, मृत्यु के बंधन और भय से अपने को छुड़ा लूं; किंतु (मां अमृतात्) अमृत्व से कभी न छूटूं। त्र्यम्बकम् के उक्त अर्थ के लिए आधार 'वेदत्रयी त्रिनेत्राणि' आदि स्कंदपुराणद्युक्त वचन भी हैं। आध्यात्मिक अर्थ में मृत्यु और अमृत पदों के भाव को स्वयं ऋग्वेद में 'यस्य च्छाया अमृतं यस्य मृत्युः' इन शब्दों द्वारा स्पष्ट किया गया है, जिन को तात्पर्य यह है कि भगवान् की शरण में रहना अथवा दिन रात भगवान् के चिंतन में तत्पर रहना और उस पर भरोसा रखना यही अमृत और उससे दूर रहना अथवा उसका क्षणिक विषयों का चिंतन करना यही मृत्यु है। कठोपनिषत् 2। 4। 2 में—

पराचः कामाननु संयन्ति बालास्ते
मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम्।

इन शब्दों के द्वारा इसी वैदिक भाव की व्याख्या की गई है, जिनका अर्थ यह है कि मूर्ख लोग क्षणिक बाह्य विषयों के पीछे दौड़ कर अपने को मृत्यु के फैले हुए जाल में डालते हैं। इस प्रकार मृत्यु से अमृत की ओर जाने का अभिप्राय क्षणिक विषयों से स्थिर शाश्वत जीवेश्वरादि आध्यात्मिक विषयों के चिंतन करने का है, यह स्पष्ट हो सकता है।

अब पाप से पुण्य मार्ग की ओर आने का यत्न करना चाहिए; इस भाव की थोड़ी सी व्याख्या करनी है। वास्तव में देखा जाए तो यही किसी भी कर्तव्य शास्त्र का आधारभूत मुख्य सिद्धांत है। इस विषय के स्पष्टीकरण के लिए निम्नलिखित तीन चार मंत्रों पर विचार करना चाहिए।

1. **परि माऽग्ने दुश्चरिताद् बाधस्वा मा सुचरिते भज।।**

यजु. 4। 28

अर्थात् हे (अग्ने) ज्ञान स्वरूप परमेश्वर (मा) मुझे (दुश्चरिताद्) दुष्ट चरित्र से (परिबाधस्व) दूर रखो और (मा सुरिचते भज) अच्छे चरित्र में मुझे सदा प्रीति युक्त करो। मैं सब दुष्ट व्यवहारों को त्याग कर उत्तम चरित्र वाला बनूं; यह इस मंत्र का स्पष्ट भाव है।

2. ऋ. 2। 27। 5 का निम्न मंत्र भी उसी भाव का समर्थन करने वाला है। यथा—

युष्माकं मित्रावरुणा प्रणीतौ परिश्वभ्रेव, दुरितानि वृज्याम्।

अर्थात् (मित्रावरुणौ) मित्र दृष्टि से सबको देखने वाले श्रेष्ठ सज्जनों व अध्यापक व उपदेशक लोगो ! (युष्माकं प्रणीतौ) तुम्हारे नेतृत्व में (श्वभ्रा इव) गर्त की तरह

सब पापों का परित्याग करूं। इस मंत्र में पाप की गर्त वा गढ़े के साथ जो उपमा दी गई है, वह बड़ी महत्व पूर्ण है। जो पुरुष श्रेष्ठ लोगों की संगति में रहकर उनके साथ उत्तम मार्ग पर चलता है वही अवनति की ओर ले जाने वाले सब पापों से अपने को शीघ्र मुक्त कर लेता है यह भाव मंत्र के अंदर सूचित किया गया है।

3. सामवेद पूर्वार्चिक 5। 1। 7 में भी बड़ी उत्तमता से सब प्रकार के पाप और दुष्ट विचारों से दूर रहने की प्रार्थना की गई है, जो इस प्रकार है–

अपामीवामप सृधमपसेधत दुर्मतिम्।
आदित्यासो युयोतना नो अंहसः।।

अर्थात् (आदित्यासः) हे सूय्र के समान तेजस्वी महात्मा पुरुषो ! (अमीवाम् अप) रोग को हम से दूर करो। (सृधम् अप) हिंसा के भाव को हम से दूर करो (दुर्मतिम्) दुष्ट बुद्धि व हीन विचार को (अप सेधत) दूर भगाओ (नः) हमें (अंहसः) पाप से (युयोतन) दूर करो। न केवल बाह्य पाप किंतु दुष्ट विचार, हिंसादि दुष्ट भाव तथा उनके परिणाम रोगादि से अपने को महात्माओं के सङ्ग द्वारा दूर रखने का सुंदर उपदेश इस साम के मंत्र में पाया जाता है, जो बार बार मनन करने योग्य है।

पाप के पुण्यमार्ग की ओर आने में कई कठिनाइयां आ जाती हैं। अनेक प्रकार के विघ्न-बाधाएं उपस्थित होती हैं, अतः वेद मंत्रों में इस विषयक दृढ़ निश्चय को अत्यावश्यक माना गया है। निम्नलिखत तीन चार मंत्र इस विषय में विशेष द्रष्टव्य हैं–

यो नः पाप्मन्न जहासि तमु त्वा जहिमो वयम्।।

अथर्व. 6। 26। 2

अर्थात (पाप्मन्) हे पाप (यः) जो तू (नः) हमें (न जहासि) नहीं छोड़ता (तं त्वा) उस तुझको (वयं) हम (उ) निश्चय से (जहिमः) छोड़ देते हैं। एक बार जब पुरुष पाप के अंदर फस जाता है तो उससे छुटकारा पाना कठिन हो जाता है। कई बार उस पाप का दास बनकर मनुष्य न चाहते हुए भी बार बार पाप कर बैठता है किंतु दृढ़ निश्चय के द्वारा मनुष्य पाप पर विजय प्राप्त करने में अवश्य ही सफल होता है। गीता में अर्जुन का–

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः।।

भ. गी. 3। 63।।

यह प्रश्न वेद मंत्र के प्रथम भाग की ही एक प्रकार से प्रश्न रूप में व्याख्या है। दृढ़ निश्चय के सिवाय पाप को छोड़ने का और कोई उपाय नहीं, इस विषय में अथर्व. 4। 17। 5 का निम्न मंत्र देखिए–

दौष्वप्न्यं दौर्जीवित्यं रक्षो अभ्वमराय्यः।
दुर्णाम्नीः सर्वाः दुर्वाचस्तः अस्सन्नाशयामसि।।

अर्थात् (दौष्वप्न्यं) दुष्ट स्वप्न आना (दौर्जीवित्यं) दुष्ट जीवन व्यतीत करना (अभ्वं रक्षाः) बड़ा भारी राक्षसीय भाव (अराय्यः) अनैश्चर्य (दुर्णाम्नीः) दुष्ट नाम वाली (सर्वाः) सब (दुर्वाचः) दुष्ट वाणियां (ताः) उन सबको (अस्मत्) हम सबसे (नाशयामसि) नाश करते हैं। 'अभ्वं रक्षः' से अभिप्राय स्वार्थ भाव से मालूम होता है जो राक्षसी प्रकृति के लोगों का विशेष चिन्ह है। जागृत स्वप्न दशा में तथा शरीर मन वाणी के द्वारा किसी भी प्रकार के पाप को न करने का और जो पाप हो चुके हैं उनको भविष्य में न होने देने का निश्चय करना, यह इस वेद मंत्र का तात्पर्य है जो निःसंदेह अत्युत्तम है। पहले दिखाया जा चुका है कि मनुष्य के आत्मा के अंदर दिव्य शक्ति विद्यमान है उस दिव्य शक्ति को प्रयोग में लाते हुए प्रत्येक व्यक्ति को पाप पर विजय प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। आलस्य प्रमाद के कारण उत्तम ऐश्वर्य से वञ्चित रहना भी एक बड़ा भारी पाप है। मानसिक दुष्ट विचार ही पहले पहल मनुष्य को पाप में प्रवृत्त कराते हैं, अतः जब मन के अंदर दुष्ट विचारों का उदय हो उसी समय मन को वेद के शब्दों में यो कहना चाहिए—

परोपेहि मनोस्पापः किमशस्तानि शंससि।
परेहि न त्वा कामये वृक्षां वनानि संचर
गृहेषु गोषु मे मनः।। अ. 6। 45। 1।।

अर्थात् (पाप मनः) हे पापी मन (परा उपेहि) तू दूर भाग जा। (किम् अशस्तानि शंससि) तू क्यों मुझे बुरी बातों का उपेदश करता है (परेहि) भाग जा दूर भाग जा (न त्वा कामये) मैं तुझे नहीं चाहता। तू चला जा (वृक्षां बनानि संचर) वृक्ष और वनों के अंदर जाकर तू संचार कर, यहां तेरे लिए कोई स्थान नहीं (मे मनः) मेरा मन (गृहेषु) घर के व्यापारों में और (गोषु) गोरक्षादि विषयक विचारों में लगा हुआ है, अतः उसमें तुझे पाप के प्रवेश का कोई द्वार नहीं है। इस मंत्र का भाव कितना उत्तम है यह प्रत्येक विचार शील व्यक्ति स्वयं जान सकता है। इस प्रकार दृढ़ निश्चय के द्वारा आत्मा की प्रेरणा से पाप से पुण्य मार्ग की ओर आकर अपने जीवन को पवित्र बनाने का प्रत्येक व्यक्ति को यत्न करना चाहिए यह वेद मंत्रों का स्पष्ट अभिप्राय है।

सप्तम सिद्धांत
सम विकास

शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक शक्तियों का सम विकास होना चाहिए यह वैदिक कर्तव्य शास्त्र का अत्यावश्यक सिद्धांत है। वेद के अनुसार यह समविकास ही उन्नति का मूल मंत्र है। इस सिद्धांत को भलि भांति समझने के लिए निम्नलिखित वेद मंत्रों

का मनन करना चाहिए—

सं वर्चसा पयसा सं तनूभिरगन्महि मनसा सं शिवेन।
त्वष्टा सुदत्रो विदधातु रायोऽनुमार्ष्टु तन्वों यद् विलिष्टम्।।

यजु. 2। 24।।

अर्थात् हम सब (वर्चसा सम् अगन्महि) तेज से संयुक्त हो (पयसा सम्) बल दायक दुग्धादि रस से संयुक्त हों (तनूभिः सम्) उत्तम पुष्ट शरीरों से और (शिवेन मनसा) शुभ विचार करने वाले मन से (सम् अगन्महि) संयुक्त हों (सुदत्रः) उत्तम दान शील (त्वष्टा) प्रजापति परमेश्वर (रायः विदधातु) हमारे अंदर सब तरह का ऐश्वर्य धारण करे (तन्वः) शरीर की (यद् विलिष्टम्) जो न्यूनता व दोष है उसे (अनुमाष्टुं) वह दूर करे अथवा निर्मल बनाए। इस मंत्र के अंदर जो यजुर्वेद में थोड़े थोड़े पाठ भेद से दो तीन स्थानों पर आया है, शारीरिक तथा मानसिक शक्तियों के समविकास का भाव बहुत स्पष्ट है। मन के साथ बुद्धि चित्तादि की शक्तियों के विकास के विषय में निम्न मंत्र द्रष्टव्य है—

मनसे चेतसे धिय आकूतय उत चित्तये।
मत्यै श्रुताय चक्षसे विधेम हविषा वयम्।।

अर्थव. 6। 41। 1

(वयम्) हम सब (मनसे) मन के लिए (चेतसे) चित्त के लिए (धिये) बुद्धि के लिए (आकूतये) शुभ संकल्प के लिए (उत) और (चित्तये) ज्ञान के लिए (मत्यै) मनन के लिए (श्रुताय) श्रवण के लिए (चक्षसे) दर्शनादि शक्तियों के विकास के लिए (हविषा) भक्ति द्वारा (विधेम) भगवान् की आराधना करें। तात्पर्य यह है कि भक्ति इत्यादि के द्वारा मन, बुद्धि, चित्त, इंद्रिय आदि की संपूर्ण शक्तियों को समान रूप में विकसित करने का अवश्य प्रयत्न करना चाहिए।

यजु. 14। 17 भी वेदोक्त समविकास के प्रदर्शन के लिए यहां उद्धृत किया जाता है, जो इस प्रकार है—

आयुर्मे पाहि प्राणं पाह्यपानं मे पाहि चक्षुर्मे पाहि श्रोत्रं मे पाहि वाचं मे पाहि मनो मे जिन्वात्मानं मे पाहि ज्योतिर्मे यच्छ।

इस मंत्र के अंदर परमेश्वर से आयु प्राण अपान मन और वाणी आदि के साथ मन और आत्मा की रक्षा तथा तृप्ति व शक्ति वृद्धि के लिए प्रार्थना की गई है, जिस का तात्पर्य यही है कि भगवान् की कृपा से हम सब अपनी इंद्रियों तथा मन आत्मा की सब प्रकार के पापों और दुर्व्यसनो से रक्षा करते हुए उनकी शक्तियों के विकास में समर्थ हो सकें क्योंकि यह बात स्पष्ट है कि दुरुपयोग करने से इंद्रिय, मन तथा आत्मा की शक्तियां क्षीण होती हैं।

यजु. 5। 15 का भी इस समविकास के संबंध में उपदेश अत्यंत स्पष्ट है, अतः उसका उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है। यह गुरु की शिष्य के प्रति

उक्ति है–

मनस्त आप्यायतां वाक् त आप्यायतां प्राणस्त
आप्यायतां चक्षुस्त आप्यायतां श्रोत्रं त आप्यायताम्।।

अर्थात् हे शिष्य (ते मनः) तेरा मन (आप्यायताम्) वृद्धि को प्राप्त होवे। (ते वाक्) तेरी वाणी वृद्धि को प्राप्त होवे। (प्राणः चक्षुः श्रोत्रं ते आप्यायताम्) तेरे प्राण तथा आंख कान आदि इंद्रियां सब वृद्धि को प्राप्त होवें। अर्थात् मन, इंद्रिय, वाणी आदि की शक्तियों का विकास ही शिक्षा का मुख्य एक उद्देश्य है। वेद के इसी मंत्र को लेकर केनापनिषत् के प्रारंभ में–

'आप्यायंतु ममाङ्गानी वाक् प्राणश्चक्षुःश्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि' इत्यादि मंत्र की रचना की गई है। इसमें मानसिक, आत्मिक और शारीरिक बल की साथ साथ वृद्धि का भाव बिल्कुल स्पष्ट है। यजु. अ. 36 के सुप्रसिद्ध द्वितीय मंत्र–

यन्मे छिद्रं चक्षुषोर्हृदयस्य मनसो वाति तृण्णम्।
बृहस्पतिर्मे तद् दधातु।।

इत्यादि में भी चक्षुरादि इंद्रियों तथा मन और हृदय संबंधी सब दोषों को दूर करके उनकी शक्तियों को समरूप से विकसित करने का भाव पाया जाता है। आत्मा की शक्तियों के विकास के संबंध में पहले कई वेद मंत्रों का उल्लेख किया जा चुका है, अतः यहां फिर से उस विषय के प्रमाण उपस्थित करने की विशेष आवश्यकता नहीं। निम्नलिखित प्रसिद्ध वेदमंत्र शारीरिक शक्ति के विकास के विषय में विशेष रूप से प्रार्थना करते हुए आत्मा के भी सर्वदा उत्साहपूर्ण रखने का स्पष्ट निर्देश करता है। अतः उसका यहां उल्लेख करना जरुरी है। मंत्र इस प्रकार है–

वाङ्म आसन्नसोः प्राणाश्चक्षुरक्ष्णोः श्रोत्रं कर्णयोः।
अपलिताः केशा अशोणा दंता बहु बाह्वोर्बलम्।
ऊर्वोरोजो जंघयोर्जवः पादयोः प्रतिष्ठा अरिष्टानि मे सर्वात्मनिभृष्टः।।

अथर्व. 19। 60। 1-2

इस मंत्र में वाणी, नासिका, आंख, कान, दांत, बाहु, जंघा, उरु, पैर, इत्यादि की शक्तियां सदा स्थिर रहें, मेरे सब अंग नीरोग हों, यह प्रार्थना करते हुए 'आत्मा अनिभृष्टः' ऐसी प्रार्थना की गई है जिसका अर्थ यह है कि मेरा आत्मा उत्साही बना रहे। आत्मा को सदा उत्साही बनाकर रखने से ही उसकी शक्तियों का विकास हो सकता है, यह बात अत्यंत स्पष्ट है, अतः इसकी व्याख्या करना सर्वथा अनावश्यक है। इस तरह शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक शक्तियों के विकास के लिए दिन रात यत्न करना प्रत्येक व्यक्ति का प्रधान कर्तव्य है, यह बात निर्विवाद है।

अष्टम सिद्धांत

व्यक्ति और समाज का संबंध

सर्वज्ञ परमेश्वर की अध्यक्षता में कुछ व्यापक अटल नियम कार्य कर रहे हैं, और उनको समझकर उनके अनुसार चलने से ही मनुष्य का कल्याण हो सकता है, यह पहले बताया जा चुका है। इन अटल नियमों की सत्ता सिद्ध करने के लिए–

'अदब्धानि वरुणस्य व्रतानि' ऋ. 1 | 24 | 10

तथा **''त्वं हि कं पर्वते न श्रितान्यप्रच्युतानि दूर्लभ व्रतानि''**

ऋ. 2 | 28 | 8

आदि अन्य भी वेद मंत्र उद्धृत किए जा सकते हैं, किंतु विस्तार के भय से उनको यहां लिखना अनावश्यक है। यह बात वैदिक भाव को समझने के लिए अच्छी तरह जान लेनी चाहिए कि ये नियम व्यक्ति, समाज तथा राष्ट्र में समान रूप से कार्य कर रहे हैं। उदाहरणार्थ जैसे एक व्यक्ति को किए हुए अच्छे व बुरे कर्म का फल किसी न किसी रूप में अवश्य ही मिलता है, उसी प्रकार समाज और राष्ट्र को भी अच्छे बुरे कार्यों का परिणाम अवश्य ही भोगना पड़ता है। जब ये सामाजिक और राष्ट्रीय पाप बहुत बढ़ जाते हैं, अर्थात् जब लोग मोह माया में फंस कर स्वार्थ साधन में दिन रात तत्पर हो जाते हैं, और धन मान के मद से मस्त होकर दीनों की सहायता तथा पतित जनोद्धार रूपी कर्तव्य के पालन से भी मुंह मोड़ बैठते हैं तो उस समय प्रायः भयंकर व्यापी रोग, भूकंप, जलपूर (बाढ़) आदि के रूप में भगवान् की ओर से उन्हें अपने राष्ट्रीय पापों का पुरस्कार मिलता है ताकि मनुष्य सावधान होकर पुनः धर्म मार्ग पर चलने का निश्चय कर लें। इसी प्रकार–

''सत्यमेव जयते नानृतम्'' मुण्डक. 3 | 1 | 5

इत्यादि उपनिषदों में प्रकाशित विश्वव्यापक नियम व्यक्ति, समाज, राष्ट्र तीनों पर समान रूप से लागू हैं। ऐसे ही अन्य नियमों को समझना चाहिए। इस प्रकार अटल विश्वव्यापक नियमों को समझने से व्यक्ति, समाज और राष्ट्र तीनों अपने को सब तरह के पापों, दुर्व्यसनों और अत्याचारों से बचा सकते हैं। व्यक्ति समाज का एक अंग है। समाज की सेवा करना यही व्यक्ति का मुख्य कर्तव्य है। उस सेवा के योग्य अपने को बनाने के लिए शारीरिक, मानसिक, आत्मिक शक्तियों का विकास प्रत्येक व्यक्ति को अवश्य करना चाहिए। यह समझना कि वैदिक आदर्श अथवा उपनिषदादि प्राचीन ग्रंथों में एक व्यक्ति के लिए वर्णित आदर्श केवल अपनी ही उन्नति अथवा वैयक्तिक शांति संपादन करना है, यह बड़ी भूल है। केवल ज्ञान द्वारा ही मोक्ष लाभ होता है और ज्ञान प्राप्ति के अनंतर सब कर्मों का परित्याग कर देना चाहिए क्यों कि अच्छे बुरे सभी कर्म बंधन में डालने वाले हैं, यह भाव जो मायावाद का नवीन वेदांत के ग्रंथों में पाया जाता है, वस्तुतः अवैदिक है। भवगद्गीता का

अभिप्राय इस विषय में स्पष्ट है कि

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वंति भारत।
कुर्याद् विद्वांस्तथाऽसक्तश्चिकीषुर्लोकसंग्रहम्।।

भ. अ. 3। 25

अर्थात् अज्ञानी पुरुष आसक्ति पूर्वक जैसे कार्य करते हैं, वैसे ज्ञानी को निष्काम भाव से केवल लोकसंग्रह अर्थात् लोगों को संमार्ग पर लाने के लिए कार्य अवश्य ही करने चाहिए। उपनिषदों में ब्रह्मज्ञानी दशा का वर्णन करते हुए अनके स्थानों पर 'क्रियावान्' यह उसका विशेषण आया है तथा मुण्डकोपनिषद् में–

आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेश ब्रह्मविदां वरिष्ठः । 3। 1। 4

क्रियावन्तः श्रोत्रिया ब्रह्मनिष्ठाः मुण्डक 3। 2। 10

इत्यादि वाक्य पाये जाते हैं–जो स्पष्ट इस बात को प्रमाणित करते हैं, कि ज्ञान प्राप्त कर लेने पर सब कर्मों का परित्याग करके जंगल में समाधि लगाकर बैठ जाना यही वैदिक आदर्श नहीं। समदृष्टि को धारण करते हुए समाज सेवा अथवा लोकोपकार करना यह प्रत्येक ज्ञानी का कर्तव्य है। इस बात को स्पष्ट करने के लिए भगवद्गीता में–

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः। भ. गी. अ.। 5। 25

इत्यादि अनेक श्लोक कहे गए हैं। अब इस विषय में वेद का अभिप्राय को देखना है। निम्नलिखित मंत्र इस विषय पर प्रकाश डाल सकते हैं–

प्र सुमेधा गातुविद् विश्वेदेवः सोमः पुनानः सद एति नित्यम्।
भुवद् विश्वेषु काव्येषु रन्तानु जनान् यतते पञ्च धीरः।।

अ. 9। 92। 3

अर्थात् (सुमेधाः) अच्छी बुद्धि वाला (गातु वित्) भूमि व देश की अवस्था को जानने वाला (विश्वदेवः) सबसे प्रसन्नतापूर्वक व्यवहार करने वाला (सोमः) सौम्य गुण युक्त पुरुष (पुन नः) अपने संग से सबको पवित्र करता हुआ (नित्यम्) सदा (सदः प्र एति) सभा में आता है। यह (धीरः) धैर्य युक्त पुरुष (विश्वेषु काव्येषु) सब काव्यों में (रंता भुवद्) रमण करने वाला होता है, अर्थात् सब उत्तम ग्रंथों का अच्छी प्रकार वह स्वाध्याय करता है। सब कवियों की बातों को ध्यान से विचारता है और फिर (पञ्च जनान् अनु) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, निषाद इन पांचों प्रकार के लोगों से बने हुए मनुष्य समाज के हित के लिए (यतते) यत्न करता है। गातु शब्द का पृथ्वी यह अर्थ निघटु में दिया ही है, विश्व देव शब्द में दिव् धातु का व्यवहार अथवा मोद यह अर्थ लेकर सबसे प्रसन्नतापूर्वक व्यवहार करने वाला यह अर्थ सर्वथा संभव है। इसलिए सारे मंत्र का अभिप्राय यह होगा कि प्रत्येक बुद्धिमान् का यह कर्तव्य है कि वह अपने देश की यथार्थ अवस्था को जानकर, सब विचारकों तथा ज्ञानियों

के ग्रंथों को पढ़कर धैर्यपूर्वक सारे मनुष्य समाज के हित के लिए प्रयत्न करे और इस उद्देश्य से सभा समितियों की योजना करें, ताकि दृढ़ संगठन होकर समाज का कल्याण हो सके। यह मंत्र बड़े ही गंभीर और महत्वपूर्ण भाव को लिए हुए है।

2. यजु. के अंतिम 40वे अध्याय में–

अंधंतमः प्रविशंति ये ऽसम्भूतिमुपासते। मंत्र 9

इस वाक्य के द्वारा असम्भूति अर्थात् केवल वैयक्तिक उन्नति में संतुष्ट रहकर परोपकारार्थ कार्य न करने वालों की स्पष्ट हीन गति बताई है, जिससे स्पष्ट भाव निकलता है कि केवल वैयक्तिक उन्नति से संतुष्ट होना वैदिक आशय के प्रतिकूल है।

3. अथर्व. 11वें काण्ड के पञ्चम सूक्त में, जो ब्रह्मचर्य सूक्त के नाम से प्रसिद्ध है, प्रायः सब के सब मंत्र इस भाव की पुष्टि करने वाले हैं कि ब्रह्मचर्य तप इत्यादि के द्वारा अपनी शक्तियों को विकसित करके लोकोपकार में अपने को समर्पित कर देना चाहिए। उदाहरणार्थ मंत्र 1 में कहा है–'सदाधार पृथ्वी दिवं च'

वह ब्रह्मचारी द्युलोक और पृथ्वी लोक का धारण करता है। मंत्र 4 में कहा है–

ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्ति !

अर्थात् ब्रह्मचारी अपनी (समिधा) दीप्ति व तेज से मेखला श्रम और तप के द्वारा (लोकान् पिपर्ति) सब लोकों को तृप्त करता है अथवा लोक का उद्धार करता है। मंत्र 5 में फिर कहा है–

स सद्य एति पूर्वस्मादुत्तरं समुद्रं
लोकान्त्संगृभ्य मुहुराचरिक्रत्।।

अर्थात् वह ब्रह्मचारी व्रत समाप्ति के अनंतर एक समुद्र से दूसरे समुद्र तक जाता है, अथवा देश देशांतर में भ्रमण करता है और (लोकान् संगृभ्य) लोक संग्रह करके अर्थात् लोगों का संमार्ग पर लाकर (महुः) फिर भी बार बार (आचरिक्रत्) शुभ कार्य करता रहता है। इस मंत्र में आए हुए 'लोकान्' संगृभ्य मुहुराचरिक्रत्' इन शब्दों की गीता के पूर्वोद्धृत लोकसंग्रह विषयक श्लोक के साथ तुलना करनी चाहिए। मं. 22–

पृथक् सर्वे प्राजापत्याः प्राणानात्मसु बिभ्रति।
तान् सर्वान् ब्रह्म रक्षति ब्रह्मचारिण्याभृतम्।।

इत्यादि मंत्रों के अंदर भी ब्रह्मचर्य द्वारा शक्ति संचय करके प्राजापत्य अर्थात् प्रजापति परमेश्वर के पुत्र सब मनुष्य मात्र के कल्याण और रक्षा के लिए यत्न करना प्रत्येक विद्वान् का कर्तव्य है, यह भाव स्पष्टतया सूचित होता है।

4. ऋषि मुनि लोगों को भी योग साधनादि द्वारा अपने अंदर दिव्य शक्ति संपादन करते हुए जनता में राष्ट्रीय भावों की वृद्धि तथा अन्य शुभ भावों के प्रचार के लिए

अपने जीवन को लगा देना चाहिए यह आशय अथर्व. 19। 41 के सुप्रसिद्ध मंत्र

भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदस्तपो दीक्षामुपनिषेदुरग्रे।
ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं तदस्मै देवा उपसंनमंतु।।

के अंदर प्रकट किया गया है। मंत्र का सीधा अर्थ यह है कि (भद्रमिच्छन्तः) सुख और कल्याण की इच्छा करते हुए (सवर्विदः) सुख के यथार्थ स्वरूप को जानने वाले (ऋषयः) ऋषि लोगों ने (अग्रे) पहले (तपः दीक्षाम् उपनिषदुः) तप और दीक्षा का अनुष्ठान किया। (ततः) उस तप और दीक्षा करने के पश्चात् (राष्ट्र) राष्ट्रीयता भाव (बलम्) बल और (ओजः) सामर्थ्य (जातम्) प्रकट हुआ (तत्) इसलिए (देवाः) विद्वान् लोग (अस्मै) इस राष्ट्रीयता के भाव के लिए (उप संनमंतु) सिर झुकाएं, अर्थात् इस भाव का सत्कार करें। तात्पर्य यह है कि ऋषि लोग जो तप दीक्षादि अथवा योग साधन करते हैं, वह स्वयं उद्देश्य नहीं किंतु दिव्य शक्ति संपादन करने का साधन है जिसको राष्ट्र तथा जगत् के कल्याण के लिए उपयोग करना चाहिए। इस विषय में यहां इतना ही कथन पर्याप्त है क्योंकि सामाजिक कर्तव्यों का आगे संक्षेप से विवरण किया जाएगा। इतने वर्णन से यह बात स्पष्ट हो गई कि व्यक्ति का मुख्य कर्तव्य अपनी शक्तियों को विकसित करते हुए समाज सेवा तथा लोकोपकार के लिए लगा देना वही वैदिक भाव है।

नवम सिद्धांत
स्वतंत्रता संरक्षण

मनु भगवान ने अपने धर्मशास्त्र में सुख दुःख का लक्षण करते हुए कहा है कि—

सर्वं परवशं दुखं, सर्वमात्मवशं सुखम्।
एतद् विद्यात्समासेन लक्षणं सुख दुःखयोः।। 4। 160

जिसका अर्थ यह है कि पराधीनता दुःख है और स्वतंत्रता सुख है। व्यक्ति के शरीर में जब सब इंद्रिय, मन, बुद्धि, चित्त, आदि आत्मा के वश में रहते हैं, तभी स्थिर सुख और शांति का अनुभव उसे होता है। जब इंद्रियां इस शरीर पर अधिकार जमा लेती हैं, जब शरीर रथ का अधिष्ठाता आत्मा और बुद्धि रूपी सारथि, इंद्रिय रूप घोड़ों के पीछे पीछे चलने लगते हैं तब तब मन की लगाम को छुड़वा कर इंद्रिय अश्व आत्मा को गढ़े में जाकर गिरा देते हैं, जहां से उसका फिर निकलना तक कठिन हो जाता है। यहीं पर अर्थात् इंद्रियों की अधीनता ही सब आपत्तियों का मूल है। इंद्र (जीवात्मा) के अपने दास इन इंद्रियों के दास बनते ही मनुष्य पर आपत्तियों का पहाड़ टूट पड़ता है, अतः अपनी स्वाधीनता का संरक्षण करना सुख की प्राप्ति के लिए अत्यावश्यक है। 'इंद्रियाणि पराण्याहुः' 3 । 42 इत्यादि भगवद्गीता के वाक्यों

से पराधीनता का उपर्युक्त अभिप्राय स्पष्ट होता है। मनुस्मृति में–

सर्व भूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
समं पश्यन्नात्मयाजी स्वराज्यमधिगच्छति।।

मनु. 12। 91

इत्यादि श्लोकों में स्वराज्य शब्द का उपर्युक्त आध्यात्मिक अर्थ में प्रयोग किया गया है। इसलिए वेद के अंदर जहां स्वराज्य शब्द आया है और उसकी प्राप्ति के लिए यत्न करना चाहिए ऐसा उपदेश किया गया है, वहां आध्यात्मिक और बाह्य दोनों अर्थों में उसका ग्रहण करना चाहिए उदाहरणार्थ–

आ यद्‌ वामीय चक्षसा मित्रं वयं च सूरयः।
व्यचिष्टे बहुपाय्ये यतेमहि स्वराज्ये।।

ऋ. 5 । 66। 6

इस मंत्र में (ईयचक्षसा) हे व्यापक दृष्टि वाले (वाम्) तुम दोनों राजा प्रजा, गुरु, शिष्य, पिता पुत्र आदि (मित्र) मित्र भाव से बरतने वाले (वयं च सूरयः) हम सब विद्वान्‌ (व्यचिष्टे) व्यापक उदारता के भाव से युक्त (बहुपाय्ये) बहुत से पुरुष मिलकर जिसकी रक्षा कर सकते हैं, ऐसे (स्वराज्ये) स्वराज्य की प्राप्ति के लिए (यतेमहि) हम सब यत्न करें, यह आधिभौतिक अथवा बाह्य अर्थ में स्वराज्य शब्द का अर्थ लेकर भाव निकलता है। आध्यात्मिक अर्थ में 'बहुपाय्ये' का अर्थ लेकर भाव निकलता है। आध्यात्मिक अर्थ में 'बहुपाय्ये' का अर्थ 'बहुभिः पाय्ये' के स्थान में बहु अत्यंत पाय्ये रक्षणीये ऐसा समास बदलकर अत्यंत रक्षणीये आत्मिक स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिए हम सब प्रयत्न करें, यह अभिप्राय हो सकता है। वेद इन स्वतंत्रता के भावों से भरा हुआ है। वेद के अनुसार अपनी स्वतंत्रता की रक्षा के लिए प्रत्येक व्यक्ति और समाज को अवश्य ही यत्न करना चाहिए। निम्नलिखित मंत्रों का इस दृष्टि से मनन करना चाहिए–

यो नः सोम सुशंसिनो दुःशंस आदिदेशति।
वज्रेणात्य मुखं जहि संपिष्टो अपायति।।

अर्थव. 6। 6। 2

अर्थात्‌ (सोम) ऐश्वर्य युक्त (षुञ प्रसवैश्वर्ययोः) राजन्‌ अथवा परमेश्वर (यः) जो (दुःशंसः) दुष्ट भाव वाला पुरुष (सुशंसिः नः) अच्छे भाव युक्त हम सज्जनों को (आदिदेशति) अपने आदेश में या आधीनता में रखना चाहता है (अस्य मुखम्‌) इस नीच के मुख को (वज्रेण जहि) वज्र से काट डाला (सः) वह नीच (संपिष्टः) चूर चूर होकर (अपायति) नष्ट हो जाए। यहां यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि दुःशसः यह एक वचन है 'सुशंसिनः' बहुवचन है। जो एक नीच पुरुष सज्जनों पर शासन चलाना चाहता है, सज्जनों का कर्तव्य है कि राजा की सहायता से उसका नाश कर दें, ताकि उनकी स्वतंत्रता बनी रहे।

2. ऋ. 2। 23। 10 में–

मा नो दुःशसो अभिदिप्सुरीशत
प्र सुशंमा मतिभिस्तारिषीमहि।।

यह मंत्र आया है जो पूर्वोक्त भाव का ही द्योतक है। (दुशंस) दुष्ट भाव वाला (अभिदिप्सुः) लोभी, पुरुष (नः) हमारे ऊपर (मा ईशत) कभी शासन न करे, (सुशंसः) अच्छे भावों से युक्त हम (मतिभिः) अपनी बुद्धि से (प्रतारिषीमहि) सब दुःखों से तर जाएं। यहां भी वही स्वतंत्रता का भाव स्पष्ट प्रकट होता है।

3. ऋ. 9। 67। 13-14 में आदित्य ब्रह्मचारियों से जो प्रार्थना की गई है वह भी इस विषय में देखने योग्य है, यथा–

यो मूर्धानः क्षितीनामदब्धासः स्वयशसः।
व्रता रक्षंते अद्रुहः।।
ते न आस्नो वृकाणामादित्यासो मुमोचत।
स्तेनं बद्धमिवादिते।। 14।।

(ये अदित्यासः) जो आदित्य के समान तेजस्वी पुरुष (क्षितीनां मूर्धानः) मनुष्यों के शिरोमणि (अदब्धासः) किसी से न दबने वाले (स्वयशसः) यशस्वी (अद्रुहः) द्रोह रहित होकर (व्रता रक्षंते) शुभ कर्मों को संरक्षरण करते हैं (ते) वे सब तेजस्वी पुरुष (नः) हम सबको (वृकाणाम्) पापियों के (आस्नः) मुख से (मुमोचत) छुड़ाएं। इन मंत्रों पर विचार करने से मालूम होता है कि यह भी आध्यात्मिक, आधिभौतिक अथवा आंतरिक बाह्य दोनों प्रकार के बंधनों से छुटाने की प्रार्थना है। क्षिति का अर्थ निघण्टु में मनुष्य दिया है। वृक के अर्थ पाप और पापी दोनों ही हो सकते हैं।

अथर्ववेद के सुप्रसिद्ध पृथ्वी सूक्त के निम्नलिखित मंत्र का उल्लेख करना भी यहां अत्यावश्यक जान पड़ता है–

या नो द्वेषत्पृथिवि यः पृतन्याद् योऽभिदासान्मनसा यो वधेन।
तं नो भूमे रन्धय पूर्वकृत्वारि।। अ. 12। 1। 14

अर्थात् (पृथ्वी) हे मातृभूमे (यः) जो पुरुष (नः) हमारे साथ (द्वेषत्) द्वेष करता है (यः) जो (पृतन्यात्) सेना ले कर हमारे पर हमला करता है (यः) (मनसा अभिदासात्) जो मन से हमें दास बनाने का विचार करता है (यो वधेन) जो शस्त्र के द्वारा हमारा वध करना चाहता है (तं) उस पूरुष को (नः) हमारे लिए अर्थात् हम सब सज्जनों के हित के लिए (रंधय) नाश कर दो। तात्पर्य यह है कि सब मातृभूमि के भक्तों को अपनी स्वतंत्रता का संरक्षण करना चाहिए। कभी अपने को दासता में नहीं पड़ने देना चाहिए। किसी भी पुरुष की दासता में रहना अनुचित है, चाहे वह अपने देश का हो या दूसरे का, चाहे वह अपना हो या पराया, इस भाव को अथर्व. 6। 54। 3। में देखिए कितने स्पष्ट शब्दों में कहा है–

5. **सबंधुश्रासबंधुश्च, यो अस्मां अभिदासति।**
सर्वं तं रन्धयासि मे यजमानाय सुन्वते।।

अर्थात् हे इन्द्र शक्तिशाली पुरुष (सबन्धुश्च) अपने कुल का आदमी (असबंधुश्च) अथवा दूसरा कोई भी पुरुष (यः) जो (अस्मान्) हमें (अभि-दासति) दास बनाता है (तं सर्वं) उस सबको (सुन्वते यजमानाय मे) अग्निहोत्रादि शुभ कर्म करने वाले मेरे कल्याण के लिए (रन्धयासि) तू नष्ट कर दे। इस प्रकार स्वतंत्र होकर विचरण करने का भाव यहां स्पष्ट पाया जाता है।

6. यजु. अ. 8। 44 में भी बड़े प्रबल शब्दों में इसी स्वतंत्रता के भाव का यहां प्रकाश किया गया है यथा–

वि न इंद्र मृधो जहि नीचा यच्छ पृतन्यतः।
यो अस्मां अभिदासत्यधरं गमया तमः।।

इस का अर्थ यह है कि हे (इंद्र) शत्रु निवारक वीर पुरुष ! (नः) हमारे (मृधः) हिंसक नीच शत्रुओं को नष्ट कर दो (पृतन्यतः) जो सेना लेकर हमारे ऊपर आक्रमण करना चाहते हैं, उनको (नीचा यच्छ) नीचे गिरा दो (यः) जो नीच पुरुष (अस्मान्) हमें (अभिदासति) दास बनाता व बनाना चाहता है उसे (अधरं तमः गमय) अंधकार के अंदर गिरा दो अर्थात् सज्जनों को जो पुरुष दासता में रखना चाहता है, वीर पुरुष का कर्तव्य है कि उसका मिलकर नाश कर दें।

इस प्रकार के वेद मंत्रों को पढ़ते हुए यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि यद्यपि वेद में सब प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखने और किसी से द्रोह न करने का स्पष्ट उपदेश है तथापि उसका अभिप्राय यह नहीं कि नीच पुरुषों को सज्जनों पर मनमाना अत्याचार करने देना चाहिए। वैदिक धर्म के उपदेश अत्यंत ओजस्वी हैं। वेद में सर्वत्र अदीनता और स्वाधीनता के भावों को ही प्रधानता दी गई है, इसलिए मनुष्य के जन्मसिद्ध अधिकार स्वाधीनता को जो बलपूर्वक हरण करना चाहते हैं ऐसे नीच लोगों का मुकाबला करना समाज के हित के लिए आवश्यक ही है। पूर्वोक्त अहिंसा तत्व और इस स्वाधीनता के भाव में कोई विरोध वस्तुतः नहीं, यद्यपि ऊपर से देखने में कुछ समय के लिए अवश्य प्रतीत होता है निःसंदेह ईसाई मत और बौद्ध मत से वैदिक धर्म की शिक्षाएं इस विषय में बहुत भिन्न हैं, इस भेद का आगे संक्षेप से विचार किया जाएगा। यहां इस बात का निर्देश करना ही प्रर्याप्त है।

दशम सिद्धांत

कर्तव्य निर्णय

कर्तव्य का निर्णय किस प्रकार किया जाए यह कर्तव्य शास्त्र का एक अत्यंत आवश्यक और जटिल प्रश्न है। बहुत से पाश्चात्य विचारक केवल अंतःकरण की साक्षी को

ही पर्याप्त समझते हैं, किंतु विचार करने पर मालूम होता है कि केवल अंतःकरण की साक्षी कर्तव्य का निर्णय करने में सर्वथा असमर्थ है। जब अंतःकरण सर्वथा निर्मल हो तो संभव है कि इसकी साक्षी पर पूर्ण विश्वास किया जा सके किंतु ऐसी अवस्था को पैदा करना और पता लगाना तक कठिन है इसलिए आत प्रामाणिक पुरुषों के वचनों पर विश्वास रखना पूर्वीय विचारकों के अनुसार सर्वथा आवश्यक है। केवल अंतःकरण पर विश्वास करना इसलिए भी कठिन है कि इसका आधार बहुत कुछ देश, काल, रीति रिवाजों तथा पूर्व संस्कारों पर है। इस विषय में जर्मनी के दार्शनिक शिरोमणि काण्ट ने जेम्समार्टिनो इत्यादि सदूसद विवेक बुद्धि को ही कर्तव्य निर्णायक मानने वाले विचारकों की आलोचना में जो कुछ लिखा है उसमें से एक वाक्य उद्धृत करना अप्रासंगिक न होगा।

'Feelings which naturally differ in degree can not furnish a uniform standard of good and evil nor has any one a right to form judgments for others by his own feelings.'

Metaphysics of moral p. 61

इसका भाव यह है कि अंतःकरण के भाव पाप-पुण्य या अच्छे-बुरे का निर्णय करने में सर्व सम्मत प्रामाण नहीं हो सकते क्योंकि वे व्यक्ति भेद से भिन्न-भिन्न होते हैं और एक पुरुष को कोई अधिकार नहीं कि वह अपने भाव के आधार पर सब किसी के लिए कर्तव्य का निर्णय कर दे। इस विषय पर यहां विवाद न करते हुए इतना ही कथन पर्याप्त है कि परमेश्वर ने पिता के रूप में सृष्टि के प्रारंभ में मनुष्य मात्र के कल्याण के लिए पाप पुण्य कर्तव्याकर्तव्य का सब उपेदश वेद के द्वारा किया यह आर्यो का विश्वास चला आया है, जो बड़ा युक्ति युक्त मालूम होता है। जिस प्रकार किसी संस्था के चलाने से पूर्व नियम बनाना आवश्यक होता है और किसी प्रकार का कारखाना वगैरह चलाने के लिए भी पहले उस के नियम इत्यादि स्थिर कर लिए जाते हैं, उसी प्रकार परम पिता परमेश्वर ने यह संसाररूपी एक बड़ी विस्तृत संस्था की स्थापना करते हुए यदि कर्तव्याकर्तव्य निर्णायक तत्वों का उपेदश हमें ने किया होता, तो हम अपने पापों के लिए कभी भी जिम्मेवार न ठहरते। इसलिए वेद के द्वारा भगवान् ने धर्माधर्म का मनुष्य मात्र को उपेदश कर रखा है, यही विश्वास हमें संगत प्रतीत होता है। स्वयं वेद के अंदर परमेश्वर को कवि (सर्वज्ञ) नाम से पुकारते हुए वेद को उसका काव्य कहा है–

'पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति।

अथर्व. 10 । 8 । 32

ऋ. 10 । 71 में जिसे ज्ञान सूक्त के नाम से कहा जाता है इस बात का स्पष्ट निर्देश किया गया है कि वेद के बिना धर्म का यथार्थ ज्ञान असंभव है। इस सूक्त का छटा मंत्र इस प्रकार है–

यस्तित्याज सचिविदं सखायं, न तस्य वाच्यपि भागो अस्ति।
यदीं शृणोत्यलकं शृणोति न हि प्रवेद सुकृतस्य पंथाम्।।

ऋ. 10। 71। 6

अर्थात (यः) जो पुरुष (सचिविदं सखायम्) अपने साथ संबद्ध सब पदार्थों का ज्ञान कराने वाले वेद रूपी मित्र को (तित्याज) छोड़ देता है (तस्य) उसकी (वाचि अपि) वाणी में भी (भागः) भजनीय अंश अथवा तत्व (न अस्ति) नहीं रहता (यत ई शृणोति) वह जो कुछ भी सुनता है (अलकं शृणोति) व्यर्थ सुनता है (सुकृतस्य पन्थाम्) पुण्य धर्म मार्ग को वह (नहि प्रवेद) नहीं जानता इस मंत्र में 'सचिविदं सखायं' में वेद का ही निर्देश किया गया है। वेद के बिना धर्म मार्ग का यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता यह भाव इस वेद मंत्र में सूचित किया गया है यजु. अ. 40 मंत्र 8 में भी—

कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्यतोऽर्थान्
व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः।

इन शब्दों द्वारा सर्वज्ञ, सर्व व्यापक परमेश्वर ने यथार्थ प्रवाह से अनादि जगत् के पदार्थों का यथार्थ उपदेश किया यह अर्थ अनेक विद्वानों द्वारा अभिमत है, जिसे स्वीकार किया जा सकता है। किंतु वेद में पवित्र अंतःकरण की साक्षी और सदाचार को भी कर्तव्य निर्णय में सहायक अवश्य माना गया है, इस बात को दिखाने के लिए यजु. अ. 19 का 77वां मंत्र उद्धृत किया जा सकता है जो इस प्रकार है—

दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत्सत्यानृते प्रजापतिः।
अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्रद्धां सत्ये प्रजापतिः।।

अर्थात् (सत्यानृते रूपे) सत्य और असत्य रूप परस्पर विरुद्ध पदार्थों को (दृष्ट्वा) देखकर (प्रजापतिः) परमेश्वर ने (व्याकरोत) एक दूसरे से उनको भिन्न कर दिया, किस प्रकार (अनृते) असत्य में उसने मनुष्य के पवित्र अंतःकरण में (अश्रद्धाम् अदधात्) अश्रद्धा और अरुचि को स्थापित किया और (सत्ये श्रद्धाम् अदधात्) सत्य के अंदर उसने स्वभावतः श्रद्धा को रखा। इस मंत्र के अंदर सत्यासत्य का विभाग करना अंत्यत कठिन है तथापि भगवान् ने मनुष्यों के हित के लिए उनके अंतःकरण में स्वभावतः सत्य के लिए श्रद्धा और असत्य के लिए घृणा का भाव रख दिया है यह आशय प्रकट किया गया है। इस स्वाभाविक प्रकृति को मनुष्य अपने पापों और निर्बलताओं द्वारा बिगाड़ देता है फिर अंतःकरण की निर्मलता स्थिर न रहने से उसकी साक्षी पर प्रत्येक अवस्था में विश्वास करना असंभव हो जाता है। तो भी कुछ अंश तक वह अंतःकरण की साक्षि कर्तव्य के जानने में हमें सहायता देती है इसमें संदेह नहीं। सदाचार भी कर्तव्य के निर्णय करने में कुछ अंश तक सहायक है। इस विषय में वेद में से प्रमाण उद्धृत करने की कोई विशेष आवश्यकता नहीं तथापि नीचे ऋग्वेद से एक मंत्र उद्धृत किया जाता है जिसमें विद्वानों को अपने से पूर्व के ज्ञानियों के

मार्ग पर चलने का आदेश किया गया है। यह मंत्र सामाजिक उन्नति के तत्वों का बड़ी उत्तम रीति से वर्णन करता है—

हंसा इव श्रेणिशो यतानाः शुक्रा वसानाः स्वरवो न आगुः।
उन्नीयमानाः कविभिः पुरस्ताद् देवा देवानामपि यन्ति पाथः।।

ऋ. 3। 8। 91

अर्थात् (हंसा इव) हंसों के समान (श्रेणिशः यतानाः) संघ बनाकर उद्देश्य सिद्धि के लिए यत्न करते हुए (शुक्राः वसानाः) शुद्ध वस्त्रों अथवा वीर्य को धारण करते हुए (स्वरवः) विद्या प्रकाशक शब्द युक्त होकर ज्ञानी (नः आगुः) हमें प्राप्त होवें। (कविभिः) दूरदर्शी ज्ञानियों द्वारा (पुरस्तात्) आगे आगे (उन्नीयमानाः) उन्नति के मार्ग की ओर लिए जाते हुए (देवाः) विद्वान् लोग (अपि) भी (देवानाम्) अपने से उच्च कोटि के अनुभवी ज्ञानियों के (पथः) मार्ग पर (यंति) चलते हैं। इस मंत्र में जो संगठन सत्संगति आदि सामाजिक उन्नति के तत्व बताए गए हैं उनका अच्छी प्रकार मनन करना चाहिए। यहां—

'देवा देवानामपि यंति पाथः'

इन शब्दों द्वारा दूरदर्शी ज्ञानियों के मार्ग पर चलने का जो उपदेश किया गया है उसकी ओर ही ध्यान आकर्षित करना था, क्योंकि उसका अभिप्राय 'सदाचार' नाम से मनुस्मृत्यादि में जो धर्म का निर्णायक प्रमाण माना गया है उसके साथ मिलता जुलता है। अब 11वें सिद्धांत की व्याख्या की जाएगी जो सत्य के संबंध में है।

एकादश सिद्धांत

सत्य महिमा

कर्तव्य शास्त्र के साथ संबंध रखने वाले विषयों में सत्य का बड़ा ऊंचा स्थान है। इसी सत्य की महिमा को बताते हुए मनु महाराज ने—

नास्ति सत्यात्परो धर्मो नाऽनृतात् पातकं परम्।

इत्यादि वचन कहे हैं। वेद के अंदर सत्य के विषय में जो अत्युत्तम उपदेश आए हैं उनका यहां दिग्दर्शन कराया जाता है ताकि प्राचीन संस्कृत साहित्य में सत्य को उचित स्थान नहीं दिया गया ऐसा विचार जो कुछ पाश्चात्य विचारकों ने प्रकट किया है उसकी असत्यता प्रकट हो जाए।

1. सबसे प्रथम ऋ. 10। 85 के प्रथम मंत्र का उल्लेख करना है जिसमें सत्य को पृथ्वी का आधार बताया गया है। यथा—

सत्येनोत्तभित्ता भूमिः सूर्येणोत्तभित्ता द्यौः।

अर्थात् जिस प्रकार द्युलोक का धारण बाह्य रूप से सूर्य द्वारा हो रहा है वैसे

ही वास्तविक रूप से इस भूमि का धारण सत्य के ही आश्रय से हो रहा है। सत्य यदि जगत् से निकाल दिया जाए तो कोई किसी पर विश्वास न करे और इस प्रकार कोई भी व्यवहार न चल सके, अतः यह बात स्पष्ट है कि सत्य पर ही भूमि का आधार है।

2. अथर्व 12। 1 के प्रथम मंत्र में भी इसी आशय को प्रकट करते हुए पृथ्वी के धारण करने वाले पदार्थों में सबसे प्रथम सत्य का वर्णन किया है यथा–

सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयंति।।

जो लोग राजनैतिक उद्देश्य की सिद्धि अथवा मातृभूमि की स्वतंत्रता के लिए छल, कपट, असत्य आदि का भी अवलंबन कर लेना चाहिए, ऐसा कहते हैं, उन्हें इस मंत्र का विशेष रीति से मनन करना चाहिए।

3. यजुर्वेद अ. 1। 5 में–

अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्
इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि।।

इन शब्दों द्वारा असत्य का परित्याग करके सत्य के मार्ग पर चलने का व्रत ग्रहण करना चाहिए यह भाव सूचित किया गया है (अग्ने) हे ज्ञान स्वरूप परमेश्वर (व्रतं चरिष्यामि) मैं व्रत ग्रहण करूंगा (तत् शकेयम्) उसके पालन में मैं समर्थ होऊं (मेतत् राध्यताम्) वह मेरा व्रत सफल होवे (अहम्) मैं (अनृतात्) असत्य से (इदं सत्यम्) इस सत्य के मार्ग को (उपैमि) प्राप्त करता हूं, यह मंत्र का शब्दार्थ है। विद्वान् पुरुष को सदा सत्य का ग्रहण और असत्य का परित्याग करने को उद्यत रहना चाहिए, इस बात को देखिए वेद कितने स्पष्ट और उत्तम शब्दों में बताता है–

सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चाऽसच्च वचसी पस्पृधाते।
तयोर्यत्सत्यं यतरदृजीयस्तदित्सोमोऽवति हन्त्यासत।।

ऋ. 7। 104। 12

अर्थात् (सुविज्ञानं) उत्तम ज्ञान को (चिकितुषे) प्राप्त करने वाले (जनाय) पुरुष के लिए (सत् च असत् च वचसि) सत्य और असत्य वचन अथवा अच्छे बुरे वचन (पस्पृधाते) एक दूसरे का मुकाबला करते हैं अथवा जो पुरुष सच्चा ज्ञान संपादन करना चाहता है उसकी परीक्षा के लिए सत्यासत्य वचन उसके सामने आते हैं (तयोः) उन दोनों में से (यतरद्) जो (सत्यं) सच और (यतरद्) जो एक (ऋजीयः) ऋजु अथवा सरल वचन है (सोमः) सौम्य गुण युक्त पुरुष (तत् इत् अवति) उसकी ही रक्षा करता है (असत्) जो हीन व असत्य वचन है उसको (आ हन्ति) सर्वथा नाश कर डालता है। शब्द अत्यंत स्पष्ट हैं व्याख्या करने की कोई आवश्यकता नहीं। ऋषि दयानंद ने मालूम होता है इसी मंत्र के शब्दों को लेकर आर्य समाज के चतुर्थ नियम की रचना की थी। इससे अगला मंत्र भी सत्य की महिमा और असत्य भाषण के बुरे फल को बड़ी सुंदरता से प्रकट करता है–

न वा उ सोमो वृजिनं हिनोति न क्षत्रियं मिथुया धारयंतम्।
हंति रक्षो हन्त्यासद् वदंतमुभाविन्द्रस्य प्रसितौ शयाते।।

ऋ. 7। 104। 13

(सोमः) सौम्य गुण युक्त पुरुष ऐश्वर्यशाली राजा (वृजिनं) पापी को (न हिनोति) नहीं बढ़ाता, पापी की सहायता नहीं करता और (मिथुया धारयंतम्) हिंसा पूर्वक शरीर अथवा ऐश्वर्य को धारण करने वाले (क्षत्रियं) क्षत्रिय को (न हिनोति) वह नहीं बढ़ाता किंतु (रक्षः हंति) नीच राक्षसी वृत्ति वाले पुरुष को वह मार देता है (असद् वदंतम्) असत्य भाषण करने वाले को (आहन्ति) बिलकुल नाश कर देता है (उभौ) वे दोनों राक्षस अर्थात् स्वार्थी और असत्यवादी (इंद्रस्य) परमेश्वर के अथवा ऐश्वर्यशाली राजा के (प्रसितौ) बंधन में राजपक्ष में कारागृहादि में (शयाते) शयन करते हैं। अभिप्राय यह है कि असत्यवादी को राजा और परमेश्वर की तरफ से कठिन दण्ड मिलता है। राजा से तो पापी अपने को फिर भी बचा सकता है पर सर्वज्ञ सर्वव्यापक परमेश्वर के बंधन से कोई पापी अपने को किसी तरह भी नहीं छुड़ा सकता।

5. सत्य भाषण का व्रत सज्जनों ने लिया हुआ है वही देव हैं ऐसा ऐतेरय, कौषीतकी, शतपथ ब्राह्मणादि में–

सत्य संहितावै देवाः।। ऐ. 1। 6 सत्यमया उदेवा कौषीतकी 2। 8
एवं ह वै देवा व्रतं चरंति यत्सत्यम् सत्यमेव देवाः' श. 1। 1। 1। 4

इत्यादि वाक्यों द्वारा बताया गया है। वेद का कथन देखिए इस विषय में कितना स्पष्ट है–

विश्वान् देवानिदं ब्रूमः सत्यसंधानृतावृधः।
विश्वाभिः पत्नीभिः सह ते नो मुञ्चन्त्वंहसः।।

अथर्व 19। 6। 19

अर्थात् (सत्यसन्धान्) सत्य प्रतिज्ञ (ऋतावृधः) सत्य को सदा बढ़ाने वाले अथवा सत्य पक्ष का समर्थन करने वाले (विश्वान् देवान्) सब पाप रहित विद्वानों[1] को (इदं ब्रमूः) हम यह बात कहते हैं (विश्वाभिः पत्नीभिः सह) सब अपनी पत्नियों के साथ (तें) वे ज्ञानी (नः) हमें (अंहसः) पापों से (मुञ्चन्तु) छुड़ाएं। पाप से छुड़ाने का अभिप्राय उपेदश द्वारा भावी पाप से मुक्त कराने का है यह पहले बताया जा चुका है। इस मंत्र में देवों का विशेषण–

सत्य सन्धान् ऋतावृधः

यह जो दिया है वह बड़ा महत्वपूर्ण है। ऋग्वेद 7। 66। 13 के–

"ऋतावान ऋतजाता ऋतावृधो घोरासो अनृतद्विषः।"

इस मंत्र की व्याख्या पहले की जा चुकी है उसमें देवों को सत्य का दृढ़ पक्षपाती

1. अपहत पाप्मानो देवाः।। शत. 2। 1। 3। 4

और असत्य का घोर विरोधी बताया है, यह बात यहां फिर स्मरण कर लेनी चाहिए।

6. जो लोग असत्य भाषण करके सत्य को दबाना चाहते हैं, उनके लिए वेद में बड़े कठोर शब्दों का प्रयोग किया गया है, उदाहरणार्थ ऋ. 10। 87। मं. 11 में अग्नि से प्रार्थना है–

''त्रिर्यातुधानः प्रसितिं त एत्वृतं यो अग्ने अनृतेन हन्ति।।

अर्थात् (अग्ने) ज्ञान स्वरूप परमेश्वर वा राजन्! (यः यातुधानः) जो राक्षस (ऋतुं) सत्य को (अमृतेन) झूठ के द्वारा (हंति) नष्ट करता व दबाता है वह पापी (त्रिः) तीन बार अनेक बार (ते प्रसितिम) तेरे बंधन को (एतु) प्राप्त करे। परमेश्वर और राजा की ओर से असत्य भाषण करने वालों को कठोर दण्ड मिलता है। यह मंत्र का भाव है। इस प्रकार असत्य भाषण की निंदा स्पष्ट है। इसी सूक्त के 12वें मंत्र में भी अग्नि से–

अथर्ववज्ज्योतिषा दैव्येन सत्यं धूर्वन्तमचितं न्योष।।

यह प्रार्थना की गई है जिसका अर्थ यह है कि अपने दिव्य स्थिर ज्योति से सत्य हिंसा करने वाले-उल्लंघन करने वाले (अचितम्) अज्ञानी मूर्ख को (न्योष) नष्ट कर दो अथवा दग्ध कर दो। संभवतः असत्यवादी के अज्ञान और असत्य भाषण के स्वभाव को अग्नि अर्थात् ज्ञानी नेता अपनी ज्योति व तेज से दूर कर दे ऐसा यहां तात्पर्य है, अस्तु।

7. ऋ. 7। 60। 5 का निम्न मंत्र भी इस विषय में विशेष मनन के योग्य है–

इमे चेतारो अनृतस्य भूरेर्मित्रो अर्यमा वरुणो हि संति।
इम ऋतस्य वावृधुर्दुरोणे शग्मासः पुत्रा अदितेरदब्धाः।।

अर्थात् (इमे) ये (मित्रः अर्यमा वरुणाः) सबके साथ प्रीति करने वाले न्यायकारी श्रेष्ठ गुण युक्त सज्जन (भूरेः अनृतस्य) बहुत से असत्य के (चेतारः सन्ति) जितलाने वाले हैं, यह असत्य है यह सत्य है इस बात का ये सज्जन जनता को उपदेश करने वाले हैं यह सत्य भाषण के द्वारा सदा सत्य के व्रत को ग्रहण करते हुए ये सब उन्नति करते हैं और वे (शग्मासः) सुख देने वाले (अदितेः) स्वतंत्रता प्रिय देवी के (अदब्धाः पुत्राः) किसी से न दबने वाले पुत्र हैं। इस मंत्र में सज्जनों के लिए 'अनृतस्य चेतारः' और 'इम ऋतस्य वावृधुर्दुरोणे ये' शब्द बड़े महत्वपूर्ण हैं।

8. ऋ. 9। 13। 9 में सदा सत्य के अवलंबन करने का जो उपदेश किया गया है उसका यहां उल्लेख करना अनुचित न होगा–

अपघ्नन्तो अराव्णः पवमानाः स्वर्दृशः।
योनावृतस्य सीदत।।

अर्थात् (अराव्णः) अनैश्वर्य और उसके कारणरूप आलस्य प्रमादादि को (अपघ्नंतः) नाश करते हुए (पवमानाः) पवित्र (स्वर्दृशः) सुख का साक्षात्कार करते

हुए—अनुभव ग्रहण करते हुए तुम सब (ऋतस्य योनौ) सत्य के गर्भ में (सीदत) सदा स्थिर रूप से बैठो। आलस्य प्रमाद अनैश्वर्यादि को नाश करना, पवित्रता संपादन करके सुख का अनुभव लेना और सत्य के अंदर स्थिर रूप से प्रतिष्ठित रहना यह प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य इस मंत्र के अंदर बताया गया है जिसके अनुसार चलने से ही सबका कल्याण हो सकता है। यश और श्री के विषय में वेद के उपेदश का आगे उल्लेख किया जाएगा। सत्य विषयक कुछ उपदेशों का यहां व्याख्यान किया गया है, इस सत्य की रक्षा के लिए अपने सर्वस्व तक का अर्पण कर देना चाहिए इस विषय में एक वेद मंत्र उद्‌धृत करके अगले सिद्धांत पर विचार करेंगे। वह मंत्र अथर्व वेद के 12वे काण्ड के तृतीय सूक्त का 46वां मंत्र है—

सत्याय च तपसे देवताभ्यो निधिं शेवधिं परिदद्म एतम।।

जिसका अर्थ यह है कि (सत्य) सत्य की रक्षा के लिए (तपसे) तप के लिए (देवताभ्यः) ज्ञानियों के हित की वृद्धि के लिए (शेवधिं) सुख का धारण करने वाले (एतम्) इस (निधिम्) कोश को—संपूर्ण द्रव्यराशि को (परिदद्म) हम देते हैं। अर्थात् सत्यादि की रक्षा के लिए अत्यंत प्रिय धन का परित्याग भी यदि करना पड़े तो उसे प्रसन्नता से करना चाहिए। सत्य भाषण विषयक इतने उत्तम उपदेशों को वेद में देख कर भी जो कहता है कि वेद के अंदर जीवन विषयक उच्च तत्वों का वर्णन नहीं है उसे सिवाय पक्षपाती के और क्या कहा जा सकता है।

द्वादश सिद्धांत
निर्भयता

परमेश्वर को सबका रक्षक समझते हुए कभी किसी से भयभीत नहीं होना, यह वैदिक धर्म की अत्यंत मुख्य शिक्षा है। इस भाव को दिल में अच्छी प्रकार ग्रहण करने के लिए निम्नलिखित मंत्रों पर विचार करना चाहिए।

सख्ये त इन्द्र वाजिनो मा भेम शवसस्पते।
त्वामभि प्रणोनुमो जेतारमपराजितम।।

ऋ. 1। 11। 2।

अर्थात् (शवसस्पते इन्द्र) हे बल के स्वामी परमेश्वर ! (वाजिनः) ज्ञान और बल से युक्त होकर हम (ते सख्ये) तेरी मित्रता में (मा भेम) कभी भयभीत न होवें। (जेतारम्) सब का विजय करने वाले (अपराजितम्) कभी किसी से पराजित न होने वाले सर्व शक्तिमान् (त्वाम्) तुझ ईश्वर को (अभिप्रणोनुमः) बार बार हम स्तुति करते हैं। परमेश्वर को सर्वशक्तिमान् मानते हुए जो पुरुष सदा उसकी मित्रता में रहते हैं अथवा उसी को अपना सुख दुःख का साथी जानते हैं, वे नित्य निर्भय होकर धर्म

मार्ग पर चलते हैं। इसी आशय को अथर्व वेद में निम्न मंत्र द्वारा प्रकट किया गया है—

पूषेमा आशा अनुवेद सर्वाः सो अस्माँ अभयतमेन नेषत्।
स्वस्तिदा आघृणिः सर्व वीरोऽप्रयुच्छन् पुर एतु प्रजानन्।।

अर्थात् (पूषा) सर्व पोषक परमेश्वर (सर्वा आशाः) सब दिशाओं को (अनुवेद) अच्छी प्रकार जानता है (सः) वह (अस्मान्) हम सबको (अभयत्मेन) अत्यंत निर्भयता के मार्ग से (नेषत्) ले जाए। (स्वस्तिदाः) कल्याण देने वाला (आघृणिः) सबको प्रकाशित करने वाला (सर्ववीरः) सबको प्रेरणा करने वाला (अप्रयुछन्) प्रमाद न करता हुआ (प्रजानन्) परमेश्वर को सर्व रक्षक जानने वाला पुरुष (पुरः एतु) आगे जाने वाला हो। प्रथम अर्ध भाग में परमेश्वर और दूसरे में पुरुष का ग्रहण करना ही यहां उचित मालूम देता है। जिसके अनुसार यह अभिप्राय होगा कि परमेश्वर हमें सदा निर्भयता की तरफ ले जाता है और इस प्रकार ईश्वर को सर्व रक्षक समझने वाला पुरुष सबका नेता बनता है।

अथर्व. 10। 8। में जो की ब्रह्म विद्या विषयक है अंतिम मंत्र निम्नलिखित आया है।

अकामो धीरो अमृतः स्वयंभू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः।
तमेव विद्वान् न विभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरंयुवानम्।। 44।।

इस मंत्र में आए हुए प्रायः सब विशेषण आत्मा परमात्मा दोनों पर घट सकते हैं, यथा (अकामः) सब कामनाओं से रहित (धीरः) बुद्धि युक्त (अमृतः) अमर (स्वयभूः) स्वयं सिद्ध (रसेन तृप्तः) आनंद से पूर्ण (कुतश्चन ऊनः) किसी प्रकार भी जिसके आनंद में कमी नहीं है ऐसा परमेश्वर है और ऐसा ही ज्ञानी आत्मा हो जाता है। (धीरम्) बुद्धि युक्त (अजरम्) वृद्धावस्था व क्षय से रहित (युवानम) सदा शक्तिशाली (तम् एव) उसी एक परमेश्वर व अपने जिवात्मा को (विद्वान्) जानता हुआ पुरुष (मृत्योः) मृत्यु से (न विभाय) नहीं डरता।

युवा कहने से अभिप्राय यहां शक्तिशाली का है क्योंकि जरा का विरोधी शब्द यहां रखना अभिष्ट है अथवा परमेश्वर के पक्ष में युवा का परमाणुओं को मिलाकर सृष्टि और संहार करने वाला और आत्मा के पक्ष में इन्द्रियादि का विषयों से संयुक्त करने वाला ऐसा अर्थ संभव है (यु मिश्रणाऽमिश्रणयोः) इस धातु से युवा शब्द सिद्ध होने के कारण ऊपर का अर्थ उचित ही है। भावार्थ यह है कि जो पुरुष परमेश्वर को सर्व व्यापक, सर्व रक्षक और अपने आत्मा को वृद्धावस्थादि रहित जानता है वह कभी किसी से नहीं डरता, मृत्यु का भी उसे कोई भय नहीं रहता। भगवद्गीता की इस विषयक शिक्षाएं यहां विशेष द्रष्टव्य हैं।

इसी प्रसंग में अथर्व. 19 15। का प्रथम मंत्र देखिए—

यत इन्द्र भयामहे ततो नो अभयं कृधि।
मघवञ्छग्धि तव त्वं न ऊतिभिर्वि द्विषो वि मृधो जहि।।

अ. 19। 15। 1

अर्थात् (इन्द्र) हे सवैश्वर्य युक्त परमेश्वर (यतः) जिस जिस दिशा से व पुरुष से (भयामहे) हम डरते हैं (ततः) उस दिशा से (नः) हमें (अभयं कृधि) निर्भय कर (मघवन्) हे ऐश्वर्यशाली प्रभो (तव शग्धि) शक्ति हमें दे (तव ऊतिभिः) अपनी रक्षा से (द्विषः) द्वेष भाव को और (मृधः) हिंसामय भावों को (विजहि) नष्ट कर दो। इस मंत्र के अंदर भी ईश्वर को सर्व व्यापक, सर्वरक्षक समझने से निर्भयता प्राप्त होती है यह भाव स्पष्ट सूचित किया गया है। यही मंत्र सामवेद उत्तरार्चिक प्र. 5 अर्ध प्र. 2 मं. 15 में भी आया है।

अथर्ववेद के–

अभयं नः करत्यंतरिक्षमभयं द्यावापृथिवी उभे इमे।
अभयं पश्चादभयं पुरस्तादुत्तरादधरादभयं नो अस्तु।।
अभयं मित्रादभयममित्रादभयं ज्ञातादभयं पुरस्तात्।।
अभयं नक्तमभयं दिवा नः सर्वा आशा मम मित्रं भवंतु।।

इत्यादि 19। 12 में आए हुए मंत्र अत्यंत प्रसिद्ध हैं। इनका अर्थ स्पष्ट है कि अंतरिक्ष, आकाश तथा पृथ्वी सब हमें निर्भय करें। पश्चिम, पूर्व, उत्तर, दक्षिण सब दिशाओं से हमें निर्भयता प्राप्त हो। हम मित्रों से, विरोधियों से, परिचितों से तथा जो सामने हों, सबसे निर्भय हों। हमें दिन में और रात में हर समय निर्भयता हो तथा सब दिशाओं के रहने वाले प्राणी हमारे मित्र हों।

इस प्रकार वैदिक कर्तव्य शास्त्र के आधारभूत 12 सिद्धांतों की सप्रमाण व्याख्या यहां समाप्त होती है। इन्हीं सिद्धांतों को स्पष्ट करने के लिए अन्य भी अनेक प्रमाण उद्धृत किए जा सकते हैं पर विस्तार के भय से केवल थोड़े से प्रमाणों का यहां संग्रह किया गया है। इन पर मनन करने से वैदिक कर्तव्य शास्त्र का महत्व समझ में आ सकता है। यूरोपियन विद्वानों का यह कथन कि वेद के अंदर जीवन को उन्नत करने वाले सदाचार संबंधी कोई उत्तम उपदेश नहीं हैं यह कितना पक्षपातपूर्ण और अशुद्ध है इसका इसी से अनुमान किया जा सकता है। अगले अध्याय में वैदिक कर्तव्य शास्त्र के अनुसार मनुष्य के वैयक्तिक, पारिवारिक और सामाजिक कतव्यों का निरूपण किया जाएगा।

द्वितीय परिच्छेद

वेदोक्त वैयक्तिक और पारिवारिक कर्तव्य

प्रथम कर्तव्य
ईश्वर भक्ति

प्रथम अध्याय में वैदिक कर्तव्य शास्त्र के आधार भूत सिद्धांतों की सप्रमाण व्याख्या की गई है; उन सिद्धांतों को दृष्टि में रखते हुए जो मनुष्यमात्र के वेदोक्त कर्तव्य हैं, उनका संक्षेप से यहां दिग्दर्शन कराना है। सबसे प्रथम जगदुत्पादक परमेश्वर के प्रति हमारा कर्तव्य क्या है, इस विषय में कुछ थोड़े से मंत्रों पर विचार करना आवश्यक मालूम होता है। वैदिक धर्म में शुद्ध एकेश्वर पूजा की कल्पना नहीं पाई जाती, ऐसा कई महानुभावों का कथन है। यहां इस विषय पर वाद विवाद करने की आवश्यकता नहीं। नीचे ईश्वर भक्ति और उसके फल के बारे में जो वेद मंत्र उद्धृत किए जाएंगे, वे स्वयं उपर्युक्त आक्षेपों की निर्मूलता को प्रमाणित कर देंगे।

1. ऋ. 2। 23। 4 में ईश्वर भक्ति का निम्नलिखित फल बताया गया है–

सुनीतिभिर्नयसि त्रायसे जनं यस्तुभ्यं दाशान्न तमंहो अश्नवत्।
ब्रह्मद्विषस्तपनो मन्युमीरसि बृहस्पते महि तत्ते महित्वनम्।।

ऋ. 2। 23। 4

अर्थात् (बृहस्पते) सूर्यादि बड़े पदार्थों के स्वामी परमेश्वर ! (जनं सुनीतिभिः नयसि) तू मनुष्यों को उत्तम नीति अथवा मार्ग से ले जाता और (त्रायसे) उनकी रक्षा करता है (यः) जो पुरुष (तुभ्यम्) तुझे (दाशात्) देता है–अपने आप को तेरे प्रति समर्पण करता है (तम्) उसको (अंहः) पाप (न अश्नवत्) नहीं प्राप्त होता (ब्रह्मद्विषः) ज्ञानियों के साथ द्वेष करने वाले का तू (तपनः) तपाने वाला न होकर (मन्युम्) उचित कोप को (ईरसि) प्रेरित करता है (तत्) वह (ते) तेरी (महि) बड़ी भारी (महित्वम्) महिमा है।

परमेश्वर का न्याय दण्ड दुष्टों का संहार करता है, इतना ही यहां उसके मन्यु दिखलाने से मतलब है। भक्ति करने पर भगवान् पुरुष को सन्मार्ग पर चलते, उसकी रक्षा करते और उसको सब पापों से बचाते हैं, यह भाव मंत्र में स्पष्टतया प्रकट किया गया है। इसी सूक्त का पांचवां मंत्र देखिए–

न तमंहो न दुरितं कुतश्चन नारातयस्तितिरुर्न द्वयाविनः।
विश्वा इदस्माद् ध्वरसो वि बाधसे यं सुगोपा रक्षसि ब्रह्मणस्पते।।

ऋ. 2। 23। 5

अर्थात् (सुगोपाः) अच्छी प्रकार रक्षा करने वाला (यम्) जिस मनुष्य की (रक्षसि) रक्षा करता है। (तं) उसको (अंहः) पाप (न) नहीं स्पर्श करता (दुरितं) दुःख वा दुर्व्यसन (न) नहीं प्राप्त होते (कुतश्चन) कहीं से भी। (अ-रातयः) शत्रु उस विद्वान् पुरुष को (न तितिरुः) नहीं हिंसा करने पाते (द्वयाविनः) मन में कुछ और बाहर से और कुछ दिखाने वाले कपटी लोग भी (न) उस धर्मात्मा की हिंसा नहीं कर सकते है। (अस्मात्) इस धर्मात्मा पुरुष से (विश्वाः) सब (ध्वरसः) भय और हिंसा को (वि बाधसे) तू नष्ट कर देता है। परमात्मा जिस का रक्षक है, उस भक्त को संसार में किसी से डर नहीं हो सकता, पाप से वह सदा दूर रहता है और इसलिए उस पर विपत्तियों का भी असर नहीं होता। वह भक्त पुरुष कभी हीन अवस्था को प्राप्त नहीं होता, यह मंत्र का मुख्य अभिप्राय है।

3. इस परमात्मा की भक्ति का न केवल आध्यात्मिक बल्कि लौकिक फल भी बहुत कुछ प्राप्त होता है, इस विषय में ऋग्वेद 2। 24। 3। देखिये–

स इज्जनेन स विशा स जन्मना स पुत्रैवाजं भरते धना नृभिः।
देवानां यः पितरमाविवासति श्रद्धामना हविषा ब्रह्मणस्पतिम्।।

अर्थात् (यः) जो पुरुष (श्रद्धामनः) श्रद्धा युक्त मन वाला होकर (हविषा) भक्ति से (देवानां पितरम्) सूर्य चन्द्रादि तथा ज्ञानियों के पालक (ब्रह्मणस्पतिम्) परमेश्वर की (आविवासति) पूजा करता है (स इत) वह ही (जनेन) उत्तम मनुष्यों से (सविशा) वह प्रजा से (स जन्मना) वह अपने जन्म से (स पुत्रैः) वह अपने पुत्रों से (वाजं) ज्ञान को (भरते) संपादन करता है (नृभिः) अपने मनुष्यों के द्वारा वह पुरुष (धना भरते) धन से पूर्ण होता है। इस मंत्र का भावार्थ यह है कि ईश्वर में पूर्ण विश्वास रखने से मनुष्यों को अच्छे सहायक मित्रादि प्राप्त होते हैं, जिनके द्वारा उसे ज्ञान और ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है। दयामयी जगन्माता के प्रति जो अपने को समर्पण कर देते हैं, निश्चय से उनका संसार में कभी अमंगल नहीं हो सकता। कितना उत्तम अभिप्राय यहां प्रकाशित किया गया है।

4. परमेश्वर ही नित्य सुख और शांति देने वाला है, अतः एक मात्र उसकी उपासना करनी चाहिए, इस बात को ऋ. 8। 66। 13 में निम्नलिखित शब्दों में प्रकट किया गया है–

वयं घा ते त्वे इद्विन्द्र विप्रा अपिष्मसि।
नहि त्वदन्यः पुरुहूत कश्चन मघवन्नस्ति मर्डिताः।।

ऋ. 8। 66। 13

अर्थात् (वयं) हम सब (घा) निश्चय से (इंद्र) हे परमेश्वर (ते स्मसि) तेरे हैं और (उ) निश्चय से (विप्राः) ज्ञान संपन्न होते हुए (अपि) भी हम सब (त्वे इत् स्मसि) तेरे ही आश्रय में और तेरी ही शरण में हैं (पुरुहूत मघवन्) बहुत से भक्तों द्वारा स्वीकृत ऐश्वर्ययुक्त भगवन् (त्वत् अन्यः) तेरे से अतिरिक्त और (कश्चन) कोई

भी (मर्हिता) यथार्थ नित्य सुख देने वाला (न अस्ति) नहीं है। भक्त लोगों की परमेश्वर के प्रति यह उक्ति है। सबको भगवान् की ही शरण में सदा रहना चाहिए क्योंकि उसको छोड़कर वस्तुतः संसार में शाश्वत सुख देने वाला कोई नहीं है। लोग इस तत्व को न समझते हुए दुनिया के पदार्थों में सुख ढूंढ़ना चाहते हैं, पर अंत में निराश होरक इसी परिणाम पर पहुंचते हैं कि दयामय भगवान के अतिरिक्त स्थिर नित्य सुख शांति देने वाला और कोई भी नहीं है, इसी आशय से कठ उपनिषद् में कहा है–

एको वशी सर्व भूतान्तरात्मा, एकं रूपं वहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतेरेषाम्।।

कठ. 2। 5। 12।।

अर्थात् आत्मा के अंदर स्थित सर्वान्तर्यामी भगवान् का जो साक्षात्कार करते हैं उन्हें ही नित्य सुख प्राप्त होता है अन्य किसी को नहीं।

5. परमेश्वर ही को अपना पिता माता बंधु भ्राता और मित्र समझना चाहिए। उसी से भक्तिभाव दृढ़ होता है, इस बात को वेद के अनेक मंत्रों से प्रमाणित किया जा सकता है, किंतु यहां एक दो मंत्रों को उद्धृत करके अगले कर्तव्य पर विचार किया जाएगा।

देवो देवानामसि मित्रो अद्भुत वसुर्वसूनामसि चारुरध्वरे।
शर्मन्त्स्याम तव सप्रथमस्तमे अग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव।।

ऋ. 1। 94। 13।।

इस मंत्र में परमेश्वर के लिए अद्भुत मित्र शब्द का प्रयोग किया गया है। सांसारिक मित्रों से एक न एक दिन अवश्य वियोग होता है, किंतु परमात्मा एक अद्भुत मित्र है जिससे हमारा कभी वियोग नहीं हो सकता पर तो भी जिसे हम नहीं पहचानते। (वसूनां वसुः असि) पृथ्वीव्यादि वसुओं का भी तू आधारभूत है (अध्वरे) सब अहिंसामय कार्यों में तू (चारुः) प्रकाशमान है (तव) तेरी (सप्रथस्तमे) अत्यंत विस्तृत (शर्मन्) शरण में (स्याम) हम सदा रहें (अग्ने) हे ज्ञानस्वरूप परमेश्वर (तव सख्ये) तेरी मित्रता में (वयं) हम (न रिषाम) कभी दुःखी न हों। परमेश्वर सब देवों का अधिष्ठाता और हमारा अद्भुत सहायक और हमारा अद्भुत मित्र है, शुभ कर्मों के द्वारा उसका प्रकाश होता है। उसको जो मित्र समझते हुए शुभ कर्म में तत्पर रहते हैं, उन्हें कभी कोई क्लेश नहीं होता, यह इस मंत्र का अभिप्राय है।

श्रेष्ठे स्याम सवितुः सनीमनि तद् देवानामवो अद्यावृणीमहे।

इत्यादि मंत्रों में भी इसी प्रकार परमेश्वर की श्रेष्ठ शरण में सदा रहने की प्रार्थना की गई है। परमेश्वर की शरण अत्यंत विस्तृत है, इसका तात्पर्य यह है कि उसके अंदर सब जाति, देश और वर्ण के पुरुष को बैठने का समान अधिकार है। वहां काले गोरे का और ब्राह्मण चाण्डाल को कोई भेद नहीं। पापी से पापी भी परमेश्वर

की शरण में आकर अपने जीवन का पवित्र बनाकर तर गए और अब भी तर सकते हैं।

6. ऋ. 10। 7 3 में–

अग्निं मन्ये पितरमग्निमापिग्निं भ्रातरं सदमित्सखायम्।

ऐसा मंत्र आया है जिसमें ज्ञान स्वरूप परमेश्वर को मैं अपना पिता (आपिः) आप्त गुरु, भ्राता (सदम्) शरण देने वाला और (सखायम्) मित्र (मन्ये) मानता हूं ऐसा एक भक्त के मुख से कहलाया गया है। वस्तुतः जब तक परमेश्वर ही को अपना सब कुछ न मान लिया जाए, तब तक पूर्ण भक्ति का आनंद रूपी अमृत मधुर फल प्राप्त नहीं हो सकता।

7. ऋग्वेद 6। 7। 2 तथा साम उत्तरार्चिक अ. 2 प्र. 4 में प्रसिद्ध–

त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ।
अधा ते सुम्ममीमहे।

यह मंत्र आया है जिसमें परमेश्वर को ही पिता माता बताते हुए उसी से सुख प्रार्थना करनी चाहिए, यह भाव सूचित किया गया है।

इसका शब्दार्थ है–(बसो) सबको बसाने वाले सर्वाधार (शतक्रतो) अनन्न ज्ञान और कर्म वाले परमेश्वर (त्वम्) तू (हि) निश्चय से (नः पिता) हमारा पिता है (त्वं माता बभूविथ) तू ही सदा हमारी माता है (अधा) इसलिए (ते) तुझसे ही हम (सुन्नम) सुख और शांति की (ईमहे) प्रार्थना करते हैं।

इस प्रकार परमेश्वर के प्रति व्यक्ति का जो कर्तव्य है उसकी इन मंत्रों द्वारा सूचना मिलती है। परमेश्वर को किसी समय भी न भूलना चाहिए क्योंकि उसको भूलना अथवा उससे विमुख होना यही वस्तुतः मृत्यु है यह भाव–

'यस्य च्छायाऽमृतं यस्य मृत्युः'

इत्यादि मंत्रों का है। अब इस विषय में सामवेद का एक अत्युत्तम मंत्र उद्धृत करके दूसरे कर्तव्य पर विचार करेंगे, वह मंत्र इस प्रकार है–

मा न इन्द्र परावृणग्भवा नः सधमाद्ये।
त्वं न ऊती त्वमिन्न आप्यं मा न इन्द्र परावृणक्।।

साम. पू. 3। 7। 5

अर्थात् (इन्द्र) हे सर्वैश्वर्य युक्त परमेश्वर (नः) हमें (न) नहीं (परावृणक्) परित्याग कर हमारा परित्याग न कर अथवा हम तेरा परित्याग न करेंः इन दोनों का काव्य की दृष्टि से एक ही आशय है। (नः) हमारे (सधमाद्ये) सदा आनंद के लिए (भव) हो। (त्वं नः ऊती) तू हमारी रक्षा करने वाला है (त्वम् इत्) तू ही (नः) हमारे लिए (आप्यम्) प्राप्त करने योग्य है। तेरे अतिरिक्त संसार में प्राप्तव्य कुछ भी नहीं है, क्योंकि तुझे प्राप्त कर लेने और जान लेने पर सब कुछ प्राप्त कर लिया जाता है। (इद्र न मा परावृणक) परमात्मन् हमारा परित्याग न करो, हमारा कभी परित्याग

न करो। यह भक्त की सच्चे दिल से निकली हुई एक प्रार्थना है जो परमेश्वर को ही अपना रक्षक, प्राप्तव्य मित्र और सब कुछ समझना चाहिए, इस भाव को लिए हुए है। के पोपनिषत् के शांति मंत्र में इसी वेद मंत्र के भाव को लेकर—

माहं ब्रह्म निरावुर्या मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणं
मे अस्तवनिराकरण मे अस्तु।।

ये शब्द आए हैं, जिनका अर्थ यह है, ब्रह्म ने मेरा परित्याग नहीं किया, अतः मैं कभी ब्रह्म से विमुख न होऊं। हम दोनों का सदा योग रहे। इन मंत्रों पर विचार करते हुए मनुष्य को परमेश्वर के प्रति भक्ति रूप मुख्य कर्तव्य को सदा पालन करना चाहिए।

द्वितीय कर्तव्य

आतंरिक और बाह्य पवित्रता

अपने प्रति मनुष्य के कर्तव्यों में आंतरिक और पवित्रता का मुख्य स्थान है। इसीलिए वेद में सब प्रकार की पवित्रता के संपादन पर बड़ा भारी बल दिया गया है। ऋग्वेद नवम मंडल के प्रायः मंत्रों में जिनका देवता सोम पवमान है, इसी विषय में उपेदश तथा प्रार्थनाएं पाई जाती हैं। सामवेद के अनेक मंत्र भी इसी आंतरिक और बाह्य शुद्धि का प्रतिपादन करने वाले हैं। अथर्ववेद, यजुर्वेद के अनेक मंत्र भी स्पष्ट शब्दों में इस पवित्रता के भाव की सूचना देने वाले हैं। यहां चारों वेदों से इस विषयक थोड़े से मंत्र उद्धृत किए जाते हैं।

1. ऋग्वेद 5। 9। 5 में निम्न मंत्र आया है—

इन्द्र शुद्धो न आगहि शुद्धः शुद्धाभिरूतिभिः।
शुद्धो रयिं नि धारय शुद्धो ममद्धि सोम्यः।।

अर्थात् (इन्द्र) ऐश्वर्यशाली राजन् (शुद्धः) शुद्ध गुण कर्म स्वभाव वाला तू (नः आ गहि) हमें प्राप्त हो (शुद्धः) पवित्र तू (शुद्धाभिः) पवित्र (ऊतिभिः) रक्षाओं के साथ हमें प्राप्त हो (शुद्धः रयिं नि धारय) शुद्ध होता हुआ तू ऐश्वर्य धारण कर और (सौम्यः शुद्धः) सौम्य और पवित्र होता हुआ तू (ममद्धि) आनंद अथवा भोग कर। इस मंत्र के अंदर पवित्र भावों के साथ ही रक्षा ऐश्वर्य धारण भोगादि सब कार्य करने चाहिए यह भाव स्पष्टतया सूचित किया है।

2. ऋ 9। 67। 22 में निम्न प्रार्थना है—

पवमानः सो अद्य नः पवित्रेण विचर्षणिः।
यः पोता स पुनातु नः।।

अर्थात् (विचर्षणिः) सर्वज्ञ (पवमानः) सबको पवित्र करने वाला (सः) वह

परमेश्वर (अद्य) आज (पवित्रेण) अपने पवित्र तेज से (पुनातु) हमें पवित्र करें। (यः पोता) जो वह पवित्र करने वाला परमेश्वर है। (स नः पुनातु) हमें वह अवश्य ही पवित्र करे। इस मंत्र में भी दो बार परमेश्वर से, जो कि पवित्रता का स्रोत है, पवित्रता की प्रार्थना की गई है।

3. ऋ. 9। 73। 7 में वाणी की पवित्रता के विषय में निम्नलिखित मंत्र आया है–

सहस्रधारे वितते पवित्र आ वाचं पुनन्ति कवयो मनीषिणः।।

अर्थात् (मनीषिणः) बुद्धिमान् (कवयः) दूरदर्शी ज्ञानी लोग (सहस्रधारे वितते) सहस्र धाराओं के समान विस्तृत (पवित्रे) पवित्रता के स्रोत परमेश्वर में मग्न होकर अर्थात् उसका भजन कर के (वाच) वाणी को (पुनन्ति) पवित्र करते हैं। ईश्वर भजनादि के द्वारा वाणी की पवित्रता को संपादन करने का इस मंत्र में उपदेश है। इसी भाव को सामवेद में निम्न प्रकार प्रकट किया गया है–

4. **वयं घ त्वा सुतावंत आपो न वृक्तबर्हिषः।**
पवित्रस्य प्रस्रवणेषु वृत्रहन् परिस्तोतार आसते।।

अर्थात् (वृत्रहन्) हे सब पापों[1] का नाश करने वाले प्रभो (वयं) हम (घ) निश्चय से (सुतावंतः) विद्यारूपी ऐश्वर्य से युक्त होते हुए (वृक्त बर्हिषः) अग्नि होत्रादि शुभ कर्मों का अनुष्ठान करने वाले (पवित्रस्य प्रस्रवणेषु) पवित्र स्वरूप तेरे पवित्रता के स्रोत में (आपः न) जलों के समान शांत स्वभाव (स्तोतारः) स्तुति करने वाले पुरुष (परि आसते) बैठे हुए हैं। 'वृक्त बर्हिषः' का अर्थ निघण्टु में ऋत्विक् ऐसा ही दिया है। परमेश्वर की पवित्रता की धाराओं में जल के समान बैठकर भक्त लोग भी अपने को शुद्ध कर लेते हैं यह भाव यहां सूचित किया गया है जो काव्य की दृष्टि से अत्यंत उत्तम है।

5. यजुर्वेद अ. 34 के प्रथम 6 मंत्रों में मन के शिव संकल्प बनाने के लिए जो प्रथानाएं आई हैं वे इस प्रसंग में दर्शनीय हैं। उनमें से केवल एक मंत्र का उल्लेख करना पर्याप्त है–

यज्जाग्रतो दूरमुदेति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरं गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।।

अर्थात् (यत्) जो मन (जाग्रतः दूरम् उदेति) जाग्रत अवस्था में दूर दूर जाता है (तद् उ दैवं) वह ही निश्चय से दिव्य गुण युक्त मन (सुप्तस्य) सोए हुए पुरुष के भी (तथा एव) वैसे ही (एति) दूर जाता रहता है। (दूरं गमं) दूर जाने वाला (ज्योतिषाम्) इंद्रियों का (एकं ज्योतिः) एक प्रकाशक (तत्) वह (मे) मेरा (मंनः) मन (शिवसंकल्पम्) शुभ संकल्प करने वाला (अस्तु) होवे। मंत्र की व्याख्या करने की

---

1. पाप्मा वै वृत्रः।। शत. 11। 1। 5। 7

यहां आवश्यकता नहीं है। मन के अंदर सदा शुभ भावों का उदय होना चाहिए। यह इन सब मंत्रों का भाव है।

6. यजु. 4। 4 में पवित्रता के संबंध में निम्नलिखित अत्युत्तम भावपूर्ण मंत्र आया है–

चित्पतिर्मा पुनातु वाक्पतिर्मा पुनातु देवो मा सविता पुनात्वच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः।
तस्य ते पवित्रपते पवित्रपूतस्य यत्कामः पुने तच्छकेयम्।।

अर्थात् (चित्पतिः) चित्त का स्वामी (मा पुनातु) मुझे पवित्र करे (सविता देवः) सर्वोत्पादक देव (सूर्यस्य रश्मिभिः) सूर्य की किरणों के साथ (अच्छिद्रेण) सर्वदोष रहित (पवित्रेण) अपने पवित्र तेज से (मा पुनातु) मुझे पवित्र बनाए) (पवित्रपते) हे पवित्र स्वरूप स्वामिन् (पवित्र पूतस्य तस्य ते) पवित्र गुण कर्म स्वभावों के कारण सर्वथा शुद्ध तेरी (यत्कामः) जिस कामना से (पुने) पवित्रता अपने अंदर धारण करता हूं (तत् शकेयम्) उस कामना को पूर्ण करने में मैं समर्थ हो सकूं। परमेश्वर पवित्रता का स्रोत है। दिव्य शक्ति शांति और आनंद को प्राप्त करने की कामना से उसकी पवित्रता को अपने अंदर धारण करना चाहिए यह इस मंत्र का स्पष्ट आशय है। चित्त वाणी आदि का अधिष्ठाता मुझे पवित्र करे; इसी के अंदर यह भाव आ जाता है कि वह मेरे चित्त वाणी आदि को पवित्र बनाए इस प्रकार पवित्रता के स्रोत भगवान् की स्तुति प्रार्थना तथा उपासना के द्वारा अपने अंदर पवित्रता धारण करने का वेद मंत्रों में बहुत उत्तम उपदेश है।

7. अथर्व. 6। 19 में इस विषयक यह मंत्र विचारने योग्य है–

पवमानः पुनातु मा क्रत्वे दक्षाय जीवसे।
अथो अरिष्ट तातये।।

अर्थात् (पवमानः) सबको पवित्र करने वाला परमेश्वर (क्रत्वे) उत्तम कर्म करने के लिए (दक्षाय) चतुरता अथवा बल के लिए (जीवसे) उत्तम रीति से जीवन व्यतीत करने के लिए (अथो) और (अरष्टि तातये) अरिष्ट अथवा मंगल के विस्तार के लिए (मा) मुझे (पुनातु) पवित्र करे। भावार्थ यह है कि अपने अंदर ईश्वर भक्ति आदि द्वारा पवित्रता धारण करने से मनुष्य का आत्मिक बल बढ़ता है और वह जीवन को सुखमय बनाते हुए उत्तम कार्य करने में समर्थ हो सकता है। इस प्रकार की पवित्रता के संपादन के लिए प्रत्येक व्यक्ति को सदा उद्यत रहना चाहिए। इस विषय में–

1. **भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।।**
2. **भद्रं नो अभि वातय मनो दक्षमुत क्रतुम्।**

इत्यादि मंत्र भी देखने योग्य हैं, किंतु सुप्रसिद्ध होने के कारण उनकी व्याख्या करने की यहां आवश्यकता नहीं मालूम होती। अंत में यजुर्वेद 6। 15 को यहां उद्धृत

कर के हम इस प्रकरण को समाप्त करते हैं जिससे सब अंगों की सब प्रकार की पवित्रता का संपादन करना ही वैदिक शिक्षा पद्धति का मुख्य तात्पर्य था यह बात भी स्पष्ट हो जाएगी। मंत्र निम्न प्रकार है–

वाचं ते शुन्धामि प्राणं ते शुन्धामि चक्षुस्ते शुन्धामि
श्रोत्रं ते शुंधामि नाभिं ते शुन्धामि मेढ्रं ते शुन्धामि
पायुं ते शुन्धामि चरित्रांस्ते शुन्धामि।

गुरु की शिष्य के प्रति यह उक्ति है कि मैं (ते) तेरी (वाचम्) वाणी को (शुन्धामि) शुद्ध करता हूं (ते) तेरे (प्राणं शुन्धामि) प्राण को शुद्ध करता हूं (ते चक्षु शुन्धामि) तेरी आंख को मैं शुद्ध करता हूं (ते नाभिं, मेढ्रं, पायुं च शुन्धामि) तेरी नाभि उपस्थेन्द्रिय और गुदेन्द्रिय को मैं शुद्ध करता हूं (ते चरित्रान् शुन्धामि) तेरे चरित्र अथवा आचरणों को मैं शुद्ध करता हूं। मंत्र[1] का भाव अत्यंत स्पष्ट है। सब इंद्रियों को शुद्ध पवित्र रखना चाहिए और अंत में इस प्रकार अपने चरित्र को उत्तम बनाना चाहिए जिसके विषय में मनु महाराज ने ठीक कहा है कि–

आचाराल्लभते ह्यायुराचारादीप्सिताः प्रजाः।
आचाराद् धनमक्षय्यमाचारो हन्त्यलक्षणम्।।

यही चरित्र निर्माण ही वैदिक तथा प्राचीन शिक्षा प्रणाली की आधार शिला थी इसी आदर्श को हर्बट स्पेन्सर आदि यूरोपिय अनेक शिक्षा वैज्ञानिकों ने भी–

'Formation of character is the chief object of education'

अर्थात चरित्र निर्माण ही शिक्षा का मुख्य उद्देश्य है इत्यादि वाक्य लिखकर फिर से स्थापित करने का यत्न किया है; अस्तु।

तृतीय कर्तव्य
पूर्ण आत्मसंयम प्राप्ति

प्रथम अध्याय में नवम सिद्धांत की व्याख्या करते हुए आंतरिक और बाह्य स्वराज्य को प्राप्त करना वेद के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति और समाज का कर्तव्य है यह प्रमाण सहित दिखाया जा चुका है तथापि इस विषय में अभी कुछ और लिखने की आवश्यकता मालूम होती है। आत्म संयम को वेदों में कितना आवश्यक माना गया है इस बात को भली भांति समझने के लिए हमें ब्रह्मचर्य की महिमा वर्णन करने वाले सूक्तों

1. यह कितने आश्चर्य और दुःख की बात है कि स्पष्ट शब्दों में चरित्र निर्माण और पवित्रता को शिक्षा का उद्देश्य बताने वाले इस मंत्र को सायणाचार्य, उब्वट, महिधारादि भाष्यकारों ने मरे पशु को शुद्ध करने पर लगाया है।

पर फिर से दृष्टि दौड़ानी चाहिए। अथर्ववेद 11वें काण्ड के कुछ मंत्रों का पहले भी उल्लेख किया जा चुका है एक दो प्रसिद्ध मंत्रों का उद्धृत कर देना यहां अप्रासंगिक न होगा।

1. **ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति।**
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते।।

अ. 11। 5। 17

अर्थात् (ब्रह्मचर्येण) ब्रह्मचर्य और (तपसा) तप के द्वारा (राजा राष्ट्रं विरक्षति) राजा अपने राष्ट्र की रक्षा करता है (आचार्यः) आचार्य (ब्रह्मचर्येण) ब्रह्मचर्य के कारण ही (ब्रह्मचारिणम् इच्छते) ब्रह्मचारी की इच्छा करता है। इस प्रकार के सब मंत्रों में ब्रह्मचर्य के तात्पर्य अविवाहित रहने से नहीं। किंतु आत्मसंयम प्राप्त करने से ही है। ब्रह्मचर्य को इंद्रियों पर अधिकार पाए बिना राजा अपनी प्रजा अथवा राष्ट्र का धारण अच्छी प्रकार नहीं कर सकता। जो अपने को वश में नहीं कर सकता उससे यह आशा नहीं की जा सकती कि वह दूसरों को अच्छी तरह वश में रख सकेगा। इसी आशय से मनुस्मृति में लिखा है–

जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे धारयितुं प्रजाः।

जो आचार्य आत्म संयमी नहीं वह अपने शिष्यों को भी पूर्ण जितेन्द्रिय कभी नहीं बना सकता। अब दूसरा मंत्र देखिए–

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत।
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वरा भरत्।।

11। 5। 19

अर्थात् (ब्रह्मचर्येण तपसा) ब्रह्मचर्य और तप के द्वारा (देवाः[1]) ज्ञानी लोग (मृत्युम्) मौत को (उपाघ्नत) मारते हैं, स्वाधीन कर लेते हैं (इन्द्रः) जीवात्मा (ह) निश्चय से (ब्रह्मचर्येण) ब्रह्मचर्य के प्रताप से (देवेभ्यः) इंद्रियों के लिए (स्वः) सुख को (आभरत्) धारण करता है। पूर्ण आत्मसंयम प्राप्त किए बिना कभी भी आत्मिक सुख और आनंद प्राप्त नहीं हो सकता, यह यहां तात्पर्य है। ब्रह्मचर्य से यहां वेदाध्ययनपूर्वक आत्म संयम से ही अभिप्राय है न कि अविवाहित रहने से, अतः गृहस्थी लोगों को भी ब्रह्मचर्यपूर्वक जीवन व्यतीत करना चाहिए इस बात को वेद में ओषधि वनस्पति संवत्सर आदि की उपमा से कैसा स्पष्ट कर दिया है। यथा–

ओषधयो भूतभव्यमहो रात्रे वनस्पतिः।
संवत्सर सहर्तुभिस्ते जाता ब्रह्मचारिणः।।

11। 5। 20

ओषधि वनस्पति आदि अपनी अपनी ऋतु के अंदर ही फूलती फलती हैं।

---

1. विद्वासो हि देवाः।। शतपथ 3। 7। 3। 10

इसी प्रकार गृहस्थियों को ऋतुगामी होना चाहिए यही उनके लिए ब्रह्मचर्य है जैसा कि योगी याज्ञवल्क्य ने कहा है–

ऋतावृतौ स्वदारेषु संगतिर्या विधानतः।
ब्रह्मचर्यं तदेवोक्तं गृहस्थाश्रमवासिनाम्।।

इस प्रकार ब्रह्मचर्यादि व्रतों द्वारा पूर्ण आत्मसंयम को प्राप्त करना प्रत्येक व्यक्ति का मुख्य कर्त्तव्य है। तप अर्थात् शीतोष्ण, सुख दुःख, हानि लाभ, जय पराजय, शोक हर्ष, निंदा स्तुति, मान अपमानादि द्वंद्वों का सहन करना उस आत्म संयम की प्राप्ति में मुख्य साधन है, अतः उसका अनुष्ठान भी अवश्य ही करना चाहिए। अब वेदोक्त परिवारिक कर्त्तव्यों के विषय में थोड़ा सा विवेचन किया जाएगा।

वेदोक्त पारिवारिक कर्तव्य

इस विषय पर कुछ लिखने से पूर्व सामान्य तौर पर गृहस्थाश्रम के बारे में वेद में कैसा भाव रखा गया है और वेद के अनुसार स्त्रियों की स्थिति क्या है इन दो विषयों पर थोड़ा प्रकाश डालना अत्यावश्यक है। निम्नलिखित कुछ वेद मंत्रों पर यहां अच्छी प्रकार विचार करना चाहिए।

1. ऋ. 10। 95 का 27वां मंत्र इस प्रकार है–

गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः।
भगो अर्यमा सविता पुरन्धिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः।।

विवाह के समय वर वधू को कहता है (सौभगत्वाय) सौभाग्य की वृद्धि के लिए (ते हस्त) तेरे हाथ को (गृभ्णामि) ग्रहण करता हूं (मया पत्या) मुझ पति के साथ (यथा) जिससे तू (जरदष्टिः) वृद्धावस्था पर्यन्त जीने वाली (असः) हो (भगः) ऐश्वर्यशाली (अर्यमा) न्यायकारी (सविता) जगदुत्पादक (पुरन्धिः) अत्यंत बुद्धि वाला परमेश्वर तथा (देवाः) सब ज्ञानी लोग (त्वा) तुझे (मह्यम् अदुः) मेरे प्रति सौंप चुके हैं। तात्पर्य यह है कि वेद के अनुसार गृहस्थाश्रम मनुष्य के सौभाग्य की वृद्धि का एक प्रधान कारण है और पति पत्नी के संबंध को पाशविक वासनाओं के तृप्त करने का साधन नहीं अपितु उन दोनों को एक दूसरे की सहायता से उन्नति करने का परमेश्वर प्रेरित साधन समझते हुए व्यवहार करना चाहिए।

2. यजु. 3। 41। में इस विषयक निम्न मंत्र अत्युत्तम भावपूर्ण है–

गृहा मा बिभीत मा वेपध्वमूर्जं बिभ्रत एमसि।
ऊर्जं बिभ्रद्वः सुमनाः सुमेधा गृहानैमि मनसा मोदमानः।।

अर्थात् (गृहाः) हे गृहस्थी लोगो ! अथवा मेरे घर के संबंधियो ! (मा बिभीत) मत डरो (मा वेपध्वम्) मत कम्पायमान होवो–हमारे भविष्य जीवन के विषय में किसी

तरह की चिंता न करो क्योंकि हम (उर्जं बिभ्रतः) बल और अन्नादि धारण करते हुए (एमसि) आते हैं—गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते हैं। आगे वही ब्रह्मचर्य से द्वितीयाश्रम में प्रवेश करने वाला व्यक्ति कहता है कि मैं (मनसा) मन से (मोदमानः) प्रसन्न होता हुआ (सुमनाः) उत्तम मन वाला (सुमेधाः) उत्तम बुद्धि वाला और (उर्जं) बल को (बिभ्रद्) धारण करता हुआ (वः) तुम्हारे (गृहान्) घरों को (एमि) आता हूं। तात्पर्य यह है कि जो ब्रह्मचर्य आश्रम में अपने मन, बुद्धि, शरीर आदि की शक्तियों को बढ़ाते हुए उन्हें पवित्र बनाते हुए गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है वही सुखमय जीवन गृहस्थाश्रम में व्यतीत कर सकता है नहीं तो आदमी चिंताओं के कारण प्रतिदिन क्षीण होता चला जाता है। अतः गृहस्थाश्रम को स्वर्गधाम और नरकधाम बनाना मनुष्य के अपने ही हाथों में है।

3. अथर्ववेद 7। 60। 1 में इस विषय का बहुत ही उत्तम शब्दों में प्रतिपादन किया गया है—

उर्जं बिभ्रद् वसुवनिः सुमेधा अघोरेण चक्षुसा मित्रियेण।
गृहानैमि सुमना वंदमानो रमध्वं मा बिभीत मत्।।

अर्थात् मैं (उर्जं बिभ्रद्) बल धारण करता हुआ (वसुवनिः) ऐश्वर्य का सेवन करने वाला (वन षण-संभक्तौ) (सुमेधाः) अच्छी बुद्धि वाला (अघोरेण) सौम्य (मित्रियेण चक्षुषा) मित्र दृष्टि से संपन्न होता हुआ (सुमनाः) उत्तम मन से युक्त (वंदमानः) वृद्ध पूज्य लोगों को नमस्कार करता हुआ (गृहान् एमि) घरों में आता हूं, गृस्थाश्रम में प्रवेश करता हूं (रमध्वम्) तुम सब खुशी मनाओ (मत्) मेरे से (मा बिभीत) न डरो। यह ब्रह्मचर्य से गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने वाले के मुंह से वेद में कहाया गया है। जो लोग गृहस्थाश्रम को नरक धाम अथवा दुःख का मूल समझते हैं उन्हें इस प्रकार के वैदिक आशयों पर अवश्य ध्यान देना चाहिए। इसी सूक्त के दूसरे मंत्र में स्पष्ट ही—'इमे गृहा मयो भुवः'

ये शब्द आए हैं जिनका अर्थ यह है कि घर सुख देने वाले हैं, दूसरे शब्दों में गृहस्थाश्रम स्वर्ग का धाम है, किंतु इस स्थापना के साथ एक शर्त लगी हुई है कि जब मनुष्य बल, धन, मेधा, मित्र दृष्टि, उत्तम मन, नम्रता इन सबको धारण करते हुए ब्रह्मचर्य से गृहस्थ में प्रवेश करे तभी गृहस्थाश्रम स्वर्ग का धाम है, अन्यथा उसके नरक धाम होने में अणु मात्र भी संदेह नहीं। अब स्त्रियों की स्थिति विषयक प्रश्न पर वैदिक दृष्टि से थोड़ा सा विचार करना है। इस विषय में निम्नलिखित वेदमंत्र विशेष मनन के योग्य हैं—

1. **चोदयित्री सूनृतानां चेतन्ती सुमतीनाम्।**
   यज्ञं दधे सरस्वती।। ऋ. 1। 3। 11

अर्थात् (सूनृतानाम्) मधुर और सत्य वचनों की (चोदयित्री) प्रेरणा करने वाली

(सुमतीनां चेतन्ती) उत्तम मति या सलाह को देने वाली (सरस्वती) विदुषी[1] स्त्री (यज्ञं) शुभ कर्म को (दधे) धारण करती है अथवा अग्निहोत्रादि का अनुष्ठान करती है। इस मंत्र में निम्नलिखित बातें कही हैं–

1. मधुर और सत्य वचन स्वयं बोलना और दूसरों को भी वैसा ही करने की प्रेरणा करना।

2. अपने पति तथा दूसरे लोगों को उत्तम सलाह देना। और

3. यज्ञादि का अनुष्ठान करना यह देवियों का धर्म है।

इस धर्म का पालन करने वाली जो सरस्वती अर्थात् विदुषी स्त्री होती है उसकी सब पूजा करते हैं, इस भाव को ऋ. 10। 17। 7 में इस प्रकार प्रकट किया गया है–

2. **सरस्वतीं देवयंतो हवंते, सरस्वतीमध्वरे तायमाने।**
सरस्वतीं सुकृतो अह्वयंत, सरस्वती दाशुषे वार्यं दात्।।

अर्थात (देवयंतः) दिव्य शुभ गुणों की इच्छा करने वाले पुरुष (सरस्वतीं) विद्यावती देवी की (हवंते) पूजा करते हैं, (अध्वरे) अहिंसात्मक शुभ कर्म के (तायमाने) विस्तृत होने पर पुरुष (सरस्वतीं हवंते) विदुषी स्त्री को निमंत्रण देते हैं। (सुकृतः) उत्तम कार्य करने वाले सब सज्जन (सरस्वतीं) विदुषी देवी को सहायता के लिए (अह्वयंत) बुलाते हैं और इस प्रकार (दाशुषे) सत्कारपूर्वक निमंत्रण देने वाले पुरुष के लिए (सरस्वतीं) विदुषी स्त्री (वार्यं) उत्तम ज्ञान अथवा सलाह (दात्) देती हैं। इस मंत्र के अंदर प्रत्येक शुभ कर्म करते हुए विदुषी देवियों की सलाह ले लेना और उनकी पूजा करना आवश्यक है यह भाव सूचित किया गया है।

यत्र नार्यस्तु पूज्ययते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः।। मनु. 3। 56।।

मनु महाराज के इस वचन को यहां स्मरण करना चाहिए।

3. यजु. अ. 8 में जिसकी पत्नी देवता है स्त्रियों के विषय में निम्न मंत्र आया है, जो बहुत ही उत्तम है–

इडे रन्ते हव्ये काम्ये चन्द्रे ज्योतेऽदिते सरस्वति महि विश्रुति।
एता ते अघ्न्ये नामानि देवेभ्यो मा सुकृतं ब्रूतात्।।

यजु. 8। 43

अर्थात् (इडे) हे प्रशंसित गुण युक्त (रन्ते) रमणीय (हव्ये) पूज्य (काम्ये) कामना करने योग्य (चन्द्रे) आह्लादित करने वाली (ज्योते) घर में ज्योति के समान प्रकाशमान (अदिते) दीनता और दुर्बलता के भावों से रहित (सरस्वति) सर अथवा प्रवाह परंपरा

1. सृ गतौ धातु से सरस्वती शब्द बनता है। गति के ज्ञान गमन और प्राप्ति ये तीनों अर्थ होते हैं, अतः सरस्वती का ज्ञानवती या विदुषी यह अर्थ स्पष्ट है। इस विषयक विस्तृत विवेचन लेखक की 'स्त्रियों का वेदाध्ययन और वैदिक कर्मकांड में अधिकार' नामक सार्वदेशिक सभा, देहली द्वारा प्रकाशित पुस्तक में किया गया है। मूल्य 25।)

से जो जो श्रेष्ठ ज्ञान चला आता है उसको प्राप्त करने वाली विदुषी (महि) महान उदार भावों से युक्त (विश्रुति) बहुत कुछ जिसने श्रवण किया हुआ है ऐसी हे बहुश्रुत देवी ! (अघ्न्ये) हे कभी न मारने व तिरस्कार करने योग्य देवी ! (ते) तेरे (एता) ये सब इडा रन्ता आदि (नामानि) नाम हैं अर्थात् इन सब ऊपर कहे हुए गुणों से तू संपन्न होने के कारण इडादि नामों से पुकारी जाती है। वह तू (देवेभ्यः) विद्वानों के लिए और (मा) मेरे लिए (सुकृतम्) जो शुभ कर्म है, उसका (ब्रूतात्) उपदेश कर। इस मंत्र की विशेष व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं। एक सच्ची देवी घर में ज्योति का काम देती है, हृदय में जिस समय अंधकार छा जाता है वही चन्द्र का काम करती है, जिस समय पुरुष के अंदर हीनता दुर्बलता के भावों का राज्य हो जाता है, तो वही सच्ची देवी अदिति के रूप में उसको उत्साह दिलाती है, जब पुरुष के अंदर संकुचित स्वार्थ भावों की प्रधानता होने लगती है, तो सच्ची देवी उदार भावों का वहां प्रवेश कराती है, अपने ज्ञान के प्रकाश से वह संपूर्ण अंधकार को दूर भगाकर पुरुष को सदा धर्म के मार्ग में प्रेरित करती है, इसीलिए ऐसी विदुषी देवी की सदा पूजा करनी चाहिए, उसके उत्तम गुणों की सदा प्रशंसा करनी चाहिए, ताकि उत्तम सुख की प्राप्ति हो सके। यह भाव है जो यजुर्वेद के उपर्युक्त मंत्र में स्पष्ट रूप से प्रकट किया गया है। मैं पूछता हूं कि क्या देवियों के विषय में इतना उत्तम और पवित्र भाव किसी दूसरे धर्म ग्रंथ में पाया जाता है ? क्या सभ्य से सभ्य आधुनिक पुरुषों के ग्रंथों में भी कहीं देवियों के विषय में इतने ऊंचे भाव का प्रकाश किया गया है ? यदि नहीं तो सामाजिक विकासवाद के सिद्धांत को मानते हुए वेदों को जंगलियों के गीत बतलाना कितना पक्षपातपूर्ण और सारहीन है यह स्वयं बुद्धिमान् विचार कर सकते हैं।

4. अथर्ववेद का 14वां काण्ड सारा ही गृहस्थाश्रम विषयक है जिसमें पति पत्नी संबंध और कर्तव्य विषय में बहुत उत्तम उपदेश पाए जाते हैं, उनमें से दो तीन ऐसे मंत्रों का यहां उल्लेख किया जाएगा जिनसे यह स्पष्ट है कि देवियों को अपने पतियों के प्रत्येक धार्मिक कार्य में सहयोग देना चाहिए और इसके लिए उत्तम ज्ञान का संपादन करना चाहिए।

अथर्ववेद 14। 1। 42 इस प्रकार है–

आशासाना सौमनसं प्रज्ञां सौभाग्यं रयिम्।
पत्युरनुव्रता संनह्यस्वामृताय कम्।।

अर्थ–हे देवि (सौमनसम्) उत्तम मन (प्रजाम्) उत्तम संतान (सौभाग्यम् रयिम्) उत्तम भाग्य ऐश्वर्य इन सबकी (आशासाना) इच्छा करती हुई तू (पत्युः) पति के (अनुव्रता भूत्वा) अनुकूल शुभ कर्म करने वाली होकर (अमृताय) अमृतत्व की प्राप्ति के लिए (कम्) सुख को (संनह्यस्व) बांध अथवा संपादन कर। अनव्रता होने का तात्पर्य यह है कि पति का जो अध्यापन प्रचारादि परोपकारार्थ उत्तम कर्म है उसमें सहयोग

देना अर्थात् कन्याओं को पढ़ाने और स्त्रियों के अंदर प्रचार करने का कार्य अपनी इच्छा से लेकर पति की शुभ भावनाओं को पूर्ण करने में सहायता देना यह प्रत्येक पतिव्रता देवी का मुख्य धर्म है। इस धर्म का पालन करने से न केवल इस लोक और परलोक में ही सुख मिलता है, बल्कि पूर्णानंद रूप मोक्ष की भी प्राप्ति हो सकती है; यह भाव यहां सूचित किया गया है।

5. अपने पति, सास, सुसर आदि को सुख देना तथा घर के सब कार्यों को अच्छी प्रकार करना यह तो देवियों का धर्म है ही, किंतु इतने में ही उनके कर्त्तव्य की इतिश्री नहीं हो जाती, सारी प्रजा का कल्याण करना यह भी उनके कर्त्तव्य के अंतर्गत है इस बात को समझने के लिए अथर्ववेद का निम्नलिखित मंत्र विशेष विचारणीय है–

स्योना भव श्वशुरेभ्यः स्योना पत्ये गृहेभ्यः।
स्योनास्यै सर्वस्यै विशे स्योना पुष्टायैषां भव।।

अ. 14। 2। 27

अर्थात् हे देवि (श्वशुरेभ्यः) श्वशुर आदि वृद्ध पुरुषों के लिए (स्योना) सुख देने वाली (भव) हो (पत्ये) पति के लिए और (गृहेभ्यः) घर वालों के लिए (स्योना) सुख देने वाली हो (अस्यै) इस (सर्वस्यै) सारी (विशे) प्रजा के लिए (स्योना) तू सुख देने वाली हो (एषाम्) इन सब पुरुषों की (पुष्टाय) पुष्टि अथवा उन्नति के लिए (स्योना भव) तू सुख देने वाली हो। इस मंत्र के पूर्वार्ध में अपने घर के सब संबंधियों को सुख देना स्त्री का कर्तव्य बताते हुए उत्तरार्ध में सारी प्रजा का कल्याण करना और पुरुषों की उन्नति में सहायता देना यह भी देवियों का कर्तव्य बतलाया गया है, वह अत्यंत महत्वपूर्ण है और उससे उन लोगों के मत का समर्थन नहीं होता, जो केवल घर का कार्य भली प्रकार करना ही देवियों का धर्म है, घर से बाहर कार्य क्षेत्र में उन्हें उतरने की आवश्यकता नहीं, ऐसा कहते हैं, क्योंकि बिना सामाजिक अथवा राष्ट्रीय काम किए देवियां कभी सारी प्रजा का कल्याण नहीं कर सकतीं, जैसी कि इस मंत्र में उन्हें आज्ञा दी गई है।

6. प्रत्येक शुभ कर्म को करते हुए पत्नी की अनुमति लेना वेद में आवश्यक माना गया है। महाभारत आदि पर्व अ. 74 में कहा है–

"अर्ध भार्या मनुष्यस्य भार्या श्रेष्ठतमः सखाः।

अर्थात् पत्नी पुरुष के आधे शरीर के समान और वही सबसे श्रेष्ठ मित्र है, इसी भाव को वेद में अनेक स्थानों पर सूचित किया गया है, उदाहरणार्थ अथर्ववेद 7। 20। 5 में कहा है–

"एमं यज्ञमनुमतिर्जगाम सु क्षेत्रतायै सुवीरतायै सुजातम्।
भद्रा ह्यस्य प्रमतिर्बभूव सेमं यज्ञमवतु देव गोपा।।

यहां इसी भाव को प्रकट करने के लिए कि विवाह संबंध निश्चित करने और

अन्य कोई भी कार्य प्रारंभ करने के लिए पत्नी की अनुमति लेना आवश्यक है, उसे अनुमति नाम से पुकारा गया है। मंत्र का अर्थ यह है कि (अनुमतिः) जिसकी अनुमति आवश्यक है ऐसी यह देवी (इम यज्ञम्) इस विवाह यज्ञ को करने के लिए (आजगाम) आई है। यह यज्ञ कैसा है किस उद्देश्य से विवाह यज्ञ रचा गया है, (सुक्षेत्रतायै) उत्तम संतान के लिए एक क्षेत्र तैयार करने और (सुवीरतायै) उत्तम वीर पुत्रों की उत्पत्ति के लिए (सुजातम्) सुप्रसिद्ध बनाया गया (अस्याः) इस देवी की (प्रमतिः) उत्तम बुद्धि (हि) निश्चय से (भद्रा प्रबभूव) कल्याणकारक है (सा) वह (देव-गोपा) परमात्म देव जिसके रक्षक हैं अथवा देवशुभ गुणों की रक्षा करने वाली यह देवी (इमं यज्ञम्) इस यज्ञ की (अवतु) रक्षा करे। यहां क्षेत्रादि की उपमा देकर विवाह यज्ञ का एक मुख्य प्रयोजन उत्तम वीर संतान का उत्पन्न करना है, यह भाव सूचित किया गया है। साथ ही जहां इस प्रकार एक दूसरे की प्रसन्नता से विवाह नहीं होता वहां उत्तम संतान भी उत्पन्न नहीं हो सकती, इस बात का निर्देश कर दिया गया है। वर वधू दोनों की पूर्ण प्रसन्नता से ही विवाह होना चाहिए इस बात पर जोर देते हुए वेदों में सैकड़ों स्थानों पर

सूर्या यत्पत्ये शंसन्तीम्	ऋ. 10। 85। 9 तथा अ. 14। 1। 9
मोदमानौ स्वे गृहे	ऋ. 1। 5
आ रोह तल्पं सुमनस्यमाना	अ. 14। 2। 31
परिष्वजस्व जायां सुमनस्यमानः	अ. 14। 2। 39
हसामुदौ महसां मोदमानौ	अ. 14। 2। 43

इत्यादि शब्द आए हैं। जिसमें परस्पर प्रसन्नतापूर्वक विवाह करने तथा गृहस्थ के व्यवहार करने का स्पष्ट उपदेश है। जहां इस वेद की आज्ञा का पालन नहीं होता और वर वधू को एक दूसरे की अनुमति लिए बिना नाइयों या पुरोहितों द्वारा ऐसे ही कहीं से पकड़ कर बांध दिया जाता है, वहां क्या परिणाम होता है इस विषय में मनु महाराज ने ठीक कहा है कि—

यदि हि स्त्री न रोचेत, पुमांसं न प्ररोचयेत्।
अप्रमोदात्पुनः पुंसः प्रजनं न प्रवर्तते।।

3। 61

अर्थात् यदि स्त्री प्रसन्न न रहे और पति को प्रसन्न न करे तो प्रसन्नता न होने से पुरुष में काम की उत्पत्ति व संतानोत्पादन सामर्थ्य नहीं होता।

इसलिए वेदों में सर्वत्र विवाह संबंध का निश्चय माता पिता आदि पर न छोड़ कर विवाहार्थी युवक पुरुष और युति कन्या पर छोड़ा गया है। इस स्थापना की पुष्टि के लिए निम्नलिखित कुछ प्रमाण पेश करना पर्याप्त है—

1. ऋ 10। 183 में युवती कन्या युवा अविवाहित पुरुष को इस प्रकार कहती है—

अपश्यं त्वा मनसा चेकितानं तपसो जातं तपसो विभूतम्।
इह प्रजामिह रयिं रराणः प्रजायस्व प्रजया पुत्रकाम।।

अर्थात् (पुत्र काम) गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर के पुत्र की कामना करने वाले युवक मैंने (मनसा) मन से (चेकितानं) जानने वाले अथवा मुझे चाहने वाले (तपसः जातम्) सादगी में पले हुए और (तपसः विभूतम्) तप की विभूति से युक्त (त्वा) तुझ ब्रह्मचारी को (अपश्यम्) देखा है (इह) यहां (प्रजां) संतान और (इह) यहां गृहस्थाश्रम में (रथिं) ऐश्वर्य को लेकर (रराणः) रमण करता हुआ तू (प्रजया) प्रजा के साथ (प्रजायस्व) फिर उत्पन्न हो अथवा वृद्धि को प्राप्त हो।

आत्मा वै पुत्र नामासि। शत. 14 । 9 । 4 । 26

के अंदर जो भाव है कि मानो पिता ही पुत्र के अंदर प्रवेश करता है, वही यहां 'प्रजया प्रजायस्व' का भाव है। 'तपसो जातं तपसो विभूतम्' ये शब्द स्पष्ट उस युवक के ब्रह्मचर्य व्रत समाप्त करने की सूचना देते हैं। इस प्रकार अपने गुणकर्मानुसार किसी युवक ब्रह्मचारी को कन्या पसंद कर लेती है, तो वह भी उसके गुण कर्म स्वभाव को सर्वथा अनुकूल पाकर कन्या से कहता है–

अपश्यं त्वा मनसा दीध्यानां स्वानां तनू ऋत्व्ये नाधमानाम्।
उपमामुच्चा युवतिर्बभूयाः प्रजायस्व प्रजाया पुत्रकामे।

ऋ. 10 । 183 । 2

अर्थात् (पुत्रकामे) हे पुत्र की कामना करने वाली कुमारि ! (मनसा) मन से (दीध्यानां) मेरा ध्यान करती हुई (स्वायां तनू) अपने शरीर को (ऋत्व्ये) ऋतु गामी होकर गर्भाधान के लिए (नाधमानाम्) प्रार्थना करती हुई व गर्भाधान की इच्छा करती हुई (त्वा) तुझको (अपश्यम्) मैंने देखा है (उच्चा) उच्च भाव युक्त (युवतिः) युवावस्था वाली तू (माम् उप बभूयाः) मेरे समीप आ अथवा मेरे साथ विवाह संबंध कर और फिर (प्रजया) प्रजा के साथ (प्रजायस्व) वृद्धि को प्राप्त हो। यहां भी 'मनसा दीध्यानाम्। अपश्यम् युवतिः' इत्यादि शब्दों से यह बात बिलकुल स्पष्ट प्रकट होती है कि विवाह युवावस्था में और वर वधू की अपनी ही प्रसन्नता से होना चाहिए। माता पिता आदि से केवल अनुमति ले लेना पर्याप्त है। जहां इस प्रकार वर वधू एक दूसरे का चुनाव करते हैं, वहीं सच्चा स्थायी प्रेम रह सकता है, अन्यत्र नहीं। इस बात को देखिए ऋग्वेद के निम्नलिखित मंत्र में कितनी स्पष्ट रीति से बताया है–

कियती योषा मर्यतो वधूयोः परि प्रीता पन्यसा वार्येण।
भद्रा वधूर्भवति यत्सुपेशा, स्वयं सामित्रं वनुते जने चित्।।

ऋ. 10 । 27 । 12

अर्थात् (पन्यसा वार्येण) प्रशंसनीय श्रेष्ठ गुणों से युक्त (वधूयोः) स्त्री की कामना करने वाले (मर्यतः) मनुष्य के लिए (कियती योषाः) कैसी स्त्री (परि प्रीता भवति) अनुकूल होती है–कैसी स्त्री को एक गुणी पुरुष पसंद करता है (यत्) जो (सुपेशाः)

सुंदर रूप वाली (भद्रा) कल्याण और सुख देने वाली (वधूः) स्त्री (जने चित्) मनुष्यों के अंदर से स्वयं अपने आप (मित्रं) अनुकूल मित्र अथवा साथी को (वनुते) चुनती है और चुनकर उसकी सेवा करती है।

इस विषय में अधिक प्रमाण देने की कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि विवाह के मंत्रों में 'सुमनस्यमानौ मोदमानौ' आदि शब्द इसी प्रकार की सूचना देने वाले हैं।

विवाहित पति पत्नी का परस्पर कितना प्रेम होना चाहिए इस बात की शिक्षा अथर्व में उन दोनों के मुख से—

''अन्तः कृष्णुष्व मां हृदि, मन इन्नौ सहासति''

(अथर्व. 7 ।35 ।4)

तथा—

''ममेदसस्त्वं केवलो नान्यासां कीर्तयाश्चन''

(अथर्व 7। 38। 4)

इत्यादि वचन कहला कर दी है जिनका अर्थ यह है कि हे वधु (मां) मुझको (हृदि अंतः कृणुष्व) अपने हृदय के अंदर बैठा ले (नौ) हम दोनों का (मनः इत्) मन तक भी (सहअसति) इकट्ठा एक हो जाए। दूसरे में वधू वर को कहती है (त्वं) तू (केवलः) केवल (मम इत्) मेरा ही होकर (असः) रह (अन्यासाम्) अन्य स्त्रियों की (कीर्तयाः चन न) चर्चा तक न कर। पतिव्रता धर्म और पत्नी व्रत धर्म का यह कितना सुंदर उपदेश है। पत्नी के कर्त्तव्यों का बड़ा सुंदर उपदेश वेद में निम्न सारगर्भित शब्दों द्वारा किया गया है, मृदुर्निम्युः केवली प्रियवादिन्यनुव्रता।। अर्थात् हे देवि ! तुम (मृदु) कोमल स्वभाव की (निमन्युः) क्रोध रहित (केवली) पतिव्रता (प्रियवादिनी) सदा प्रिय वचन बोलने वाली और (अनुव्रता) पति के अनुकूल होकर शुभ कार्यों में सहायता देने वाली बनो। अथर्व. 14। 2। 64 में इस पति पत्नी प्रेम के भाव को स्पष्ट करने के लिए चक्रवाक चक्रवाकी अथवा चकवा चकवी की उपमा दी गई है, जो अत्यंत महत्वपूर्ण है। इससे एक पत्नी व्रत का भाव बहुत ही स्पष्ट हो जाता है, क्योंकि चकवा चकवी का प्रेम और पत्नी पति व्रत बहुत ही प्रसिद्ध है। मंत्र इस प्रकार है—

''इहेमाविन्द्र संनुद चक्रवाकेव दंपती।
प्रजयैनौ स्वस्तकौ विश्वमायुर्व्यश्नुताम्।।

अथ. 14। 2। 64

अथर्व. 3। 30 में पारिवारिक कर्तव्यों का एक संक्षिप्त किंतु अत्युत्तम वर्णन आया है, वहां पुत्र का पिता माता के प्रति कैसा व्यवहार होना चाहिए तथा भ्राता, भगिनी, पति पत्नी का कैसा संबंध होना चाहिए, इस विषय में कहा है—

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम्।।2।।

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया।।3।।

जिनका तात्पर्य यह है कि (पुत्रः) पुत्र (पितुः) पिता के (अनुव्रतः) अनुकूल धर्म करने वाला हो, (मात्रा) माता के साथ पुत्र (संमना) समान मन वाला (भवतु) होवे, (जाया) पत्नी (पत्ये) अपने पति के लिए (शन्तिवाम्) शांति देने वाली (मधुमतीं) अत्यंत मधुर मानो जिस में शहद लगा हुआ हो ऐसी (वाच) वाणी को (वदतु) बोले। यहां पहले चरण का आशय विशेष ध्यान में रखने योग्य है, उसका अर्थ यह है कि यदि पिता ने कोई परोपकारार्थ शुभ कर्म प्रारंभ किया था, तो उसको पूरा कराना यह पुत्र का मुख्य कर्तव्य है। व्रत का अर्थ ही शुभ कर्म है, अतः पिता के हर एक काम का पुत्र को अनुसरण करना चाहिए, यह भाव यहां नहीं है, किंतु अच्छे कामों को पूर्ण करने में सहयोग देने से यहां मतलब है मनु के–

येनास्य पितरो याता येन याताः पितामहाः।
तेन यायात्सतां मार्गं, तेन गच्छन्न रिष्यति।।

इस श्लोक का भी ऊपर कहा हुआ ही आशय है। भाइयों का भी ऐसा ही परस्पर प्रेम और मेल जोल होना चाहिए और उन्हें मिलकर एक दूसरे के शुभ संकल्पों के पूर्ण करने और अच्छे उद्देश्य की प्राप्ति के लिए सदा यत्न करना चाहिए यह सम्यञ्चः और सव्रता शब्दों से प्रकट होता है, जिसका अर्थ मिलकर एक उद्देश्य की सिद्धि के लिए यत्न करते हुए और समान शुभ कर्म वाले ऐसा है। जिस प्रकार पति के साथ मधुर वाणी बोलना पत्नी का कर्तव्य है उसी तरह पत्नी के साथ मधुर शब्द बोलना पति का भी कर्तव्य है इस बात को अथर्व. 14।1।31 में स्पष्ट सूचित किया गया है। यथा–

युवं भगं संभरतं समृद्धमृतं वदंतावृतोद्येषु।
ब्रह्मणस्पते पतिमस्यै रोचय चारु संभलो वदतु वाचमेताम्।।

अर्थात् (युवं) तुम दोनों वर वधु (समृद्धम्) सदा बढ़ने वाले (भगं) ऐश्वर्य को (सं भरतम्) पूर्ण करो-भरो, क्या करते हुए। (ऋतोद्येषु) सत्य से कथन करने योग्य व्यवहारों में (ऋत बदन्तौ) सत्य भाषण करते हुए (ब्रह्मणस्पते) हे ज्ञान के स्वामी जगदीश्वर ! (अस्यै) इस वधू के लिए (पतिम्) पति को सदा (रोचय) अनुकूल एक ही रुचि वाला बना, जिससे (संभलः) अच्छी प्रकार भार्या का भरण पोषण करता हुआ वह (एताम्) इस (चारुवाचम्) सुंदर मधुर वाणी को (वदतु) बोले। मंत्र के पूर्वार्ध में सत्य भाषण और सत्य व्यवहार करते हुए सच्चरित्रता के साथ जो वर वधू को ऐश्वर्य कमाने का उपदेश है वह बहुत भावपूर्ण है। उससे वैदिक आशय की उच्चता और गंभीरता पर प्रकाश पड़ सकता है। इस विषय में अभी बहुत कुछ लिखा जा सकता है, किंतु विस्तार के भय से एक आध और आवश्यक बात कहकर इस प्रकरण को समाप्त किया जाता है।

अतिथि सत्कारादि के बारे में वेद में अत्युत्तम उपदेश पाए जाते हैं। विद्वानों का सब प्रकार से सत्कार करना यह सब गृहस्थियों का मुख्य कर्तव्य है। ऋ. 1। 125 में इस विषय में बड़ा उग्रतर उपदेश है। अंतिम मंत्र में कहा है—

मा पृणन्तो दुरितमेन आरन्मा जारिषुः सूरयः सुव्रतासः।
अन्यस्त्वेषां परिधिरस्तु कश्चिदपृणन्तमभि संयन्तु शोकाः।

ऋ. 1। 125। 7

अर्थात् (पृणन्तः) अतिथियों और विद्वानों को अन्नादि से सत्कार करने वाले (दुरितमेन) दुःखमय मार्ग से (मा आग्न्) न जाएं, कभी दुःखी न हों। (सुव्रताः) शुभ कर्म करने वाले (सूरयः) विद्वान् (मा जारिषु) कभी न नष्ट होवें (तेषाम) उनका (अन्यः कश्चित्) कोई दूसरा (परिधिः अस्तु) धारण करने वाला हो (अपृणंतम्) अतिथि सत्कारादि न करने वाले कृपण को (शोकः) शोक (अभि संयन्तु) प्राप्त होवें। इस विषयक अन्य कुछ मंत्रों को हम फिर लिखेंगे। यहां इस प्रकरण को विस्तार भय से समाप्त किया जाता है।

तृतीय परिच्छेद

यज्ञ

द्वितीय अध्याय में संक्षेप से वेदोक्त वैयक्तिक और पारिवारिक कर्तव्यों का वर्णन किया जा चुका है। इस अध्याय में सामाजिक और राष्ट्रीय कर्तव्यों के विषय में वेद क्या कहता है इस विषय का दिग्दर्शन कराना है। अनेक वेदज्ञ विद्वानों ने अपने ग्रंथों में इस आवश्यक विषय का उचित रीति से निरूपण किया है। अतः हमें विस्तार करने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती।

सूक्ष्म रीति से वेदोक्त सामाजिक और राष्ट्रीय कर्तव्यों का विचार किया जाए तो मालूम हो जाएगा कि यज्ञ शब्द के अंदर प्रायः सब सामाजिक कर्तव्यों का अंतर्भाव हो जाता है। केवल वेद में ही नहीं, प्रायः सभी प्राचीन संस्कृत ग्रंथों में यज्ञ की जो इतनी महिमा गाई गई है उसमें कुछ विशेष कारण होना चाहिए। यह बात स्पष्ट है कि अग्नि के अंदर सामग्री और घृत डालने का नाम ही वेदादि में यज्ञ नहीं है, इसका अत्यंत व्यापक अर्थ है। भगवद्गीता के अंदर यज्ञ की व्याख्या करते हुए श्री कृष्ण भगवान् ने स्पष्ट बताया है कि–

द्रव्ययज्ञास्तपो यज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः।।

भ. गी. 4। 28

अर्थात् व्रतधारी जितेन्द्रिय पुरुषों में से कई द्रव्ययज्ञ करने वाले होते हैं, कई शीतोष्णादि द्वंद्व सहन रूप तपोयज्ञ का अनुष्ठान करते हैं, कई चित्तवृत्ति संयम रूपी योग यज्ञ करते हैं और अन्य कई स्वाध्याय और ज्ञान यज्ञ का अनुष्ठान करते हैं। कृष्ण भगवान् ने गीता में अर्जुन को यह भी उपेदश दिया है कि निःसंदेह अच्छे या बुरे जितने भी कर्म किए जाते हैं वे जन्ममरण के चक्र में आदमी को डालने वाले होते हैं पर यज्ञ के लिए जो कर्म किया जाता है वह बंधन में नहीं डालता, अतः तुम यज्ञ के निमित्त से ही सदा कर्म किया करो।

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबंधनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर।।

भ. गी. 3। 8

इससे स्पष्ट है कि श्रीकृष्ण का अभिप्राय केवल प्राकृतिक द्रव्यमय यज्ञ से

नहीं किंतु परोपकार के लिए निष्काम भाव से जितने भी शुभ कर्म किए जाते हैं उन सबको यहां यज्ञ के नाम से पुकारा गया है। यज्ञ विषय का मुख्यतः प्रतिपादन करने वाले यजुर्वेद के प्रथम ही मंत्र में–

देवो वः सविता पार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे।

ये जो शब्द आए हैं वे स्पष्ट तौर पर यज्ञ का अर्थ श्रेष्ठतम कर्म है इस बात की सूचना देते हैं। ब्राह्मण ग्रंथों में भी अनेक स्थानों पर प्रत्येक शुभ कर्म के लिए यज्ञ शब्द का प्रयोग किया गया है। उदाहरणार्थ शतपथ ब्राह्मण 1। 7। 3। 5 में लिखा है 'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्मा' तैत्तिरीय संहिता में 3। 2। 1। 4 में लिखा है' 'यतो हि श्रेष्ठतमं कर्म।' इसके अतिरिक्त क्यों कि 'नाम च धातुज महानिरुक्ते व्याकरणे शकटस्य च तोकम्' इस सिद्धांत के अनुसार सब वैदिक शब्द यौगिक हैं, यहां यज्ञ शब्द के धात्वर्थ पर थोड़ा सा विचार करना अनुचित न होगा।

यज्ञ शब्द तज्-धातु से बनता है जिसका अर्थ धातुपाठ में देव पूजा संगतिकरण दान बताया गया है। वे देव लोग कौन हैं जिनकी पूजा करना यज्ञ का अंग माना गया है यह एक आवश्यक और कठिन प्रश्न हमारे सामने उपस्थित होता है। 'विद्वांसो हि देवाः' ऐसा शतपथादि ब्राह्मण ग्रंथों में यद्यपि लिखा है और भगवद्गीता के 16वें अध्याय में–

अभयं सत्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्।।

16। 1

इत्यादि श्लोकों द्वारा दैवी प्रकृति का स्पष्ट वर्णन किया गया है तो भी स्वयं वेद में आए हुए इस विषयक वर्णन का संक्षेप से निरूपण किए बिना हमें संतोष नहीं हो सकता। अतः वेद मंत्रों के आधार पर देव तथा उनकी प्रकृति पर थोड़ा सा यहां विचार किया जाता है। ऋ. 10म् मण्डल के 62-66 तक के सूक्त विश्वदेव-विषयक हैं, उनके आधार पर विचार करने में हमें बड़ा सुभीता रहेगा। 62वें सूक्त का प्रथम मंत्र इस प्रकार है–

1. **ये यज्ञेन दक्षिणया समक्ता इन्द्रस्य सख्यममृतत्वमानशुः।**
तेभ्यो भद्रमंगिरसो वो अस्तु प्रतिगृभ्णीत मानवं सुमेधसः।।

ऋ. 10। 62। 1

अर्थात् (ये) जो (यज्ञेन) यज्ञ और (दक्षिणया) दक्षिणा से (समक्ताः) संपन्न होकर (इंद्रस्य) परमेश्वर की (सख्यम्) मित्रता को और (अमृतत्वम्) मोक्ष को (आनशुः) प्राप्त होते हैं ऐसे (अंगिरसः) अग्नि के समान तेजस्वी (सुमेधसः) प्रतिभाशाली देवो! (वः) तुम्हारा (भद्रम अस्तु) सदा कल्याण हो तुम कृपा करके (मानवं) साधारण मनुष्यों को (प्रतिगृभ्णीत) अपनी संरक्षा में ग्रहण करो अर्थात् अपने उपदेश और संग से उसे उठाओ। इस मंत्र के अंदर देवों के निम्नलिखित गुण बताए गए हैं–

1. वे यज्ञ और दान के द्वारा परमेश्वर के साथ अपनी मित्रता करते हैं अर्थात् शुभकर्मों के अनुष्ठान द्वारा भगवान् को प्रसन्न करते और उसे अपना सहायक समझते हैं।

2. उसी भगवान् के आश्रय से वे अंत में इस शरीर का छोड़ने के पश्चात् मोक्ष प्राप्त करते हैं।

3. वे कर्तव्य अकर्तव्य का निश्चय करने वाली मेधा से संपन्न होते हैं।

4. वे परोपकार में तत्पर रहते हुए अपना और अन्यों का कल्याण करते हैं। इसी 62वे सूक्त का दूसरा मंत्र इस प्रकार है।

ये ऋतेन सूर्यमारोहयन् दिव्यप्रथयन् पृथिवीं मातरं वि।
सुप्रजास्त्वमंगिरसो वो अस्तु प्रतिगृभ्णीत मानवं सुमेधसः।।

ऋ. 10 । 62 । 3

अर्थात् (ये) जो (ऋतेन) सत्यभाषण सत्य व्यवहार अथवा ज्ञान के द्वारा (दिवी) आध्यात्मिक विज्ञान रूप प्रकाश में (सूर्यम्) आत्मिक अंधकार को दूर करने वाले परमेश्वर को (आरोहयन्) उदय कराते हैं–परमेश्वरीय दिव्य ज्योति का दर्शन करते हैं (ये) जो (पृथ्वी मातरम्) मातृभूमि अथवा उसके यश को (वि अप्रथयन्) विस्तृत करते हैं–मातृभूमि के मुख को उज्ज्वल करते हैं ऐसे (अंगिरसः) अग्नि के समान तेजस्वी देवो (वः) तुम्हारी (सुप्रजास्त्वम् अस्तु) उत्तम संतान हो और तुम कृपा करके (सुमेधसः) उत्तम मेधा से स्वयं युक्त होते हुए (मानवं प्रतिगृभ्णीत) मनुष्य मात्र को अपनी संरक्षा व शरण में ग्रहण करके उसे उन्नत करो। इस मंत्र में देवों के विषयों में मुख्य भाव यह हैं–

1. वे आत्मिक ज्योति को प्राप्त करके आंतरिक अंधकार को दूर करते हैं।

2. वे मातृभूमि के यश का विस्तार करते हैं।

3. वे स्वयं बुद्धि और ज्योति से संपन्न होकर मनुष्य मात्रा को उन्नत करने का यत्न करते हैं। इस विषय में यजु. अ. 3 का 33 वां मंत्र देखने योग्य है जो देवों का ऐसा वर्णन करता है–

ते हि पुत्रासो अदितेः प्रजीवसे मर्त्याय।
ज्योतिर्यच्छन्त्यजस्रम्।। य. 3 । 33

अर्थात् (ते) वे सब देव (अदितेः[1] पुत्रासः) स्वतंत्रता देवी के अथवा अदीन प्रभावशालिनी माता के पुत्र हैं, वे (हि) निश्चय से (मर्त्याय) मनुष्य के लिए (प्रजीवसे) उत्तम और दीर्घ जीवन व्यतीत करने के लिए (अजस्रम्) निरंतर (ज्योतिः यच्छंति) ज्योति–प्रकाश देते हैं। इस मंत्र में देवों विषय में कहा है कि 1–वे स्वतंत्रता देवी के पुत्र अर्थात् अत्यंत स्वतंत्रता प्रेमी हैं, 2. मनुष्य अच्छी रीति से देर तक जी सकें

---

1. अदीतिः–अदिना देवमाता। निरुक्त।

इसके लिए वे उन्हें उत्तम ज्ञान रूपी प्रकाश लगातार देते रहते हैं उससे भी देवों की परोपकारार्थ प्रवृत्ति स्पष्ट मालूम होती है।

4. देवों की प्रकृति समझने के लिए ऋ. 10। 66। 1 भी विशेष मनन के योग्य है, अतः उसका उल्लेख यहां अनुचित न होगा–

देवान् हुवे ब्रहच्छ्रवसः स्वस्तये ज्योतिष्कृतो अध्वरस्य प्रचेतसः।
ये वावृधुः प्रतरं विश्ववेदस इन्द्रज्येष्ठासो अमृता ऋतावृधः।।

अर्थात् (स्वस्तये) कल्याण के लिए (बृहच्छ्रवसः) बड़ी कीर्ति वाले यशस्वी (ज्योतिष्कृतः) प्रकाश करने वाले अज्ञानान्धकार को दूर करने वाले (अध्वरस्य) अहिंसामय व्यवहार का (प्रचेतसः) बोध कराने वाले (देवान् हुवे) ज्ञानियों को मैं निमंत्रण देता हूं। (ये) जो (ऋतावृधः) सदा सत्य का पक्ष पोषण करने वाले (विश्ववेदसः) संपूर्ण ऐश्वर्य व ज्ञान से युक्त (अमृताः) आत्मिक अनुभव के कारण अपने को अमर मानने वाले (इन्द्र ज्येष्ठाः) सर्वैश्वर्य युक्त परमात्मा को ही सबसे ज्येष्ठ अथवा बड़ा स्वीकार करने वाले देव (प्रतरं) अत्यंत उत्कृष्टता के साथ (बावृधुः) वृद्धि को प्राप्त करते अथवा उन्नति करते हैं। इस मंत्र में देवों की प्रकृति के विषय में निम्नलिखित बातें कहीं हैं–

1. देव अहिंसामय व्यवहार का बोध कराते हैं।
2. वे सदा सत्य का ही पक्ष लेते हैं।
3. स्वयं ज्ञानी होते हुए वे अन्यों को ज्ञान देते हैं। इन मंत्रों के अतिरिक्त दूसरे स्थानों पर देवों के जो विशेषणादि आए हैं अब उनका थोड़ा सा विचार करेंगे।

ऋ. 10। 63। 4 में देवों के लिए 'नृचक्षसः, अनिमिषन्तः, ज्योतिरथाः, अनागसः' ये शब्द आए हैं जिनके द्वारा देवों की प्रकृति के विषय में निम्न सूचना मिलती है-

1. नृचक्षसः–मनुष्यों के व्यवहार का अच्छी प्रकार निरीक्षण करने वाले और उन्हें शिक्षा देने वाले।

2. अनिमिषन्तः–कभी प्रमाद न करने का भाव इस शब्द के अंदर है। लोकहित में देव लोग कभी आलस्य प्रमाद नहीं करते यह तात्पर्य है।

3. ज्योतीरथाः–प्रकाश रूपी रथ पर देव लोग बैठते हैं अर्थात् आंतरिक ज्योति आत्मिक प्रकाश को प्राप्त करके सदा उसके आश्रय से वे सब कार्य करते हैं। रथ का अर्थ रमण करने वाला भी हो सकता है।

4. अनागसः–अपराध अथवा पाप रहित सदा धर्म मार्ग पर चलने वाले।

ऋ. 10। 63 में देवों के लिए 'प्रचेतसः' तथा 'विश्वस्य स्थातुर्जगतश्च मन्तवः' इन शब्दों का प्रयोग हुआ है। प्रचेतसः का अर्थ ज्ञानी स्पष्ट ही है। मन्तवः यह शब्द मन् धातु से बना है जिसका अर्थ मनन करना अथवा अच्छी प्रकार विचार करना है। वाक्य का अर्थ यह होगा कि जो (स्थायुः) स्थावर, (जगतः) जंगम (विश्वस्य) संपूर्ण जगत् के (मंतवः) हित का विचार करने वाले हैं।

ऋ. 10। 63। 12 में 'आरे देवा द्वेषो अस्मद् युयोतनोरुणः शर्म यच्छता स्वस्तये' ये शब्द आए हैं जिन में देवों से प्रार्थना है कि हे (देवाः) ज्ञानियो ! (द्वेषः) द्वेषभाव को (अस्मूद) हमारे से (आरे युयोतन) निकाल कर दूर फेंक दो और (स्वस्तये) कल्याण के लिए (नः) हमें (उरुशर्म यच्छत) बड़े उत्तम सुख का दान करो। इस प्रार्थना का स्पष्ट अभिप्राय है कि देव लोग किसी से द्वेष नहीं करते इसीलिए अनेक स्थानों पर अद्रुहः आदि शब्द आए हैं। अथर्ववेद में स्पष्ट ही–

येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः।

देवा इवामृतं रक्षमाणः सायं प्रातः सौमनसो वो अस्तु।।

आदि मंत्रों द्वारा देवों की अद्रोह–प्रेम की प्रकृति का वर्णन किया गया है। ऋ. 10। 64। 7 में देवों के विषय में कहा है 'ते हि देवस्य सवितुः सवीमनि क्रतुं सचन्ते सचितः सचेतसः।' जिसका अर्थ यह है कि (ते) वे देव (हि) निश्चय से (सवितुः देवस्य) सर्वोत्पादक जगदीश्वर की (सवीमनि) शरण में रहते हुए (सचितः) ज्ञान संपन्न और (सचेतसः) समान चित्त अर्थात् परस्पर प्रीति भाव को धारण करते हुए (क्रतुं सचन्ते) शुभ कर्म का अनुष्ठान करते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि सबके सब देव एक ही परमेश्वर की उपासना करते और परस्पर प्रेम भाव को धारण करते हुए परोपकार उत्तम कर्मों के अनुष्ठान में सदा तत्पर रहते हैं।

ऋ. 10। 65। 3 में देवों के लिए 'ऋतज्ञाः ऋतावृधः सुमित्र्याः' इन शब्दों का प्रयोग किया गया है जिन के अंदर निम्न भाव है–

1. देव ऋत अर्थात् सत्य अथवा अटल प्रकृति नियमों को जानने वाले हैं।

2. देव सत्य को जानते हुए उसी की सदा वृद्धि करते हैं वे सत्य के ही पक्षपाती हैं।

3. देव सब के साथ मित्रता धारण करते हैं उनकी मित्रता सच्ची होती है जिसका उद्देश्य दूसरों को उन्नति मार्ग पर चलाना है।

ऋ. 10। 65। 11 में 'आर्याव्रताविसृजन्तो अधिक्षमि' ये शब्द देवों के बारे में आए हैं जिनका तात्पर्य यह है कि 1. देव लोग आर्य अर्थात् अत्यंत श्रेष्ठ सदाचारी हैं।

2. देव (अधिक्षमि) पृथ्वी पर (व्रता विसृजन्तः) उत्तम सत्य भाषाणदि व्रतों का विशेषरूप से पालन करने वाले हैं।

मंत्र 14 में देवों को 'अमृता ऋतज्ञाः, मनोर्यजत्राः रातिषाच; अभिषाचः, स्वर्विदः' इन शब्दों से पुकारा गया है। पहले दो की व्याख्या हो चुकी है शेष का अर्थ इस प्रकार है–

मनोः यजत्राः' = मनुष्य मात्र के पूजनीय।

गातिषाचः = दानी (रा-दाने)

अभिषाचः = सज्जनो के साथ अच्छी प्रकार

मिलने वाले (षच-समवाये)

स्वर्विदः = सुख किस प्रकार प्राप्त हो सकता है इस बात को जानने वाले।

इन सब विशेषणों पर विचार करना चाहिए।

ऋ. 10। 67। 2 में देवों के लिए 'ऋतं शंसन्तः, ऋजु दीध्यानाः, दिवस्पुत्रासा असुरस्य वीराः।। ये शब्द आए हैं, जिनका भाव यह है कि (1) देव लोग सदा सत्य का उपदेश करते हैं, (2) कुटिलता का परित्याग करके वे ऋजु अर्थात् सरल मार्ग का ही सदा निरंतर ध्यान रखते हैं, (3) वे प्रकाश के पुत्र हैं और स्वार्थ भाव रूपी असुर के वीर अर्थात् मारने वाले हैं। प्रकाश पुत्र से अभिप्राय आत्मिक ज्योति और विद्यारूपी प्रकाश से मालूम होता है।

ऋग्वेद प्रथम मण्डल के तृतीय सूक्त के सातवें मंत्र में देवों के विषय में निम्नलिखित शब्द आए हैं–

''ओमासश्चर्षणीधृतो विश्वेदेवास आगत।
दाश्वांसो दाशुषः सुतम्।।''

इस मंत्र में कहा है कि देव लोग (ओमासः) सबकी रक्षा करने वाले होते हैं (अव-रक्षणे) (2) देव लोग चर्षणीधृत अर्थात् सब मनुष्यों का धारण करने वाले होते हैं। चर्षणी का अर्थ मनुष्य निरुक्त में दिया ही है।

3. देव (दा-श्वांसः) दानशील होते हैं। देवों के ये तीन गुण भी ध्यान में रखने योग्य हैं। ऋ. 1। 3। 5 में 'विश्वे-देवासो अप्तुरः सुतमागन्त तूर्णयः।' ये शब्द आते हैं, जिनमें देवों को अप्तुरः कहा है। इस शब्द का अर्थ कर्मशील है, अप = कर्म तुर = त्वरा करने वाले। तूर्णयः में फुर्तीले का भाव है। ऋ. 1। 3। 9 में 'विश्वे देवासो अस्रिध एहिमायासो अद्रुहः।' ये शब्द हैं जिनमें देवों के विषय में कहा है कि वे (1) अहिंसक होते हैं। अस्रिधः का अर्थ अहिंसक प्रसिद्ध ही है। (2) वे कर्मशील होते हैं। श्री स्वामी दयानंद जी ने इस पद का 'आसमंताच्चेष्ठायां माया-प्रज्ञा येषा ते' अर्थात् कार्य करने में जिनकी बुद्धि लगी रहती है ऐसे, यह अर्थ किया है। अस्रिधः का अर्थ उन्होंने अक्षय विज्ञान युक्त किया है। (3) देव 'अद्रुहः' अर्थात् द्रोह रहित होते हैं।

इन सब वेद में आए हुए देव विषयक वर्णनों पर विचार करके हम इसी परिणाम पर पहुंचते हैं कि देवों की प्रकृति का श्री कृष्ण महाराज ने भगवद् गीता के 16वें अध्याय में जो वर्णन किया है वह वेद के ही आधार पर है। अनेक गुणों का आधार वेद में से यहां दिखाया गया है, शेष का भी दिखाया जा सकता है, पर अत्यंत विस्तार के भय से यहां अन्य प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं मालूम होती। भगवद् गीता के श्लोकों को एक बार फिर उद्धृत करके अगले विषय का विचार किया जाएगा।

'अभयं सत्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोग व्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्।।

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्।।
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत।।

इन श्लोकों के अंदर निर्भयता, चित्त शुद्धि, ज्ञान कर्म, दान, दम, यज्ञ, अहिंसा, सत्य, अक्रोध आदि को देवों की प्रकृति का आवश्यक अंग माना गया है वही वेद का तात्पर्य है। पुराणों में वर्णित गाथाएं देवों के जिस स्वभाव का परिचय देती हैं वह सर्वथा अवैदिक और अनेक स्थानों में घृणित है। अस्तु, तात्पर्य यह है कि इस प्रकार के देवों की पूजा करना ही मुख्यतया यज्ञ का अर्थ है। यही वेद के अनुसार 'प्रथम धर्म' अथवा मुख्य कर्तव्य हैं। 'तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।'

अब संगतिकरण का थोड़ा सा विचार करना आवश्यक है। वेद में इस विषय में बहुत ही उत्तम उपदेश पाए जाते हैं। वेद के अनुसार व्यक्ति समाज का एक अंग है और इसलिए समाज की उन्नति के लिए अपनी संपूर्ण शक्तियों को लगा देना सबका प्रधान धर्म है। वेद में मनुष्य के लिए 'व्रत' शब्द का अनेक स्थानों पर प्रयोग किया गया है जिसका अर्थ समुदाय अथवा संघ प्रिय है, इससे मनुष्य सामाजिक प्राणी है इस प्रसिद्ध उक्ति का ही समर्थन होता है। ऋ. 10। 191 में संगतिकरण अथवा संघ बनाकर उन्नति करने का 'सगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्' इत्यादि मंत्रों द्वारा अत्युत्तम उपेदश किया गया है। जिनमें मिलकर जाने अर्थात् उद्देश्य की पूर्ति के लिए यत्न करने, मधुर वाणी बोलने और मन को उत्तम शिक्षा के द्वारा सुसंस्कृत करने का ज्ञान संपन्न बनाने का भाव पाया जाता है। इसी सच्ची एकता के भाव को देखिए अथर्व के निम्नलिखित मंत्रों में कितनी उत्तमता से प्रकट किया गया है–

1. **'सं वः पृच्यन्त्तां तन्वः सं मनांसि समुव्रता।**
सं वोऽयं ब्रह्मणस्पतिर्भगः सं वो अजीगमत्।।

अर्थात् (वः) तुम्हारे (तन्वः) शरीर (संपृच्यन्ताम्) मिले हुए हों (मनांसि सं) तुम्हारे मन मिले हुए हों (व्रता) शुभ कर्म अथवा सत्यभाषणादि विषयक निश्चय (समु) अविरोधी एक रूप हों। (ब्रह्मणस्पतिः) ज्ञान के स्वामी आचार्य अथवा परमेश्वर ने और (भगः) ऐश्वर्यशाली भगवान् ने (वः) तुम्हें (समजीगमत्) मिलाया है। केवल ऊपर की एकता से कुछ नहीं बन सकता, जब तक हमारे मन एक न हों, जब तक सभी सत्यभाषण देश सेवादि का व्रत ने लें तब तक सच्ची एकता कभी स्थापित नहीं हो सकती। इसीलिए वेद में मन के अविरोधी होने पर इतना बल दिया गया है। इसके अगले ही मंत्र में कहा है 'संज्ञपन वो मनसोऽथो संज्ञपनं हृदः' अर्थात् तुम्हारे मन और हृदय मिलाप होवे ! इसी सूक्त के तीसरे मंत्र में फिर देवों की परस्पर प्रीति का वर्णन करते हुए 'इमान् जनान् संभनसस्कृधीहः' यह प्रार्थना है जिसका अर्थ यह है कि इन सब पुरुषों को समान मन वाला बनाओ। ऋग्वेद तथा अथर्ववेद दोनों

में 'समानि व आकूतिः समाना हृदयनि वः। समानमस्तु वो मनो यथा वसुसहासति।' यह मंत्र आया है जिसके अंदर फिर संकल्प, हृदय और मन की समानता पर बड़ा जोर दिया गया है। यह बात विशेष तौर पर ध्यान में रखने योग्य है कि वेद में एकता का उपेदश करते हुए सर्वत्र मन और हृदय के अंदर एकता स्थापित करने पर बल दिया गया है।

2. ऋ. 1। 191। 3 का ही मंत्र अथर्व. 6। 64। 2 में थोड़े पाठ भेद से इस प्रकार आया है–

'समानो मंत्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
समानेन वो हविषा जुहोमि समानं चेतो अभिसंविशध्वम्।।

इस का अर्थ यह है कि (समानो मंत्रः) सब पुरुषों का विचार समान हो (समितिः समानी) सभा समितियां सब समान हों। अर्थात् उनमें प्रवेश करने का योग्यतानुसार प्रत्येक पुरुष को समान अधिकार हो (समानं मनः) सबका मन समान अथवा प्रीति युक्त हो (एषाम्) इन सब मनुष्यों का (चित्तं समानम्) चित्त समान हो। मैं ईश्वर (वः) तुम सबको (समानेन हविषा जुहोमि) समानरूप से सब भोग्य पदार्थ पृथ्वी, जल, वायु आदि देता हूं, इसलिए तुम सब (समानं चेतः) एकचित्त के अंदर (अभिसम्विशध्वम्) प्रवेश कर लो अथवा एक दूसरे के साथ अपना चित्त ऐसा जोड़ दो कि शरीर अलग-अलग होते हुए भी तुम्हारा एक ही चित्त मालूम होवे। सच्ची स्थिर एकता के भाव को कितने जोरदार शब्दों में यहां बताया गया है इसको प्रत्येक विचारक स्वयं जान सकता है। अथर्व. 3। 30 में संगतिकरण के विषय में अत्यंत प्रभावशाली उपदेश पाए जाते हैं उनमें से कुछ की व्याख्या की जा चुकी है शेष भी सुगम और सुप्रसिद्ध हैं, अतः यहां इस प्रकरण का विस्तार करने की आवश्यकता नहीं। वेद में सभा, समिति और संसद् इन तीन प्रकार की सभाओं का स्पष्ट वर्णन आया है जिन से प्रायः ग्राम सभा, नागरिक सभा वा (Municipality) और व्यवस्थापक सभा (Council) का ग्रहण किया जाता है।

इस प्रकार संगतिकरण पर संक्षेप से विचार करने अनंतर दान विषयक वेद के भाव को देखना है। ऋग्वेद दशम मण्डल के 107 तथा 117वें दो सूक्त संपूर्ण रूप से इसी दान की महिमा का वर्णन करने वाले हैं। कृपण पुरुष की निंदा करते हुए ऋ. 10। 117। 1 में कहा है कि–'उतापृणन्मर्डितारं न विन्दते' अर्थात् (अपृणम्) दूसरों का पालन न करके केवल अपना पेट भरने वाला पुरुष (मर्डितार) सुख देने वाले को (न विन्दते) नहीं प्राप्त करता। स्वार्थी कंजूस मक्खी चूस की कोई सहायता नहीं करता यह उसका भाव है। दान देने वाले उदार पुरुष को दान रूपी पुण्य के बदले में बहुत कुछ प्राप्त होता है। उसका सब स्थान पर मान होता है, सब शुभ कार्यों में सम्मिलित होने के लिए उसे निमंत्रण दिया जाता है, उत्तम उत्तम भोज्य पेय पदार्थ उसे प्राप्त होते हैं, विवाह के लिए सुंदर कन्या उसे प्राप्त होती है, इस

प्रकार दान करने से केवल सांसारिक दृष्टि से भी बड़ा भारी लाभ होता है। इस बात को दोनों सूक्तों से बड़े जोरदार शब्दों में बताया गया है। इन दोनों सूक्तों में दान से अभिप्राय न केवल द्रव्य के दान, बल्कि विद्या आदि के दान का भी है इसीलिए 10। 117। 7 में कहा है—'उतो रयिः पृणतो नोपदस्यति' अर्थात् देने वाले का ऐश्वर्य कम नहीं होता किंतु बढ़ता ही है। यह बात विद्या दान के विषय में ही पूरे तौर पर घट सकती है। ऐश्वर्य कभी किसी के पास निरंतर रहने वाला नहीं है। आज एक के पास है तो कल दूसरे के पास चला जाता है। परसों तीसरे के पास, इस प्रकार रथ चक्र की तरह धन का चक्कर चलता रहता है, इसलिए ऐश्वर्य को अनित्य समझकर निर्धन लोगों की सहायता के लिए उसका उपयोग करना चाहिए। इस प्रकार करने से न केवल दूसरे का भला होता है बल्कि दूर दृष्टि से देखा जाए तो अपना भी बड़ा भारी लाभ है इस बात को ऋ. 10। 117। 5 में—

पृणीयादिन्नाधमानाय तव्यान् द्राघीयांसमनु पश्येत पन्थाम्।
ओहि वर्तन्ते रथ्येव चक्रान्यमन्यमुपतिष्ठन्तेह रायः।।

इत्यादि मंत्रों द्वारा बताया गया है। इतना ही नहीं, मंत्र 6 में कहा है कि कृपण मूर्ख पुरुष के पास जो ऐश्वर्य आता है वह उसके नाश ही का कारण होता है। जो पुरुष अर्यमा अर्थात् न्यायप्रिय धर्मात्मा आदमियों को दान नहीं देता और न आपत्ति के समय मित्रों की धन द्वारा सहायता करता है वह अकेला धन का उपभोग करता हुआ पुरुष वास्तव में पाप को खाता है। देखिए कितने कड़े शब्दों में स्वार्थ के राक्षसी भाव की निंदा की गई है। मैं समझता हूं कि—'केवलाघो भवति केवलादी' यह उपदेश न केवल प्राकृतिक भोजन अथवा अन्य द्रव्यों के विषय में है बल्कि आध्यात्मिक भोजन व Spiritual Food के विषय में भी है। जो पुरुष स्वयं आध्यात्मिक उन्नति कर के संतुष्ट हो जाता है और दूसरों के लाभ के लिए कोई काम नहीं करता वह भी मेरे विचार में वैसा ही पाप का भागी है जैसा कि अन्न और द्रव्य का केवल अपना पेट भरने के लिए उपयोग करने वाला कृपण पुरुष। यह मंत्र अत्यंत महत्वपूर्ण है, अतः इसका यहां पूरा उल्लेख करना अनुचित न होगा।

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी।।

इसी मंत्र की अंतिम पंक्ति के आशय को लेकर मनुस्मृति में—'अघं स केवलं भुंक्ते यः पचन्त्यात्मकारणात्' और गीता में—'भुंजते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्।'

ये श्लोक आए हैं इन सबका आशय समान ही है। ज्ञान संपादन करके जो पुरुष जंगल में जा समाधि लगाकर बैठ जाता है उसकी अपेक्षा उस यथार्थ ज्ञान का प्रचार करने वाला तथा कृपण की अपेक्षा उदार दानी पुरुष सहस्रों गुणा अच्छा और पूजनीय है। इस बात को 10। 117। 7 में स्पष्ट शब्दों में कहा है—

वदन् ब्रह्माऽवदतो वनीयान् पृणन्नापिरपृणंतमभिष्यात्।

जिसका शब्दार्थ यह है कि (वदन्) उपदेश करने वाला (ब्रह्मा) ब्रह्मज्ञानी (अवदतः) उपदेश न करने वाले की अपेक्षा (वनीयान्) अधिक पूजनीय है (पृणन् आपिः) दान देकर निर्धनों को तृप्त करने वाला (आपिः) संबंधी (अपृणंतम्) दान न देने वाला कंजूस को (अभिष्यात्) मात कर देता है उससे अधिक मान-प्रतिष्ठा को प्राप्त करता है।

ऋ. 10 । 107 । 4 में कहा है कि जो दक्षिणा देकर सिद्धि को प्राप्त होता है उसे ही ऋषि ब्रह्मा यज्ञन्यं (याज्ञिक) सामगायी और वेदज्ञ व ब्रह्मज्ञानी कहते हैं।

तमेव ऋषिं तमु ब्रह्माणमाहुर्यज्ञन्यं सामगामुक्थशासम्।
स शुक्रस्य तन्वो वेद तिस्रो यः प्रथमो दक्षिणया रराध।।

ऋ. 10 । 107 । 4

इस मंत्र के अंदर स्पष्ट तौर पर ब्रह्मदान का महत्व बताया गया है। जो पुरुष स्वयं ब्रह्म ज्ञान प्राप्त करके अथवा सामगानादि सीखकर अन्यों को उसका उपेदश देता है ताकि वे भी उससे लाभ उठा सकें वहीं सच्चा ऋषि, विद्वान्, याज्ञिक और ब्रह्मज्ञानी है न कि वह जो ज्ञान प्राप्त करके घने जंगल में समाधि लगाकर बैठ जाता है। भगवद्गीता के छठे अध्याय में कृष्ण भगवान् ने–

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाऽक्रियः।। 6 । 1

इत्यादि श्लोकों द्वारा उपर्युक्त वैदिक भाव को ही स्पष्ट किया है–

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः।। गीता 5 । 25

इस श्लोक को पहले भी उद्धृत किया जा चुका है। यहां ऋषियों के लिए कहा है कि वे सब भूतों के हित में तत्पर होते हैं। क्या इसका यही तात्पर्य नहीं कि वे योगसाधनादि द्वारा दिव्य शक्ति, शांति और ज्योति का अनुभव प्राप्त कर के दूसरों के हित के लिए उनका उपयोग करते हैं, हमारी सम्मति में तो इस श्लोक का यही अभिप्राय है। दान अपना कर्तव्य समझकर ही करना चाहिए, मान प्रतिष्ठा प्राप्त करने के विचार से नहीं, तथापि राजस लोगों को दानादि में प्रवृत्त कराने के लिए वेद में 'दक्षिणवान् प्रथमो हूत एति' आदि प्रशंसात्मक वाक्य कहे गए हैं। किसी भी भाव से प्रेरित होकर दान किया जाए अंततः दान करना धर्म है और दान न देकर केवल अपना पेट भरना पाप और अनर्थ का हेतु है इस भाव से ऋ. 10 । 117 । 3 में कहा है–

अथा नरः प्रयत दक्षिणासोऽवद्यभिया बहवः पृणन्ति।।

अर्थात् (बहवः) बहुत से (प्रयतदक्षिणासः) दान देने का सामर्थ्य रखने वाले पुरुष (अवद्यभिया) पाप के भय से अथवा अनर्थ के डर से (पृणन्ति) निर्धनों को पालते वा दान देते हैं। बहुत से मनुष्य केवल अनर्थ वा पाप के भय से दान करते

हैं इसी से यह अर्थापत्ति निकलती है कि कुछ सात्विक पुरुष पाप के भय से नहीं किंतु केवल कर्तव्य समझकर ही दानादि पुण्य कर्म करते हैं। इस प्रकार भगवद्गीता के सात्विक राजस दोनों का मूल यहां पाया जा सकता है। दान बिना विवेक के नहीं होना चाहिए, किंतु देश-काल-पात्र का विचार करके ही करना चाहिए, ऐसा जो गीता में सात्विक दान का लक्षण करते हुए कहा गया है वेद में भी आध्राय, रफिताय, कृशाय, नाधमानाय इत्यादि शब्दों द्वारा जो वस्तुतः गरीब हों जो कृश हों और काम में असमर्थ होने के कारण मांगने को बाधित हों, उन्हें अवश्य देना चाहिए। जो कठोर हृदय पुरुष ऐसे लोगों को भी दान नहीं देता उसको तरसाता है उसे कभी कोई सुख देने वाला नहीं मिलता।

स्थिरं मनः कृणुते सेवते पुरोतो चित् स मर्डितारं न विन्दते।

इत्यादि कहकर उसी भाव को सूचित किया गया है। केवल पात्र को ही दान देना चाहिए, इसी भाव को प्रकट करने के लिए—

न स सखा यो न ददाति सख्ये सचा भुवे सचमानाय पित्वः।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायम्।।

इत्यादि शब्द इस सूक्त में आए हैं जिनका अर्थ यह है कि अर्यमा अर्थात् श्रेष्ठ पुरुषों व संस्थाओं की सहायता करना और आपत्ति के समय मित्रों की पूरी सहायता करना यह प्रत्येक पुरुष का कर्तव्य है। इस प्रकार दान के विषय में वेद के अत्युत्तम उपदेशों का निर्देश करते हुए हम कुछ और सामाजिक कर्तव्यों का वर्णन करना चाहते हैं।

ब्राह्मणों के कर्तव्य

इस बात के विस्तार में यहां पर जाने की आवश्यकता नहीं कि वेद के अंदर ब्राह्मणादि चार वर्णों में सारे समाज को बांटा गया है। यद्यपि ऐसे मंत्र वेद में बहुत नहीं जहां ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन नामों से स्पष्ट वर्णों के कर्तव्यों का प्रतिपादन किया गया है तथापि अग्नि, इन्द्र, मरुत्, पूषा आदि देव नामों से इन चारों वर्णों के कर्तव्यों का वेद में वर्णन किया गया है इसमें संदेह नहीं हो सकता।
उदाहरणार्थ—

अग्निर्ऋषिः पवमानः पाञ्चजन्यः पुरोहितः।
तमीमहे महागयम्।।

इत्यादि मंत्र में अग्नि पद् से ज्ञानी ब्राह्मण का ग्रहण ही सर्वथा उचित मालूम होता है। उस अवस्था में अर्थ यह होगा कि (अग्निः) अग्नि के समान अज्ञानांधकार को दूर करने वाला ब्राह्मण (ऋषिः) तत्त्वदर्शी व ज्ञानी (पवमानः) सबको पवित्र करने वाला (पांचजन्यः) पञ्चजन अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, निषाद इन सब प्रकार कं मनुष्यों का हित करने वाला (पुरोहितः) सत्योपदेष्टा अग्रणी व नेता है ऐसे (महागयम्)

बड़े बड़े भारी विद्यादि ऐश्वर्य संपन्न ब्राह्मण को हम सब (ईमहे) चाहते हैं व उससे सत्योपदेश करने की प्रार्थना करते हैं।

मैं समझता हूं कि अग्नि का यहां ज्ञानी ब्राह्मण नेता ऐसा अर्थ करने पर मंत्र की संगति बहुत अच्छी तरह लग जाती है। यह केवल मेरी मन-घड़न्त कल्पना नहीं है।

अग्नि देवता विषयक मंत्रों में इस बात के स्पष्ट निर्देश पाए जाते हैं कि वहां भौतिक अग्नि और परमात्मा के अतिरिक्त इस ब्राह्मण अर्थ का स्पष्ट ग्रहण अभिप्रेत है। उदाहरणार्थ ऋ. 3। 1। 17 में अग्नि को संबोधान करके कहा है–

आ देवानामभवः केतुरग्ने, मन्द्रो विश्वानि काव्यानि विद्वान्।

अर्थात् हे अग्ने, ज्ञानी ब्राह्मण तू (मंद्रः) मृदु स्वभाव वाला और (विश्वानि) संपूर्ण (काव्यानि) काव्यों को (विद्वान्) जानने वाला होकर (देवानाम्) अन्य साधारण विद्वानों का (केतुः) झण्डे के समान नायक (अभवः) हुआ है। यहां न तो भौतिक अग्नि का ग्रहण हो सकता है और ना ही मुख्यतः परमात्मा का किंतु ब्राह्मण नेता का ग्रहण करने पर अर्थ बड़ा संगत प्रतीत होता है।

इसी प्रकार ऋ. 3। 2। 8 में अग्नि के विषय में–'रथीर्ऋतस्य बृहतो विचर्षणिरग्निर्देवानामभवत्पुरोहितः' ये शब्द आए हैं जिसका अर्थ यह है कि अग्नि (बृहतः ऋतस्य विचर्षणिः) बड़े विस्तृत सत्य का प्रकाश करने वाला (रथीः) शरीर रूपी अपने रथ का पूर्ण स्वामी और (देवानाम्) विद्वानों का (पुरोहितः) नेता (अभवत्) है। इस मंत्र का वर्णन भी भौतिक अग्नि और परमात्मा पर पूर्णतया न घट करके ज्ञानी ब्राह्मण नेता पर ही ठीक तौर पर घटता है।

इसी प्रकार ऋ. 36। 4 में अग्नि के बारे में कहा है–

व्रता ते अग्ने महतो महानि, तव क्रत्वा रोदसी आततन्थ।
त्वं दूतो अभवो जायमानस्त्वं नेता वृषभ चर्षणीनाम्।।

अर्थात् हे ज्ञानी ब्राह्मण ! (महतः ते) बड़े ज्ञानादि गुण युक्त तेरे (महानि व्रता) बड़े भारी कार्य हैं। तू (तव क्रत्वा) अपने कर्म से (रोदसी) दोनों लोकों में (आततन्थ) विस्तृत हो रहा है–तेरे यश का सब लोकों में विस्तार हो रहा है (जायमानः) प्रसिद्ध होता हुआ तू (दूतः अभवः) दूत के समान उत्तम ज्ञान को सर्वत्र ले जाने वाला होता है और हे (वृषभ) अत्यंत श्रेष्ठ गुण-कर्म-स्वभाव वाले ब्राह्मण ! तू ही (चर्षणीनाम्) पुरुषों का (नेता) नायक होता है। यहां भी अग्नि के विषय में जो वर्णन है वह केवल ज्ञानी ब्राह्मण पर ही घट सकता है, भौतिक अग्नि और परमात्मा पर नहीं 4. ऋ. 3। 11। 1 में–

अग्निर्होता पुरोहितोऽध्वरस्य विचर्षणिः।
स वेद यज्ञमानुषक्।।

यह मंत्र आया है जिसमें अग्नि के विषय में कहा है कि वह (1) होता अथवा

हवनादि करने वाला है। (2) वह पुरोहित अथवा हिताहित का उपदेश करने वाला है। (3) वह अध्वर अर्थात् अहिंसामय संपूर्ण उत्तम व्यवहार का प्रकाशक है। (4) वह यज्ञ के स्वरूप को अच्छी तरह जानने वाला है। यहां भी स्पष्ट है कि अग्नि का ज्ञानी ब्राह्मण अर्थ लेना ही सर्वथा योग्य है। इतने उदाहरणों से यह स्पष्ट पता लगता है कि वेद में अग्नि देवता के द्वारा प्रायः ब्राह्मण धर्मों का वर्णन किया गया है। (5) ऋ. 1। 149। 5 में अग्नि के विषय में कहा है कि–

अयं स होता यो द्विजन्मा विश्वादधे वार्याणि श्रवस्या।
मर्तो यो अस्मै सुतुको ददाश।।

इस मंत्र में अग्नि के लिए द्विजन्मा शब्द का प्रयोग आया है जो भौतिक और परमेश्वर पर नहीं घट सकता किन्तु निसंदेह ब्राह्मण नेता पर ही चरितार्थ हो सकता है। सारे मंत्र का अर्थ यह होगा कि (अयं यः द्विजन्मा) यह जो ब्राह्मण है (सः) वही (होता) हवनादि करने वाला अथवा दान देने और लेने वाला है (हुन्दानादानयोरादाने च) यह ब्राह्मण (विश्वा) सब (श्रवस्या) कीर्तियुक्त (वार्याणि दधे) श्रेष्ठ ऐश्वर्यों को धारण करता है (यः मर्तः) जो मनुष्य (अस्मे ददाश) इसे देता है उसको विद्यादि उत्तम ऐश्वर्य प्राप्त होता है। ऋ. अ. 6। 3। 40 इस विषय में सबसे अधिक स्पष्ट जहां कहा है–'अग्निः शुचिव्रत तमः शुचिर्विप्रः शुचिः कविः। अग्निरोचत आहुतः।। यहां विप्र और इस प्रकार विवेचना से पता लगता है कि मनु महाराज ने–

अध्यापनमध्ययनं, यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहश्चैव, ब्राह्मणानामकल्पयत्।।

इत्यादि श्लोकों द्वारा ब्राह्मणों के जो छह मुख्य कर्तव्य बताए हैं उसका आधार वेद मंत्रों पर ही है। ऊपर उल्लिखित मंत्रों में ये सबके सब धर्म आ गए हैं। इस प्रकार के सच्चे ब्राह्मणों की पूजा करना सारे समाज का कर्तव्य है। ब्राह्मण स्वभाव से ही मृदु अथवा कोमल प्रकृति के होते हैं पर उनको ऐसा जानकर जो उसका अपमान करता है उस समाज और राष्ट्र का शीघ्र ही नाश हो जाता है इस बात को अथर्व पञ्चम काण्ड के 18 और 19 सूक्तों में बड़े जोरदार शब्दों में बताया गया है। काण्ड 10 मंत्र 3 में कहा है–

निर्वैक्षत्रं नयति हन्तिवर्चोऽग्निरिवारब्धो विदुनोति सर्वम्।
यो ब्राह्मणं मन्यते अन्नमेव स विषस्य पिबति तैमातस्य।।

अर्थात् ब्राह्मणा को जो तुच्छ मानता है वह मानो एक घोर विष का प्याला पीता है। अपमानित सच्चा ब्रह्मज्ञानी पुरुष दुष्ट क्षत्रियों को अग्नि समान अपने तेज से दाह कर देता है। मंत्र 5 में और भी स्पष्ट रीति से मृदु स्वभाव परंतु तेजस्वी ब्राह्मण अर्थात् ब्रह्मज्ञानी के अपमान करने का भयंकर परिणाम बताया है यथा–

य एनं हन्ति मृदुं मन्यमानो देवपीयुर्धनकामो न चित्तात्।
सं तस्येन्दो हृयऽग्निमिन्ध उभ एन द्विष्टा नभसी चरंतम्।।

अर्थात् जो पुरुष ब्राह्मण को कोमल स्वभाव समझकर स्वयं हिंसक नीच होता हुआ धन के मद में अज्ञान से मारता व अपमानित करता है (इन्द्रः) परमेश्वर उस पुरुष के हृदय में मानो शोकसंताप रूपी अग्नि को जला देता है और उस पुरुष को सब पृथ्वी के लोग घृणा की दृष्टि से देखते हैं। इस मंत्र में ब्राह्मणों का प्रकृति से कोमल होना स्पष्ट सिद्ध होता है। जिस राष्ट्र में सच्चे तपस्वी, स्वार्थहीन ब्राह्मणों का अपमान होता है उस राष्ट्र की भी निश्चय से दुर्गति होती है। इस विषय में अथ. 5।19।8 में स्पष्ट कहा है—

तद् वै राष्ट्रमास्रवति नावं भिन्नाभिवोदकम्।
ब्राह्मणं यत्र हिंसन्ति तद्राष्ट्रं हन्ति दुच्छना।।

अर्थात् (तद् राष्ट्रं) वह राष्ट्र (भिन्नां ना म) टूटी हुई नौका में (उदकम् इव) जल के समान (आस्रवति) बह जाता है चकनाचूर हो जाता है (यत्र) जिस राष्ट्र में (ब्राह्मणम्) ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मण को (हिंसन्ति) मारते हैं (दुच्छना) दुर्गति (तद् राष्ट्र) उस राष्ट्र का (हन्ति) नाश कर डालती हैं। वह राष्ट्र जहां सच्चे ब्राह्मणों का अपमान होता है कभी देर तक उन्नत अवस्था में रह नहीं सकता। दुर्गति अथवा हीन अवस्था होते होते अंत में उसका सत्यानाश हो जाता है। यहां यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि 'ब्रह्मजानाति ब्राह्मणः' इसी अर्थ को लेकर यहां ब्रह्मज्ञानी के अर्थ में ब्राह्मण शब्द का प्रयोग है। न कि जाति मात्रोपजीवी लोगों की पूजा करने से इसका तात्पर्य है। अ. 5। 15। 5 में शस्त्र धारी ब्राह्मण लोग जो विचित्र प्रकार का बाण छोड़ते हैं वह कभी व्यर्थ नहीं जाता। तप और मन्यु (Indignation) के साथ छोड़ा जाने के कारण वह बड़ी दूर तक अपना असर करता है ऐसा बताया है। यहां भौतिक शस्त्र के अभिप्राय नहीं किंतु आत्मिक बल का अवलंबन करते हुए जो स्वतंत्रतादि के संरक्षण के लिए यथा संभव अहिंसात्मक, परंतु प्रभावजनक साधन काम में लाए जाते हैं। उनसे तात्पर्य मालूम होता है। इस विषय में अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं।

क्षत्रियों के कर्तव्य

इन्द्र देवता के मंत्रों में प्रायः क्षत्रियों के कर्तव्यों का निर्देश किया गया है, इसमें वाद विवाद का बहुत ही कम अवसर है। उदाहणार्थ ऋ. प्रथम मण्डल का 80वां सूक्त देखिए, जिसका देवता इंद्र है। इस सारे सूक्त में नीच कपटी लोगों के साथ युद्ध करके प्रजा की रक्षा करने और उनकी स्वतंत्रता के संरक्षण करने के कारण ही इंद्र की इतनी महिमा है, इस बात को बार बार स्पष्ट किया गया है। मंत्र 7 विशेष द्रष्टव्य है— **'इन्द्र तुभ्यमिदद्रिवोऽनुत्तं वज्रिन् वीर्यम्। यद्ध त्यं मायिनं मृगं तमु त्यं मायया वधीरर्चन्ननु स्वराज्यम्।'** हे इन्द्र, बलशाली (वज्रिन्) वज्र धारण करने वाले (अद्रिवः) आदरणीय वीर (तुभ्यं वीर्यम् अनुत्तम्) तेरे अंदर बड़ा भारी वीर्य रखा हुआ है। (यद्

ह त्यं मायिनं मृगम्) कि तूने उस कपटी और सज्जनों का पीछा करने वाले वृत्र अर्थात् पापी पुरुष का (मायया) बड़ी चतुरता से (स्वराज्यम् अन्वर्चन) स्वराज्य अथवा स्वतंत्रता के भाव की पूजा करते हुए (अवधीः) मार दिया। माया के छल, बुद्धि ये दोनों अर्थ निघण्टु आदि में दिए हैं। कपटी पुरुषों को मारकर स्वतंत्रता संरक्षण करना क्षत्रियों का मुख्य धर्म है यह भाव यहां सूचित किया गया है।

यजु. अ. 20 में इन्द्र देवता के अनेक मंत्र हैं वे प्रायः सब क्षत्रिय धर्म की सूचना देने वाले हैं। उदाहणार्थ मंत्र 48 में कहा है–

'आ न इन्द्रो दूरादा च आसादाभिष्टिकृदवसे यासदुग्रः।
ओजिष्ठेभिर्नृपतिर्वज्रबाहुः संगे समत्सु तुर्वणिः पृतन्यून्।।

यहां इन्द्र के विषय में निम्न बातें कही हैं–(1) इन्द्र उग्र अर्थात् कुछ कठोर स्वभाव का है। (2) वह अभीष्ट पूरा करने और रक्षण करने वाला है। (3) उसकी भुजाएं वज्र के समान हैं अर्थात् वह बड़ा बलवान् है (4) युद्ध में वह शत्रुओं का मुकाबला करने वाला है। ये सब सच्चे क्षत्रियों के लक्षण हैं। मंत्र 50 इस विषय में विशेष विचारणीय है जो इस प्रकार है–

'त्रातारमिन्द्रमवितारमिन्द्रं हवे हवे सुहवं शूरमिन्द्रम्।
ह्वयामि शक्रं पुरुहूतमिन्द्रं स्वस्ति नो मघवा धात्विन्द्रः।।'

इस मंत्र में इन्द्र के निम्नलिखित विशेषण आए हैं–

1. त्राता = रक्षा करने वाला।
2. अविता = ज्ञान प्राप्त करने वाला। अव गतौ, गति = ज्ञान, गमन, प्राप्ति।
3. सुहवः = अच्छा दान देने वाला। हु–दानादानयोः।
4. शूरः = बहादुर।
5. शक्रः = शक्ति युक्त।
6. पुरुहूतः = बहुत से श्रेष्ठ पुरुषों द्वारा स्वीकृत।
7. मधवा = धन युक्त।

ये सब लक्षण मुख्यतः एक वीर राजा और क्षत्रिय पर ही घट सकते हैं।

अथर्ववेद में देवता के मंत्रों में क्षत्रियो के कर्तव्यों का बहुत उत्तम वर्णन है। उदाहरणार्थ अ. 20। 11। 6 में कहा है–

'महो महानि पनयंत्यस्येन्द्रस्य कर्म सुकृता पुरूणि।
वृजनेन वृजिनान् संपिपेष मायाभिर्दस्यूरभिभूत्योजा।।''

अर्थात् इन्द्र के श्रेष्ठ उत्तम कर्मों की सब प्रशंसा करते हैं क्योंकि इन्द्र (वृजनेन) अपनी शक्ति से (वृजिनान्) पापियों को (संपिपेष) चूर चूर कर डालता है, और (मायाभिः) चतुरता से (दस्यून् अभिभूति) नीच स्वार्थ परायण लोगों को हरा डालता है। तात्पर्य यह है कि नीच लोगों का नाश कर के प्रजा का रक्षण करना ही प्रत्येक सच्चे क्षत्रिय का मुख्य धर्म है। इसी भाव को अ. 20। 55। 1 में प्रकाशित किया

गया है यथा—

'तमिन्द्रं जोहवीमि मघवानमुग्रं सत्रा दधानमप्रतिष्कुतं शवांसि।
मंहिष्ठो गीर्भिरा च यज्ञियो ववर्तद् राये ना विश्वा सुपथा कृणोतु वज्री।'

इस मंत्र में इन्द्र के लिए जो गुणद्योतक शब्द आए हैं उनका थोड़ा सा निर्देश कर देना आवश्यक है।

1. मघवा = धनयुक्त।
2. उग्र = दुष्टों के प्रति कठोर।
3. सत्रादधानः = सत्य अथवा यज्ञ का धारण करने वाला।
4. श्रवांसि दधानः = कीर्ति को धारण करने वाला।
5. गीर्भिः मंहिष्ठः = उत्तम वाणी वाला।
6. यज्ञियः = यज्ञादि शुद्ध कर्म करने वाला अथवा पूजनीय।
7. वज्री = वज्रादि शस्त्रास्त्र धारण करने वाला।

इस मंत्र में क्षत्रियों के लिए उत्तम वाक् शक्ति कीर्ति इत्यादि को धारण करना भी आवश्यक बताया गया है। इस प्रकार निःसंदेह इन्द्र देवता विषयक अनेक मंत्र आधिभौतिक अर्थ में क्षत्रियों के कर्तव्यों का निर्देश करने वाले हैं।

वैश्यों के कर्तव्य

वैश्यों के कर्तव्यों का वेद में अनेक स्थानों पर स्पष्ट वर्णन है। उदाहरणार्थ अथर्व. 3। 15। 2 में एक वैश्य के मुख से निम्नलिखित प्रार्थना उच्चारण कराई गई है।

'ये पन्थानो बहवो देवयाना अंतरा द्यावापृथिवी सं चरंति।
ते जुषंतां पयसा घृतेन यथा क्रीत्वा धनमाहराणि।।'

अर्थात् 'द्युलोक पृथ्वी लोक के अंदर जो देवयान अनेक मार्ग हैं उन सबसे मुझे घृत या दीप्ति और पय व रस की प्राप्ति हो ताकि मैं दूर दूर देशों में यानों द्वारा भ्रमण करके धन एकत्रित करूं। इस मंत्र से पृथ्वी पर चलने वाले यानों के अतिरिक्त अंतरिक्ष में चलने वाले विमानादि की कल्पना बहुत ही साफतौर पर मालूम होती है। देवयानों द्वारा धन संपादन करने से तात्पर्य उत्तम धर्म युक्त साधनों द्वारा धन इकट्ठा का भी मालूम होता है। इसी सूक्त के मंत्र 3 में—

'शुनं ना अस्तु प्रपणो विक्रयश्च प्रतिपणः फलिनं मा कृणोतु।'

ऐसी प्रार्थना है जिसका अर्थ यह है कि बेचने वगैरह में मुझे घाटा न हो बल्कि मुनाफा व लाभ हो। मंत्र 4 और 5 में जिस धन को लेकर मैं व्यापार प्रारंभ करता हूं उसमें मुझे लाभ ही होता जाए और राजादि के द्वारा मुझे व्यापार के लिए प्रोत्साहन मिलता रहे यह भाव प्रकट किया गया है—

'येन धनेन प्रपणं चरामि धनेन देवा धनमिच्छमानः।
तन्मे भूयो भवतु मा कनीयोऽग्ने सातघ्नो देवान् हविषा निषेध।'

इत्यादि मंत्र इसी भाव के सूचक हैं। धन का संपादन करना अपने स्वार्थ के लिए नहीं बल्कि ब्राह्मणादि की आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए होना चाहिए इस भाव को इसी सूक्त के अंतिम मंत्र में स्पष्ट किया गया है, जहां अग्नि को संबोधन करते हुए कहा है कि–

विश्वाहा ते सदमिद्भरेमाश्वायेव तिष्ठते जातवेदः।
रायस्पोषेण सुमिषा मदंतो मा ते अग्ने प्रतिवेशा रिषाम।।

अर्थात् (जातवेदः अग्ने) ज्ञानी ब्राह्मणा नेतः ! जिस प्रकार अश्व को खाने के लिए घास वगैरह दिया जाता है उसी प्रकार हम (विश्वाहा) प्रतिदिन (सदमित्) नित्य ही (ते भरेम) तेरा पालन करते रहें। स्वयं धन की समृद्धि और अन्न से आनंद करते हुए तेरे (प्रतिवेशा) प्रतिकूल होकर (मारिषाम) हम कभी दुःखी न हों। तात्पर्य यह है कि धन के मद से मस्त होकर पूज्य ब्राह्मणों का तिरस्कार जो करते हैं उन्हें अंत में अवश्य दुःख उठाना पड़ता है, अतः ऐसे पूज्यों की पूजा करते हुए ही धनियों को सदा सुखी रहना चाहिए।

यजु. अ. 12 में मंत्र 67 से 71 तक हल चलानं वगैरह वैश्य-कर्त्तव्यों का उत्तम वर्णन आया है। इनमें–

'शुनं सुफाला विकृषंतु भूमिं शुनं कीनाशा अभियंतु वाहैः।'

इत्यादि मंत्र विशेष दर्शनीय हैं जिनका अर्थ स्पष्ट है कि अच्छे हल द्वारा पृथ्वी को सुखपूर्वक जोता जाए और भूमि जोतकर सुखपूर्वक रहें इत्यादि। इस कृषि की महिमा में ऋ. 10। 34। 13 में द्यूत की निंदा करते हुए स्पष्ट आदेश किया गया है कि–

'अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित्कृषस्व वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः।'

अर्थात् जुआ न खेलो किंतु कृषि करते हुए आनंद से धन संपादन करो। इस मंत्र से न केवल वैश्यों अपितु अन्यों को भी थोड़ी बहुत खेती करनी चाहिए यह भाव निकलता है। उस पर विचार करना चाहिए।

भगवद् गीता अ. 18 में कृष्ण महाराज ने वैश्यों के कर्मों का प्रतिपादन करते हुए–

कृषिगोरक्षवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।

ऐसा कहा है। वेद के अनुसार कृषि और वाणिज्य का वर्णन ऊपर किया जा चुका है। गोरक्षा के विषय में देखिए वेद में कितना उत्तम भाव प्रकट किया गया है। अथर्व. 4। 21 में गौओं की महिमा के संबंध में अनेक मंत्र आए हैं जिनमें गौओं को बड़ी भारी संपत्ति बताया है यथा–

गावो भगो गाव इन्द्रो म इच्छात्।

गौएं वास्तव में बड़ी भारी संपत्ति हैं। राजादि भी इन गायों के दूध पर आश्रित होने के कारण इन्हें चाहते हैं। मंत्र 6 में कहा है कि–

यूयं गावो मेदयथा कृशं चिदश्रीरं चित्कृणुता सुप्रतीकम्।
भद्रं गृहं कृणुथ भद्रवाचो बृहद् वो वय उच्यते सभासु।।

इसका अभिप्राय यह है कि 'हे गौओ ! तुम कृश अर्थात् निर्बल पुरुष को भी बलवान् बना देती हो, तुम शोभा अथवा तेज से रहित पुरुष को तेजस्वी बना देती हो, तुम सारे गृह को सुखमय बना देती हो इसलिए सभाओं में सब पुरुष तुम्हारी बड़ी भारी महिमा गाते हैं। जिन गौओं की इतनी महिमा वेद में अनेक स्थानों पर बताई गई है उन्हीं के मारने का वहां वर्णन होगा यह बात कल्पना में भी नहीं आ सकती है। वेद में सर्वत्र गौओं के लिए अघ्न्या शब्द का प्रयोग आया है। उदाहरणार्थ–'**सूर्यवसाद् भगवती हि भूयो अथो वयं भगवंतः स्यनि। अद्धि तृणमघ्न्ये विश्वदानीं पिव शुद्धमुदकमाचरंती।। ऋ. 1। 164। 40। यो अघ्न्याया भरति क्षीर मग्ने ऋ. 10। 87। 16 'अंतकाय गोघातम्'** (य. 30। 18) इत्यादि में गोघातक के लिए प्राणदण्ड तक का विधान। 'शं नो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे' ये शब्द हजारों मंत्रों में आए हैं जो इस बात की स्पष्ट सूचना देते हैं कि न केवल गौओं की बल्कि सभी पशुओं की रक्षा करना सामान्यतः सभी वर्णों विशेषतः वैश्यों का कर्तव्य है। इस विषय में अधिक लिखने की जरूरत नहीं।

शुद्रों के कर्तव्य

शूद्रों के कर्तव्यों के विषय में यहां कुछ ज्यादा वक्तव्य नहीं है। 'तपसे शूद्रम्' कहकर यजुर्वेद अ. 30 में श्रम के कार्य के लिए शूद्र को नियुक्त करो यह आदेश किया गया है। इसी अध्याय मे कर्मार नाम से कारीगर, मणिकार नाम से जौहरी, हिरण्यकार नाम से सुनार, रजयिता के नाम से रंगरेज, तक्षा के नाम से शिल्पी, वप नाम से नाई, अयस्ताप नाम से लोहार, अजिनसंध नाम से चमार, परिवेष्टा नाम से परोसने वाले रसोइये इत्यादि का वर्णन है। ज्ञान शम, दम, इत्यादि उच्च गुणों की इनके अंदर कमी होती है, अतः ये शिल्प या नौकरी द्वारा पहले तीन वर्णों की सेवा कर अपना पेट भरते हैं। इन चारों वर्णों के लोगों को एक दूसरे के साथ अत्यंत प्रेम से व्यवहार करना चाहिए। हरेक पुरुष को अपना व्यवहार ऐसा रखना चाहिए जिससे सब वर्णों के पुरुष उसको प्रेम से देखें।

प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये।।

अर्थव. 19। 62। 1

इत्यादि वेद मंत्रों में इसी ऊपर कहे हुए भाव को साफतौर पर प्रकट किया गया है।

राष्ट्रीय कर्तव्य

अब राष्ट्रीय कर्तव्यों के विषय में थोड़ा सा कथन करना है। वेद में राष्ट्रीय भाव की कल्पना है इससे कोई भी निष्पक्षपात विचारक इंकार नहीं कर सकता। सैकड़ों स्थानों पर वेदों में भूमि के लिए माता शब्द का प्रयोग किया गया है। राष्ट्र के हित की ओर सभी वेदों में अनेक बार ध्यान आकर्षित किया गया है। ऋग्वेद मंत्र 5 में मरुतो अर्थात् श्रेष्ठ पुरुषों के विषय में जो अनेक सूक्त आए हैं उनमें बार बार 'पृश्निमातरः' यह मरुतों का विशेषण दिया है, उदाहरणार्थ 5। 57। 2 में कहा है–

स्वश्वाः स्थ सुरथाः पृश्निमातरः।
स्वायुधा मरुतो याथना शुभम्।।

इसका अर्थ यह है कि मरुत् उत्तम अश्वरथ शस्त्रादि से युक्त और भूमि को अपनी माता मानने वाले अथवा मातृभक्त, देशभक्त हैं। वे सदा शुभ कर्म में तत्पर रहते हैं। 5। 59। 6 में इन्हीं मरुतों के बारे में कहा है–

ते अज्येष्ठा अकनिष्ठास उद्भिदोऽमध्यमासो महसा विवावृधुः।
सुजातासो जनुषा पृश्निमातरो दिवो मर्या आ नो अच्छा जिगातन।।

इस मंत्र में सबके सब मरुतः अर्थात् मनुष्य समानता के सत्य सिद्धांत को समझते हुए (उद्भिदः) सदा ऊपर उठते हुए (महसा) अपने तेज से (विवावृधुः) विशेष उन्नति करते हैं। वे सब (पृश्निमातरः) भूमि व देश को माता के समान मानने वाले और (दिवो मर्याः) प्रकाशमय परमेश्वर के पुत्र अर्थात् परमेश्वर को अपना सच्चा पिता मानने वाले हैं। इस प्रकार उनका अत्युत्तम जन्म है वे हमें प्राप्त होवें। यह भाव सूचित किया गया है।

ऋ. मंत्र 10। 18 में कई मंत्र मातृभूमि की स्तुति के विषय में आए हैं। उदाहरणार्थ मंत्र 10 में उपदेश है–'उप-सर्प मातरं भूमिमताम्' (एतां) इस (भूमिं मातरम्) मातृभूमि की (उपसर्प) सेवा करो। मंत्र 11 में मातृभूमि से एक सच्चे भक्त की प्रार्थना है–

उच्छ्वञ्चस्व पृथ्वी मा निबाधथाः सूपायनास्मै भव सूपवञ्चना।
माता पुत्रं यथा सिचाभ्येनं भूम ऊर्णुहि।।

अर्थात् हे (पृथिवि) मातृ भूमे (उच्छ्वञ्चस्व) तू हमें सदा उन्नत करके सुख दे (मा निबाधथाः) कभी हमें कष्ट न दे (अस्मै) इस भक्त के लिए तू (सूपायना सूपवञ्चना भव) उत्तम वस्तुओं को प्राप्त कराने वाली हो। (माता पुत्रं यथा) जिस प्रकार माता पुत्र को प्रेम करती है वैसे तू (सिच) हमें प्रेम कर (एनम् अभि ऊर्णुहि) इस भक्त को सब ओर से सुरक्षित कर दे। मातृभूमि के प्रति यह हार्दिक प्रार्थना है। ऐसे मंत्रों में भूमि की एक जीवित जागृत देवी के रूप मे कल्पना की गई है। जब तक हम पृथ्वी आदि को केवल अचेतन वस्तु, समझते हैं तब तक उसके साथ

अपना आंतरिक प्रेम सूचित नहीं कर सकते, अतः काव्य दृष्टि से वेद में उपर्युक्त प्रकार के वर्णन को प्रधानता दी गई है। देवों को वर्णन करते हुए वेद में–

'अप्रथयन् पृथिवीं मातरं वि'

ऋ. 10। 62। 3 ये शब्द आए हैं, जिनका अर्थ है कि देव लोग अपने शुभ कर्मों से मातृभूमि के यश का विस्तार करते हैं। इस बात का पहले उल्लेख किया जा चुका है। अब यजुर्वेद मे इस विषय को देखिए–

1. यजु. 2। 10 में ये शब्द आए हैं–'उपहूता पृथ्वी मातोप मां पृथिवी माता ह्वयताम्' इनका भाव यह है कि मैंने पृथ्वी व देश को (माता उपहूता) माता के रूप में अपने हृदय में स्वीकार किया है (पृथ्वी माता माम् उपह्वयताम्) मातृभूमि भी मुझे अपने पुत्र के रूप में स्वीकार करे। प्रत्येक पुरुष यदि अपने देश को माता के समान समझे तो निःसंदेह मातृभूमि का हित होता है और पुत्रों का कल्याण होता है यह भाव ऊपर के मंत्र में है।

2. यजु. अ. 9 में निम्नलिखित मंत्र आया है–

अस्मे वो अस्त्विन्द्रिमस्मे नृम्णमुत क्रतुरस्मे वर्चांसि संतु वः।
नमो मात्रे पृथिव्यै नमो मात्रे पृथिव्यै।। 9।

यहां देव अर्थात् ज्ञानी लोगों से प्रार्थना है (अस्मे) हमारे अंदर (वः इन्द्रियम् अस्तु) तुम्हारे जैसी बलयुक्त इंद्रियां हों (नृम्णम्) तुम्हारे जैसा धन हो (उत क्रतुः) और पुरुषार्थ करने का जो उत्साह हो (अस्मे वः वर्चांसि संतु) हमारे अंदर तुम्हारे जैसा तेज हो (नमो मात्रे पृथिव्यै) पृथिवी माता = मातृभूमि को हमारा नमस्कार हो। जिस मातृभूमि के तुम्हारे जैसे योग्य पुत्र हैं, उस माता को हम नमस्कार करते हैं और साथ ही इन्द्रिय, धन, उत्साह, तेज आदि को धारण करते हुए हम भी उस मातृभूमि की सेवा में तत्पर रहेंगे, यह भाव यहां सूचित किया गया है।

3. यजु. अ. 10 मंत्र 23 में 'पृथिवी मातर्मा मा हिंसीर्मो अहं त्वाम्' ये शब्द आए हैं जिनमें पृथ्वी को माता मानते हुए कहा है कि तू हमें कभी कष्ट ने दे, मैं तुझे कभी कष्ट न दूं। अभिप्राय यह है कि मैं कभी कोई ऐसा काम भूलकर भी न करूं जिससे मातृभूमि का अहित हो। इस प्रकार करने से मातृभूमि द्वारा मेरा सदा कल्याण होगा इसमें संदेह नहीं।

4. यजु. अ. 17 मंत्र 3 में प्रार्थना है–

अस्माकमिन्द्रः समृतेषु ध्वजेष्वस्माकं या इषवस्ता जयंतु।
अस्माकं वीरा उत्तरे भवन्त्वस्मां उ देवा अवता हवेषु।।

यहां अपने देश के वीरों के विजय की कामना करते हुए मातृभूमि के प्रति प्रेम का भाव सूचित किया गया है।

5. यजु. अ. 22 काण्ड 22वां मंत्र वैदिक राष्ट्रीय भाव की कल्पना के विषय में अत्यंत सुप्रसिद्ध है उसका केवल उल्लेख कर देना ही पर्याप्त है।

आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामाराष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम् द्रोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णु रथेष्ठा सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायताम्। निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न औषधयः पच्यंतां योगक्षेमो न कल्पताम्।।

इस मंत्र में ब्राह्मण लोग हमारे राष्ट्र में सच्चे ब्रह्मतेज का धारण करने वाले हों, क्षत्रिय शूरवीर बाण चलाने में निपुण महारथी हों, वैश्य उत्तम गौ बैल आदि से युक्त हो, स्त्रियां भी (पुरन्धिः) बहुत बुद्धि वाली और कर्म करने वाली हों यह प्रार्थना है। घी शब्द के निघण्टु में बुद्धि कर्म दोनों अर्थ दिए हैं। इस प्रकार जो प्रार्थना की गई है वह विशाल वैदिक राष्ट्रीयता के भाव की सूचना देती है।

अब अथर्ववेद के अंदर पाए जाने वाले राष्ट्रीयता के भावों और कर्तव्यों पर दृष्टि दौड़ानी है।

1. अथर्व. तृतीय काण्ड के चतुर्थ सूक्त में राज्याभिषेक का वर्णन है।

'सर्वास्त्वा राजन् प्रदिशो ह्वयंतु'

'त्वां विशो वृणतां राज्याय त्वामिमाः प्रदिशः पञ्च देवीः'

इत्यादि से राजा के प्रजा द्वारा चुने जाने का भाव अत्यंत स्पष्ट है। ग्रिफिथ महोदय ने टिप्पणी में लिखा है–

Such passages show that the kingship was sometimes elective.

अ. 3। 4। 2 का भाषांतर उन्होंने इस प्रकार किया है–

The tribesmen shall elect thee for the kingship. These five celestial regions shall elect thee.

इत्यादि। इस प्रकार जब राजा का चुनाव भी प्रजा द्वारा होता होगा तो प्रजा का राष्ट्रीय भाव कितना ऊंचा होता होगा, इसकी कल्पना की जा सकती है। अ. 3। 5 । 2 में प्रार्थना है 'अहं राष्ट्रस्याभी वर्गे निजो भूयासमुत्तमः' अर्थात् मैं अपने राष्ट्र के अंदर अत्यंत श्रेष्ठ होऊं। प्रत्येक पुरुष को इस प्रकार सर्वोत्तम बनने की भावना धारण करनी चाहिए ताकि राष्ट्र उन्नत हो सके। अथर्व. 3। 8। 1 में कहा है–

अथास्मभ्यं वरुणो वायुरग्निबृर्हद् राष्ट्रं संवेश्य दधातु।

अर्थात् वरुण-सर्वश्रेष्ठ परमात्मा वा विद्वान् वायु–बलवान् पुरुष, अग्नि-ज्ञानी नेता ये सब हमारे राष्ट्र को (बृहद्) बड़ा और (संवेश्यम्) शांति युक्त बनाएं। ग्रिफिथ महोदय का भाषांतर इस प्रकार है–

Let Agni, Varuna and Vayu mak our dominion tranquil and exalted.'

इस मंत्र के अंदर राष्ट्र को उन्नत और शांति युक्त रखने का भाव साफ तौर

पर गाया जाता है। 3. अथर्व. 3। 19। 5 के अंदर ब्राह्मण पुरोहित प्रधानामात्य की हैसीयत से निम्नलिखित शब्दों का उच्चरण करता है–

एषामहमायुधा संस्याम्येषां राष्ट्रं सुवीरं वर्धयामि।
एषां क्षत्रमजरमस्तु जिष्णवेषां चित्तं विश्वेऽवंतु देवाः।।

अर्थात् (अहम्) मैं (एषाम्) इन सबके (आयुधा) शस्त्रों को (संस्यामि) तेज करता हूं (एषां राष्ट्र) इनके राष्ट्र को (सुवीरं वर्धयामि) अच्छे वीर पुरुषों से युक्त कर के उन्नत करता हूं (एषां क्षत्रम्) इस देश के लोगों का क्षत्रिय समुदाय (जिष्णु) विजयशील और (अजरम् अस्तु) अविनाशी हो (विश्वे देवाः) सब ज्ञानी ब्राह्मण (एषां) इन देशवासियों के (चित्तम् अवन्तु) ज्ञान की रक्षा करें। यह मंत्र अत्यंत महत्वपूर्ण निर्देशों से युक्त है। इसके अंदर निम्नलिखित मुख्य तत्व हैं–

1. शस्त्रास्त्रादि की ठीक व्यवस्था करना और राष्ट्र को वीर बनाकर उन्नत करना ब्राह्मणों का विशेषतः प्रधानामात्य का भी धर्म है।

2. क्षत्रियों की शक्ति को बढ़ाने की ओर प्रत्येक देश-निवासी का ध्यान होना चाहिए।

3. प्रजा को सुशिक्षित करने का काम ब्राह्मणों के हाथ में होना चाहिए।

4. अथर्व. 6। 39। 2 में निम्नलिखित प्रार्थना है–

अच्छा न इन्द्र यशसं यशोभिर्यशस्विनं नमसाना विधेम।
स नो रास्व राष्ट्रमिन्द्रजूतं तस्य ते रातौ यशसः स्याम।।

अर्थात् हे परमेश्वर तू हम सबको यशस्वी बना। यशस्वी होकर हम नम्रता से तेरी ही पूजा करें (नः) हमें (इन्द्र जूतं) ऐश्वर्य युक्त धन धान्य संपन्न (राष्ट्रं रास्व) राष्ट्र को दे, ताकि (ते रातौ) तेरे दान में हम (यशसः स्याम) अत्यंत यशस्वी होवें।

इस मंत्र में भी ऐश्वर्य युक्त राष्ट्र की जो प्रार्थना की गई है वह विशेष ध्यान देने योग्य है उससे वेद के अंदर राष्ट्रीय हित की भावना को कितना महत्व दिया गया है इस बात का अनुमान किया जा सकता है।

5. अथर्व. 7। 6। 2 कें अंदर मातृभूमि को किस प्रकार उन्नत करने का यत्न करना चाहिए इस बात को निम्न शब्दों द्वारा बताया गया है–

महीगृषु मातरं सुव्रतानामृतस्य पत्नीमवसे हवामहे।
तुविक्षत्रामजरंतीमुरूचीं, सुशर्माणमदितिं सु-प्रणीतिम्।।

इस मंत्र में मातृभूमि के लिए निम्न विशेषण कहे हैं–

1. सुव्रतानाम् ऋतस्य पत्नीम्=उत्तम व्रत धारण करने वालों के ज्ञान की रक्षा करने वाली।

2. तुविक्षत्राम्=बहुत क्षात्र बल से युक्त।

3. अजरन्तीम्=जीर्णावस्था व अवनति को न प्राप्त होती हुई।

4. उरूचीम्=अत्यंत विस्तृत।

5. सुशर्माणम्=उत्तम सुख देने वाली।

6. अदितिम्=बंधन रहित अर्थात् स्वतंत्र।

7. सुप्रणीतिम्=उत्तम नीति से युक्त।

इन सब विशेषणों का मनन करने से मातृभूमि के विषय में वैदिक कल्पना समझ में आ सकती है। प्रत्येक पुरुष का चाहे वह किसी भी वर्ण का हो यह कर्तव्य है कि यह उपर्युक्त गुणों से मातृभूमि को संपन्न करने के लिए अपनी योग्यतानुसार प्रयत्न करें। ग्रिफिथ महोदय ने इस मंत्र का भाषांतर इस प्रकार किया है–

We call for help the Queen of Law and order. Great Mother of all those ways are righteous far spread, unwasting, strong in her dominions, Aditi wisely leading, well protecting.

भावार्थ लगभग वही है जो ऊपर दिया गया है। अदिति का अर्थ यहां स्पष्ट करने का यत्न नहीं किया गया उसका अर्थ बंधन रहित सुप्रसिद्ध है जैसे कि निरुक्त में 'अदीना देवमाता' द्वारा बताया गया है। यही मंत्र यजुर्वेद में भी आया है।

6. अथर्व. का 12वां काण्ड सारा ही राष्ट्रीय गीत है। इसमें मातृभूमि के प्रति जो प्रेम का भाव प्रकट किया गया है वह सब दृष्टियों से अद्भुत है।

माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः।
सा नो भूमिर्विसृजतां माता पुत्राय मे पयः।
तस्मै हिरण्यवक्षसे पृथिव्या अकरं नमः।।

इत्यादि मंत्र मातृभूमि के प्रति बहुत ही शुद्ध भक्ति भाव का प्रकाश करने वाले हैं।

ये ग्रामा यदरण्यं या सभा अधि भूम्याम्।
ये संग्रामाः समितयस्तेषु चारु वदेम ते।।

इस 56वे मंत्र में ग्राम, जंगल, सभा, समिति, रण स्थल सर्वत्र प्रत्येक पुरुष को मातृभूमि के हित का चिंतन करना चाहिए यह बात साफ शब्दों में बताई है। इसी सूक्त के 62वें मंत्र में मातृ भूमि को संबोधन करते हुए–

उपस्थास्त अनमीवा अयक्ष्मा अस्मभ्यं संतु पृथिवी प्रसूताः।

हम तेरी सेवा में नीरोग होकर सदा उपस्थित रहें तथा तेरे में उत्पन्न पदार्थों का ही उपयोग करें।

दीर्घ न आयुः प्रतिबुध्यमाना वयं तुभ्यं बलिहृतः स्याम।

यह जो प्रार्थना है वह अत्यंत शुद्ध देशभक्तिपूर्ण हृदय का उद्गार है जिसका तात्पर्य यह है कि (वयं) हम सब (प्रतिबुध्यमानाः) ज्ञानी बनते हुए (तुभ्यं) तेरे लिए (बलिहृतः स्याम) आवश्कयता होने पर अपने प्राणों की भी बलि व आहुति देने को उद्यत रहें और तेरी सेवा करने के लिए (नः दीर्घमायुः) हमारी दीर्घ आयु हो। इन

मंत्रों की व्याख्या अनेक विद्वानों द्वारा पहले भी की जा चुकी है, अतः यहां फिर से मंत्रों का विशेष विवरण करने की आवश्यकता नहीं मालूम होती।

इस प्रकार सामाजिक और राष्ट्रीय कर्तव्यों के बारे में वैदिक दृष्टि से बहुत कुछ विचार किया जा चुका है। यहां प्रश्न एक यह उपस्थित होता है कि देवियों का भी इन सामाजिक व राष्ट्रीय कर्तव्यों के अंदर वेद के अनुसार हाथ होना चाहिए व नहीं। इस विषय पर थोड़ा प्रकाश दूसरे परिच्छेद में डाला जा चुका है तो भी निम्नलिखित दो तीन और मंत्रों पर इसके संबंध में विचार करना चाहिए।

1. ऋग्वेद मंत्र 2 अ. 41 में सरस्वती को संबोधन करते हुए कहा है–

अम्बितमे नदीतमे देवितमे सरस्वति।

अप्रशस्ता इव स्मसि, प्रशस्तिमंब नस्कृधि।।

अर्थात् हे (अम्बितमे) माताओं में श्रेष्ठ (नदीतमे) उपदेशिकाओं में श्रेष्ठ (देवितमे) देवियों में श्रेष्ठ (सरस्वती) विद्यावती देवी (अप्रशस्ता इव स्मसि) हम सब कुछ दुर्गुणों से युक्त हैं (अम्ब) हे मातः (न प्रशस्तिम् कृधि) हमें इन दुर्गुणों व बुराइयों से दूर करके उत्तम गुणी बनाओ। नद धातु का अर्थ शब्द करना धातु पाठ में दिया ही है। इसलिए मंत्र का स्पष्ट तात्पर्य यह है कि विदुषी स्त्रियों को दूसरों के दोषों को अपने उपदेशों द्वारा दूर करके सब को गुणी बनाने का अवश्य यत्न करना चाहिए।

2. यजु. अ. 29। 33 में निम्न मंत्र आया है–

आ नो यज्ञं भारती तूयमेत्विडा मनुष्वदिह चेतयंती।।

तिस्रो देवीबर्हिरेनं स्योनं सरस्वती स्वपसः संदन्तु।।

इस मंत्र में भारती, इडा, सरस्वती इन तीन प्रकार की देवियों के नाम आए हैं। इनसे कई विद्वानों ने मातृभूमि, मातृभाषा तथा मातृ सभ्यता इत्यादि अर्थों का ग्रहण किया है। वह भी उनका अर्थ हो सकता है किंतु यहां उन अर्थों का ग्रहण करने पर मंत्र का भाव विशेष स्पष्ट नहीं होता। मेरे विचारो में यहां भारती इडा सरस्वती पदों से 24, 20, 16 वर्ष की ब्रह्मचारिणियों का ग्रहण हो सकता है। इसके लिए इसी अध्याय के 8वें मंत्र में–

आदित्यैर्नो भारती वष्टु यज्ञं, सरस्वती सह रुद्रैर्व आवीत्।

इडोपहूता वसुभिः सजोषा यज्ञं नो देवीरमृतेषु धत्त।।

इस प्रकार जो आदित्य रुद्र, वसु, ब्रह्मचारियों से इनका संबंध जोड़ा गया है, वही आधार है पर विषय में निश्चय से कुछ कहना कठिन है। खैर इन तीनों पदों से ज्ञानादि गुण युक्त देवियों का ग्रहण है इतनी बात निर्विवाद है। तब अर्थ होगा कि (भारती) भरण-पोषण का उपदेश करने वाली देवी (नः यज्ञं) हमारे सम्मेलन में (तूयम् एतु) शीघ्र आए (मनुष्यवत्) मननशील ज्ञानियों की तरह (चेतयंती) उत्तम बातों का बोध कराने वाली (इडा) उत्तम वाणी युक्त देवी यहां जल्दी आए। इसी प्रकार सरस्वती परंपर प्राप्त ज्ञान से संपन्न विदुषी देवी यहां हमारे यज्ञ में सम्मिलित होवे।

ये (स्वपसः) शुभ कर्म करने वाली (तिस्रः देवीः) तीनों तरह की देवियां (एनं) इस (स्योनं बर्हिः) सुखदायक आसन को (सदंतु) अलंकृत करें। इस मंत्र से माफ है कि पुरुषों के समान सत्यासत्य का उपदेश करके कर्तव्यों का बोध कराना देवियों का भी कर्तव्य है और सब सज्जनों का कर्तव्य है कि ऐसी योग्य देवियों को सभा सम्मेलनों में विशेष रूप से निमंत्रण देवें।

3. अथर्व. 7। 48। 2 का निम्न मंत्र भी यहां विचार करने योग्य है।

यास्ते राके सुमतयः सुपेशशो याभिर्ददासि दाशुषे वसूनि।
ताभिर्नो अद्य सुमना उपागहि सहस्रपोषं सुभगं रराण।

इसका अर्थ यह है कि हे (राके) पौर्णमासी के समान सब को आह्लादित करने वाली देवी ! (यांः ते सुमतयः) जो तेरी उत्तम बुद्धि है और जो (सुपेशसः) उत्तम तेरा रूप है (याभिः) जिन से तू (दाशुषे वसूनि ददासि) श्रद्धालु भक्त को उत्तम ऐश्वर्य का दान करती है (सुमनाः) उत्तम प्रसन्न मन वाली तू (ताभिः) उन बुद्धि और रूप के साथ (नः उपागहि) हमारे पास आ जा। हे सौभाग्यवती देवी ! (सहस्र पोषं रराणा) अत्यंत उत्तम पुष्टि को देती हुई तू हमारे समीप आजा। तात्पर्य यह है कि देवियों को अपने अंदर उत्तम गुणों को धारण करते हुए दूसरों के उपकार के लिए सदा उद्यत रहना चाहिए। लेख विस्तार के भय से इस विषय में अधिक प्रमाण देना अनावश्यक है। इन वेदोक्त सामाजिक और राष्ट्रीय कर्तव्यों को हमें बार बार मनन करना चाहिए। प्रत्येक वेदानुयायी पुरुष और स्त्री को अपनी शारीरिक, मानसिक और आत्मिक शक्तियों का विकास करते हुए परोपकार में उन्हें लगा देना चाहिए। मातृभूमि की सेवा करना प्रत्येक पुरुष का प्रधान धर्म है कभी कोई ऐसा कार्य न करना चाहिए जिससे मातृभूमि का अहित होता हो। इस प्रकार वैदिक आर्य जीवन बनाते हुए ही हम अपने जीवन को पूर्ण सुखमय बना सकते हैं अन्यथा नहीं।

चतुर्थ परिच्छेद

वैदिक कर्तव्य शास्त्र पर तुलनात्मक विचार

इस परिच्छेद में ईसाई और बौद्ध मत के ग्रंथों की कर्तव्य शास्त्र विषयक कुछ उत्तम शिक्षाएं लेकर उनकी वैदिक कर्तव्य शास्त्र के साथ संक्षेप से तुलना करने का विचार है। बाइबिल के पुराने और नए वसीयतनामे के नाम से दो मुख्य भाग हैं। इनमें से पुराने वसीयतनामे में वस्तुतः कर्तव्यशास्त्र विषयक कोई उल्लेख योग्य महत्वपूर्ण शिक्षा नहीं पाई जाती है। दस आज्ञाएं अन्यों की अपेक्षा कुछ उच्च कोटि की हैं उनका नीचे उल्लेख किया जाता है।

1. परमेश्वर के आगे और किसी को देवता न मानना,
2. कोई मूर्ति व प्रतिमा तू ने न बनाना न उनकी पूजा करना,
3. व्यर्थ परमेश्वर का नाम न लेना,
4. साबाथ दिन को पवित्र रखना,
5. तू ने किसी को न मारना,
6. व्यभिचार न करना,
7. चोरी न करना,
8. अपने पड़ोसी के विरुद्ध साक्षी न देना,
9. अपने माता पिता का सत्कार करना,
10. अपने पड़ोसी का घर, स्त्री, नौकर चाकर, बैल, गधा अथवा अन्य कोई भी चीज तू लेने की इच्छा न कर।

ये 10 आज्ञाएं एक्सोडस (Exodus) नामक पुस्तक के 20वें अध्याय में पाई जाती हैं। इन आज्ञाओं में कोई अपूर्व अथवा विशेष महत्वपूर्ण बात नहीं है। इनमें से 5, 6, 7, 8 और 10 संख्या पर दी हुई आज्ञाएं क्रमशः अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्तेय, सत्य यथा अपरिग्रह का संकुचित रूप में उपदेश करने वाली हैं। यहां यद्यपि न मारने की सामान्य आज्ञा है तथापि लेविटिकस अ. 4 इत्यादि में साफ ही पाप के प्रायश्चित के रूप में बकरी, बकरे, बैल इत्यादि की बलि चढ़ाने का विधान है, इसलिए यहां वह व्यापक योगशास्त्र में वर्णित अहिंसा तत्व नहीं जिस की व्याख्या करते हुए भाष्यकार व्यास मुनि ने कहा है—तत्राहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहः। वही बात ब्रह्मचर्यादि के विषय में भी सत्य है। अब गौतम बुद्ध भगवान् ने अपने शिष्यों को

जो दस बुरी बातें छोड़ने का उपदेश किया था उसका यहां तुलनात्मक रीति से निर्देश किया जाता है।

1. किसी को न मारो पर जीवन के लिए आदर रखो।

2. चोरी न करो न लूटो किंतु प्रत्येक को अपने परिश्रम के फल का स्वामी बनने में सहायता दो।

3. अपवित्रता से दूर रहकर पवित्र जीवन व्यतीत करो।

4. असत्य न बोलो किंतु सत्यवादी बनो। निर्भयता और प्रेमपूर्ण हृदय से विवेक पूर्वक सत्य बोलो।

5. दूसरों के दोष ने देखते फिरो और न अपने साथियों के विषय में झूठी बातें घड़ते रहो।

6. शपथ न खाओ किंतु प्रभावजनक रूप से उत्तम बात बोलो।

7. व्यर्थ बातचीत में समय न गंवाओ किंतु उपयोगी बात बोलो अन्यथा चुप रहो।

8. लोभ और ईर्ष्या न करो किंतु दूसरों के उत्तम भाग्य पर खुशी मनाओ।

9. अपने हृदय को दुष्ट भावों से और घृणा से सर्वथा दूर रखो शत्रुओं से भी घृणा न करो किंतु सब प्राणियों पर दया करो।

10. अपने मन को अज्ञान से मुक्त करो और आवश्यक विषयों में सत्य जानने को उत्सुक रहो ताकि तुम संदेह या अशुद्धि का शिकार न बनो।

Gospel of Buddha by Paul Caruls. पृ. 106

पुराने वसीयतनामे में दिए हुए आदेशों की अपेक्षा ये आदेश बहुत महत्वपूर्ण हैं, इसमें कोई संदेह नहीं हो सकता। इनमें अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य अपरिग्रह का स्पष्ट उपदेश है। धम्मपद के निम्नलिखित दो श्लोक भी इस विषय में उल्लेख योग्य हैं–

यो पाणमतिपातेति, मुसा वादं च भासति।
लोके अदिन्नं आदियति परदारं च गच्छति।। 12।।
सुरा मेरय पानं च, यो नरो अनु युञ्जति।
इधेव मेसो लोकस्मिं, मूलं खणति अत्तनो।। 13।।

ध. प. मलवग्ग।

इन श्लोकों में कहा है कि जो पुरुष दूसरे प्राणी के प्राण लेता है, जो असत्य बोलता है, जो पराए धन को लेता है, जो परस्त्री गमन व व्यभिचार करता है और जो मद्यपान करता है वह पुरुष इसी लोक में अपनी जड़ खोदता है अर्थात् अपना नाश कर डालता है।

नए वसीयतनामे में जीसस द्वारा प्रचारित कर्तव्य शास्त्र विषयक कई अत्युत्तम तत्वों का प्रतिपादन है। उनका आधार अधिकतर बौद्ध ग्रंथों पर मालूम होता है।

यहां हम 4, 5 मुख्य तत्वों को लेकर बौद्ध और ईसाई शिक्षाओं की तुलना करेंगे और फिर किसी परिणाम पर पहुंचेंगे।

1. मैथ्यू अ. 7। 3-5 जीसस की निम्नलिखित शिक्षा दी है–

Why beholdest thou the mote that is in thy brother's eye but considerest not the beam that is in thine own eye ?

Thou hypocrite, first cast out the beam of thine own eye and then shalt thou see clearly to cast out the mote out of thy brother's eye.

इन दो वाक्यों में दूसरों के दोष देखने में अपना समय न नष्ट करके पहले अपने दोष दूर करने चाहिए, फिर दूसरों की तरफ नजर डालनी चाहिए, यह भाव प्रकट किया गया है। इसी तत्व को प्रसिद्ध बौद्ध ग्रंथ धम्मपद में इन शब्दों में बताया गया है–

न परेसां विलोमानि न परेसां कताकतम्।
अत्तनोऽव अवेक्खेय कतानि अकतानि च।। 7।।

पुष्फ वग्ग

इसका अर्थ यह है कि दूसरों के विपरीत आचरण और किए हुए बुरे कर्मों की तरफ नहीं देखना चाहिए किंतु अपने कामों की अच्छी तरह परीक्षा करनी चाहिए। मल वग्ग के–

सुदस्सं वज्जमञ्ञेसं अत्तनो पन दुद्दसम्।

इत्यादि श्लोकों में भी दूसरों के दोष न देखकर बुद्धिमान् अपने ही दोषों का पहले विचार करते हैं यह बात बताई गई है।

2. मै. 7 । 12 में जीसस ने एक अत्युत्तम कर्तव्य शास्त्र विषयक तत्व का प्रतिपादन किया है जिसे स्वर्ण नियम के नाम से कहा जाता है। वह नियम निम्न शब्दों में बताया गया है–

All things whatsoever ye would that men should do to you, do ye even so to them.

अर्थात् तुम मनुष्यों से जैसा व्यवहार चाहते हो उनके साथ वैसा ही व्यवहार करो।

धम्मपद में इसी तत्व को इस प्रकार बताया गया है–

सव्वे तस्सान्ति दण्डस्स, सव्वेसं जीवितं पिय।
अत्तानं उपमं कत्वा, न हनेय्य न घातये।।

ध. प. दण्ड वग्ग

इसका अर्थ यह है कि सब पुरुष दण्ड से डरते हैं और सभी को जीवन प्रिय है इसलिए अपने समान सबको समझते हुए न प्राणियों को मारे और न मरवाए।

सुत्त निपात नालुक सुत्त में भी इसी भाव को यह श्लोक आया है–

यथा अहं तथा एते, यथा एते तथा अहं।
अत्तानं उपमां कत्वां, न हनेय्य न घातये।।

ना. सु.।। 27।।

अर्थात् जैसे मैं हूं वैसे ही ये सब प्राणी हैं इस प्रकार सबको अपने जैसा समझकर न किसी को मारे न मरवाए इत्यादि।

यहां इतना कह देना आवश्यक है कि ईसाई धर्म पुस्तक में इस अहिंसा तथा आत्मौपम्यदृष्टि को संकुचित रूप में ही स्वीकार किया गया है। पशु हिंसा का उसमें स्पष्ट निषेध नहीं, जैसा कि बौद्ध ग्रंथ में दिए हुए श्लोकों में है।

महाभारत शांति पर्व 258। 19, 21 में इसी तत्व को बहुत ही स्पष्ट शब्दों में बताया गया है। यथा–

यदन्यैर्विहितं नेच्छेदात्मनः कर्म पूरुषः।
न तत्परेषु कुर्वीत जानन्नप्रियमात्मनः।।
जीवितं यः स्वयं चेच्छेत्कथं सोऽन्यं प्रघातयेत्।
यद् यदात्मनि चेच्छेत तत्परस्यापि चिंतयेत्।।

इन श्लोकों का भाव वही है जो ऊपर दिए हुए श्लोकों का है। दूसरों से तुम जैसा व्यवहार नहीं चाहते, दूसरों के साथ भी उस तरह का व्यवहार न करो इत्यादि। वेद में इस का मूल दिखाया जा चुका है।

3. मै. 5। 44 में जीसस ने निम्नलिखित शिक्षा अपने शिष्यों को दी है–

''love yourd enemies, bless them that curse you' do good to them that hate you and pray for them which dispitefully use you and persecute you''

अर्थात् अपने शत्रुओं से प्रेम करो। जो तुम्हें शाप देवें उनको आशीर्वाद दो, जो तुम से घृणा करते हैं उनके साथ भी भलाई करो, जो तुम्हारे पर अत्याचार करते हैं उनके लिए भी प्रार्थना करो इस शिक्षा के अत्युत्तम होने में कोई संदेह नहीं पर निम्नलिखित वाक्यों से यह स्पष्ट हो जाएगा कि यह शिक्षा कोई अपूर्व नहीं।

धम्मपद कोधवग्ग में बुद्ध भगवान् ने कहा है–

1. **अक्कोधेन जिने कोधं, असाधुं साधुना जिने।**
जिने कदरियं दानेन, सच्चेन आलिक वादिनम्।

अर्थात् क्रोध को अक्रोध के द्वारा जीतना चाहिए, दुष्ट को साधु व्यवहार के द्वारा जीतना चाहिए, कृपण को दान के द्वारा और झूठ बोलने वाले को सत्य के द्वारा जीतना चाहिए।

ब्राह्मण वग्ग में बुद्ध भगवान् ने इसी तत्व का प्रतिपादन करते हुए कहा है–

2. **अक्कोसं वधवन्धं च, अदुट्ठो यो तितिक्खति।**
खन्ति बलं बलानीकं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणम्।

अर्थात् दूसरों के दिए हुए गाली गलौच आदि को जो अदुष्ट भाव से सहन करता है, क्षमा ही जिसका बल और सैन्य है उसको मैं ब्राह्मण कहता हूं।

3. सुख वग्ग में निम्नलिखित श्लोक आया है–

सुसुखं वत जीवाम, वेरिनेसु अवेरिनो।
वेरिनेसु मनुस्सेसु विहराम अवेरिनो।।

जिसका अर्थ यह है कि शत्रुओं के साथ भी शत्रुता न करते हुए हम सब सदा सुख से जीवन व्यतीत करें।

(ध. प. सुख वग्ग)

4. धम्म पद के प्रथम ही यमकवग्ग में इसी अवैर तत्व को बताते हुए कहा है–

नहि वेरेण वेराणि, समन्तीध कदाचन।
अवेरेण तु सम्मन्ति, एस धम्मो सनातनो।।

अर्थात् वैर करने से कभी वैर शांत नहीं होता किंतु अवैर से ही शांत होता है यही सनातन धर्म है।

मनुस्मृति में 'क्रुध्यतं न प्रतिक्रुध्येदाक्रुष्टः कुशलं वदेत्। अ. 3। 48 ब्राह्मण संन्यासी के धर्म बताते हुए कहा है कि वह क्रोध करने वाले के भी प्रति क्रोध न करे, गाली देने पर वह आशीर्वाद देवे। महाभारत उद्योग पर्व अ. 71। 58 में–

अक्रोधेन जयेत्क्रोधमसाधुं साधुना जयेत्।
जयेत्कदर्यं दानेन, जयेत्सत्येन चानृतम्।

यह श्लोक आया है जिसका धम्मपद से उल्लेख किया जा चुका है। इस तरह उत्तम होने पर भी यह शिक्षा सर्वथा नवीन नहीं यह बात साफ है। शत्रुओं के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए इस विषय में वेद का जो मत है उसका आगे इसी अध्याय में उल्लेख किया जाएगा।

4. मै. 5। 6, 10 में जीसस ने शिष्यों के प्रति कहा है।

'Blessed are they which do hunger and thirst after righteousness...Blessed are they that are persecuted for righteousness' sake; for theirs is the Kingd om of heaven. अर्थात् जिन लोगों को धर्म के लिए कष्ट उठाने और अत्याचार सहन करने पड़ते हैं वे लोग धन्य हैं।

धम्मपद पण्डित वग्ग में बुद्ध भगवान् ने पंडितों अथवा बुद्धिमानों का स्वभाव बताते हुए कहा है–

सुखेन फुठ्ठा अथवा दुखेन, न उच्चावचं पंडिता दस्सयंति।
न अत्त हेतु न परस्स हेतु, न पुत्तमिच्छे न धनं न रठ्ठं।
न इच्छे अधम्मेन समिद्धिमत्तनो, स सोलवा पञ्ञवा धम्मिको सिया।।

इन श्लोकों का अर्थ यह है कि बुद्धिमान् पुरुष वे हैं जो सुख हो या दुःख

हो सदा एक रूप रहते हैं और किसी तरह का विकार नहीं सूचित करते। जो पुरुष अपने लिए न दूसरों के लिए या पुत्र धन अथवा राष्ट्र की प्राप्ति के लिए अधर्म करता है। जो कभी अधर्म से अपनी समद्धि नहीं चाहता वही सदाचारी और धर्मात्मा है। तात्पर्य यह है कि सदा धर्म का ही पालन करना चाहिए कितनी भी आपत्ति क्यों न आए, कितना बड़ा प्रलोभन क्यों न सामने उपस्थित हो, पर धर्म को नहीं छोड़ना चाहिए। वेद में सदा ऋत सत्य के मार्ग पर चलने से ही कल्याण हो सकता है इस तत्व का 'सुगः पंथा अनृक्षर आदित्यास ऋतं यते। नात्रावखादो असित वः।' इत्यादि मंत्रों द्वारा स्पष्ट प्रतिपादन किया है। किस प्रकार देव अर्थात् ज्ञानी लोग सदा सत्य के ही व्रत का पालन करते हैं यह बात 'ऋतावान ऋतजाता ऋतावृधों घोरासो अनृतद्विषः।' इत्यादि मंत्रों की व्याख्या करके अनेक स्थानों पर दिखाई जा चुकी है, अतः फिर उन मंत्रों का उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं। ऊपर के मंत्र में देवों की अनृतद्विषः अर्थात् un-righteousness का घोर द्वोषी बताया है यह बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। इस विषय में महाभारत के–

'न जातु कामान्न भयान्न लोभाद् धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।

स्वर्गारोहण पर्व अ. 5। 63

इत्यादि वचन भी स्मरण करने योग्य हैं जिनमें काम, भय, लोभ के वश में होकर और यहां तक कि अपने जीवन तक की रक्षा के लिए भी धर्म को नहीं छोड़ना चाहिए यह साफ शब्दों में बताया गया है।

5. मै. अ. 23 में जीसस ने उस समय के याजक पुरोहित लोगों को धमकाते हुए कहा है–

'Woe unto you, Scribes and Pharisees, hypocrites for ye make cleanse the outside of the cup but within they are full from extortion and excess.'

अर्थात् तुम्हें धिक्कार है ऐ दंभी लोगो ! तुम प्याले के बाहर खूब मौज लेते हो पर उसका अंदर का भाग मैल से भरा रहता है। इस प्रकार के वाक्यों में बाह्य शुद्धि की अपेक्षा आंतरिक शुद्धि बहुत आवश्यक है इस बात को सूचित किया गया है। धम्म पद में भगवान् गौतम बुद्ध ने भी सर्वत्र बाह्य चिह्नों और आडंबरों को तुच्छ बताते हुए अंदरूनी शुद्धि पर जोर दिया है। उदाहरणार्थ ब्राह्मण वग्ग श्लोक 12 में कहा है–

किं ते जटाहि दुम्मेध, किं ते अज़िन साटिया।
अब्भन्तरं ते गहनं, बाहिरं परमिज्जसि।।

अर्थात् 'ऐ मूर्ख ! जटाओं और चर्म वस्त्रादि से तेरा क्या बनेगा ? तेरे अंदर तो बड़ा मैल भरा हुआ है बाहर से तू शुद्ध दिख़ाई देता है।' भाव में समानता स्पष्ट है।

दण्ड वग्ग श्लोक. 13-14 में इसी आंतरिक शुद्धि के भाव को प्रधानता देते हुए बुद्ध भगवान् ने कहा है कि नग्न चर्या, जटा, उपवास, यज्ञवेदि में शयन इत्यादि उस पुरुष को शुद्ध नहीं कर सकते जिसने तृष्णा का परित्याग नहीं किया। इस के विपरीत जो पुरुष ब्रह्मचर्य का पालन करता हुआ। शांत दांत सब भूतों पर दया दृष्टि रखता हुआ वस्त्रादि से सुशोभित होकर भी विचरण करता है वही ब्राह्मण श्रमण और भिक्षु है। वेद के अंदर–'भद्रं नो अपि वातय मनो दक्षमुत क्रतुम्,' 'तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु,' 'अगन्महि मनसा सं शिवेन मागन्महि मनसा दैव्येन' इत्यादि मंत्रों द्वारा साफ शब्दों में मन की पवित्रता पर ही अधिक जोर दिया गया है। अच्छे वस्त्रादि धारण करने का वेद में न केवल कहीं निषेध नहीं किया गया बल्कि 'युवा सुवासाः परिवीत आगत् स उ उ श्रेयान् भवति जायमानः।' इत्यादि द्वारा अच्छे वस्त्र धारण करने को भी एक आवश्यक कर्तव्य बताया गया है।

6. मै. 6। 19 के अनुसार जीसस ने शिष्यों को उपदेश करते हुए कहा है–

'Lay not up for yourselves treasures upon earth.'

अर्थात् अपने लिए तुम कोई भौतिक खजाना न रखो। अ. 10। 9 में–

'Provide neither gold nor silver nor brass in your purses.'

इसमें भी उसी बात को फिर दुहराया है। एक दूसरे स्थान पर उसने यहां तक कहा है कि एक धनी पुरुष के स्वर्ग व ईश्वर राज्य में जाने की अपेक्षा ऊंट का सूई की नोक में से निकलना सुगम है।

भगवान् गौतम बुद्ध ने भी धम्म पद में अनेक स्थानों हर इसी बात का उल्लेख किया है यथा ब्राह्मण वग्ग में कहा है–

अकिंचनं अनादानं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणम्।

अर्थात् जिसके पास कुछ धन नहीं और–

यस्य पुरे च पच्छा च, मज्झे च नत्थि किंचनं।
अकिंचनं अनादानं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणम्।।

अर्थात् जिसके पास पूर्व, पश्चिम और मध्य में कुछ भी धन नहीं है तिस पर भी जो दूसरों से धन नहीं लेता उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं। इस प्रकार इन दोनों भावों की समानता है। अन्य भी निष्काम भावादि अनेक विषयों में बौद्ध और ईसाई धर्म ग्रंथों की शिक्षाओं की समानता दिखाई जा सकती है पर निबंध विस्तार के भय से इस समानता के विषय को हम नहीं समाप्त करते हैं। अब बौद्ध धर्म के कर्तव्य शास्त्र विषयक तत्वों की वैदिक कर्तव्य शास्त्र के साथ तुलना करेंगे जिससे इन दोनों का संबंध निश्चय करने में कुछ सहायता मिल सकेगी।

बौद्ध कर्तव्य शास्त्र की मूलभूत दो बातों का निर्देश करना यहां आवश्यक है (1) चार आर्य सत्य (2) आर्य अष्टांग मार्ग। धम्म पद बुद्ध वग्ग में इनका इस प्रकार निर्देश किया गया है–

चत्तारि अरिय सच्चानि सम्मञ्ञा य पस्सति।।
दुःख दुःखसमुत्पादं दुक्खस्य च अतिक्कमं।
अरियं चऽठ्ठठङ्गिकं मग्गं दुक्खूपसमगामिनं।।
एतं खो सरणं खेमं, एतं सरणमुत्तममं।
एतं सरणमागम्म सब्ब दुक्खा प्रमुच्चति।।

इन श्लोकों में बताए हुए 4 आर्यसत्य निम्न हैं–

1. संसार में दुःख है।
2. दुःख का मूल कारण तृष्णा है।
3. तृष्णा के नाश से ही दुःख का निरोध हो सकता है।
4. दुःख के नाश के लिए अष्टाङ्ग मार्ग बौद्ध ग्रंथों में निम्न प्रकार बताया है–

1. सम्मा दिठ्ठि = (सम्यग् दृष्टि) ठीक दृष्टि व ज्ञान।
2. सम्मा संकल्प = (सम्यक् संकल्प) शुद्ध संकल्प।
3. सम्मा वाचा = शुद्ध वाणी।
4. सम्मा कम्मंत = शुभ कर्म।
5. सम्मा आजीव = शुद्ध आजीविका।
6. सम्मा व्यायाम = शुद्ध व्यायाम या परिश्रम।
7. सम्मा सति = शुद्ध विचार।
8. सम्मा समाधि = शुद्ध ध्यान व मन की शांत स्थिति।

बुद्ध भगवान् ने इन सत्यों को आर्य सत्य और इस मार्ग को आर्य अष्टाङ्ग मार्ग का नाम दिया है। पंडित वग्ग श्लोक 4 में कहा है–

अरियप्पवेदिते धम्मे सदा रमति पंडितः।

अर्थात् पंडित सदा 'आर्य प्रवेदित' अथवा आर्यों द्वारा बताए हुए धर्म में रमण करता है। मग्ग वग्ग श्लोक 9 में कहा है कि–

वाचानुरक्खीमनसा सुसंवुतो कायेन च अकुसलं न कयिर।
एते तयो कम्मपथे विसोधये आराधये मग्ग मिसिप्पवेदितं।।

इसका अर्थ यह है कि वाणी मन शरीर किसी से कोई पाप न करे और सदा 'ऋषियों द्वारा बताए हुए मार्ग, पर चलता रहे। इसका संस्कृत रूप 'आराधयेन्मार्गमृषिप्रवेदितं' है जिसका अर्थ यह है कि ऋषि प्रोक्त मार्ग पर चले। इससे यह बात स्पष्ट है कि यह अष्टांग मार्ग जिसका यहां उपदेश किया गया है कोई नवीन नहीं किंतु वैदिक साहित्य से ही लिया हुआ है। तुलनात्मक विचार करने पर हमें स्पष्ट ज्ञात होता है कि कर्तव्य शास्त्र विषयक गौतम बुद्ध की शिक्षाओं का आधार प्रायः पतञ्जलि मुनि के योग दर्शन पर है। पांच यमों के अनुसार बुद्ध की आज्ञाओं को निर्देश किया जा चुका है। चार आर्य सत्यों का मूल भी योग दर्शन के–

'परिणाम-ताप-संस्कार-दुःस्वैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्व विवेकिनः, प्रकृति पुरुषयोः संयोगो हेयहेतुः, संयोगस्यात्यन्तिकी निवृत्तिर्हानम्' इत्यादि सूत्रों में स्पष्ट पाया जाता है। व्यास मुनि ने अपने भाष्य में 'एवमिदमपि योग-शास्त्रं चतुर्व्यूहमेव तद् यथा हेयं, हेयहेतुः, हानं, हानोपायः' यह कहकर बिल्कुल स्पष्ट आर्य सत्यों का प्रतिपादन किया है। सम्यगदर्शनादि के विषय में भी व्यास मुनि का लेख योग-भाष्य में देखने योग्य है 'एवमनादि दुःखस्रोतसा व्युह्यमानमात्मानं भूतग्रामं च दृष्ट्वा योगी सर्वदुःखक्षयकारिणं 'सम्यग्दर्शनं' शरणं प्रतिपद्यते।। (साधन पाद सू. 15 का व्यास भाष्य) यहां सम्यग्दर्शन का सर्व दुःख नाश का कारण बताया है। इसी को बुद्ध ने सम्मादिष्टि का नाम दिया। योग दर्शन के ही आधार पर गौतम बुद्ध ने इन आर्य सत्यों और अष्टांग मार्गादि का उपदेश किया, इसके लिए अन्य भी अनेक प्रमाण पेश किए जा सकते हैं, उदाहरणार्थ दण्ड वग्ग में दुःख से छूटने का उपाय बताते हुए भगवान् बुद्ध ने कहा है–

सद्धाय सीलेन च विरियेन च, समधिना धम्मविनिच्छयेन च।
संपन्न विज्जाचरणा परिस्सुता, पहस्सथ दुक्खमिदं अनप्पकम्। 16।

इसका तात्पर्य यह है कि तुम श्रद्धाशील, वीर्य, समाधि, धर्म निश्चय और विद्या के द्वारा दुःख का परित्याग कर सकोगे। योग दर्शन 1। 120 के 'श्रद्धा वीर्य स्मृति समाधि, प्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्' इत्यादि साधन पाद के सूत्रों के साथ इसकी अद्भुत समानता है। इसी प्रकार बुद्ध वग्ग में लिखा है–

अपिदिब्बेसु कामेसु, रतिं सो नाधिगच्छति।
तण्णक्खय रतो होति, संमासं बुद्ध सावको।। 9।।

इसमें बुद्धोपासक तृष्णा-क्षय में निरंतर तत्पर रहता है और दिव्य कामों में भी वह रति को नहीं प्राप्त होता। व्यास भाष्य में प्राचीन किसी ग्रंथ से यह श्लोक उद्धृत किया गया है–(साधन पाद सू. 42 का भाष्य)

यच्च कामसुखं लोके, यच्च दिव्यं महत्सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्।।

अर्थात् जो कुछ भी दिव्य बड़ा भारी सुख है वह तृष्णाक्षय से जो सुख प्राप्त होता है उसका 16वां भाग भी नहीं है। इसी तरह योगदर्शन के 'मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुख-दुःखपुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्' इस सूत्र में बताई हुई भावनाओं के अनुसार धम्म-पदादि बौद्ध ग्रंथों में ब्रह्मविहार के नाम से मेत्ता विहारा, करुणा, मुदिता, उपेक्खा इन चार भावनाओं का उपदेश पाया जाता है। भिक्खु वग्ग में 'मेत्ता विहारी यो भिक्खु प्रसन्नो बुद्ध सासने' इत्यादि शब्द आए हैं। इन सब उदाहरणों से यह बात स्पष्ट ज्ञात होती है कि बौद्ध कर्तव्य शास्त्र का आधार अधिकतर आर्ष साहित्य पर ही था। मरते समय तक बुद्ध भगवान् ने शिष्यों को स्पष्ट कहा कि मैं किसी नवीन धर्म का प्रचार नहीं कर रहा किंतु प्राचीन धर्म के तत्वों को ही लोगों के सामने

रख रहा हूं। ब्राह्मण धाम्मिक सुत्त आदि में इस बात को बहुत ही स्पष्ट कर दिया है इसलिए यह मानना असंगत न होगा कि सीधे रूप में चाहे न हो पर बुद्ध की शिक्षाओं का आधार वैदिक कर्तव्य शास्त्र पर अवश्य था। वैदिक कर्तव्य शास्त्र के अंदर जिस कर्म नियम का प्रतिपादन है उसको बौद्ध ग्रंथों में कितने जोरदार शब्दों में बताया है। पाप वग्ग में बुद्ध भगवान् ने उपेदश किया है–

न अंतलिक्खे न समुद्दमज्झे न पव्वतानां विवरं पविस्स।
न विज्जतीसो जगतिप्पदेसो यत्रट्ठितो मुंचेय पाप कम्मा।।

अर्थात् अंतरिक्ष में समुद्र के मध्य में, पर्वतों की गुफाओं में, सारे संसार में कोई भी ऐसा प्रदेश नहीं है जहां बैठकर पापी अपने पाप के परिणाम से बच जाए। इसके साथ वेद के–

'यस्तिष्ठति चरति, उत यो द्यामतिसर्पात्' इत्यादि की तुलना करनी चाहिए। अष्टांग मार्ग का आधार भी वेद में स्पष्ट पाया जा सकता है। सम्यग्दर्शन के विषय में 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति् नान्यः पंथा विद्यतेऽयनाय' यह ऋ. 10। 90 इत्यादि में आया हुआ वेद मंत्र उद्धृत किया जा सकता है जिसमें यथार्थ ज्ञान को मोक्ष के लिए आवश्यक बताया गया है। सम्मा संकल्प का आधार 'तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु' इत्यादि वेद मंत्रों पर हो सकता है ! सम्मा वाचा के लिए 'अन्यो अन्यं वल्गु वदंत एत' (अथर्व. 3। 30। 4) वाचं जुष्टां मधुमतीमवादिषं, देवानां देवहूतिषु (अ. 5। 7। 4) इत्यादि वेद मंत्रों को देखना चाहिए जिनमें मीठे उत्तरा वचन बोलने का स्पष्ट कथन है।

सम्मा कम्मन्त के लिए 'परियाग्ने दुश्चरिताद् बाधस्वा मा सुचरिते भज (यजु. 4। 28) 'आनो भद्राः क्रतवो यंतु विश्वतोऽदब्धासो अपरीतास उद्भिदः' इत्यादि मंत्रों पर विचार करना चाहिए जहां दुष्ट आचरणों का परित्याग कर के उत्तम कर्म करने का निश्चय प्रकट किया गया है। शुद्ध आजीविका के ऋग्वेद के 'शुद्धो रयिं निधारय, शुद्धो ममद्धि सोम्यः' इत्यादि मंत्रों को स्मरण करना चाहिए जिनमें स्पष्ट ही शुद्ध होकर तुम धन को धारण करो और शुद्ध और सौम्य गुण युक्त होकर भोग करो यह आदेश है। शुद्ध ध्यान और विचार के विषय में फिर से वेद मंत्र उद्धृत करने की आवश्यकता नहीं क्योंकि दूसरे परिच्छेद में पर्याप्त वेद मंत्रों का इसके बारे में उल्लेख किया जा चुका है। सामाजिक कर्तव्यों के विषय में भगवान् गौतम बुद्ध के विचार भी वैदिक कर्तव्य शास्त्र के साथ ही बहुत कुछ समानता रखने वाले हैं। वैदिक वर्ण व्यवस्था का समर्थन करते हुए बुद्ध भगवान् ने ब्राह्मण वग्ग में बनाया है–

"न जटा हि न गोत्तेन न जच्चा होति ब्राह्मणो।
यम्हि सच्चं च धम्मो च सो सुची सो च ब्राह्मणो।।"

26। 11

अर्थात् जटाएं धारण गोत्र अथवा जाति से कोई ब्राह्मण नहीं होता। जिसमें

सत्य और धर्म हैं वहीं पवित्र है, वही ब्राह्मण है।

अकक्कसं विञ्ञापनिं, गिरं सच्चं उदीरये।

याय नाभिसजे किञ्चिं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणम्।। 26। 26

जो कोमल, शिक्षादायक सच्ची बात को बोलता है और किसी कार्य व वस्तु में आसक्त नहीं होता उसी को मैं ब्राह्मण कहता हूं।

श्लोक 21 में कहा है जो गंभीर बुद्धि वाला मेधावी, मार्ग और अमार्ग जानने वाला और उत्तम अवस्था को प्राप्त हुआ है उसी को मैं ब्राह्मण कहता हूं। श्लोक 9 'यस्स कायेन वाचाय, मनसा नत्थि दुक्तं। संव्रतं तीहि ठखेहि तमहं श्रयि ब्राह्मणं।।' में कहा है, काय वचन और मन से जिसके अंदर किसी तरह का पाप नहीं तीनों को जिसने संवृत्त अर्थात् गुप्त-सुरक्षित करके रखा हुआ है उसी को मैं ब्राह्मण कहता हूं। सुत्तनिपात 650 में कहा है–

न जच्चा ब्राह्मणो होति, न जच्चा होति अब्राह्मणो।

कम्मणा ब्राह्मणो होति, कम्णा होति अब्राह्मणो।।

655 श्लोक में कहा है–

तपेन ब्रह्मचरियेण, संयमेन दमेन च।

एतेन ब्राह्मणो होति एतं ब्राह्मणमुत्तमम।।

अर्थात् जन्म से कोई ब्राह्मण या अब्राह्मण नहीं होता किंतु कर्म से ही अब्राह्मण होता है। तप, ब्रह्मचर्य, संयम, दम इनके द्वारा पुरुष ब्राह्मण बनता है ऐसा ब्राह्मण ही उत्तम है। तृतीय परिच्छेद में वेद के अनुसार ब्राह्मणों के जो लक्षण और कर्म बताए गए हैं उनके साथ इन वाक्यों की तुलना करने पर बड़ी समानता दिखाई देती है। वेदों के अंदर शारीरिक, वाचिक और मानसिक पवित्रता को संपादन करना प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य बताया गया है। इस बात को सप्रमाण द्वितीय परिच्छेद में दिखाया जा चुका है इसी बात को भगवान् गौतम बुद्ध ने क्रोधवर्ग में–

काय दुच्चरितं हित्वा कायेन सुचरितं चरे।। 11।।

वचो दुच्चरितं हित्वा, वाचाय सुचरितं चरे।। 12।।

मनो दुच्चरितं हित्वा, मनसा सुचरितं चरे।। 13।।

अत्यंत स्पष्ट शब्दों में बताया है। शरीर वाणी मन से सब प्रकार की अपवित्रता दूर कर के सदा उत्तम योग्य व्यवहार करना चाहिए ऐसा इन श्लोकों तात्पर्य है।

जीवन का उद्देश्य यह कर्तव्य-शास्त्र का अत्यावश्यक प्रश्न है जिसके संबंध में वैदिक भाव का प्रथम परिच्छेद में निर्देश किया जा चुका है। बौद्ध कर्तव्य शास्त्र के अनुसार निर्वाण प्राप्ति जीवन का उद्देश्य है। कइयों का विचार है कि बौद्ध मत के अनुसार शून्य रूप हो जाना ही निर्वाण है पर वास्तव में बात सत्य नहीं मालूम देती। निर्वाण का मुख्य तात्पर्य दुःख के नाश से अवश्य है पर उसमें पूर्णानंद की प्राप्ति का भाव भी अवश्य मिला हुआ है। सुख वग्ग के आठवें श्लोक में बुद्ध भगवान्

ने कहा है–

आरोग्य परमा लाभा, संतुट्ठि परमं धनं।

विस्साम परमा ज्याति, निव्वाणं परमं सुखं।।

इसका अर्थ यह है कि स्वास्थ्य की प्राप्ति बड़ा भारी लाभ है, संतोष बड़ा भारी धन है, विश्वास ही बड़ा भारी संबंधी है और निर्वाण परम सुख है। इसी वर्ग के सातवें श्लोक में भी 'निव्वाणं परमं सुखं' ये शब्द आए हैं। अप्पमाद वग्ग में निर्वाण के विषय में कहा है–

ते झायिनो सातितिका निच्चं दलह परक्कमा।

फुसंति धीरा निव्वाणं योगक्खेमं अनुत्तरम्।। 3।।

इस श्लोक में निरंतर ध्यान करने वाले धीर पुरुष निर्वाण की ओर जाते हैं जो निर्वाण अनुत्तर योगक्षेम है अर्थात् जिससे श्रेष्ठ सुख और कोई नहीं है ऐसा बताया है। इस प्रकार के श्लोकों से बात स्पष्ट है कि बौद्ध कर्तव्य शास्त्रों में उपदिष्ट निर्वाण शून्य रूप अवस्था नहीं बल्कि अलौकिक स्थिर सुख की कल्पना है, अतः इस विषय में भी वैदिक और बौद्ध शास्त्रों का समान ही अभिप्राय है।

दान के विषय में वैदिक उपदेशों के समान ही 'न वे कदरिया देवलोकं वजंति, बाला ह वे न प्पसंसन्ति दानं' इत्यादि उपदेश धम्म पद लोक वग्ग आदि में पाए जाते हैं जिनमें स्पष्ट कहा है कि कृपण लोग देव लोक में कभी नहीं जाते अर्थात् सद्गति नहीं प्राप्त करते और मूर्ख दान की प्रशंसा नहीं करते किंतु धीर पुरुष दान करते हुए परलोक मे सुखी होते हैं इत्यादि। इन सब समानताओं को देखते हुए हम इस परिणाम पर पहुंचे बिना नहीं रह सकते कि बौद्ध कर्तव्य शास्त्र का भी वैदिक कर्तव्य शास्त्र के साथ सीधा या दूर का संबंध अवश्य है। बुद्ध की जीवनियों में वेदाध्ययन का साफ उल्लेख पाया जाता है। उदाहरणार्थ ललित विस्तार में लिखा है–'सं ब्रह्मचारी ग्रह गेहवासी, तत्कार्यकारी विहितान्न भोजी। सायं प्रभातं च हुताशसेवी, व्रतेन वेदांश्च समध्यगीष्ट।।' इसलिए कोई आश्चर्य नहीं कि इनमें से कई बातें उसने सीधी वेद के आधार पर कही हों और कुछ अन्य पातञ्जल योगदर्शनादि के आधार पर बताई हों। कम से कम गौतम बुद्ध ने इस बात का तो कभी दावा नहीं किया कि वह जिन अहिंसादि तत्वों का प्रतिपादन करना था, वे प्राचीन आर्यो को ज्ञात न थे। ब्राह्मण धार्मिक सूत्र में बुद्ध ने स्पष्ट बताया है कि बहुत प्राचीन समय ये हिंसात्मक यज्ञ न किए जाते थे, उस समय याज्ञिक लोग धान्य से ही होम करते थे, पीछे से ब्राह्मणों ने अधिक दक्षिणा के लोभ से यज्ञों में पशुहिंसा चलाई इत्यादि।

पर एक बड़ा भारी प्रश्न हमारे सामने यहां पर उपस्थित होता है। कहा जाता है कि बौद्ध कर्तव्यशास्त्र में परमात्मा के लिए कोई स्थान नहीं, बुद्ध भगवान् ने स्पष्ट ही ईश्वर की सत्ता तक से इंकार कर दिया ऐसी अवस्था में ईसाई मत का बौद्धमत

से और बौद्धमत का वैदिक धर्म से किसी तरह संबंध माना ही कैसे जा सकता है। स्वयं बिल्कुल निष्पक्षपात रीति से पाली भाषा में लिखे हुए प्राचीन सभी बौद्ध ग्रंथों का पूर्ण अध्ययन किए बिना इस विषय में निश्चयात्मक उत्तर देना मेरे लिए कठिन है किंतु निम्नलिखित प्रमाणों से मुझे स्पष्ट प्रतीत होता है कि भगवान् गौतम बुद्ध ईश्वर की सत्ता से बिल्कुल इंकार करने वाले न थे; यद्यपि ईश्वरादि विषयक जटिल प्रश्नों पर बहुत विचार करना वे अनावश्यक और अनुपयोगी मानते थे। धर्म के क्रियात्मक भाग और चरित्र शुद्धि को ही वे प्रधान और अन्य सब बातों को वे गौण मानते थे इसमें कोई संदेह नहीं हो सकता।

बौद्ध कर्तव्य शास्त्र के संबंध में सुप्रसिद्ध होने के कारण इस परिच्छेद में प्रायः धम्म-पद से ही उद्धरण दिए गए हैं, अतः इस विषय है भी हमें फिर एक बार धम्मपद पर दृष्टि डालनी चाहिए।

1. धम्मपद में ईश्वर की सत्ता का कहीं खण्डन नहीं किया गया यह बात निर्विवाद है। अब अत्तवग्ग का चतुर्थ श्लोक देखिए जो इस प्रकार है–

अत्ता हि अत्तनों नाथो को हि नाथो परोसिया।
अत्तना हि सुदन्तेन नाथं लभति दुल्लभं।।

अर्थात् आत्मा का नाथ आत्मा ही है। आत्मा को संयम में कर के दुर्लभ नाथ की प्राप्ति होती है। इस श्लोक में दुर्लभ नाथ को आत्मा के द्वारा प्राप्त किया जाता है ऐसा लिखा है। क्या इसका यही अभिप्राय नहीं निकलता कि आत्मसंयम के द्वारा ब्रह्म की प्राप्ति होती है और वह आत्मा (परमात्मा) ही इस जीवात्मा का नाथ है। मैं समझता हूं यही श्लोक का सीधा अर्थ है जिसमें कोई खींचातानी नहीं मालूम होती।

2. धम्मपद नाग वग्ग का 13वां श्लोक इस प्रकार है–

सुखा मत्तेयता लोके, अथो पेत्तेयता सुखा।
सुखा सामञ्ञता लोके, अथो ब्रह्मञ्ञता सुखा।।

इस श्लोक के पहले तीन चरणों में माता पिता का सम्मान करना और श्रमणों का सत्कार करना सुखदायक है यह बताते हुए अंतिम चरण में कहा है कि 'अथो ब्रह्मज्ञता सुखा' अर्थात ब्रह्म को जानना यह बड़ा भारी सुख का कारण है। मेरे विचार में इसका यही सीधा अर्थ है। श्री राहुल सांकृत्यायन ने धम्म पद के छायानुवाद में अंतिम चरण का अर्थ 'अर्थ ब्राह्मणता सुखा' किया है और हिंदी अनुवाद में ब्राह्मणपन (निर्लोप होना) लिखा है तथापि ब्राह्मण पद में स्वयं ब्रह्म अर्थात् परमेश्वर के ज्ञान का भाव स्पष्ट है। इससे बुद्ध भगवान् ईश्वर की सत्ता से सर्वथा इंकार न करते थे बल्कि उसमें विश्वास करते थे यह बात स्पष्ट सूचित होती है। जरा वग्ग में 'अचरित्वा ब्रह्मचरियं, अलद्धा यौवने धनम्' इत्यादि श्लोकों में ब्रह्मचर्य शब्द आया है जिसका मुख्य शब्दार्थ वेद का अध्ययन अथवा ब्रह्म की प्राप्ति के लिए यत्न यह है उससे भी कुछ न कुछ इस ऊपर कहे हुए भाव की पुष्टि होती है। अब अन्य ग्रंथों के

वाक्यों को लेंगे।

3. दीर्घ निकाय संवाद 13 (तेविज्जसुत्त) में कथा आती है कि एक बार वसिष्ठ, भरद्वाज नामक दो ब्राह्मण ब्रह्म के विषय में वाद-विवाद करते हुए निर्णय के लिए बुद्ध भगवान् के पास आए। दोनों का अभिप्राय सुन लेने पर बुद्ध ने कहा कि क्या उन दोनों में से किसी ने ईश्वर को देखा है, उत्तर नहीं में मिला। तब गौतम बुद्ध ने पूछा कि क्या किसी वेदज्ञाता पंड़ित ने ब्रह्म का साक्षात्कार किया है, फिर 'नहीं' में उत्तर मिला, तब प्रश्न करते करते बुद्ध ने कहा कि ब्रह्म के अंदर ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, मत्सरादि नहीं, वेद जानने वाले पंडितों के अंदर भी जब ये सब बातें हैं वे किस तरह ब्रह्म दर्शन कर सकते हैं। तब उन दोनों ब्राह्मणों ने कहा कि हमने सुना है तथागत (गौतम बुद्ध) ब्रह्म के साथ मिलने के मार्ग को जानता है तो कृपया हमें वह मार्ग दिखाइए। इस पर गौतम बुद्ध ने जो उत्तर दिया वह विशेष ध्यान देने योग्य है उसका अंग्रेजी अनुवाद–Sacred Books of The East Series Vol. XI में इस प्रकार पाया जाता है–

That man born and brought up at Manasakta (Name of the village) might hesitate or faiter when asken they way there to. But not so does the Tathagat (Buddha) hesitate when asked of the kingdom of God, for, I know both GOD AND THE KINGDOM OF GOD and the path that goes there to; I know it even as one who hath entered the Kingdom and been born there.

ये वाक्य यहां Buddhist and Christion Gospels by Edmunds M.A. Voll. p. 89 से उद्धृत किए गए हैं। यह सारी कथा पालकेरस की सुप्रसिद्ध पुस्तक Gospel of Buddha के पृ. 117-122 में पाई जाती है। ऊपर दिया हुआ अनुवाद दोनों में लगभग समान है। इन वाक्यों का अर्थ यह है कि जो पुरुष मनसाकृत नामक ग्राम में पैदा हुआ और वहां पाला गया है वह भी चाहे उस ग्राम के रास्तों के बारे में पूरे निश्चय से कभी न कह सके (यद्यपि वैसी संभावना नहीं) पर तथागत (बुद्ध) से जब परमेश्वर के साम्राज्य के विषय में प्रश्न किया जाता है तो वह भूल नहीं कर सकता। क्योंकि मैं परमेश्वर उसके साम्राज्य और उसकी प्राप्ति के मार्ग को वैसे ही जानता हूं जैसे कि एक उसी साम्राज्य के अंदर पैदा और प्रविष्ट हुआ पुरुष जानता है अर्थात् मुझे इस विषय में कोई संदेह नहीं हो सकता।

इस कथा में दो ब्राह्मणों का ब्रह्म विषयक वाद-विवाद में निर्णय के लिए बुद्ध के पास जाना, हमने सुना है कि गौतम बुद्ध ब्रह्म प्राप्ति के मार्ग को जानता है यह कहना, तथा बुद्ध का निश्चयात्मक कथन, ये सब इस बात के अत्यंत प्रबल प्रमाण हैं कि गौतम बुद्ध नास्तिक न थे। ईर्ष्या, द्वेष, क्रोधादि के कारण बड़े बड़े वेद ज्ञानी भी ब्रह्म को देख नहीं सकते। अतः उन्हीं दुर्गुणों को दूर करने और चरित्र शुद्ध करने

की बड़ी भारी जरूरत है यह उनका मुख्य तात्पर्य था, न कि ब्रह्म की सत्ता से इंकार करना। इस प्रकार के केवल दार्शनिक प्रश्नों को वे यतः अनुपयोगी समझकर उन्हें सुलझाने का विशेष यत्न न करते थे, इसलिए उनके अनुयायियों में धीरे धीरे नास्तिकता के भावों का प्रचार हो गया ऐसा मालूम होता है।

4. प्रसिद्ध विद्वान् राइस डेविड ने ब्रह्मजाल सुत्त नामक प्राचीन बौद्ध ग्रंथ का अंग्रेजी में अनुवाद किया है उसमें Dialogues Vol. I. p. 32 के निम्न वाक्य देखने योग्य हैं। (Sacred Book of the Buddhist Oxford University Press Edited by Maxmullar p. 32.

He (The Enlightened) says to himself 'That illustrious Brahma, the Great Brahma, the Suprme one, the Mighty, the All Seeing, the Ruler, the Lord of all, the Maker, the Creator, the chief of all, the Father of all that are to be, He by whom we were created, He is steadfast, immutable, eternal, of a nature that knows no change. But we who were created by him have com hither as being in permanent mutable limited in duration of life.

Buddhat teachings translated in Lord Chalness p. 140.

ये उद्धरण यहां The Buddhist and Christian Gospel by Edmonds Vol. II. p. 142 से लिए गए हैं। इन वाक्यों के अंदर ब्रह्म को स्पष्ट सब से बड़ा सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सबका स्वामी, कर्ता, अधिष्ठाता और सब का पिता बताया गया है और साथ ही यह कहा है कि वह सर्वोत्पादक स्थिर, नित्य और अपरिणामी तथा एक रस है। जब तक यह न सिद्ध हो जाए कि यह भाषान्तर अशुद्ध है तब तक यही मानना सर्वथा योग्य मालूम होता है कि भगवान् गौतम बुद्ध तथा उनके प्रारंभिक अनुयायी ईश्वर की सत्ता में अवश्य विश्वास करते थे। कई स्थानों पर जहां बुद्ध ने ईश्वर का खण्डन किया है, वह ईश्वर की सत्ता मात्र का नहीं बल्कि उसे उपादान कारण मानने या पुरुष के समान मानने की कल्पना का है, ऐसा हमें प्रतीत होता है।

5. दीर्घ निकाय संवाद 19 में बुद्ध ने उपदेश दिया है कि जो ध्यानाभ्यास करता है वही परमात्म-दर्शन कर सकता है और अंगुत्तर निकाय 4। 190 के ईश्वर प्राप्ति किस प्रकार हो सकती है इस प्रश्न के उत्तर में बुद्ध ने दया, करुणा, न्यायादि का उपदेश दिया है। पाली में 'ब्रह्म पात्तो होती' अर्थात् 'ब्रह्म प्राप्तो भवति,' ये शब्द वहां आए हैं जिनसे स्पष्ट सिद्ध होता कि गौतम बुद्ध को ईश्वर की सत्ता स्वीकृत थी, यद्यपि पुरुषाकार शरीरधारी ईश्वर व Personal God को वे न मानते थे।

6. इन प्रमाणों के अतिरिक्त एक उल्लेख योग्य घटना इस संबंध में यह है कि सन् 1912 के दिसंबर मास के शिकागो से निकलने वाले Open Court Magazine

नामक मासिक अखबार में एक डॉ. मजीनानन्द स्वामी एम. ए. नामक बौद्ध भिक्षु ने तिब्बत के कई स्थानों में प्रचलित सन्ध्या को अर्थ सहित प्रकाशित कराया था। इस सन्ध्या मे 'अग्ने नये सुपथा राय अस्मान, हिरण्मयेन पात्रेण,' इत्यादि वेद मंत्रों के अतिरिक्त 'शं नो देवीरभिष्टये, वाक् वाक्, प्राणः प्राण, उद्वयं तमसस्परि' से 'तच्चक्षुर्देवहितं' तक उपस्थान मंत्र, गायत्री, 'नमः शंभवाय च' इत्यादि वैदिक संध्या के मनसा परिक्रमा को छोड़कर प्रायः सब मंत्र पाए जाते हैं। उनके अर्थ भी जैसे डॉक्टर महोदय ने वहां दिए थे सब ईश्वर परक हैं Open Court Magazine का अंक मैंने स्वयं देखा है। जब तक पुष्ट प्रमाणों से यह न सिद्ध हो जाए कि यह सब डॉ. मजीदानन्द स्वामी की अपनी मनघड़ंत कल्पना है तब तक यह साक्षी भी बड़ी प्रबल है। 1920 ई. के सितंबर मास में जब शांति-निकेतन (बोलपुर) जाने का अवसर प्राप्त हुआ था तो मैंने वहां के एक उपाध्याय बौद्ध भिक्षु से इस विषय की सत्यता के बारे में पूछा था, तब उन्होंने बताया कि सब बौद्ध तो नहीं पर नागार्जुनादि ब्राह्मण धर्म से बौद्ध मत स्वीकार करने वाले कई पंडितों के चेलों में अब तक उस प्रकार की मंत्र सन्ध्या का प्रचार जरूर चला आता है। इसलिए इस साक्षी को भी यों ही नहीं टाला जा सकता। महात्मा गौतम बुद्ध की निम्न उक्ति सुत्तनिपात श्लोक 561 में पाई जाती है जो विशेष उल्लेखनीय है–

ब्रह्मभूतो अतितुलो नार सेनापमद्दतो।
सच्छामिते वशीकृत्वा मोदामि अकुतोभयो।।

इन सब प्रमाणों से मुझे यह विश्वास होता है कि बुद्ध भगवान् और इनके प्रारंभिक अनुयायी ईश्वर की सत्ता से इंकार करने वाले न थे। इसमें संदेह नहीं कि जिस प्रकार वैदिक कर्तव्य शास्त्र का आधार ही अधिकतर ईश्वर विश्वास इत्यादि पर है वैसे बौद्ध कर्तव्य शास्त्र का नहीं। प्रायः बौद्ध ग्रंथों में कर्म स्वयं ही फल देने वाले हैं ऐसा माना गया है जो विशेष युक्ति युक्त कथन नहीं मालूम देता। कर्त्तव्य शास्त्र विषयक उत्तम शिक्षाओं के होने पर भी बौद्ध धर्म में जो ईश्वर विश्वास भक्ति इत्यादि को विशेष स्थान नहीं दिया गया वह उसकी बड़ी भारी निर्बलता को सूचित करता है क्योंकि यदि कर्म फल दाता कोई सर्व शक्तिमान् ईश्वर नहीं है तो हम अच्छे कार्य करें क्यों इसका कोई संतोषजनक उत्तर नहीं दिया जा सकता। इस प्रसंग को यहां समाप्त करते हुए अब हम अहिंसा के तत्व विषय में वैदिक कर्तव्य शास्त्र की अन्यों के साथ थोड़ी तुलना करेंगे।

मैथ्यू. 5। 39 के अनुसार जीसस ने अपने शिष्यों को उपदेश किया है कि–

Resist not evil, but whosoever sball smite thee on thy right cheek, turn to him the other also.

अर्थात् बुराई का प्रतिरोध न करो किंतु यदि कोई तुम्हारे दाहिने गाल पर चपत लगाए तो बायां गाल भी इसके सामने कर दो। बौद्ध ग्रंथों में भी कई स्थान पर

इसी तरह के उपदेश पाए जाते हैं। उदाहरणार्थ मज्झिम निकाय संवाद 21 में बुद्ध ने कहा कि यदि तुम्हारे गालों पर कोई चपत लगाए तो भी तुम क्रोध में बुरे शब्द न कहो किंतु उसके प्रति भी करुणा दृष्टि जारी रखो।

वेदों के अंदर यह अहिंसा का तत्व कितने स्पष्ट शब्दों में पाया जाता है यह प्रथम परिच्छेद में सप्रमाण दिखाया जा चुका है। 'द्वेष भाव को दूर कर के प्रेम भाव की वृद्धि करने का सदा प्रयत्न करना चाहिए यह वेद के उन मंत्रों में बार बार उपदेश किया गया है। प्रश्न यह है कि संसार में सब प्राणी धर्मात्मा नहीं, सब अहिंसा व्रत के पालक नहीं, ऐसी अवस्था में सब जगह सत्याग्रह से ही क्या काम चल सकता है ? इसका उत्तर 'हां' में देना कठिन है। अपने सामने एक पतिव्रता देवी का अपमान होते हुए अथवा किसी दुष्ट को पतिव्रता सती के धर्म को बलात्कार से भ्रष्ट करने की चेष्टा करते हुए देखकर भी क्या हम चुपचाप बैठे रहें ? इस प्रकार करना पाप न होगा ? इस पर कहा जा सकता है कि दुष्ट पर हाथ चलाने की अपेक्षा देवी के पतिव्रत धर्म को बचाने के लिए अपना शरीर तक देने के लिए उद्यत रहना अधिक अच्छा है। इस बात को मान भी लिया जाए तो विदेशी शत्रु हमारे देश पर आक्रमण करें क्या उस समय भी हम केवल भगवान् के भरोसे बैठे रहें, वेद इस बात की आज्ञा नहीं देता। उसके अनुसार अच्छे प्रयोजन की सिद्धि के लिए आवश्यकता पड़ने पर शस्त्र पकड़ना क्षत्रियों का धर्म ही जीसस तथा बुद्ध ने जो निष्प्रतिरोध व non resistance का उपदेश किया है वह ब्राह्मणों और संन्यासियों के लिए तो ठीक है, पर यदि सब उसी का पालन करने लगें तो उसका परिणाम समाज के लिए घातक होगा। उस अवस्था में दुष्टों का दबदबा जम जाएगा, अतः वेद में जहां ब्राह्मणों के लिए यह कहा है कि वे तितिक्षंते अभिशसित जनानाम्' अर्थात् मनुष्यों द्वारा ज्ञान व अज्ञान से की हुई (अभिशस्ति) हिंसा को अपमानादि को (तितिक्षंते) वे सहन करते हैं, वहां क्षत्रियों के लिए शत्रु नाश के लिए शक्ति भर कार्य करने का स्पष्ट उपदेश है। क्षत्रियों के कर्तव्य का वर्णन करते हुए जो 'वृजेनेन वृजिनान् संपिपेष मायाभिर्दस्यूंरभि भृत्योजाः।। आ. 20। 11। 6 इत्यादि मंत्र उद्धृत कर चुके हैं उनमें इन्द्र अर्थात् शूरवीर सेनापति अपने बल से पापियों को चूर चूर करता और अपनी चतुरता से दस्युओं पर विजय प्राप्त करता है, यह भाव अनेक बार सूचित किया गया है। 'उद्वृह रक्षः सहमूलमिन्द्र वृश्चा मध्यं प्रत्यग्रं शृणीहि' इत्यादि में जो राक्षसों के नाश का इन्द्र अर्थात् शूरवीर सेनापति को उपदेश किया गया है वह भी इसीलिए है कि वेद की दृष्टि में शत्रु पकड़ना कोई पाप नहीं। नीच पुरुषों का नाश करना यह क्षत्रियों का परम धर्म है। इतना अवश्य है न्याययुक्त कार्य हो और जब यह देख लिया जा चुका हो कि शांति स्थापना के लिए अन्य सब उपायों को अवलंबन करने पर भी असफलता हुई है और युद्ध अनिवार्य है। महाभारत युद्ध के समय श्रीकृष्ण ने मामले को शांत करने के लिए अपनी ओर से पूरी कोशिश की और जब दुर्योधन ने 'सूच्यग्रं नैव

दास्यामि बिना युद्धेन केशव' अर्थात् मैं युद्ध के बिना एक सूई की नोक जितनी भूमि भी न दूंगा, ऐसे कह डाला तभी श्रीकृष्ण ने पांडवों को युद्ध द्वारा अपने जन्मसिद्ध अधिकार को सुरक्षित करने का उपदेश किया। यही वैदिक भाव है। इस दृष्टि से जब तक वेद का अध्ययन न किया जाए तब तक उसका भाव अच्छी प्रकार समझ में नहीं आ सकता। एक बात और इस विषय में उल्लेख के योग्य है। क्षत्रियों को आवश्यकता पड़ने पर अवश्य युद्ध करना चाहिए, यह वेद में बार बार कहा है। पर युद्धादि कर्तव्य जानकर करते हुए भी उन्हें मन के अंदर द्वेष का भाव यथासंभव नहीं आने देना चाहिए, यह भाव भी वेद में अनेक स्थानों पर सूचित किया गया है। उदाहरणार्थ अ. 19। 14। 1 में विजय के अनंतर विजयी राजा हारे हुए पुरुष को संबोधन करते हुए कहता है, 'असपत्नाः प्रदिशो मे भवंतुन वै त्वा द्विष्मो अभयं नो अस्तु' अर्थात् मेरे लिए सब दिशाएं शत्रु रहित हों। तेरे साथ भी हम द्वेष नहीं करते। सब ओर से हमें निर्भयता प्राप्त होवे। जिस प्रकार एक न्यायाधीश व जज किसी अपराधी को कैद वगैरह का दण्ड देते हुए भी उस व्यक्ति के लिए किसी तरह का द्वेष नहीं रखता वैसे ही क्षत्रियों को दुष्ट का भाव न रखना चाहिए। यह वैदिक भाव यहां स्पष्ट शब्दों में सूचित किया गया है जो अत्यंत महत्वपूर्ण है। वास्तव में देखा जाए तो यही सबसे अधिक क्रियात्मक और श्रेष्ठ शिक्षा है इसमें कोई संदेह नहीं हो सकता। इस तरह से वैदिक कर्तव्य शास्त्र की ईसाई और बौद्ध कर्तव्य-शास्त्रों के साथ तुलना करते हुए और यह दिखाते हुए कि इनकी सब उच्च शिक्षाओं का मूल वेद में पाया जाता है इस परिच्छेद को समाप्त किया जाता है।

इस विषय में अधिक विस्तार से जो जानना चाहते हैं उन्हें लेखक की 'बौद्ध मत और वैदिक-धर्म' आर्य समाज, दीवान हाल, देहली द्वारा प्रकाशित, मूल्य 1.50) पुस्तक अवश्य पढ़नी चाहिए जिसमें इन विषयों पर सप्रमाण विस्तृत तुलनात्मक अनुशीलन किया गया है।

पंचम परिच्छेद

वैदिक कर्तव्य-शास्त्र की सर्वोच्चता का कारण

इस समय तक वैदिक कर्तव्य-शास्त्र के मूल सिद्धांतों की व्याख्या करते हुए वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रीय कर्तव्यों का वेद के अनुसार दिग्दर्शन कराया जा चुका है। चतुर्थ परिच्छेद में वैदिक कर्तव्य-शास्त्र की अन्य मतों के कर्तव्य-शास्त्रों से तुलना करके दिखाई गई है। इस वैदिक कर्तव्य-शास्त्र की विशेषता क्या है, क्यों इसे ही सर्वोच्च मानते हैं, इस विषय पर थोड़ा सा प्रकाश डालना जरूरी मालूम देता है। वैदिक-धर्म की बड़ी भारी विशेषता जिसकी ओर अनेक बार ध्यान आकर्षित किया जा चुका है वह यह है कि मनुष्य मात्र के शारीरिक, मानसिक, आत्मिक उन्नति के सब मुख्य तत्व इसके अंदर स्पष्ट रूप से पाए जाते हैं। अन्य किसी भी मत के ग्रंथों में इतनी स्पष्टता और उत्तमता से इस समविकास का प्रतिपादन नहीं किया गया। प्रथम परिच्छेद में इस समविकास के संबंध में अनेक प्रमाण उद्धृत किए जा चुके हैं इसलिए फिर उन्हें न दुहराते हुए समविकास के साथ मिलते-जुलते एक दूसरे तत्व की ओर ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं जिसे मध्य मार्ग के नाम से कहा जा सकता है। संसार में प्रायः देखने में आता है कि मनुष्य मध्य मार्ग का अवलंबन न करके किसी न किसी पराकाष्ठा पर तुल जाते हैं। उदाहरणार्थ कई पुरुष ऐसे हैं जो केवल अपनी ही वैयक्तिक उन्नति से संतुष्ट रहते हैं और सामाजिक उन्नति की ओर बिल्कुल ध्यान नहीं देते। समाज सेवा करना भी प्रत्येक का आवश्यक कर्तव्य है इस तत्व को वे नहीं स्वीकार करते। दूसरे कई ऐसे पुरुष हैं जो पर्याप्त तौर पर अपनी शारीरिक, मानसिक, आत्मिक शक्तियों के विकास करने का प्रयत्न न करके केवल दूसरों की उन्नति के विचार में ही तत्पर रहते हैं वास्तव में देखा जाए तो ये दोनों ही आवश्यक हैं। दोनों में से कोई एक पर्याप्त नहीं। यजुर्वेद के 40वें अध्याय में संभूति पदों से सामाजिक और वैयक्तिक भाव का वर्णन करते हुए यह कहा है कि—

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसंभूतिमुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ संभूत्यां रताः।।

यजु. 40। 8

अर्थात् जो केवल वैयक्तिक भाव के अंदर मग्न रहते हैं वे अंधकार को जाते हैं इसमें कोई संदेह नहीं किंतु जो अपनी उन्नति की ओर बिल्कुल ध्यान न देकर

दूसरों की ही उन्नति की चिंता करते हैं अर्थात् समाज के लिए जितनी योग्यता की आवश्यकता है उसको प्राप्त करने तक का यत्न नहीं करते वे उससे भी घने अंधकार में जाते हैं। ज्ञान कर्म के विषय में भी वैसा ही विवाद प्रचलित हैं। कई सांख्य मार्गी केवल ज्ञान से ही मोक्ष प्राप्त होता है ज्ञान प्राप्त कर लेने पर कर्म सब छोड़ देने चाहिए, ऐसा बोलते हैं। मीमांसक लोग केवल यज्ञ-यागादि करने मात्र से ही स्वर्ग मोक्षादि की प्राप्ति होती है ऐसा कहते हैं। वेद के अंदर दोनों को मिलाने से ही वस्तुतः सद्गति होती है और सच्चा मनुष्य का कल्याण होता है ऐसा विद्या अविद्या के नाम से क्रमशः ज्ञान और कर्म का ग्रहण करते हुंए बताया गया है। वेद में जहां ज्ञान की महिमा में—

तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।

(अ. 10 । 90 । 15)

ऐसा कहा है कि ब्रह्मज्ञान से ही पुरुष मृत्यु के पार जाता है अन्य मोक्ष प्राप्त करने व दुःख सागर से पार होने का कोई उपाय नहीं है वहां कर्म की महिमा में—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।

(यजु. 40 । 1)

इत्यादि अनेक मंत्र आए हैं जिनमें प्रत्येक पुरुष शुभ कर्मों को करता हुआ ही सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करे इस बात को स्पष्ट शब्दों में कहा है। इसी कर्म के विषय में ऋ. 9 । 36 । 3 में यह प्रार्थना आई है—

स नो ज्योतींषि पूर्व्यं पवमान विरोचय।
क्रत्वे दक्षाय नो हिनु।।

अर्थात् हे (पूर्व्य पवमान) पूर्वज, पवित्र करने वाले विद्वान् ! (स नः ज्योतींषि विरोचय) तू हमारे लिए ज्योति को हृदय में जगा दे और (नः) हमें (क्रत्वे दक्षाय) कर्म और बल के लिए (हिनु) प्रेरणा कर। ऋ. 9 । 4 । 3 में इसी प्रकार—

सना दक्षमुत क्रतुमुप सोममृधो जहि।

यह प्रार्थना है जिस में पूर्वोक्त कर्मण्यता, बलवृद्धि और हिंसा को दूर करने का भाव सूचित किया गया है। ज्ञान कर्म दोनों को मिलाने से ही सच्ची उन्नति हो सकती है यह—

विद्यां चाविद्यां च यस्तेद् वेदोभयं सह।

इत्यादि वेद-मंत्र का अभिप्राय है। यद्यपि कई मान्य विचारकों ने यहां विद्या अविद्या पद से आध्यात्मिक और प्राकृतिक ज्ञान का ग्रहण किया है। इसी तरह भोग त्याग का वेद के अंदर जितना सुंदर मेल किया गया है उतना अन्य किसी भी ग्रंथ में न होगा।

तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनं।

(यजु. 40 । 1)

इन शब्दों के अंदर बड़ा भारी तत्व है। जगत् का त्यागपूर्वक भोग करो, लोभ मत करो यह धन प्रजापति परमेश्वर का ही है ऐसा सदा विचार करो यह सीधा अर्थ है। संसार के अंदर प्रचलित मुख्य मतों में से नवीन वेदांत, बौद्ध, ईसाई मत आदि ने जगत् को दोष और बंधन रूप मान कर केवल त्याग को ही दुःख से छूटने का एक मात्र साधन बताया है। दूसरी ओर चार्वाकादि ने 'यावज्जीवेत्सुखं जीवेदृणं कृत्वा घृतं पिबेत्।' कहकर खाओ पीओ मौज उड़ाओ उस भोगमय सिद्धांत का प्रतिपादन किया है।

वास्तव में गंभीर विचार करने पर मध्य मार्ग का अवलंबन ही सबसे श्रेष्ठ है जिस मध्यमार्ग का वेद में 'तेनत्यक्तेन भुंजीथाः' इन शब्दों द्वारा निर्देश किया गया है यह बात स्पष्ट हो जाती है। वेद में केवल अपने पेट भरने के लिए धन का उपभोग करने वाले को पाप का उपभोग करने वाला बताया है इस बात का सप्रमाण पहले उल्लेख किया जा चुका है। श्रद्धा तर्क दोनों विरुद्धाभास वस्तुओं को भी वेद में मिलाकर उपयोग करने का–

मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत्।

अ. 10 । 2 । 26

इत्यादि द्वारा स्पष्ट उपदेश किया गया है। स्थितप्रज्ञ योगी पुरुष अपने मस्तिष्क और हृदय को सी कर कार्य करता है ऐसा मंत्र का शब्दार्थ है। काव्य की भाषा में श्रद्धा तक को मिलाकर कार्य करने का इससे बढ़कर उत्तम शब्दों में उपदेश अत्यंत कठिन है। इस तरह वैदिक कर्तव्य शास्त्र की बड़ी भारी विशेषता सम-विकास के साथ-साथ मध्य मार्ग का उपदेश है जिसका ।अन्य मतों के कर्तव्य शास्त्रों में प्रायः अभाव सा पाया जाता है।

वैदिक कर्तव्य शास्त्र की सर्वोच्चता का दूसरा कारण इसके उपदेशों की ओजस्विता है। ईसाई मत के समान अन्य कई संप्रदायों का ही यह विश्वास है कि मनुष्य स्वभाव से पापी और पतित है। पौराणिक भाई सन्ध्या के सम 'पापोऽहं पापकर्माहं पापात्मा पापसंभवः' इत्यादि कहने में अपना गौरव समझते हैं, पर वेद का आशय उस प्रकार का नहीं है। वेद के अंदर सब मनुष्यों को सर्व शक्तिमान् अमृत स्वरूप परमेश्वर का पुत्र मानते हुए जीवात्मा में सब पापों और काम क्रोधादि आत्मिक शक्ति को कम करने वाले शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने की शक्ति विद्यमान है इस भाव को बार बार सूचित किया गया है। इस विषयक प्रमाणों का प्रथम परिच्छेद में उल्लेख किया जा चुका है। सामाजिक जीवन में भी पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्ति ही सदा ध्येय होना चाहिए, यह वैदिक कर्तव्य-शास्त्र का एक मुख्य सिद्धांत है। पापों से सर्वथा मुक्त कोई साधारण पुरुष नहीं, कोई भी ऐसा नहीं जिसके अंदर किसी तरह की निर्बलता न हो यह बात ठीक है, तो भी अपने को बार बार पापी और निर्बल कहने के सिवाय अपनी शक्ति को दिन-प्रतिदिन अधिक क्षीण करने का और क्या लाभ हो सकता

है, इसलिए वेद पाप की तरफ जाने की प्रपत्ति और निर्बलता को रोकने के लिए उससे विरुद्ध प्रबल भावना को धारण करने का उपदेश करता है।

'अदीनाः स्याम शरदः शतम्' (यजु 36। 24)

सौ वर्षों तक हम दीनता के भाव से रहित होकर प्रभावशाली जीवन बनाते हुए कार्य करें यह भाव वेदों में अनेक जगह पाया जाता है। वेद के मन्तव्यानुसार मनुष्य का शरीर ऋषियों का एक पवित्र आश्रम है (सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे) यह शरीर देवताओं का एक पवित्र मंदिर है (सर्वा ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठ इवासते) क्योंकि सूर्य, चंद्र, वायु, जल इत्यादि हमारे शरीर में आंख, मन, प्राण, वीर्यादि के रूप में विद्यमान हैं। सर्वशक्तिमान् प्रभु के पास रहने का हमारे आत्मा को जन्मसिद्ध अधिकार मिला हुआ है। वेद स्पष्ट शब्दों में 'सखानो असि परमा च बंधुः' 'युज्यो मे सप्त पदः सखासि' (अथर्व. 5। 11) 'इंद्रस्य युज्य सखा' (ऋ. 1। 22। 19) 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' (ऋ. 1। 164) इत्यादि मंत्रों द्वारा जीव और परमेश्वर को मित्र बताता है।

मित्रता लगभग समान बल वालों में ही हो सकती है इसलिए यह स्पष्ट है कि जीवात्मा के अंदर भी गुप्त रूप से बड़ी दिव्य अद्‌भुत शक्ति विद्यमान है, ऐसी अवस्था में अपने को हीन, दुर्बल, पतित मानना कितना अनुचित और हानिकारक है। आत्मविश्वास तथा ईश्वर-भक्ति के द्वारा हम आत्मा के अंदर गुप्त रूप से विद्यमान शक्तियों का विकास करके सब पापों से छूट सकते हैं फिर हम अपने को बार बार पापी पापी कहकर क्यों अपनी शक्ति का नाश करें यह वैदिक कर्तव्य शास्त्र का तात्पर्य है। मनुष्य को अपने को दासता के सब बंधनों से मुक्त करना चाहिए, चाहे वे बंधन आरंभ में कितने ही उत्तम सुखदायी मालूम देवें, इस बात को 'उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं श्रथाय। अ. 7। 83। 3 तथा–

प्रास्मत्पाशान् वरुण मुञ्च सर्वान् य उत्तमा अधमा वारुणा ये।
दुष्वप्न्यं दुरितं नि ष्वास्मदथ गच्छेम सुकृतस्य लोकम्।।

अथर्व. 7। 83। 4

इत्यादि मंत्रों में स्पष्ट किया गया है जिनमें उत्तम, मध्यम, नीच अर्थात् सात्विक, राजस और तामस सब प्रकार के बंधनों से मुक्त करने की प्रार्थना की गई है, साथ ही यहां यह कहा है कि दुष्ट स्वप्न तथा सबके दुर्व्यवहार को तुम हमसे दूर कर दो, जिससे हम उत्तम लोक में जाएं अर्थात् सद्‌गति प्राप्त करें। इन मंत्रों के साथ ही 'अश्मन्वतीरीयते संरभध्वम्' इत्यादि ऋग्वेद और यजुर्वेद में पाए जाने वाले मंत्र का फिर से यहां स्मरण करना चाहिए जिसमें संसार को एक पथरीली नदी से उपमा देते हुए यह उपदेश किया है कि परस्पर सहायता करते हुए और बुरी बातों के त्यागपूर्वक अच्छे गुणों का ग्रहण करते हुए तुम सब इस संसार नदी के पार चले जाओ। ये उपदेश कितने ओजस्वी हैं किस प्रकार एक मुर्दे दिल के अंदर भी नया जीवन फूंकने

की शक्ति इनमें पाई जाती है इस बात को विद्वान् अपने अनुभव से जान सकते हैं। यहां यह बात भी ध्यान में रखने योग्य है कि वेद में महत्वाकांक्षा को कोई बुरा नहीं माना गया। स्थान स्थान पर सर्वोत्कृष्ट होने और यश वर्चस् इत्यादि से संपन्न होने की प्रार्थनाएं पाई जाती हैं। इस विषय में निम्नलिखित दो तीन मंत्र विशेष विचारने योग्य हैं—

1. **यशो मा द्यावापृथिवी यशो मेन्द्रबृहस्पती।**
यशो भगस्य विन्दतु यशो मे प्रति मुच्यताम्।
यशस्व्यस्याः संसदोऽहं प्रवदिता स्याम्।।

सास. 6। 12। 10

अर्थात् द्युलोक और पृथ्वी मुझे यश देवें। इन्द्र (शूरवीर राजादि) और ज्ञानी गुरु मुझे यश दें। ऐश्वर्य का यश मुझे प्राप्त हो। यश की ऊपर वृष्टि हो जाए, मैं यशस्वी होकर इस परिषद् के अंदर (प्रवदिता स्याम) सबसे उत्तम भाषण करने वाला हो जाऊं। इस तरह की भावना और महत्वाकांक्षा प्रत्येक राष्ट्रीय सेवक को धारण करनी चाहिए।

2. **यशसं मेन्द्रो मघवान् कृणोतु यशसं द्यावा-**
पृथिवी उभे इमे। यशसं मा देवः सविता
कृणोतु प्रियो दातुर्दक्षिणाया इह स्याम्।।'

अ. 6। 58। 1

इस मंत्र में भी ऐश्वर्यशाली पुरुष, द्युलोक पृथ्वी लोक, सर्वोत्पादक परमेश्वर ये सब मुझे यशस्वी बनाएं और मैं दानियों का प्रेम पात्र बनूं यह प्रार्थना की गई है।

3. **यशा इन्द्रो यशा अग्निर्यशाः सोमो अजायत।**
यशा विश्वस्य भूतास्यऽहमस्मि यशस्तमः।।

अ. 6। 39। 3

अर्थात् जिस प्रकार सूर्य अग्नि चंद्र इत्यादि देव अथवा राजा ज्ञानी नेता सौम्यगुण युक्त पुरुष यशस्वी हैं उसी प्रकार मैं भी सब प्राणियों के बीच में सबसे बढ़कर यशस्वी होऊं वर्च वा तेज के लिए—

येन हस्ती वर्चसा सं बभूव येन राजा मनुष्येष्वप्स्वंतः।
येन देवा देवतामग्र आयन् ते न मामद्य वर्चसाग्ने वर्चस्विनं कृणु।।

अथर्व 3। 22। 3

इत्यादि मंत्र देखने योग्य हैं। इन मंत्रों के देखने से यह बात स्पष्ट प्रकट होती है कि वैदिक कर्तव्य शास्त्र में महत्वाकांक्षा को बड़ा ऊंचा स्थान दिया गया है। निष्काम भाव का उपदेश वेद में—

एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।

(यजु. 40 । 2) तथा 'अकामो धीरो अमृतः स्वयंभू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः' इत्यादि मंत्रों द्वारा अवश्य किया गया है किंतु उस पर मालूम होता है बहुत अधिक बल नहीं दिया गया। इस समय तक मुझे निष्काम भाव से सूचक ये दो तीन निर्देश मिले हैं कारण यह होगा कि सर्वथा निष्काम भाव को क्रियात्मक जीवन के अंदर लाना अत्यंत कठिन है। साधारण पुरुषों के आगे जब तक कोई सीधा प्रेरक भाव न रहे वे शुभ कर्मों के अनुष्ठान में भी तत्पर नहीं होते, इसलिए वेद में आदर्श के तौर पर निष्काम भाव का निर्देश करते हुए भी उस पर बहुत अधिक जोर नहीं दिया गया। मनु महाराज ने अपने धर्मशास्त्र में–

अकामस्य क्रिया काचिद्‌ दृश्यते नेह कर्हिचित्‌।
यद्‌ यद्धि कुरुते किंचित्‌ तत्तत्कामस्य चेष्टितम्‌।।
कामात्मना न प्रशस्ता न चैवेहास्त्यकामता।
काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः।।

ये श्लोक कहे हैं इन पर भी यहां मनन करने की आवश्कता है। इन श्लोकों में बताया गया है कि सर्वथा निष्काम होना संभव ही नहीं है वेदाध्ययन तथा वेदोक्त कर्मयोग करने की कामना अवश्य होनी ही चाहिए। ऊपर यश वर्च इत्यादि विषयक प्रार्थनाएं दी जा चुकी हैं, धन के विषय में 'वयं स्याम पतयो रथीणाम्' इत्यादि असंख्य प्रार्थनाएं वेद में पाई जाती हैं पर इस बात को कभी नहीं भुलाना चाहिए कि वेद में सत्य, यश, श्री इन तीनों को उत्कृष्ट मानते हुए सत्य को ही सर्वत्र मुख्य स्थान दिया गया है।

'सत्यं यशः श्रीर्मयि श्रीः श्रयताम्'

यह जो वाक्य अत्यंत प्रसिद्ध है यह वेद मंत्र नहीं तो भी उसका आधार यजुर्वेद के निम्नलिखित मंत्र पर है–

मनसः काममाकूतिं वाचः सत्यमशीय।
पशूनां रूपमन्नस्य रसो। यशः श्रीः श्रयतां मयि स्वाहा।।

यजु. 39 । 4

इस मंत्र का अर्थ यह है कि (मनसः) मन की (कामम्) कामना और (आकूतिं) शुभ संकल्प को (अशीय) प्राप्त करूं अर्थात् मेरे मनोरथ पूर्ण हों (वाचः सत्यम् अशीय) वाणी की सत्यता का भोग करूं–सदा वाणी से सत्य बोलूं (पशूनां रूपम् अन्नस्य रसः) पशुओं का उत्तम रूप और अन्न का अच्छा रस (यश) यश (श्रीः) ऐश्वर्य (मयि श्रयताम्) मेरे आश्रय से रहें। इन तीनों सत्य, यश, श्री की प्राप्ति के लिए (स्वाहा) मैं स्वार्थ त्याग करता हूं। पशुओं के रूप अन्न के रस को श्री के अंदर ही सम्मिलित किया जा सकता है। इस प्रकार जहां सत्य को प्रधानता दी जाती है और पुरुष राजा हरिश्चन्द्र, महाराज रामचन्द्र, ऋषि दयानन्द आदि महानुभावों की तरह सत्य की रक्षा के लिए यश और ऐश्वर्य का त्याग करने को सदा उद्यत रहता है, वहां यश और

ऐश्वर्य के कारण किसी तरह की हानि की संभावना नहीं हो सकती।

इस तरह निष्पक्षपात दृष्टि से विचार करने पर हमें साफ मालूम होता है कि वैदिक कर्तव्य शास्त्र ही समविकासरूपी उन्नति के सच्चे मार्ग की ओर ले जाने वाला, मध्यमार्ग का सर्वत्र प्रतिपादन करने वाला और अत्यंत ओजस्वी स्फूर्तिदायक (Inspiring) उपदेशों के कारण मनुष्यों के लिए सबसे अधिक उपयोगी है। भोग त्याग, ज्ञानकर्म, श्रद्धा के तर्क इत्यादि का जितना सुंदर मेल इसके अंदर पाया जाता है उतना कहीं नहीं पाया जाता। दूसरे मतों के कर्तव्य-शास्त्रों में जिन उच्च शिक्षाओं का प्रतिपादन किया गया है प्रायः उन सबका मूल वेद के अंदर पाया जाता है और प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रीति से वैदिक कर्तव्य शास्त्र के साथ उनका संबंध है। इतनी स्वतंत्र विवेचना करने के पीछे अब इस विषयक यूरोपीयन विद्वानों के मत की थोड़ी सी आलोचना करना आवश्यक मालूम होता है। सब विद्वानों का इस विषय में एक ही मत नहीं है। वे भी बहुत से विकासवाद या Evolution theory को मानने वाले पाश्चात्य विद्वान् कल्पना करते हैं कि वेद सबसे प्राचीन ग्रंथ हैं जो प्रारंभिक जंगली सभ्यता का अधिकतर निर्देश करने वाले हैं। ऋग्वेद अधिकतर अग्नि, वायु, सूर्य, इंद्र आदि देवताओं की स्तुति से भरा पड़ा है। यजुर्वेद के अंदर फिजूल यज्ञ-यागादि की चर्चा है, सामवेद प्रायः सोम नामक मद्य की महिमा का वर्णन करने वाला है और अथर्ववेद जादू टोने की बातों से भरा पड़ा है। इन वेदों के अंदर कर्तव्य शास्त्र के विषय में कोई उल्लेख योग्य उत्तम उपदेश नहीं पाए जाते इत्यादि। इस समय तक हमने वैदिक कर्तव्य शास्त्र के मूल सिद्धांतों की व्याख्या करते हुए जो अत्यंत ओजस्वी जीवनोपयोगी तत्व बतलाए हैं वे स्वयं इस यूरोपियन विचार की असत्यता को सिद्ध करने वाले हैं। इसलिए हमें इस विचार की आलोचना में कुछ अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं मालूम देती। यदि जगत् के अंदर कार्य करने वाले अटल नियमों का ज्ञान, अपने समान सब प्राणियों को देखने का उच्च भाव, सब प्रकार के पापों को दूर करने का निश्चय, शारीरिक, मानसिक और आत्मिक शक्तियों का समविकास, व्यक्ति और समाज का अटूट संबंध, बाह्य और आंतरिक स्वराज्य प्राप्ति का भाव, सत्य की रक्षा के लिए सर्वस्व तक त्याग करने का उच्च भाव, निर्भयता की पूर्ण रूप से प्राप्ति, देश सेवा में अपनी संपूर्ण शक्तियों को लगाने का भाव—ये सब उच्च भाव जंगली लोगों के अंदर पाए जा सकते हैं, यदि बिल्कुल क्रियात्मक श्रेष्ठ मध्यमार्ग का उपदेश जंगली अर्धसभ्य लोगों के बताए हुए ग्रंथों में पाया जा सकता है तो निःसंदेह वेद उन जंगलियों के बनाए ग्रंथ हैं और उनके अंदर जिन उच्च भावों का प्रकाश किया गया है वे कोई महत्वपूर्ण भाव नहीं हैं। पर कोई भी पक्षपात रहित पुरुष इस बात से इंकार नहीं कर सकता कि ये सब तत्व अत्यंत उच्च हैं और अन्य मत के किसी भी कर्तव्य शास्त्र में इन तत्वों का इतनी उत्तमता से प्रतिपादन नहीं किया गया इसलिए वेद फिजूल बातों से भरा हुआ है, जीवनोपयोगी आचार विषयक

उपदेश उसके अंदर नहीं हैं यह मानना केवल अपने पक्षपात और दुराग्रह को प्रकट करने के सिवाय और कुछ नहीं कहा जा सकता।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है सब यूरोपियन विद्वानों का वैदिक कर्तव्य शास्त्र के विषय में एक ही अभिप्राय नहीं है, उनमें से भी कई ऐसे हैं जिन्होंने निष्पक्षपात होकर वैदिक कर्तव्य-शास्त्र को समझने का यत्न किया है और इस विषय में वे ठीक पहले विचारों के उल्टे परिणाम पर पहुंचे हैं। उदाहरणार्थ डार्विन के साथ ही प्राकृतिक जगत् में विकासवाद के आविष्कारक डॉ. रसेल वैलेस अपने ग्रंथ 'Social Environment and moral progress' में इस प्रकार लिखते हैं–

'In the earliest records which have come down to us from the past we find ample indication that general ethical conceptions, the accepted standard of morality and the conduct resulting from these were in no degree inferior to those which prevail today though in some respects they differed from ours. The wonderful collection of hymns known as the Vedas is a vast system of religious teachings, pure and lofty as those of the finest portion of the Hebrew Scriptures.' (page 11)

अर्थात् पुराने समय के जो लेख हमें इस समय मिलते हैं उनमें भी हमें इस बात के पर्याप्त निर्देश प्राप्त होते हैं कि उस समय के सदाचारादि विषयक विचार और व्यवहार हमारे से किसी रूप में भी कम श्रेणी के नहीं थे, यद्यपि कई अंशों में वे भिन्न अवश्य थे। वेद के नाम से प्रसिद्ध संहिता के अंदर बाइबिल के अच्छे से अच्छे भाग के तुल्य पवित्र और ऊंची धार्मिक शिक्षाओं की एक पद्धति पाई जाती है। इस बात के समर्थक में डॉ. वैलेस ने अपने ग्रंथ में कुछ सूक्तों का भाषांतर भी उद्धृत किया है।

रेवरेण्ड फिलिप नामक एक दूसरे यूरोपियन विद्वान् के मत का उल्लेख करना भी यहां अनुचित न होगा। अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'The teachings of the Vedas' के उपसंहार में वे लिखते हैं–

'The conclusion therefore is invitable that the development of religious thought in India has been uniformly downward and not on ward. We are justified therefore in concluding that the higher and purer conceptions of the Vedic Aryans were the results of a primitive Divine Revelation.' (The Teachings of the Vedas, p. 231).

इन वाक्यों का भाव यह है कि हम यह परिणाम निकालने को बाधित हैं कि भारत में धार्मिक विचारमाला में क्रमशः अवनति हुई है उन्नति नहीं। इसलिए इस परिणाम पर पहुंचना सर्वथा हमें उचित मालूम देता है कि वैदिक आर्यों के उच्च और अधिक पवित्र विचार एक प्रारंभिक ईश्वरीय ज्ञान के परिणाम थे! अन्य भी अनेंक

निष्पक्षपात ईश्वरीय ज्ञान के परिणाम थे। अन्य भी अनेक निष्पक्षपात विद्वानों के इस अभिप्राय के समर्थक मत दिए जा सकते हैं पर विस्तार के भय से ऐसा करने की आवश्यकता नहीं। वास्तविक बात यह है कि वैदिक कर्तव्य-शास्त्र को निष्पक्ष दृष्टि से विचार करने का बहुत थोड़े यूरोपियन विद्वानों ने कष्ट उठाया है।

इस विषय में Sacred Books of the East series के Russian Edition के संपादक म. बौलङ्गर (Mr. Boulanger) का लेख उल्लेख करने योग्य है जिसमें उन्होंने प्रसिद्ध यूरोपीय विद्वान् प्रो. मैक्समूलर के अटकल पच्चू अनुवाद (स्वयं Vedic Hymns में प्रो. मैक्समूलर ने स्वीकार किया है कि 'My translation (of the Veda) is conjectural.' अर्थात् मेरा अनुवाद अटकल पच्चू या अनुमान पर आश्रित है) की कड़ी समालोचना करते हुए कहा है–

What struck me in Max Mullar's translation was a lot of absurdities obscene passages and a lot of what is not lucid. As far as I can grasp the teaching of the Vedas, it is so sublime that I would look upon it as a crime on my part if the Russian Public become acquainted with it through the medium of a confused and distorted translation, thus not deriving for its soul that benifit which this teaching should give to the people.'

अर्थात् प्रो. मैक्समूलर के (और यही बात प्रायः सब यूरोपीय भाष्यकारों के विषय में कही जा सकती है) अनुवाद में जिस बात से मुझे अत्यंत हैरानी हुई वह यह है कि उस में बहुत सी बेहूदी अश्लील और अस्पष्ट बातें हैं। जहां तक मैं वेदों की शिक्षा को समझ सकता हूं मुझे वह इतनी अधिक ऊंची मालूम होती है कि रशियन जनता के एक गड़बड़ और भद्दे अनुवाद के द्वारा उससे परिचय कराने को मैं बड़ा भारी अपराध (जुर्म) मानता हूं क्योंकि इससे वह, उस आत्मिक लाभ से वंचित रह जाएगी जो वैदिक शिक्षा जनता को देती है।

4. थोरियो नामक अमेरिका के सुप्रसिद्ध विद्वान् ने वेदों के विषय में निम्न उद्‌गार प्रकट किए–

'What extracts from the Vedas I have read fall on me like the light of a higher and purer luminary which describes a loftier course through a purer startum-free from particulars, *Simple, Universal; the Vedas contain a sensible account of God.'*

(Quoted from `Mother America' by Swami Omkar. p. IX).

भावार्थ–मैंने वेदों के जो उद्धरण पढ़े हैं वे मुझ पर एक उच्च और पवित्र ज्योतिःपुञ्ज के प्रकाश की तरह पड़ते हैं जो एक उत्कृष्ट मार्ग का वर्णन करता है। वेदों के उपदेश सरल, देश व जाति विशेष के इतिहास से रहित और सार्वजनिक हैं तथा उनमें ईश्वर विषयक युक्तियुक्त विचार दिए गए हैं।

डॉ. जेम्स कज़िन्स नामक आयरलैंड के सुप्रसिद्ध कवि और दार्शनिक ने अपने `Path to Peace' अथवा 'शांति का मार्ग' नामक पुस्तक में वैदिक आदर्श की उच्चता का कुछ विस्तार से वर्णन करते हुए अंत में लिखा कि–

'On that (Vedic) ideal alone, with its inclusiveness which absorbs and annihilates the causes of antogonismes, its sympathy which wins hatred away from itself, is it possible to rear a new earth in the image and likeness of the Eternal heavens.'

(Path to Peace p. 70)

भावार्थ–उस वैदिक आदर्श का अनुसरण करते हुए ही जो सार्वभौम होने के कारण विरोध के कारणों को विनष्ट करता है, जो सहानुभूति द्वारा घृणा को दूर कर के जीत लेता है यह संभव है कि पृथिवी को फिर से स्वर्ग के समान सुखदायक बनाया जा सके। इससे बढ़कर वैदिक कर्तव्य शास्त्र की उच्चता का क्या प्रतिपादन हो सकता है ? डॉ. जेम्स कज़िन्स इन वैदिक आदर्शों से इतने प्रभावित हुए हैं कि उन्होंने अपना नाम भी 'जयराम' रख लिया है तथा वे वेदादि शास्त्रों के अनुशील में तत्पर हैं।

6. ल्यौन देल्बौस (Leon Delbos) नामक फ्रांस के विद्वान् ने 14 जुलाई सन् 1984 में पेरिस में International Literary Association के सम्मुख एक निबंध पढ़ते हुए कहा था कि–

'The Rigveda is the most sublime conception of the great high ways of humanity.'

अर्थात् ऋग्वेद में मानव मात्र के उत्कृष्ट जीवन की सर्वोत्तम भावना विद्यमान है।

7. गगोज़िन नामक विद्वान् ने भी जिसके यज्ञ विषयक अशुद्ध लेख की इसी परिच्छेद में आगे हमने आलोचना की है `Vedic India' नामक पुस्तक में संपूर्णतया वैदिक शिक्षाओं की उच्चता को निम्नलिखित स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है। वे लिखते हैं–

'Vedic hymns greatly confirm us in the impression that the Aryan moral code, as mirrored in the Rigveda, bore on the whole, a singularly puae and elevated character. So nothing can be more nobly veartiful in feeling and wording than the following on alms giving, or rather on the duty of giving of helping generally (Rig. X. 117)

(Vedic India by Ragozin. p. 374).

भावार्थ–वैदिक सूक्त हमारे इस विचार का प्रबल समर्थन करते हैं कि वैदिक आचार शास्त्र संपूर्णता अत्यधिक पवित्र और उत्कृष्ट था। उदाहरणार्थ दान अथवा

दूसरों को सहायता देने के विषय में (जो ऋग्वेद 10-117 में वर्णित है) कोई शिक्षा भावना और भाषा की दृष्टि से अधिक सुंदर नहीं हो सकती।

8. मैटर्लिङ्क नामक नोबल-पुरस्कार के विजेता सुप्रसिद्ध पाश्चात्य दार्शनिक ने अपने 'The great Secret' नाम के ग्रंथ में बड़े आश्चर्य और श्रद्धा के साथ वेदों के विषय में लिखा है कि–

'Only the glare of the clairvoyant, directed upon the mysteries of the post, may reveal. *Un-rivalled wisdom,* which lies hidden behind those writings (Vedas)...Whence did our pre-historic ancesters in their supposed terrible state of ignorance and abordonment derive these extra ordinary intuitions—that knowledge and asurance which we ourselves are re-conquering.'

('The Great Secret' by Mater link)

भावार्थ–केवल सूक्ष्मदर्शी की अंतर्दृष्टि है जो वेदों में भरे अनुपम ज्ञान को प्रकट कर सकती है। आश्चर्य यह है कि हमारे प्रागैतिहासिक काल के पूर्वजों ने (जिनके विषय में यह कल्पना की जाती है कि वे घोर अज्ञान की भयंकर अवस्था में थे) कहां से वह असाधारण अन्तर्ज्ञान प्राप्त कर लिया जिसको हम ईश्वर से प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहे हैं ?

ऐसी अवस्था में क्या वेदों को ईश्वरीय ज्ञान मानना सर्वथा संगत नहीं है।

तृतीय परिच्छेद में सामाजिक कर्तव्यों का वर्णन करते हुए मुख्यतः यज्ञ शब्द के अंदर अनेक सामाजिक और राष्ट्रीय कर्तव्यों का भाव आ जाता है यह दिखाया जा चुका है। जहां कहीं 'यज्ञ' शब्द आता है यूरोपियन विद्वान् झट उसका Sacrifice ऐसा अर्थ कर देते हैं और अन्य जातियों के अंदर पशु-बलि, दानादि की प्रथा को दृष्टि में रखते हुए प्राचीन आर्यों के अंदर भी बकरी, घोड़े, बैल इत्यादि को देवताओं की तृप्ति के लिए बलि चढ़ाने की प्रथा थी ऐसी पहले से मानकर चलते हैं, इनमें से कई महानुभावों ने तो प्राचीन समय में मनुष्य बलि भी दी जाती थी यह दिखाने का यत्न किया है। उदाहरणार्थ म. रागोजिन का Stories of the Nation Series में प्रकाशित Vedic India नामक पुस्तक में निम्नलिखित लेख प्रकाशित हुआ है जो बड़ा मनोरंजक है–

'There can be no doubt what-ever that human sacrifices were parts of Ancient Aryan worship.'

'An intensified form of Purush Medh is that in which a large number of victims—166 or even 184 men of all sorts and conditions—are immolated. (p. 408)

अर्थात् इसमें जरा भी संदेह नहीं हो सकता कि नरबलि प्राचीन आर्यों की पूजा

पद्धति का भाग थी। पुरुष-मेध का सबसे अधिक प्रभावशाली रूप यह है जिसमें सब प्रकार और स्थिति के 166 य 184 पुरुषों तक का वध किया जाए। इन सब यज्ञादि विषयक यूरोपियन कल्पनाओं पर विचार करना इस पुस्तक का विषय नहीं। यहां इतना ही कथन पर्याप्त है कि यज्ञ के लिए अध्वर शब्द का प्रयोग न केवल वेद में बल्कि प्रायः सब के सब प्राचीन संस्कृत ग्रंथों में पाया जाता है। यज्ञ शब्द के धात्वर्थ के अंदर पशु बलि चढ़ाने के भाव की गंध तक नहीं जब तक यह पहले से कल्पना न कर ली जाए, जैसे कि यूरोपियन विद्वानों ने कर ली है कि देव पूजा के लिए (प्राचीन सारे संसार की जातियों के अंदर प्रचलित विश्वास के अनुसार) पशुओं की बलि चढ़ाना अत्यावश्यक और अनिवार्य है। अध्वर शब्द का हिंसा रहित कर्म यह अर्थ निरुक्तादि में स्पष्ट दिया है।* साथ ही महाभारत की निम्नलिखित उक्ति को जब ध्यान में रखते हैं कि—

सुरा मत्स्याः पशोर्मांसमासवं कृशरौदनम्।
धूर्तैः प्रवर्तितं ह्येतन्नैतद्वेदेषु विद्यते।।
अव्यवस्थितमर्यादैर्विमूढैर्नास्तिकैर्नरैः।
संशयात्मभिरव्यक्तैर्हिंसा समनुवर्णिता।।

(म. भा. शांतिपर्व) मोक्षधर्म अ. 266

अर्थात् मद्यपान, मत्स्य मांस, मृतक श्राद्ध निमित्त से खिचड़ी बनाना इत्यादि ये सब धूर्तों ने चलाया है। वेद के अंदर यह सब नहीं बताया गया। जो लोग मूर्ख, मर्यादा न जानने वाले, नास्तिक, संशयात्मा पुरुष हैं, अर्थात् एक शब्द में, जो वेद के तात्पर्य को न समझने वाले धूर्त या मूर्ख लोग हैं उन्हीं ने हिंसा का वर्णन किया है। वेद में हिंसा का विधान नहीं पाया जाता। इन उक्तियों को ध्यान में रखते हुए हम निश्चयपूर्वक यह कहने का साहस करते हैं कि अश्वमेध, गोमेध आदि के विषय में यूरोपियन विद्वानों की कल्पना असंगत है। प्राचीन आर्यों को कम से कम इतना बेवकूफ नहीं माना जा सकता कि वे एक कार्य को हिंसा रहित कार्य के नाम से बार बार पुकारते हुए उसके अंदर मनुष्यों तक की हिंसा करने में न संकोच करें। आश्चर्य की बात यह है कि वे ही यूरोपीय विद्वान् जो जिंदा अवस्था आदि में आए हुए गोमेज इत्यादि शब्दों को भूमि में हल चलाना वगैरह अर्थ स्वीकार करते हैं वेद में उसके गौओं के मारने के अतिरिक्त और किसी उत्तम अर्थ की कल्पना नहीं कर सकते। यह यज्ञ का विषय बहुत लंबा चौड़ा होने के कारण स्वतंत्र विस्तृत निबंध की अपेक्षा रखता है इसलिए यहां इसके विस्तार में हम नहीं जा सकते।*

---

* अध्वर इति यज्ञ नाम। ध्वरतिर्हिंसा कर्मा तत्प्रतिषेधः। निरुक्त 1। 7

* विस्तार से इस विषय को जानने की इच्छा रखने वाले सज्जन श्री पं. सातवलेकर जी, 'स्वाध्याय मण्डल' पो. पारडी (जि. सूरत) द्वारा संपादित 'वैदिक यज्ञ संस्था' नामक ग्रंथ जिसमें इस लेखक का भी एक लेख 'वैदिकयज्ञ और पशु हिंसा' पर है तथा सुयोग्य विद्वान् श्री विश्वनाथ जी विद्यालंकार,→

इस परिच्छेद में वैदिक कर्तव्य शास्त्र की सर्वोच्चता का कारण क्या है इस विषय पर विचार करना प्रारंभ किया था। समविकास मध्यमार्ग उपदेशों की ओजस्विता इत्यादि कुछ कारणों का यहां तक निर्देश किया गया है। इस वैदिक कर्तव्य शास्त्र की एक बड़ी विशेषता यह भी है कि इसमें मनुष्य समाज को श्रमविभाग व Division of Labour के वैज्ञानिक उपयोगी सिद्धांत के आधार पर 4 वर्णों में बांट दिया गया है। इन चारों वर्णों का परस्पर प्रेमपूर्वक व्यवहार होना चाहिए। इस वर्ण-व्यवस्था का आधार गुण, कर्म, स्वभाव पर ही होना चाहिए यह वैदिक सिद्धांत है जिसके विस्तार में जाना यहां अनावश्यक है। यहां इतना ही कथन पर्याप्त है कि किसी भी देश में इन चार प्रकार के लोगों की सत्ता कुछ न कुछ अंश तक अवश्य रहती है। कोई भी देश व जाति न होगी जिसमें अध्यापक व उपदेशक, सिपाही, व्यापारी और सेवक इनमें से किसी एक का भी सर्वथा अभाव हो क्योंकि उस दशा में समाज का गुजारा चलना ही असंभव है। वैदिक कर्तव्य-शास्त्र के अंदर इन चारों वर्णों के कर्तव्यों और अधिकारों को व्यवस्थित करने का यत्न किया गया है ताकि मनुष्य समाज का धारण उत्तमता से शांतिपूर्वक हो सके। जब तक ये चारों वर्णों के लोग अपने अपने कर्तव्यों का पालन करते थे और जन्म से उच्च नीच का भाव न मानते हुए एक दूसरे के साथ समानता और प्रेम का व्यवहार करते थे तभी एक शांति का सारे संसार में राज्य था। जब से उस वैदिक वर्ण व्यवस्था का स्थान प्रचलित आनुवंशिक जाति भेद ने ले लिया निश्चय उसी दिन से भारत का अधःपतन आरंभ हुआ और हमारे देश की दशा सुधरने की तब तक कोई आशा नहीं जब तक फिर से वैदिक कर्तव्य-शास्त्र में प्रतिपादित वर्ण व्यवस्था का वर्तमान अवस्थाओं को दृष्टि में रखते हुए पुनरुद्धार न किया जाए। निःस्वार्थी तपस्वी ब्राह्मणों की जब तक समाज में प्रधानता नहीं होती तब तक सच्ची उन्नति को आशा रखना सर्वथा व्यर्थ है।

कई महानुभाव इस उपर्युक्त स्थापना की सत्यता में संदेह करते हैं। वे कहते हैं बौद्ध कर्त्तव्य-शास्त्र के ग्रंथों में और बाइबिल इत्यादि में जिस समदृष्टि का वर्णन किया गया है भगवद् गीता में भी–

विद्याविनयसम्पन्ने, ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः।

गीता, अ. 5/18

इत्यादि श्लोकों द्वारा जिस समदृष्टि का स्पष्ट प्रतिपादन किया गया है वैदिक कर्तव्य-शास्त्र के अन्दर उस का अभाव पाया जाता है। ऐसे महानुभावों के भ्रम को दूर करने के लिए इस विषय पर थोड़ा प्रकाश डालना आवश्यक है क्योंकि यह कर्तव्य

→ पूर्व अध्यक्ष वेद-महाविद्यालय गुरुकुल कांगड़ी कृत 'वैदिक पशुयज्ञ मीमांसा' नामक अवश्य पढ़ें। 'बौद्ध मत और वैदिक धर्म' अपनी पुस्तक में भी हमने इस विषय पर प्रर्याप्त प्रकाश डाला है।

शास्त्र के साथ विशेष संबंध रखने वाला विषय है। निम्नलिखित कुछ वेद मंत्रों पर इसके बारे में विचार करना चाहिए।

1. ऋ. 10/53/4 में यह मंत्र आया है—

तदद्य वाचः प्रथमं मंसीय येनासुराँ अभि देवा असाम।
ऊर्जाद उत यज्ञियासः पंच जना मम होत्रं जुषध्वम्।।

इस मंत्र का अर्थ ऐसा है कि वाणी के उस मूल कारण का हम मनन करते हैं जिस की सहायता से देवों ने असुरों पर विजय प्राप्त किया। जो पुरुष ऊर्जाद् अर्थात् अन्नसेवी हैं जो (यज्ञियासः) पूजनीय हैं वे सब, इतना ही नहीं (पञ्च जनाः) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, निषाद या जंगली भील आदि ये सब के सब (मम होत्रं जुषध्वम्) मुझ ईश्वर की पूजा करो। वाणी के मूल कारण से तात्पर्य संभवतः ओ३म् अथवा वेद का होगा पर पूर्ण निश्चय से नहीं कहा जा सकता। 'पञ्च जना मम होत्रं जुषध्वम्' इन शब्दों से सब पुरुषों का ईश्वर के ध्यान तथा अग्निहोत्रादि करने का समान अधिकार है यह भाव स्पष्ट सूचित होता है। अगले मंत्रों में भी फिर 'पंञ्च जना मम होत्रं जुषन्ताम्' ये शब्द आए हैं।

2. यजु. अ. 26 के सुप्रसिद्ध—

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।
ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय चारणाय च स्वाय।।

वा. य. 26। 2।।

इस मंत्र में वेद को पढ़ने का अधिकार चारों वर्णों और निषादों तक को समान रूप से है, यह भाव पाया जाता है।

3. अथर्व. 3। 4। 3 में प्रार्थना है—

इमा याः पञ्च प्रदिशो मानवीः पञ्च कृष्टयः।
वृष्टेः शापं नदीरिवेह स्फातिं समावहान्।।

अर्थात् ये पांच दिशाएं (उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम और मध्य भाग) और पांच प्रकार के मनुष्य (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, निषाद) ये सब के सब (वृष्टेः शापं नदीरिव) जिस प्रकार वर्षा के पीछे नदी का जल बढ़ जाता है वैसे ही ये (इह) इस संसार में (स्फातिं समावहान्) वृद्धि को प्राप्त होवें। इस मंत्र में सबके सब मनुष्यों की वृद्धि का अत्युच्च भाव स्पष्ट शब्दों में पाया जाता है।

4. अथर्व. 13। 4 (4) 42 में परमेश्वर की स्तुति करते हुए कहा है—

पापाया वा भद्राय वा पुरुषाय वा सुराय वा।
यद्वा कृणोष्योषधीर्यद्वा वर्षसि भद्रया।
यद्वा जन्यमवीवृधः।
तावांस्ते मघवन् महिमोपो ते तन्वः शतम्।।

अर्थात् हे (मघवन्) परमैश्वर्य युक्त परमेश्वर तू पापी, सज्जन पुरुष, असुर

सबके लिए (औषधीः कृणोषि) ओषधियों या वनस्पतियों को बनाता है सबके लिए समान रूप से वृष्टि करता और (जन्यं) उत्पन्न होने वाले धान्य आदि को बढ़ाता है। (तावांस्ते महिमा) भगवन् यही तेरा बड़ी भारी महिमा है तेरे अनेक उद्भुत रूप है अर्थात् तेरे गुण अनंत हैं।

इसी मंत्र के भाव को भगवद्गीता में–

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म, तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः।।

भ. गी., 5। 19

इत्यादि श्लोकों द्वारा स्पष्ट किया गया है जिनका अभिप्राय यह है कि जिन लोगों का मन समभाव में स्थित है–जो सब प्राणियों को समान रूप से देखते हैं, वास्तव में वही ब्रह्म में स्थित हैं क्योंकि निर्दोष ब्रह्म की दृष्टि में सब समान हैं। जीसस ने अपने शिष्यों को उपदेश करते हुए मै.। 5। 45 के अनुसार–

'That ye may be the children of your Father which is in heaven for He maketh His sun to rise on the evil and the good and sendth rain on just and the unjust.

यह जो बात कही है उसकी उपर्युक्त वेद मंत्र और माता वाक्य के साथ तुलना विचार करने योग्य है। समान रूप से वृष्टि का ऊपर के मंत्र में उल्लेख किया गया है। निम्नलिखित मंत्र में समान रूप से सूर्य प्रकाश वाली बात का भी स्पष्ट उल्लेख है।

5. **'त्वज्जातास्त्वयि चरन्ति मर्त्यास्त्वं बिभर्षि द्विपदस्त्वं चतुष्पदः। तवेमे पृथिवी पञ्च मानवा येभ्यो ज्योतिरमृतं मर्त्येभ्य उद्यन्त्सूर्यो रश्मिभिरातनोति।।**

अथर्व. 12। 1 15

इस मंत्र में मातृभूमि को संबोधन करते हुए कहा है कि हे (पृथिवी) मातृभूमे ! सब मनुष्य तेरे से उत्पन्न होते और तुझ में विचरण करते हैं तू ही मनुष्यों और चौपाए पशुओं को धारण करती है। ये (पञ्चमानवाः) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, निषाद सब (तव) तेरे ही समान पुत्र हैं (येभ्यः) जिन सब (मर्त्येम्यः) मनुष्यों के लिए (उद्यन् सूर्यः) उदय होता हुआ सूर्य समान रूप से (रश्मिभिः) अपनी किरणों से (अमृतं ज्योतिः आतनोति) अमृत स्वरूप ज्योति का विस्तार करता है। जिस प्रकार परमेश्वर के राज्य में सूर्य समान रूप से सब पर प्रकाशादि करता है उसी प्रकार सब मनुष्यों को परस्पर समान दृष्टि से देखना और प्रेम से बरतना चाहिए यह वेदमंत्र अंदर गुप्त भाव है। इन प्रमाणों से यह बात साफ है कि वेद में समदृष्टि का स्पष्ट उपदेश है। इन्हीं मंत्रों में वेद के अध्ययन का अधिकार सब पुरुषों को समान है यह बात भी बताई गई है। इसलिए वैदिक कर्तव्य-शास्त्र के इन प्रचलित संकुचित अर्थों में

भी सार्वभौम होने में कुछ भी संदेह नहीं हो सकता। वास्तव में देखा जाए तो किसी धर्म ग्रंथ को पढ़ने का समान अधिकार सब पुरुषों व स्त्रियों को होने से ही कोई धर्म सार्वभौम नहीं बन जाता। सार्वभौम धर्म वही हो सकता है जिसमें एक व्यक्ति की शारीरिक, मानसिक, आत्मिक उन्नति किस प्रकार हो सकती है इस बात के निर्देश के अतिरिक्त व्यक्ति का समाज से क्या संबंध है, राष्ट्रीय उन्नति कैसी हो सकती है, प्रत्येक मनुष्य के पारिवारिक, राष्ट्रीय और सामाजिक कर्तव्य क्या हैं इस विषयक उपयोगी निर्देश पाए जाएं। यह बात बिना किसी तरह के संकोच और संदेह के कही जा सकती है कि सार्वभौम धर्म का यह लक्षण केवल वैदिक-धर्म में ही घटता है अन्य किसी भी मत या संप्रदाय में वह पूरे तौर पर नहीं घट सकता। धर्म शब्द का धात्वर्थ ही धारण करना है। धर्म वही है जिससे व्यक्ति, समाज और राष्ट्र का धारण हो। राजा प्रजा का क्या संबंध होना चाहिए, राजा के अंदर कौन कौन से गुण होने चाहिए, प्रजा कैसी होनी चाहिए इत्यादि आवश्यक उपयोगी विषयों का केवल वैदिक कर्तव्य-शास्त्र में ही विचार किया गया है। अन्य बौद्ध, ईसाई इत्यादि मतों के कर्तव्य शास्त्रों में उन सब बातों का निर्देश तक नहीं पाया जाता है। ऐसी अवस्था में उनको पढ़ने का अधिकार सब को समान होने से ही उनको सार्वभौम कर्तव्य शास्त्र का नाम नहीं दिया जा सकता। इतना ही नहीं, उनके अंदर कई ऐसी शिक्षाएं पाई जाती हैं। जिनके अनुसार यदि सब मनुष्य चलने लगें तो समाज व राष्ट्र का काम चलना बिल्कुल असंभव हो जाए। उदाहरणार्थ बाइबिल के अंदर धन की जो इतनी निंदा की गई है और धनी आदमियों के लिए परमेश्वर के राज्य में प्रवेश करना ऊंट के सूई की नोक में से निकालने की अपेक्षा भी अधिक असंभव है (It is easier for a camel to enter into the eye of a needle than for a rich man to enter into the kingdom of God).

इसको सत्य मानते हुए यदि सब व्यवहार करने लगें तो समाज की कितनी हीन दशा हो जाए। इसी प्रकार 'यदि कोई तुम्हारी एक गाल पर चपत लगाए तो दूसरा गाल भी उसके समाने कर दो' यदि सब इस शिक्षा अनुसरण करने लगें तो निःसंदेह दुष्ट पुरुषों का समाज पर दबदबा हो जाए और उन्हीं की सब जगह दाल गलने लगे, पर ईसाई मत के कर्तव्य-शास्त्र में इस दृष्टि से समाजहित का बिल्कुल विचार तक नहीं किया गया।

यही बात बौद्ध कर्तव्य शास्त्र के विषय में भी सत्य है। यदि गौतम बुद्ध की शिक्षा के अनुसार सब के सब मनुष्य संसार को क्षण-भंगुर और केवल दुःखरूप समझ घर बार छोड़कर भिक्षु बनने लगें तो समाज और राष्ट्र कार्य कैसे चले। इस प्रकार की अव्यवस्था को दूर करने के लिए ही वैदिक कर्तव्य शास्त्र में वर्णाश्रम व्यवस्था को स्वीकार किया गया है जो सामाजिक जीवन की हजारों समस्याओं को आसानी से हल कर सकती है। इस प्रकार विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक

कर्तव्य शास्त्र की सर्वोच्चता का एक प्रधान कारण उसकी सार्वभौमता अर्थात् सब मनुष्यों के लिए सब अवस्थाओं में समान रूप से उपयोगिता है।

अंत में उपसंहार के तौर पर दो चार शब्द लिखकर इस पुस्तक को समाप्त किया जाता है।

इस पुस्तक को पांच परिच्छेदों में विभक्त किया गया है। प्रथम परिच्छेद में वैदिक कर्तव्य शास्त्र के मूलभूत ईश्वर की अध्यक्षता में कार्य करने वाले अटल सार्वभौम नियम, कर्मनियम, जीवन का उद्देश्य, सत्य, निर्भयता, स्वाधीनता, समविकासादि सिद्धांतों की वेद मंत्रों के आधार पर व्याख्या की गई है।

दूसरे परिच्छेद में वेदमंत्रों के आधार पर ईश्वरभक्ति, त्रिविध पवित्रतादि, वैयक्ति और पारिवारिक कर्तव्यों का संक्षेप से विचार किया गया है जिनमें स्त्रियों की स्थिति तथा आर्दश विषयक उच्च वैदिक भावों की विशेष तौर पर व्याख्या की गई है।

तीसरे परिच्छेद में यज्ञ को मुख्य तौर पर वेदोक्त सामाजिक कर्तव्यों का स्तंभरूप मानते हुए उसकी वेद मंत्रों के आधार पर थोड़ी सी व्याख्या है और फिर अग्नि इंद्रादि देवताओं को नाम से वेद में चारों वर्णों के कर्तव्यों का कैसा उत्तम वर्णन है इस बात को दिखाते हुए वैदिक राष्ट्रीय भावों का थोड़ा सा विवरण किया गया है।

चौथे परिच्छेद में ईसाई मत के कर्तव्य-शास्त्र की बौद्ध कर्तव्य-शास्त्र के साथ तुलना की गई है और फिर बौद्ध कर्तव्य शास्त्र की वैदिक कर्तव्य शास्त्र के साथ अनेक आश्चर्यजनक समानताओं का निर्देश करते हुए उन दोनों के परस्पर संबंध पर थोड़ा प्रकाश डाला गया है।

पांचवें परिच्छेद में वैदिक कर्तव्य शास्त्र की समविकास, मध्यमार्ग, सार्वभौमता इत्यादि अनेक विशेषताओं का संक्षेप से निर्देश करते हुए एतद् विषयक यूरोपियन विद्वानों के मत की थोड़ी सी आलोचना की गई है।

पुस्तक के अंदर स्थान स्थान पर इस बात का निर्देश किया गया है कि मनुस्मृति, योगदर्शनादि में वर्णित आचार तथा सामाजिक कर्तव्यों का मूल वेद में ही पाया जाता है। मनुस्मृति में चारों वर्णों के जो धर्म बताए हैं उनका आधार वेद में पाए जाने वाले उपदेशों पर है इस बात को निम्नलिखित श्लोक द्वारा भृगु ने स्वयं स्पष्ट बताया है–

यः कश्चित्कस्यचिद्धर्मो मनुना सम्प्रकीर्तितः।
स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः।।

अर्थात् मनु महाराज ने जिस जिस वर्ण का जो जो धर्म बताया है वह सब वेद के आधार पर कहा है क्योंकि निश्चय से वेद के अंदर सारा ज्ञान पाया जाता है। इसी प्रकार योगदर्शन में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान ये जो 10 यम नियम बताए गए हैं उनका भी मूल वेद में ही पाया जाता है इस बात को पुस्तक में दिखाने का यत्न किया गया है।

भगवद्‌गीता में दैवी, आसुरी, प्रकृति तथा अनेक कर्म योगादि विषयक उत्तम तत्व वेद के ही आधार पर वर्णन किए गए हैं—यह बात इस पुस्तक में स्पष्ट रूप से दिखाई गई है। इस प्रकार जिस वेद में अन्य कर्तव्य शास्त्रों के सब के सब उत्तम तत्त्व पाए जाते हैं, जिसमें मनुष्य की वैयक्तिक और सामाजिक उन्नति के लिए आवश्यक सब ही बातों का निर्देश पाया जाता है उसके पढ़ने पढ़ाने का क्रम जब तक फिर से जारी न किया जाएगा तब तक हमें अपने धर्म का सच्चा ज्ञान कभी नहीं हो सकेगा। 'वेद सब सत्यविद्याओं का पुस्तक है उसको पढ़ना पढ़ाना और सुनना सब कार्यों का परम धर्म है' आचार्य महर्षि दयानंद के इस आदेश की ओर ध्यान देना प्रत्येक आर्य का मुख्य कर्तव्य है।।

ॐ शांतिः शांतिः शांतिः।।

परिशिष्ट

वैदिक कर्तव्य शास्त्र और पारसी कर्तव्य शास्त्र

इस पुस्तक के चतुर्थ परिच्छेद में हमने ईसाई मत की बौद्ध मत के कर्तव्य शास्त्र के साथ और उसकी वैदिक कर्तव्य शास्त्र के साथ संक्षेप से तुलना करके दिखाई है। पारसी मत के कर्तव्य शास्त्र के साथ और वैदिक कर्तव्य शास्त्र की तुलना भी इस तुलनात्मक अनुशीलन में आवश्यक प्रतीत होती है, अतः उसे संक्षेप से यहां दरशाया जाता है।

पारसी मत का आधार अधिकतर वैदिक धर्म है और उसके प्रवर्तक ज़रदुश्त एक आर्य सुधारक थे इस बात को आर्य-जगत् के सुप्रसिद्ध विद्वान् श्री पं. गंगाप्रसाद जी एम. ए. कार्यनिवृत्त मुख्य न्यायाधीश टिहरी राज्य ने अपनी—`Fountain head of Religion' अथवा 'धर्म का आदिस्रोत' (अंग्रेज़ी मद्रास आर्यसमाज द्वारा प्रकाशित, अनुवाद म. राजपाल ऐण्ड संस नई सड़क देहली द्वारा प्रकाशित) में सप्रमाण बड़ी उत्तमता से दिखाया है। जो इस विषय को विस्तार से जानना चाहते हैं उन्हें उपर्युक्त ग्रंथ को पढ़ना चाहिए। यहां प्रसंगवश इन दोनों की कर्तव्य शास्त्र विषयक शिक्षाओं का ही कुछ तुलनात्मक अनुशीलन करना है।

आर्य शब्द का प्रयोग

पहली बात जो इस संबंध में उल्लेखनीय है वह यह है कि जिस प्रकार वेद में 'विजानीह्यार्यान् ये च दस्यवे। बर्हिष्मते रन्धया शासदव्रतान्।' (ऋ. 1। 10। 51। 8) 'आर्या व्रता विसृजन्तो अधिक्षमि' (ऋ. 10। 65। 11) इत्यादि मंत्रों द्वारा श्रेष्ठ मनुष्यों के लिए आर्य शब्द का प्रयोग किया जाता है वैसे ही पारसियों की ज़िंद अवस्ता तथा अन्य धर्म ग्रंथों में भी आर्य शब्द का प्रयोग बार बार पाया जाता है। जो वाक्य इस विषय में यहां उल्लेखनीय हैं उनमें से कुछ का आर्यभाषा में निम्न अनुवाद है—

आर्यों की प्रतिष्ठा में जिन्हें अहुर मज्दा (परमेश्वर) ने बनाया (सिरोज़ह 1। 25)

हम आर्यों के सन्मानार्थ हवन करते हैं जिन्हें मज्दा ने बनाया (सिरोज़ह 11। 9)।

आर्यों में का आर्य (8 यश्त 6)।

गोचरों के स्वामी मित्र की प्रतिष्ठा और प्रभुता के उपलक्ष्य में ऐसी हवि चढ़ाऊंगा जो अवश्य ही स्वीकार की जाएगी। विस्तृत गोचरों के स्वामी को जो आर्य जाति के निमित्त आनंददायक सुंदर निवास स्थान प्रदान करता है हम हवि चढ़ाते हैं। (10 यश्त 4)

अहुर मज्द (असुर महान्—परमेश्वर) ने कहा यदि लोग वृत्रहन् को भेंट चढ़ाएंगे जिसे अहुर ने बनाया है तो आर्यों के देशों में किसी शत्रु की सेना का प्रवेश न हो सकेगा, न कुष्ठ, न विषैले वृक्ष, न किसी शत्रु का रथ और न वैरी का उठा हुआ भाला स्थान पा सकेगा (बहराम यश्त 48, ज़िंद अवस्ता भाग 2, पृ. 244)

अस्तद यश्त का 18 वां अध्याय केवल आर्यों की वीरता से भरा हुआ है जिसके प्रारंभिक श्लोक का निम्न अनुवाद है—

अहुर मज़्दा ने स्पितामा ज़रदुश्त से कहा—मैंनें आर्यों को भोजन, पशु समूह, धन प्रतिष्ठा, ज्ञान भण्डार और द्रव्यराशि से संपन्न किया है जिससे वे अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति और शत्रुओं का सामना कर सकें। (ज़िंद अवस्ता भाग 2, पृ. 283)।

त्रिविध पवित्रता पर सबसे अधिक बल

पारसी मत की धर्म पुस्तक में वेदों के समान मन, वाणी और कर्म की पवित्रता पर बहुत अधिक बल दिया गया है। इन्हें हुमतम्, हूख्तम्, हूश्तम् इन शब्दों से कहा गया है जो सुमतुम्, सूक्तम्, सुकृतम् के ही अपभ्रंश हैं अर्थात् मन में अच्छे विचार रखना, वाणी से अच्छे शब्दों का उच्चारण करना तथा इंद्रियादि से अच्छे कार्य करना यह प्रत्येक व्यक्ति का प्रधान कर्तव्य है।

यस्न 31। 8 में लिखा है कि हे महान् असुर-जीवन प्रदाता महान् ईश्वर ! मैंने अपने मन में यह चिंतन किया है कि तू ही आदि और तू ही अंत है; तू उत्तम विचार का पिता है, तूने सचमुच ऋतु (सत्य) को उत्पन्न किया और तू ही मनुष्यों को कर्मानुसार फल देने वाला न्यायकारी है।

वेन्द्रिडाड (5। 21) नामक पारसी धर्मग्रंथ में लिखा है कि मनुष्य के लिए पवित्रता जीवन से दूसरी श्रेणी पर सर्वोत्तम वस्तु है। वह पवित्रता जो मज्द (महान् ईश्वर) के धर्म में पाई जाती है उसे प्राप्त होती है जो अच्छे शब्दों और कर्मों से अपने मन को निर्मल बनाता है। यस्न 45-11 में अहुर मज़्द ने कहा है कि जो मूर्तियों और शरारती मनुष्यों को हेय समझता और उनका सत्य और पवित्रता के मार्ग पर चलने वालों से भेद करता है अहुर मज्द (परमेश्वर) उसके लिए मित्र, भ्राता और पिता के समान कल्याणकारी होता है।

आशेम वोहु नामक प्रार्थना का जो पारसी लोग प्रतिदिन करते हैं—अंग्रेजी अनुवाद बड़ौदा यूनिवर्सिटी के प्रोवाइस चान्सलर प्रो. ए. आर. वाडिया नामक पारसी विद्वान्

ने 'Zoroaster' (Published by Nateshan & Co. Madras) नामक अपनी अत्युत्तम पुस्तक में निम्न शब्दों में दिया है–

`Purity is good. Purity is best. It is happiness. Happiness is for him who observes purity in order to attain the highest purity.'

(`Zoroaster' p. 39).

अर्थात् पवित्रता अच्छी है। पवित्रता सबसे अच्छी वस्तु है। यही सच्ची प्रसन्नता है। प्रसन्नता उसी को प्राप्त होती है जो पवित्रता का आचरण करता है इसलिए कि वह सर्वोच्च पवित्रता को पा सके। ऐसा ही यथा आहु वैर्यो नामक दूसरी सुप्रसिद्ध प्रार्थना में है। इन प्रार्थनाओं में पवित्रता पर जो बल दिया गया है वह प्रशंसनीय है किंतु यह बात यहां स्मरणीय है कि प्रो. वाडिया जैसे पारसी विद्वान् भी इस बात को स्वीकार करते हैं कि ये प्रार्थनाएं ज़रदुश्त के जन्म से बहुत पहले से प्रचलित हैं। प्रो. वाडिया ने इस तथ्य को उल्लेख करते हुए अपनी उपर्युक्त ज़रदुश्त विषयक पुस्तक के पृ. 39 में लिखा है–

'Both of these prayers are reputed to have come down from the pre-Zoroastrion times and this is in keeping with the tradition that Zoroaster was not the first to preach the mazdayasnian faith.' (p. 39)

अर्थात् ये दोनों प्रार्थनाएं ज़रदुश्त से प्राचीनकाल से चली आ रही हैं यह बात प्रसिद्ध है और इस परंपरागत विश्वास से इसकी संगति मिल जाती है कि ज़रदुश्त मज़्द या पारसी मत का प्रथम प्रचारक न था।

वस्तुतः 'यथा आहुर् वैर्यो' का अर्थ ही यह है कि जैसे वीर कहते आए हैं। वेदों में पवित्रता पर कितना बल दिया गया है इस बात को हम–

पवमानः सो अद्य नः पवित्रेण विचर्षणिः।
यः पोता स पुनातु नः।। ऋ. 9। 67। 22

सहस्र धारे वितते पवित्र आ वाचं पुनन्ति कवयो मनीषिणः।।
(ऋ. 9। 73। 22)

चित्पतिर्मा पुनातु वाक् पतिर्मा पुनातु...तस्यते पवित्र पूतस्य यत् कामः पुने तच्छकेयम्।। (यजु. 4। 4)

इत्यादि मंत्रों का द्वितीय परिच्छेद में 'आंतरिक और बाह्य पवित्रता' इस शीर्षक के नीचे अर्थ सहित उल्लेख करके बता चुके हैं। पाठक महानुभावों से हम उन पर पुनः दृष्टिपात करने की प्रार्थना करते हैं ताकि वे पारसी कर्तव्य शास्त्र से उनकी तुलना कर सकें।

उपनयन संस्कार और नवजोतक्रिया

इसी पवित्रता के प्रसंग में प्रो. वाडिया ने पारसियों में प्रचलित नवजोत संस्कार का

उल्लेख किया है जिसमें बालक बालिकाओं को कुस्ती नामक पवित्र सूत्र पहनाया जाता है। यह संस्कार 7वें, 9 वें अथवा 11वें वर्ष में होता है। यह हिंदुओं के उपनयन संस्कार के साथ मिलता है और इसके द्वारा बालक बालिकाओं को धर्म में दीक्षा दी जाती है। इसलिए इस संस्कार को नवजोत कहते हैं जिसका शब्दार्थ नया जन्म है। (It corresponds to the Hindu Upanayanam. It marks the initiation of a boy or girl into the religion and therefore, the ceremony is called Navjote, which literally means new birth.' (See `Zoroaster by Prof. A. R Wadia p. 40).

नवजोत शब्द संस्कृत के नवजात शब्द से निकलता है क्योंकि उपनयन द्वारा बालक बालिका का द्वितीय जन्म माना जाता है जैसा कि द्विज शब्द भी सूचित करता है। इस पवित्र सूत्र के धारण का तात्पर्य (जो स्पष्टतया हमारे यज्ञोपवीत से मिलता है) पवित्रता के साथ साथ बुराई से युद्ध की तैयारी का है। जिस प्रकार यज्ञोपवीत के तीन सूत्र मन, वचन और कर्म की पवित्रता को सूचित करते हैं वैसे ही पारसियों के कुस्ती के 3 तार भी तीन प्रकार की पवित्रता के द्योतक हैं। उत्तम विचार, उत्तम शब्द और उत्तम कर्म (Good thoughts, good words, good deeds) ये पवित्र सूत्र द्वारा सूचित होते हैं। इस प्रकार इनकी अद्भुत समानता दर्शनीय है–

यज्ञोपवीतंपरमंपवित्रं प्रजापतेर्यत् सहजं पुरस्तात्।
आयुष्यमग्र्यं प्रति मुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः।।

इस पारस्कर गृह्यसूत्रोक्त वचन का आधार–

यो यज्ञस्य प्रसाधनस्तंतुर्देवेष्वाततः।
तमाहुतं नशीमहि।। (ऋ. 10। 57। 2)

उपवीतिने पुष्टानां पतये नमः (यजु. 16। 17) इत्यादि वेदमंत्रों पर है।

सत्य, न्याय और उदारता पर बल

प्रो. वाडिया ने अपनी ज़रदुश्त विषयक अत्युत्तम पुस्तक के `Ethical teaching of Zoroaster' इस शीर्षक अध्याय में पारसी धर्म ग्रंथों के अनेक वचन उद्धृत करके बताया है कि पवित्रता के अतिरिक्त सत्य, न्याय और उदारता पर भी उनमें बल दिया गया है।

सत्य के विषय में गाथा अहुनावाद यस्न 33। 5 में कहा है कि हम सत्य के उन मार्गों का अनुसरण करें जहां अहुर मज़द (परमेश्वर) अपनी पवित्रता के साथ निवास करता है।

गाथा वहिश्तोइश्त यस्न 53। 2 में कहा है कि सत्य के मार्ग को अहुर मज़्द (परमेश्वर) ने बनाया है। गाथा अहुनावाद यस्न 29। 5 में बताया गया है कि सत्यवादी को कभी हानि नहीं पहुंचती। यस्न 59। 5 में प्रार्थना है कि यहां सदा सत्य की

असत्य पर विजय होती रहे। इत्यादि। सत्य के विषय में अत्युत्तम वैदिक शिक्षाओं को हम प्रथम परिच्छेद में दिखा चुके हैं जिनमें यहां तक कहा गया है कि– 'सत्येनोत्तभिताभूमिः।' (अ. 10। 85। 1)

अर्थात् सत्य ने ही पृथ्वी को धारण किया हुआ है।

'ऋतस्य धीतिर्वृजिनानिहन्ति' अर्थात् सत्य का धारण सब पापों को दूर कर देता है इत्यादि। अतः उनका फिर उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं। न्याय और उदारता विषयक वैदिक शिक्षाओं को सप्रमाण प्रथम परिच्छेद में दरशाया जा चुका है।

असत्य से द्वेष

पारसी मत की एक बड़ी विशेषता प्रो. वाडिया तथा अन्य विद्वानों ने यह बताई है कि इसमें न केवल सत्य से प्रेम करना और उस पर आचरण करना बताया गया है बल्कि उसके साथ असत्य से द्वेष और उसके घोर विरोध पर भी बल दिया गया है।

वस्तुतः वेदों में भी सत्य की रक्षा और वृद्धि के साथ असत्य के खण्डन और निवारण पर बड़ा बल पाया जाता है। देवों का लक्षण ही वेदों में यह किया गया है कि–

ऋतावान ऋतजाता ऋतावृधो घोरासो अनृतद्विषः।

(ऋ. 7। 66। 13)

अर्थात् वे सत्य संपन्न, सत्य में ही मानो उत्पन्न और सत्य की वृद्धि करने वाले तथा असत्य के घोर द्वेषी होते हैं।

ज़रदुश्त ने अपने समय में प्रचलित मूर्ति पूजा, अपवित्र जीवन, यज्ञों में गवादि पशु हिंसा इत्यादि बुराइयों को जो प्रबल खण्डन किया वह प्रशंसनीय ही था। ऐसा ही वैदिक धर्म के विशुद्ध रूप में पुनरुद्धारक महर्षि दयानंद ने किया जिनकी पवित्र भावना को न समझकर कुछ लोगों ने ज़रदुश्त की तरह उन्हें भी असहिष्णु बताया।

समाज का 4 वर्गों में विभाजन

जिस प्रकार वैदिक धर्म में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चारों वर्गों में समाज का विभाजन किया गया है वैसा ही प्राचीन पारसी मत में भी था। यह हम पहले बता ही चुके हैं कि इस वर्ण व्यवस्था का आधार जन्म पर नहीं गुण, कर्म, स्वभाव पर ही था। इसी प्रकार पारसी मत के ग्रंथों में भी समाज का 4 वर्गों में विभाजन किया गया है जिनमें से 2 के नाम से स्पष्टतया वेद से मिलते जुलते हैं। इन 4 वर्गों के नाम अथ्रवण या पुरोहित (आथर्वण) रथेस्तर क्षत्रिय (संस्कृत 'रथेष्ठाः' यजु. 22। 22 इत्यादि में प्रयुक्त) वास्त्रियोफ्श्या (वैश्य) कृषिकार हुइती–कारीगर व मज़ूर (शूद्र) हैं।

पारसी मत विषयक सुप्रसिद्ध लेखक डॉ. हॉग ने Essays on the Religion

and language of the Parsis नामक अपनी पुस्तक में स्पष्ट लिखा है कि 'In the religious records of the Iranians, who are so nearly allied (to the Indians) in the Zend Avesta, the four castes are quite plainly to be found, only under other names—

(1) Athravan 'Priest' (Sanskrit Atharwan), (2) Rathaestar 'Warrior' (3) Vastriyofshyas 'Cultivator' (4) Huites 'Workmen.'

(Yasna 19. 17).

अर्थात् ईरानियों के (जो भारतीयों से बहुत समता रखते हैं) धर्मग्रंथ में स्पष्टतया 4 वर्णों का वर्णन कुछ भिन्न नामों से पाया जाता है जो क्रमशः अथर्वण, रथेष्टर, वास्त्रिोफ्श्या और हुइती हैं।

यही बात प्रो. डार्मेस्टर ने ज़िंद अवस्था के अनुवाद में लिखी है–

'We find in it (the Dinkirt) a description of the four classes which strikingly reminds one of the Brahmanical account of the origin of castes (Chap. XLII) and which wre certainly borrowed from India.' (Zend Avesta' Part 1, Introduction p. 33).

अर्थात् हम इसमें (दिनकिर्त में) चार वर्णों का वर्णन पाते हैं जो आश्चर्य के साथ हमें उस वर्णन का स्मरण कराता है जो ब्राह्मणों की पुस्तकों में वर्णों की उत्पत्ति के विषय में है और जो निस्संदेह भारतवर्ष से लिया गया है।

एकेश्वर पूजा

अन्य अनेक अद्‌भुत समानताओं को विस्तार भय से छोड़ते हुए हम वैदिक धर्म और पारसी मत की ईश्वर विषयक कल्पना पर संक्षेप से कुछ प्रकाश तुलनात्मक दृष्टि से डालना चाहते हैं क्योंकि कर्तव्य शास्त्र के साथ इस विषय को घनिष्ठ संबंध है। वैदिक धर्म में एक ही परमेश्वर की पूजा का विधान पाया जाता है इस बात को सिद्ध करने के लिए–

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।।

(ऋ. म. 1। 164। 46)

य एक इत तमु ष्टुहिकृष्टीनां विचर्षणिः। पतिर्जज्ञे वृषक्रतुः।।

(ऋ. अ. 4। 7। 24)

मा चिदन्यद्र विशंसत सखायो मा रिषण्यत।
इन्द्रमित् स्तोता वृषणं सचासुते मुहुरुक्था च शंसत।।

(ऋ. 8। 1। 1)

प्रजापते नात्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परिता बभूव।।

(ऋ. 10 । 121 । 10)

दिव्यो गंधर्वो भुवनस्ययस्पतिरेक एव नमस्यो विक्ष्वीड्यः।
तं त्वा यौमि ब्रह्मणा दिव्यदेव नमस्ते अस्तु दिवि ते सधस्थम्।।

(अथर्व. 4 । 2 । 1)

न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते।
न पञ्चमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते।
नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते।
स एष एक एववृदेक एव।।

(अथर्व. 13 । 4 । 14-21)

इत्यादि सैकड़ों मंत्रों को उद्धृत किया जा सकता है जिनमें स्पष्ट बताया गया है कि विद्वान् लोग एक ही परमेश्वर को इन्द्र मित्र वरुण अग्नि यम मातरिश्वा आदि अनेक नामों से उसके अनंत गुणों की दृष्टि से पुकारते हैं।

हे मनुष्य (यः एकः इत्) जो परमेश्वर एक ही है (तम् उ स्तुहि) उसकी ही तू स्तुति कर। वह (विचर्षणिः) सर्वज्ञ (वृषक्रतः) सर्व शक्तिमान् (पतिः जज्ञे) सारे संसार का स्वामी है। (सखायः) हे मित्रो ! (अन्यत् चित्) परमेश्वर को छोड़कर और किसी की (मा विशंसत) मत स्तुति करो और (मा रिषण्यत) मत दुःख उठाओ। (सुते) यज्ञादि में (वृषणाम्) सुखों की वर्षा करने वाले (इन्द्रम् इत्) एक परमेश्वर की ही (स्तोत) स्तुति करो (मुहः) बार बार (उक्था च शंसत) मंत्र बोलकर उसी की स्तुति करो (प्रजापते) हे सारी प्रजा के स्वामी परमेश्वर (त्वत् अन्यः) तुझ से अतिरिक्त कोई (एतानि विश्वा जातानि) इन सब उत्पन्न पदार्थों में (न परिबभूव) व्यापक और इनका स्वामी नहीं है। (यः) जो (दिव्यः) दिव्य गुण युक्त (गंधर्वः) वेद वाणी अथवा पृथ्वी का धारण करने वाला (भुवनस्य पतिः) संसार का पालक है जो (एकः एव) अकेला ही (विक्षु ईड्यः) सब प्रजाओं के लिए पूजनीय है (दिव्य देव) हे अद्भुत सुख शांतिदातः (ब्रह्मणा) वेद मंत्र के द्वारा (तं त्वा यौमि) उस तेरे साथ मैं अपने को जोड़ता हूं (ते नमः अस्तु) तुझे नमस्कार हो (ते) तेरा (दिवि) ज्ञान के प्रकाश में (सधस्थम्) हमारे आत्मा के साथ स्थान है। परमेश्वर (एकः) एक है (एक वृत्) एक होते हुए भी उसने सबको व्याप रखा है वह (एकः एव) एक ही है। (न द्वितीयः न तृतीयः चतुर्थः अपि न उच्यते...दशमः अपि न उच्यते) दो, तीन, चार, पांच, छह, सात, आठ, नौ, दस ईश्वर नहीं। ईश्वर एक ही है। इत्यादि*

---

* इस विषय का विस्तृत विवेचन हमने अपनी आर्य धर्म निबंधमाला (म. राजपाल एण्ड संस नई सड़क देहली द्वारा प्रकाशित) भारतीय समाज शास्त्र (आर्य साहित्य मण्डल अजमेर द्वारा प्रकाशित) इत्यादि में किया है जिस पाठक वहां देख सकते हैं।

पारसियों को प्रायः अग्नि पूजक माना जाता है। इसमें संदेह नहीं कि वैदिक आर्यों के समान पारसियों में अग्नि का विशेष महत्त्व स्वीकार किया जाता है। वे इसे परमेश्वर के प्रकाश और पवित्रता का प्रतीक मानते हैं। पीछे जाकर यह विचार बहुत कुछ अग्नि पूजा के रूप में भी परिवर्तित हो गया किंतु अनेक पारसी विद्वानों ने प्राचीन पारसी ग्रंथों के प्रमाण देकर इस बात को स्पष्टतया सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि वे एकेश्वर के ही पूजक हैं न कि अग्नि पूजक। साथ ही वे इस बात से इंकार करते हैं कि पारसी मत में स्पेन्ता मैन्यूष और अंगिरा मैन्यूष के नाम से अच्छाई और बुराई के कर्ता दो पृथक् ईश्वर माने गए हैं। प्रो. वाडिया की जिस उत्तम पुस्तक का हमने इस 'परिशिष्ट' में कई स्थानों पर उल्लेख किया है उसमें भी इस विषय पर प्रकाश डाला गया है और यही बताया गया है कि यद्यपि पीछे से पारसी मत में बहु देवतावादादि प्रचलित हो गए तथापि मूलतः पारसी मत में एक ईश्वर की पूजा का ही विधान किया गया है। स्पेन्ता मैन्यूष और अंगिरा मैन्यूष अच्छाई और बुराई के प्रतिनिधि हैं न कि दो पृथक् कर्ता ईश्वर।

इस विषय का विस्तृत विवेचन सुप्रसिद्ध पारसी विद्वान् श्री फेरुदून दादा चान जकी B.A.L.L.B., D.T. ने अपनी Philosophy of Zoroatstrianism and Comparative Study नामक ग्रंथ में किया है। इसमें Are Zoroastians fire worshippers ? (क्या पारसी लोग अग्नि पूजक हैं ?) (पृ. 91-99) तथा 'Thoughts from the Vedas that emphasise the Zoroastrain Religious View.' (p. 100-102) ये दो प्रकरण विशेष रूप से पढ़ने योग्य हैं जिनमें सिद्ध किया गया है कि पारसी अग्नि के पूजक नहीं। वे एकेश्वर पूजक हैं हां, वे अग्नि को परमेश्वर के प्रकाश और पवित्रता का प्रतीक मानते हैं। वेदों के ईश्वरवाद पर बड़ा उत्तम प्रकाश डालते हुए विद्वान् लेखक ने स्पष्ट लिखा है कि–

'The Vedas teach nothing but monotheism of the purest kind, the belief that tis vaniverse manifests the love, might, wisdom and glory of God who eternally evolves and dissolves alternately innumerable systems of worlds for the benefit, discipline and well-being of Jeeva-Atmas according to the eternal law of Nature (called Rita in the Vedas) and alos according to the laws of Karma.'

(Philosophy of Zoroastranism by F. Dadachanji, p. 101-102).

अर्थात् वेदों में सर्वथा विशुद्ध एकेश्वरवाद का ही प्रतिपादन है जो इस रूप में है कि यह जगत् परमेश्वर के प्रेम, शक्ति, बुद्धिमत्ता और महत्त्व को प्रकट करता है। वह परमेश्वर जीवात्माओं के उपकार और कल्याण के लिए कर्म नियमानुसार लोक लोकांतरों का निर्माण करता है इत्यादि। विस्तार भय से हम एतद्विषयक तुलनात्मक अनुशीलन को यहीं समाप्त करते हैं।

परिशिष्ट 2

वेदों में वानप्रस्थ और संन्यास विषयक निर्देश

'वैदिक कर्तव्य शास्त्र' में ब्रह्मचर्य और गृहस्थ विषयक कर्तव्यों को निर्देश किया जा चुका है किंतु वानप्रस्थों और संन्यासियों के कर्तव्यों का वर्णन अभी तक पृथक् नहीं आया। कई महानुभावों का तो यह भी विचार है कि वेदों में आश्रम-व्यवस्था का प्रतिपादन नहीं है विशेषतः वानप्रस्थ और संन्यास का तो वहां कोई विधान नहीं पाया जाता। किंतु हमारी सम्मति में इस प्रकार का विचार सर्वथा अशुद्ध है। वेद के

'चत्वार्यन्य भुवनानि निर्णिजे चारूणि चक्रे यदृतैरवर्धत।

ऋ. 9 । 70। 1 सामवेद पूर्वाचिक 5। 9। 7

इत्यादि मंत्रों में यह बताया गया है कि (यत्) जब मनुष्य (ऋतैः) यज्ञ और वेदज्ञान तथा सत्य द्वारा (अवर्धत) वृद्धि को प्राप्त होता है तो (चत्वारि) चारों (भुवना) आश्रमों को (निर्णिजे) पवित्र कर देता है और (अन्या चारूणि चक्रे) मानो साधारण रूप से अन्य से किंतु वस्तुतः बहुत सुंदर (चक्रे) बना देता है। तात्पर्य यह है कि मनुष्य सत्य, वेद ज्ञान तथा यज्ञ भावना द्वारा आश्रमों के रूप में साधारणरूप से भिन्न, और अत्युत्तम बना देते हैं जिससे लोग उनकी ओर आकृष्ट होने लगते तथा उनके महत्त्व को समझने लगते हैं। 'भुवनानि' शब्द का प्रयोग यहां आश्रमों के अर्थ में प्रतीत होता है।

'श्रेष्ठा भवन्ति जना एभिरिति व्युत्पत्त्या।'

अर्थात् जिनके द्वारा मनुष्य श्रेष्ठ बनते हैं। वानप्रस्थाश्रम का स्पष्ट वर्णन अथर्व. 9। 5। 1 के निम्न मंत्र में है—

'आनयैतमारभस्व सुकृतां लोकमपि गच्छतु प्रजानन्।
तीर्त्वा तमांसि बहुधा महान्त्यजो नाकमाक्रमतां तृतीयम्।।

इस मंत्र का महर्षि दयानन्द ने शब्दार्थ इस प्रकार किया है जो मननीय है—

हे गृहस्थ (प्रजानन्) प्रकर्षता से जानता हुआ तू (एतम्) इस वानप्रस्थाश्रम का (आरभस्व) आरंभ कर (आनय) अपने मन को गृहस्थाश्रम से इधर की ओर ला

(सुकृताम्) पुण्यात्माओं के (लोकम् अपि) देखने योग्य वानप्रस्थाश्रम को भी (गच्छतु) प्राप्त हो (बहुधा) बहुत प्रकार के (महान्ति) बड़े बड़े (तमांसि) अज्ञान दुःख आदि संसार के मोहों को (तीर्त्वा) तर के अर्थात् पृथक् होकर (अजः) अपने आत्मा को अजर अमर जान (तृतीयम्) तीसरे (नाकम्) दुःख रहित वानप्रस्थाश्रम को (आक्रमताम्) रीतिपूर्वक आरूढ़ हो।

यहां महर्षि दयानंद जी की व्याख्यानुसार भी आश्रम के लिए 'लोक' शब्द का प्रयोग हुआ जो भुवन का ही पर्यायवाची है। 'तृतीयं नाकम्' से आश्रमों में तीसरे दुःख रहित अथवा मोक्ष साधन वानप्रस्थाश्रम का ग्रहण सर्वथा उचित ही है।

ऋग्वेद 10।146 का अरण्यानी सूक्त स्पष्टतया वानप्रस्थाश्रमवासिनी देवी का वर्णन करता है जिसके निम्नलिखित मंत्रों का उल्लेख ही यहां पर्याप्त है–

न वा अरण्यानिर्हन्तयन्यश्चेन्नाभि गच्छति।
स्वादोः फलस्य जग्ध्वाय यथा कामं निपद्यते।।

अर्थात् घने जंगल में वानप्रस्थाश्रमवासिनी देवी किसी की हिंसा नहीं करती और स्वादु फलों का सेवन कर के तपस्या, साधना, स्वाध्यायादि द्वारा अपनी शुभ कामना की पूर्ति करती है।

संन्यासाश्रम विषयक निर्देश

वेदों में संन्यासाश्रम का विधान नहीं है ऐसा भ्रम अनेक शिक्षित लोगों और विद्वानों में भी फैला हुआ है किंतु महर्षि दयानंदजी के वेद भाष्य पढ़ने से इसका पूर्णतया निवारण हो जाता है। यद्यपि संन्यासी इस शब्द का प्रयोग वेदों में नहीं तथापि यतिः, वैश्वानरः अग्निः, ब्राह्मणस्य विजानतः, इत्यादि शब्दों द्वारा संन्यासियों के कर्तव्यों का स्पष्ट प्रतिपादन है। उदाहरणार्थ निम्न वेद मंत्रों को देखिए–

प्राग्नये विश्वशुचे धियन्धेऽसुरघ्ने मन्म धीतिं भरध्वम्।
भरे हविर्न बर्हिषि प्रीणानो वैश्वानराय यतये मतीनाम्।।

ऋ. 7।13।1

इस पर महर्षि दयानंद का भाष्य दर्शनीय है–

(अग्नये) अग्निरिव विद्यादि शुभगुणैः प्रकाशमानाय (विश्वशुचे) यो विश्वं सर्वं जगत शोधयति (धियन्धे) यो धियं दधाति तस्मै (असुरघ्ने) योऽसुरान् दुष्ट कर्मकारिणो हन्ति तिरस्करोति तस्मै (मन्म) विज्ञानम् (धीतिम्) धर्मस्य धारणाम् (हविः) दातव्यम् अत्तव्यम् अन्नादिकं (बर्हिः) सभायाम् (प्रीणानः) प्रसन्नः (वैश्वानराय) विश्वेषां नराणां नायकाय (यतये) यतमानाय संन्यासिने (मतीनाम्) मनुष्याणां मध्ये।

भावार्थः–हे गृहस्थाः ! ये ऽग्निवद् विद्यासत्यधर्मप्रकाशकाः अधर्मखण्डनेन सत्यमण्डनेन सर्वेषां शुद्धिकराः, प्राज्ञाः, प्रमाप्रदाः अविद्वत्ताविनाशाका मनुष्याणां विज्ञानं धर्मधारणं च कारयन्तो यतयः संन्यासिनो भवेयुस्तत्संगेन सर्वेयूयं प्रज्ञां धृत्वा निःसंशया

भवत। यथा राजा युद्धस्य सामग्री मलंकगरोति तथैव यतिवराः सुखस्य सामग्रीमलंकुर्वन्ति।।

अर्थात् हे गृहस्थो ! जो अग्नि की तरह विद्या और सत्य धर्म के प्रकाशक, अधर्म के खण्डन और सत्य के मण्डन से सबको शुद्ध पवित्र करने वाले, बुद्धिमान्, ज्ञानप्रदाता अविद्या के विनाशक और मनुष्यों को विज्ञान और धर्म को धारण कराने वाले संन्यासी हों उनके संग से तुम शुद्ध बुद्धि को धारण करके संशय रहित हो जाओ।

जातो यदग्ने भुवना व्यख्यः पशून् न गोपा इर्यः परिज्मा।
वैश्वानर ब्रह्मणे विन्द गातुं यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः।।

अ. 7। 13। 3

इसका भाष्य महर्षि दयानंद ने संन्यासि धर्मपरक करते हुए लिखा है—

(अग्ने) अग्निरिव विद्वन् ! (भुवना) लोकलोकांतरान् (वि) विशेषेण (आख्यः) प्रकाशयति (इर्यः) सत्यमार्गे प्रेरकः (परिज्मा) परितः सर्वतोऽजति गच्छति (वैश्वानर) विश्वेषु नरेषु प्रकाशक (ब्रह्मणे) परमेश्वराय वेदाय वाऽथवा चतुर्वेद विदे (विन्दे) प्राप्नुहि (गातुम्) प्रशंसितां भूमिम् (स्वस्तिभिः) स्वास्थ्यकारिणीभिः क्रियाभिः (हे वैश्वारग्ने यते।)

भावार्थ—ये सूर्यवत् परोपकारोपदेशा वत्सान् गाव इव विद्यादानेन सर्वेषां रक्षकाः सर्वदा भ्रमंतो वेदेश्वर-विज्ञानाय राज्यरक्षणाय नृप इव न्यायशीला भूत्वा सर्वानज्ञान् बोधयन्ति ते सदैव सर्वैः सत्कर्तव्याः। अत्राग्निदृष्टान्तेन संन्यासिगुणवर्णनम्।।

अर्थात् जो संन्यासी परोपकार और ज्ञानोपदेश के कारण प्रसिद्ध होते हैं। गाय-बछड़ों की जैसी रक्षा करती हैं। वैसे विद्या दान से जो सबके रक्षक होते हैं, जो वेद और ईश्वर विषयक ज्ञान देने के लिए सर्वदा भ्रमण करके न्यायशील होकर सब अज्ञानियों को ज्ञान प्रदान करते हैं उनका सदा सत्कार करना चाहिए।

इसी प्रकार ऋ. 7। 14। 1, 2, 3, ऋ. 7, 15,। 1 इत्यादि मंत्रों में संन्यासी धर्म का बड़ा सुंदर प्रतिपादन है। महर्षि दयानंद ने उन मंत्रों की संन्यासपरक ही व्याख्या की है जो प्रकरण संगत तथा शिक्षाप्रद है।

ये देवानां यज्ञिया यज्ञियानां मनोर्यजत्राअमृता ऋतज्ञाः।
ते नो रासन्तामुरु गायमद्य यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः।।

ऋ. 5। 3। 37

इत्यादि मंत्रों में भी पूज्य ज्ञानियों में अत्यंत पूजनीय, वेद तथा सत्य के ज्ञाता संन्यासियों का निर्देश करते हुए उनसे उत्तम उपदेश देकर रक्षा की प्रार्थना की गई है किंतु विस्तार भय ये उन सबका यहां उल्लेख नहीं किया जा सकता। भ्रम निवारणार्थ अभी इतना ही लेख पर्याप्त है।

वैदिक कर्तव्य शास्त्र पर सम्मति

यह एक नई मनभावनी पुस्तक है। वेदमंत्रों के द्वारा मानव कर्तव्यों का ऐसा विशद वर्णन और सूक्ष्म विवेचन किसी भी ग्रंथ में देखा नहीं गया। बड़े हर्ष का विषय है

कि आर्यसमाज के साहित्य में इस ग्रंथ रत्न के द्वारा एक बड़े अभाव की पूर्ति हो गई। इसमें वेदमंत्रों की संगति लगाकर बड़ी खूबी से कर्तव्यों की फिलासफी समझाई गई है। वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक, चारों वर्ण व चारों आश्रम के निदान सभी कर्त्तव्यों का भली भांति दिग्दर्शन कराया गया है। ईसाई मत व बौद्ध मत के सिद्धांतों की श्रेष्ठता तथा वैदिक धर्म की सार्वभौमता सिद्ध की गई है। प्रस्तुत पुस्तक में निम्नाङ्कित पांच परिच्छेद हैं–

(1) वैदिक कर्तव्य शास्त्र के 12 मूल सिद्धांतों की व्याख्या
(2) वेदोक्त, वैयक्ति और पारिवारिक कर्तव्य
(3) यज्ञ
(4) वैदिक कर्तव्य शास्त्र पर तुलनात्मक विचार
(5) वैदिक कर्तव्य शास्त्र की सर्वोच्चता का कारण

इसमें कुल 35 विषयों पर मनोहर लेख हैं। अनुभवी लेखक ने प्रत्येक विषयों को बड़ी दूरदर्शिता, गंभीरता और निष्पक्षपातता के साथ लिखा है। यह का. वा. प्रचा. सभा द्वारा प्रकाशित 'कर्तव्य शास्त्र' के जोड़ की पुस्तक है। हिंदू मात्र के मनन करने योग्य है तथा आर्य समाज के लिए बड़े गौरव की वस्तु है। वैदिक धर्म के विपक्षी जो वैदिक धर्म को संकीर्ण या संकुचित समझने की भूल करते हैं वे इस पुस्तक को पढ़कर भली भांति समझ जाएंगे कि वैदिक धर्म कितना उच्च और विशाल है। प्रत्येक मत के विचारशील सज्जनों को इसे पढ़कर लाभ उठाना चाहिए। यह प्रत्येक लाइब्रेरी में रखने योग्य, उच्च कक्षाओं के विद्यार्थियों को पुरस्कार देने योग्य और बंगला, मराठी, गुजराती, मद्रासी, उर्दू और अंग्रेजी आदि भाषाओं में शीघ्र अनुवाद होने योग्य है। इस ग्रंथ रत्न को लिखने पर हम स्नातक पं. धर्मदेव जी सिद्धांतालंकार, विद्यावाचस्पति को हृदय से बधाई देते हैं और आशा करते हैं कि इस पुस्तक का अधिक प्रचार होगा।

(स्वामी) कृष्णानंद

'वेदोदय' प्रयाग



गुरुकुल : एक वैचारिक आंदोलन

'स्वामीजी अनाथ-बंधु थे, अनाथों के सहायक थे। स्वामीजी ने अछूतों के लिए जो कुछ किया, उससे अधिक किसी और पुरुष ने भारत में नहीं किया। स्वामी श्रद्धानंदजी का कहना है कि इस संस्था के लिए उन्होंने ब्रह्मचर्य और तपश्चर्या के दो दान दिए थे। आप कहो कि इस संस्था को जीती रखने के लिए हमसे जितना हो सकेगा, हम दान करेंगे।'

—राष्ट्रपिता महात्मा गांधी

गुरुकुल विश्वविद्यालय शिक्षा-प्रसार और निरक्षरता-निवारण के अलावा प्राचीन और नवीन प्रणालियों के समन्वय द्वारा राष्ट्रहित और राष्ट्रसेवा के लिए सच्चरित्र, कर्मठ और दृढ़प्रतिज्ञ सेवकों को तैयार करता जाएगा। प्रचलित शिक्षा-प्रणाली की एक और त्रुटि जो बहुत ही भयंकर है, उसको दूर करने में गुरुकुल जैसी संस्थाएँ ही पथ-प्रदर्शन कर सकती हैं और उनका ही विशेष कर्त्तव्य हो जाता है कि चरित्र-निर्माण को अपना प्रमुख ध्येय बनाकर इसे दूर करें। सार्वजनिक शिक्षा के क्षेत्र में जो भी परीक्षण हमारे देश में अभी तक हुए हैं उनमें गुरुकुल शिक्षा-संस्थाओं का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

—महामहिम डॉ. राजेंद्र प्रसाद

मैंने गुरुकुल को देखा तथा यहां की कार्यप्रणाली की जानकारी ली। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि यह संस्था अच्छा कार्य कर रही है। इस अवसर पर मैं इस बात पर जोर देना चाहता हूं कि देश के सांस्कृतिक आदर्शों की रक्षा के साथ-साथ आधुनिक ज्ञान-विज्ञान को भी तरजीह देनी चाहिए क्योंकि आज की दुनिया को इनकी बड़ी जरूरत है। इन्हीं दोनों के समन्वय से हमारा भाग्य सुरक्षित रह सकता है।

—पंडित जवाहरलाल नेहरू

